ISSN-2394-2355

समास - 11

समास-11

साहित्य, कला और सभ्यता पर एकाग्र
त्रैमासिक

सम्पादक
उदयन वाजपेयी

रज़ा फाउण्डेशन | The Raza Foundation

समवेत लेखकों के विचारों का 'समास' आदर करता है
लेकिन यह आवश्यक नहीं कि वह उनसे सहमत ही हो।

समास : 11 © नवम्बर 2014
पंजीयन क्रमांक : F-2 (S-46)Press/2012

त्रैमासिक पत्रिका

प्रकाशक : अशोक वाजपेयी
कार्यकारी न्यासी, रज़ा फाउण्डेशन, सी–4
139 सफ़दरजंग डेव्हलपमेण्ट एरिया, नयी दिल्ली–16
फ़ोन – 011–46526269

आवरण : कौसलमणि ढोबले

सहयोग : मिथलेश शरण चौबे, संगीता गुन्देचा

सम्पादकीय पत्र व्यवहार : उदयन वाजपेयी
एफ 90/45 तुलसी नगर
भोपाल (म.प्र.) 462003
फ़ोन – 0755–2556940
ईमेल – <udayanvajpeyi@gmail.com>

मूल्य : 60 रुपये

वितरक– मनोज मोहन
रज़ा फाउण्डेशन, सी–4
139 सफ़दरजंग डेव्हलपमेण्ट एरिया, नयी दिल्ली–16
फ़ोन – 09868664457

कम्पोज़िंग : रामवीर, मनोज डेकाटे, शैलेन्द्र डाण्डे
मुद्रण : भण्डारी आफ़सेट, अरेरा कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.)

सम्पादकीय - ५-६

वार्तालाप

हिन्दी समाज की स्मृति की सीमा
अशोक वाजपेयी से उदयन वाजपेयी की बातचीत - ७-४५

टीका

कविता की कुछ पंक्तियों पर विचार- ४६-५७
शिरीष ढोबले

कविताएँ

जितेन्द्र कुमार- ५८-६३
बजरंग बिश्नोई- ६४-६६

कहानियाँ/उपन्यास अंश

स्त्री का सौन्दर्य- आनन्द हर्षुल- ६७-७८
अवगाहन- तिलोत्तमा मजूमदार- ७९-१०८

हिन्दी भाषा पर विचार

ज्ञानदीक्षा - क्षितिमोहन सेन- १०९-११७
वैदिक समाज, भाषा और बोलियाँ- भगवान सिंह- ११८-१५२
मेरी भाषा- कमलेश- १५३-१६५
हिन्दी का परिसर और क्षितिमोहन सेन- रामशंकर द्विवेदी- १६६-१८७
मेरे खून में एक और भाषा- नीलिम कुमार- १८८-१९२
हिन्दी संसार में मेरी यात्रा के कुछ पड़ाव- प्रवासिनी महाकुद- १९३-१९७

व्याख्या

प्रेमचन्द और समाजवाद- कमलकिशोर गोयनका- १९८-२१५

संस्मरण

स्मृतियों में पिन्हा छवियाँ- प्रेमलता वर्मा- २१६-२८३

लेखक परिचय– २८४-२८५

सम्पादकीय

आज हिन्दी भाषा की स्थिति विडम्बनापूर्ण हो गयी है। एक ओर उसे राष्ट्रभाषा होने का दायित्व निभाना है, दूसरी ओर संस्कृत समेत अन्य अनेक प्राचीन भाषाओं में संग्रहीत स्मृति को भी वर्तमान में जीवन्त बनाये रखना है। यह दोहरा कार्य किसी भी भाषा के लिए आसान नहीं है। अब यह बात सर्वज्ञात है कि संस्कृत, बावजूद पश्चिमी अध्येताओं के पाखण्डपूर्ण सिद्धान्तों के, भारत की अन्यान्य भाषाओं की जननी है। संस्कृत को अन्य भारतीय भाषाओं से अलगाने का उद्योग अँग्रेज़ों के समय ही आरम्भ हो गया था और अब स्थिति यह है कि इस लगभग आधारहीन सिद्धान्त को दोहराने वालों में पश्चिमी अध्येताओं के भारतीय अनुकर्त्ताओं की कमी नहीं है। पर अनेक सच्चे अध्येताओं के अध्ययन के आधार पर अब यह कह पाना कठिन नहीं है कि संस्कृत की कुक्षी से ही हिन्दी समेत अनेक भारतीय भाषाओं का जन्म हुआ है। हिन्दी के राष्ट्र भाषा हो सकने की चर्चा देश भर में उन्नीसवीं सदी से ही प्रारम्भ हो गयी थी। बंगाल के महान् चिन्तक केशवचन्द्र सेन ने ही दयानन्द सरस्वती से यह आग्रह किया था कि उन्हें हिन्दी में बोलना चाहिए। हिन्दी को देश भर को जोड़ सकने वाली भाषा के रूप में निश्चय ही परिकल्पित किया गया था, पर उसके राष्ट्रभाषा होने के विषय में चर्चा बाद में चली। इस चर्चा का निश्चय ही यह आधार रहा होगा कि यूरोपीय राष्ट्रों की तरह भारतीय राष्ट्र की भी एक राष्ट्रीय भाषा होनी चाहिए। यूरोपीय राष्ट्र की अवधारणा के अनुसार एक राष्ट्र में एक ही भाषा, एक ही धर्म और एक ही जाति का प्रभुत्व होना स्वीकार किया गया था। उसे पूरी तरह व्यवहार में उतारना अनेक कारणों से सम्भव भले ही न हो पाया हो पर उस विचार की शुद्धता का बहुत सीमा तक अनुपालन पश्चिमी देशों में होता रहा है। भारत की स्थिति यूरोपीय देशों से इस मायने में नितान्त भिन्न है कि यहाँ अनेक साधना-परम्पराओं और धर्मों का सह-अस्तित्व शताब्दियों से बना हुआ है। अगर मुझे ठीक याद है तो एक बार इज़राइल के प्रसिद्ध विदेश मन्त्री मोशे डाइन (जिनकी एक आँख पर बँधी पट्टी पाठकों को सम्भवतः याद हो) ने सार्वजनिक वक्तव्य दिया था कि भारत भले ही फिलिस्तीनियों का समर्थन करता रहे पर इज़राइल के मन में भारत के प्रति सम्मान कम नहीं होगा क्योंकि भारत ही एक मात्र ऐसी सभ्यता है जहाँ यहूदी शरणार्थियों को ससम्मान स्थान दिया गया था और उनके जीवन-यापन का प्रबन्ध भी किया गया था। इतनी सारी साधना-परम्पराओं और धार्मिक आस्थाओं की समवेत उपस्थिति के कारण भारत किसी भी सूरत में यूरोप की राष्ट्र की अवधारणा में समा नहीं सकता था। हमारे संविधान निर्मताओं ने वैसा करने की कोशिश भी नहीं की। यहाँ सर्वधर्म सम्भाव को पर्याप्त स्थान मिला। वैसा जैसा दुनिया के किसी दूसरे देश में नहीं हुआ। पर हम एक भाषा हिन्दी को यूरोप की तर्ज पर राष्ट्रभाषा बनाने के अपने निर्णय में सम्भवतः, मेरी दृष्टि में, कुछ हद तक त्रुटि कर गये। भारत की सभी भाषाएँ एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। शायद इसीलिए भारत को एक भाषा क्षेत्र कहा जाता है। अगर आप इसके किसी एक हिस्से से दूसरे हिस्से में पैदल जाएँ, आपको एक भाषा बदल कर दूसरी भाषा बनती हुई महसूस होगी। जब यह कहा जाता है कि हर 'ढाई कोस पर बानी बदलती है, तब उसका यही मतलब है कि हमारी भाषाओं के बीच एक नैरन्तर्य है। यह नैरन्तर्य उत्तर से दक्षिण, पूर्व से पश्चिम तक बना हुआ रहता है। इसका अपवाद कोई भी भाषा नहीं है। मैंने यह अनुभव किया है कि किसी भी एक भारतीय भाषा को गहराई से जानकर आप किसी भी दूसरी भारतीय भाषा में अपेक्षाकृत आसानी से प्रवेश कर सकते हैं। इसका कारण यह है कि इन भाषाओं के संयोजन के सिद्धान्तों में सामानता है। इसलिए भी मैं सोचता हूँ कि चूँकि भारत की सभी भाषाएँ एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं, हम चाहते तो अपनी सभी भाषाओं को समवेत रूप से राष्ट्रीय भाषाएँ घोषित कर सकते थे। और अगर हमें एक भाषा को राष्ट्रीय भाषा बनाना

आवश्यक लग रहा था तो हमें संविधान सभा में भीमराव अम्बेड़कर की इस सलाह को मान लेना था कि संस्कृत को भी राष्ट्रभाषा बनाया जा सकता है। यह होने से हम संस्कृत की पुनर्प्रतिष्ठा कर लेते और साथ ही अन्यान्य भारतीय भाषाओं की जननी को राष्ट्रभाषा बनाकर अन्य भारतीय भाषाओं के राष्ट्रीय जीवन में सहज व्यवहार का भी मार्ग प्रशस्त कर देते। हिन्दी के राष्ट्रभाषा बनने पर उसने दोहरा कर्त्तव्य निभाया है, एक ओर उसने अन्यान्य भारतीय भाषा-भाषियों के हिन्दी उच्चारणों को अपने में जगह दी और साथ ही अपनी अनेक बोलियों के रंगों को भी अपने में किसी हद तक शामिल किया। इस दायित्व को निभाते हुए हिन्दी की बुनावट में कितने परिवर्तन आये होंगे, इसका अध्ययन किया जाना अभी बाकी है। हिन्दी न सिर्फ़ अपनी बहुस्तरीयता में अपनी अनेक बोलियों को स्थान देती रही बल्कि उसने नयी-नयी प्राकृत भाषाओं को गढ़ने की चेष्टा भी निरन्तर की है। उदाहरण के लिए सम्भवतः विश्व की सबसे नयी प्राकृत भाषा 'बम्बईया हिन्दी है।' यह वही प्राकृत है जिसमें 'खाली-पीली बोम्म मारता', 'लाफ़ा मारना' जैसे प्रयोग हुआ करते हैं जिन्हें न सिफ़ भारतीय बल्कि बम्बईया सिनेमा देखने वाले दुनिया भर के दर्शक बिना किसी मुश्किल के समझ लेते हैं। ऐसी प्राकृत भाषाएँ गढ़ने की सामर्थ अँग्रेज़ी के अलावा केवल हिन्दी भाषा में मिलती है। हिन्दी संघर्ष की भाषा रही है, अज्ञेय मानते थे पर इसमें यह जोड़ना शायद ज़रूरी है कि यह वह भाषा भी है जो इतिहास से मुठभेड़ के दौरान लहूलुहान हुई। जिसने स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान इतने घाव सहे हैं कि निर्मल वर्मा को यह कहना पड़ा, 'हिन्दी एक पीड़ित भाषा है।' भारत की ऐसी कोई दूसरी भाषा नहीं है जो स्वतन्त्रता आन्दोलन में इतनी लहूलुहान हुई हो। इस चोट का फल यह हुआ कि हिन्दी भीतर से मज़बूत हुई। इसमें एक समय में वासुदेव शरण अग्रवाल जैसे श्रेष्ठ विचारक थे, निराला जैसे उत्कृष्ट कवि और निर्मल वर्मा जैसे विलक्षण उपन्यासकार हुए जिन्होंने हिन्दी को देश और दुनिया की समझ और स्मृति से विभूषित करने का ऐतिहासिक दायित्व निभाया था क्योंकि किसी भी भाषा में समझ और स्मृति को बढ़ाकर ही उसे शक्ति-सम्पन्न किया जा सकता है। इस जैसी समर्थ भाषा को स्मृतिविहीन और किसी हद तक नासमझ बनाने का श्रेय भारत के वामपंथियों और तथा-कथित शिक्षित मध्यवर्ग को जाता है। इन्होंने अपनी नितान्त उपयोगितावादी समझ को हिन्दी पर लादा और उसे जितना हो सका स्मृति-विपन्न किया। आज हिन्दी भाषा इनके कर्मों का फल भोग रही है और अपनी समझ और स्मृति से दूर होती जा रही है। पर ऐसे समय में भी यह स्मरण करना हिन्दी की स्मृति और समझ की पुनर्प्राप्ति के आत्मसंघर्ष को शायद बल दे सके कि हिन्दी कविता ने जितना और जैसा छन्द विधान अपनी आधुनिक यात्रा में हासिल किया है वैसा बहुत कम हुआ है। यहाँ छन्द से हमारा आशय भरत के नाट्यशास्त्र में और वेदों में आयी छन्द की समझ से है। इसमें आज भी त्रिलोचन शास्त्री, शमशेर बहादुर सिंह, कमलेश, श्रीकान्त वर्मा, जितेन्द्र कुमार, अशोक वाजपेयी जैसे विविध कवियों की आवाज़ें हैं, फणीश्वरनाथ रेणु और निर्मल वर्मा जैसे गद्य लेखकों का स्थान और साथ ही ठाकुर जयदेव सिंह, मुकुन्द लाठ, वागीश शुक्ल जैसे विलक्षण चिन्तक हैं। यह सच है कि इस भाषा को अपनी सांस्कृतिक और पारम्परिक स्मृतियाँ दुबारा जीवन्त करने के लिए पर्याप्त संघर्ष करना पड़ेगा। पर उसके अलावा अब इसके पास अपने को बचाये रखने का और शक्ति सम्पन्न करने का और कोई मार्ग भी उपलब्ध नहीं है। एक ओर हमें संस्कृत और अन्य प्राचीन भाषाओं में संग्रहीत स्मृति और समझ को एक बार फिर हिन्दी में सक्रिय करना होगा और दूसरी ओर देश-दुनिया की नयी-नयी समझ से भी इसे अलंकृत करना अनिवार्य होगा। हिन्दी को अपने आत्मसंघर्ष के लिए यह दोहरा मार्ग अपनाने के अलावा कोई और रास्ता नहीं है। हिन्दी भाषियों को यह समझ लेना चाहिए कि उनकी भाषा पर भीतर और बाहर दोनों ही जगहों से पर्याप्त हमले हो रहे हैं। इस सबसे बाहर वह केवल अपने को शक्ति-सम्पन्न करके ही निकल सकती है। हमें यह याद रहे कि हिन्दी को निरन्तर शक्ति-सम्पन्न करने से ही हम अपने देश के अपेक्षाकृत उपेक्षित नागरिकों को भी समृद्ध कर सकते हैं। इस मार्ग पर पूरी समझ के साथ आगे बढ़ने की आवश्यकता है।

११ नवम्बर २०१४

उदयन वाजपेयी

हिन्दी समाज की स्मृति की सीमाएँ

अशोक वाजपेयी की उदयन वाजपेयी से बातचीत

अशोक वाजपेयी भारत के कुछ प्रमुख कवियों में हैं। वे आलोचना के क्षेत्र में दशकों से सक्रिय रहे हैं। साथ ही वे हिन्दी क्षेत्र में अनेक प्रमुख संस्थाओं के परिकल्पक और स्थपति रहे हैं। आज 'हिन्दी सेवी' की उपाधि को वैसा सम्मान प्राप्त नहीं है, जैसा होना चाहिए था, पर अशोक वाजपेयी को सच्चे अर्थों में पिछले कई दशकों का एक बड़ा हिन्दी सेवी भी कहा जा सकता है। उन्होंने हिन्दी क्षेत्र को न सिर्फ़ अपनी अनूठी काव्य-प्रतिमा और आलोचनात्मक दृष्टि से समृद्ध किया है, जैसा कि उनके जैसा हर बड़ा लेखक करता ही है, उन्होंने इस क्षेत्र में कई ऐसे संस्थानों का निर्माण करवाया है जो अपनी विशिष्टता में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के हैं। उन्होंने 'पूर्वग्रह', 'बहुवचन' समेत अनेक सृजन-दृष्टि-सम्पन्न पत्रिकाओं का सम्पादन किया है जिन्होंने हिन्दी में नये पाठक-संस्कारों की आधार शिला रखी है। उनकी कृतियों के अनुवाद देश और दुनिया की दर्जनों भाषाओं में हुए हैं। संयोग से वे हिन्दी के सम्भवतः सबसे प्रखर-सार्वजनिक बौद्धिक भी हैं जिन्होंने साहित्य, चित्रकला, संगीत, नृत्य, रंगकर्म से लेकर अन्यान्य सांस्कृतिक-सामाजिक विषयों पर लिखा है और देश-विदेश में अनेक व्याख्यान दिये हैं। हमने उनसे यह बातचीत हिन्दी भाषा के इर्द-गिर्द घूमती उनकी ज़िन्दगी और समझ को आलोकित करने की मंशा से की है। इस बातचीत में हिन्दी के कवि का अपनी भाषा और उसकी संस्कृति पर गहन आलोचनात्मक विमर्श है। हिन्दी भाषा और संस्कृति पर ऐसा आलचेनात्मक विमर्श अन्यत्र दुर्लभ ही है। पाठक लक्ष्य करेंगे कि इस बातचीत में कैसे धीरे-धीरे एक कवि का जीवन भाषा के अपने जीवन से आकार पाता है और कैसे उसके विशिष्ट कवि होने में उसकी भाषा की संस्कृति का योगदान केन्द्रीय होता है। यह बातचीत भाषा में कवि के और कवि में भाषा के संस्कार के स्वरूप को समझने में सहायक होगी।

यह बातचीत सितम्बर-२०१४ को नयी दिल्ली में लगभग चार-पाँच बैठकों में सम्पन्न हुई है। अशोक अत्यन्त व्यस्त लेखक हैं, उन्हें अपनी कठिन दिनचर्या के बीच-बीच में यह बातचीत करने का अवकाश निकालना पड़ा। पर जब भी वे अपनी व्यस्तताओं को परे ठेलकर इस बातचीत के लिए बैठे, उन पर अपनी व्यस्त ज़िन्दगी की ज़रा भी छाया नहीं थी। शायद इसीलिए यह वार्ता निरन्तर नये-नये वैचारिक सोपान सहजता से पार करती चली गयी।

-सम्पादक

उदयन वाजपेयी : जब तुम सागर में बड़े हो रहे थे, घर के भीतर भाषा का परिवेश कैसा था क्योंकि पारिवारिक दृष्टि से उन्नाव से आये बैसवाड़ी घर में बुन्देली लगभग एकाएक आयी थी।

अशोक वाजपेयी : भाषा का परिवेश यह था कि बैसवाड़ी दरअसल कुछ काका[1] जानते थे और कभी-कभी एक वैद्यराज उनसे मिलने शाम को आते थे, उनसे उनकी दोस्ती का मुख्य कारण ही यह था कि वे आधा-पौन घण्टे तक बैसवाड़ी बोल सकें। हम लोगों को बैसवाड़ी सुनने का मौका बहुत कम होता था, फिर थोड़े दिन बाद बाबा[2] गाँव से आकर रहने लगे थे। वे बैसवाड़ी ही बोलते थे।

उदयन : ये किस सन् की बात है, जब वैद्यराज आते थे ?

अशोक : तब हम सागर में पढ़ते थे, सन् ५७, ५८, ५९ के आस पास।

उदयन : फिर बाबा आ गये।

अशोक : फिर बाबा आये, वे थोड़ा-बहुत बोलते थे लेकिन ज़्यादातर समय घर में खड़ी बोली ही बोली जाती थी और उस समय भाव यह भी था कि बुन्देली गँवारों की भाषा है, मतलब यहाँ वालों की भाषा है और हम तो 'देश' के हैं। देश यानि उत्तर प्रदेश। हालाँकि हम लोग यहीं मध्यप्रदेश में पैदा हुए थे, देश कहने भर को था लेकिन बहरहाल वो भाव था। दिदिया[3] भी बुन्देली नहीं बोलती थीं और दादा-अम्मा[4] के यहाँ भी बुन्देली का कोई विशेष प्रभाव नहीं था। बुन्देली नौकर-चपरासी वगैरह बोलते थे लेकिन अपने घर में जब तक हम थे यानि १९६० तक, १९-२० बरस की उम्र तक, तब तक थोड़ा-बहुत रमेश दत्त दुबे के सम्पर्क के कारण बुन्देली की कुछ छटा हमको समझ में आने लगी थी। दूसरी तरफ बीच-बीच में कभी जब हम लोग गढ़ेवा जाते, जैसे हमारा और बच्चू का जनेऊ वहाँ हुआ, उस दौरान बैसवाड़ी सुनने मिलती थी और वो बहुत अच्छी लगती थी। एक तरह से कहा जा सकता है कि हमारा सारा पारिवारिक संस्कार उस समय तक शुद्ध खड़ी बोली का था।

उदयन : ऐसा क्या रहा होगा कि एक घर जहाँ उत्तरप्रदेश और बुन्देलखण्ड साथ रहने लगे थे, मतलब दिदिया बुन्देलखण्ड की हैं और काका बैसवाड़े के, उसमें इन दोनों बोलियों का लोप हो गया ?

अशोक : उस समय तक बोलियों को खड़ी बोली ने काफ़ी हाशिए पर कर दिया था। खड़ी बोली एक तरह से सामाजिक मान्यता प्राप्त कर चुकी थी, जो पढ़े-लिखे घर थे उनमें जो भाषा बोली जाएगी वो हिन्दी होगी और दूसरी बोलियाँ भी खड़ी बोली के अलावा हो सकती थीं। अब जाकर पता चलता है कि हिन्दी में ४६ बोलियाँ हैं, उस समय इन ४६ बोलियों का दूर-दूर तक अन्दाज़ नहीं था। तब ये भी पता नहीं था कि इन

---

१. हम अपने पिता को 'काका' कहते थे। यह इसलिए था क्योंकि हमारे ताऊ की बेटियाँ ऐसा करती थीं। उन्हीं की देखा-देखी पिता 'काका' हो गये।

२. बाबा हमारे पिता परमानन्द वाजपेयी के चाचा थे। जो राजापुर गढ़ेवा, उन्नाव से आकर हमारे साथ सागर में रहने लगे थे।

३. हम अपनी माँ को 'दिदिया' कहते थे। यह परिपाटी हमारी मौसियों की चलायी हुई है।

४. दादा-अम्मा यानि हमारे नाना-नानी।

बोलियों में क्या छुपा है। जैसे दादा 'रामचरितमानस' के बड़े प्रेमी थे और मिर्ज़ापुर के एक पण्डितजी आते थे। वे मानस की कथा कहते थे, मानस पढ़कर सुनाते थे। वह सब अवधी में था। वे उसको सुनाते और सुनाकर खड़ी बोली में उसकी व्याख्या करते। एक तरह से रमेश दत्त दुबे तरह के लोगों के पास बुन्देली का संस्कार बहुत गहरा था और हमारे दिल्ली चले जाने के समय बहनों, रज्जन, बच्चू में थोड़ा-थोड़ा बुन्देली ने घर किया लेकिन हमारे लिए बुन्देली बाहर ही रही। घर में भी उसकी उपस्थिति इतनी नहीं थी और हमारे अपने भाषिक परिसर में भी उसका कोई खास प्रवेश नहीं हुआ। बाद में सब याद आना शुरू हुआ कि बकुल के पेड़ को बकौली कहते हैं और कठचन्दन, तो ये बहुत सारे बुन्देली के शब्द हमारी कविता में आये। वो सब एक तरह से उस क्षति की पूर्ति, कुछ भावात्मक पूर्ति करने के इरादे से आये कि वह स्थानीयता जो वहाँ सहज भाव से थी, उससे एक अलगाव ही रहा और उसे दोबारा पाना होगा।

उदयन : तुम कह रहे हो कि 'हम लोग तो देश के हैं' ये भाव घर में था कि हम उत्तरप्रदेश के हैं, क्या इसमें ये भाव भी होता था कि हम खड़ी बोली बोलने वाले स्थान से आये हैं, हम बुन्देली में कैसे उतरें और क्या उस समय बहुत सारे घरों में ऐसा ही था ?

अशोक : नहीं, ऐसा नहीं था। उस समय असल में समस्या ये थी कि मध्यप्रदेश में अपना मध्यवर्ग लगभग नहीं था। शिक्षा के साधन भी अपेक्षाकृत कम थे, शिक्षा का प्रचार-प्रसार भी। सागर विश्वविद्यालय उस समय नया-नया था और तब वह वहाँ का सबसे पुराना विश्वविद्यालय था। उस समय मध्य प्रान्त में दो ही विश्वविद्यालय थे, एक नागपुर और एक सागर। नया मध्यप्रदेश बनने पर नागपुर भी जब बाहर चला गया, सागर ही रह गया था। उस समय ज़्यादातर मध्यवर्ग मध्यप्रदेश का मूल का मध्यवर्ग नहीं था, वो बाहर से आये कई तरह के लोगों का मध्यवर्ग था जैसे काका उन्नाव से गये थे और तमाम लोग भी। मध्यप्रदेश की सरहदें उस समय सात राज्यों से मिलती थीं। यह एकमात्र ऐसा राज्य था जिसकी सरहदें सात राज्यों से मिलती थीं। इन सबने एक तरह का खुलापन भी दिया, एक तरह की ग्रहणशीलता। दूसरी तरफ दूसरी भाषाओं का, खासतौर पर, खड़ी बोली का प्रभाव भी पड़ा। ज़्यादातर लोग इलाहाबाद के पढ़े होते थे या बनारस, आगरा से। वे विश्वविद्यालय में व्याप्त थे। कुल मिलाकर उस ज़माने में रमेश दत्त वगैरह को छोड़कर कम ही थे जो बुन्देलखण्डी के जानकार थे। ईसुरी और इस तरह के बुन्देली कवियों की जानकारी कम थी। पद्माकर ने ब्रजभाषा में लिखा, बुन्देली में नहीं लिखा। ये कवि भी जितने थे अगर अपने मन में कुछेक नक्शा बनाएँ तो वो यह था कि खड़ी बोली सबसे ऊँचे स्थान पर थी, इसके बाद बैसवाड़ी फिर अवधी। ब्रज के महान साहित्य का हमें पता था और बुन्देली भी है इस तरह का भाव था। इसमें भी बहुत साहित्य रचा गया है, ऐसा पता नहीं था।

उदयन : और वहाँ लोक संस्कृति जो बुन्देली भाषा से जुड़ी है, जैसे राई नृत्य क्या उसका भी विश्वविद्यालय वगैरह में बहुत प्रवेश नहीं था।

अशोक : उस समय तो बिल्कुल नहीं था। यह बाद में हुआ। जब वहाँ बुन्देली पीठ बनी और कान्तिकुमार जैन आदि ने ईसुरी पर कुछ काम किया। उस ज़माने में रामलीला आदि होती थी। बेड़नियों का नाच होता होगा, मतलब गाँवों में या बड़े जमींदारों के यहाँ, हम लोगों को उसका कोई अनुभव नहीं था। बल्कि हमको राई का पता बहुत बाद में चला। हमें पता ही नहीं था कि ऐसा कोई नृत्य प्रकार है जो यहाँ का है। सागर की

हालत यह थी कि वो कोई धुर बुन्देलखण्ड नहीं था मतलब जैसे छतरपुर, पन्ना, टीकमगढ़ थे, जो बुन्देलखण्ड का असली इलाका है, सागर थोड़ा परिधि पर था, क़रीब-क़रीब वाला और उन शहरों के मुकाबले ज़्यादा बड़ा शहर था जहाँ एक ज़माने में शिक्षा-दीक्षा का बड़ा अवसर था। इस पर हमारा कभी ध्यान ही नहीं गया कि वहाँ बहुत सारे पढ़े-लिखे लोग भी आपस में बुन्देली में बात करते हों। हम लोगों में इसका कोई विशेष भान नहीं था।

उदयन : उर्दू का प्रवेश तुम्हारे जीवन में कैसे हुआ क्योंकि 'पीली कोठी' वहाँ थी जहाँ कव्वालियाँ होती थीं, और एक उम्र में आकर किताबों से ग़ालिब को, मीर को, मजाज़ वगैरह को भी पढ़ा होगा लेकिन ऐसे तो उर्दू का प्रवेश नहीं होता।

अशोक : असल में यह भी बाद में ही पता चला क्योंकि हमने तो यह लक्ष्य किया नहीं था। गोपालगंज में बँटवारे के बाद जो बहुत सारे मुसलमान रहते थे, वे पाकिस्तान चले गये और उनकी सम्पत्ति यहाँ वालों ने हथिया ली, कुछ सरकार ने भी ले ली और कुछ किन्हीं को दे दी। जो भी कुछ किया हो, उनकी सम्माननीय उपस्थिति बहुत क्षीण थी। उर्दू के मामले में यह था कि एकाध इकराम सागरी वगैरह शायर थे जो उर्दू में लिखते थे लेकिन वो किसी खास मसरफ़ के तो थे नहीं। असल में कहा जाए तो बी.ए. के स्तर पर पुस्तकों के माध्यम से ही उर्दू का प्रवेश हुआ। 'पीली कोठी' की कव्वाली वगैरह थी, पर उसने मुझे कभी बहुत आकर्षित नहीं किया और एकाध-दो बार हम वहाँ गये हैं, उसका कोई विशेष प्रभाव, मुझे नहीं लगता कि मुझ पर पड़ा होगा। लेकिन जब हम बी.ए. फाइनल में थे, उसके एकाध साल पहले ग़ालिब आदि की शायरी देवनागरी में निकलना शुरू हुई थी। उस समय यह सब पढ़ना शुरू हुआ। फिर ये हुआ कि बी.ए. फाइनल में जब हम थे, उसी वक्त नामवर सिंह वहाँ अध्यापक होकर आये। हम हिन्दी के छात्र नहीं थे। उनको भी ग़ालिब का शौक था और हम लोगों को भी। हम, रमेश दत्त दुबे और नामवर सिंह रोज़ सुबह घूमने जाते थे। नामवर जी प्रबोध श्रीवास्तव के मकान में सिविल लाइन्स में रहते थे। रमेशदत्त वहाँ शनीचरी से आते थे और फिर हम लोग निकलकर नामवर जी के साथ। तब होता ये था कि ग़ालिब के किसी एक शेर पर बातचीत होती थी। कोई शेर या कोई बहुत नायाब शेर खोजने का फिर भाव बना। लेकिन बोलचाल में उर्दू बहुत कम थी, उतनी थी जितनी वो हिन्दी में होती है, इससे ज़्यादा नहीं थी और वहाँ उर्दू की कोई खास मौजूदगी भी नहीं थी। कभी-कभार मुशायरा होता था। हमें याद नहीं आता कि कभी हम मुशायरे में गये हों। कवि सम्मेलन तब भी इतने ही खराब होते थे। मुशायरे थोड़े बेहतर होते रहे होंगे लेकिन कुल मिलाकर स्थिति खराब थी। उस ज़माने में उर्दू सीखने में कुछ भूमिका कुन्दनलाल सहगल की गायकी की भी थी।

उदयन : कैसे ?

अशोक : उन्होंने ग़ालिब की बहुत सारी गज़लें गायी थीं, उनमें दिलचस्पी जगी थी, हालाँकि वो ज़्यादातर बहुत हल्की गज़लें हैं लेकिन बहरहाल उसका भी थोड़ा असर था लेकिन उस समय उर्दू की कोई मौजूदगी थी, ऐसा मुझे याद नहीं आता।

उदयन : विश्वविद्यालय में उर्दू विभाग रहा होगा?

अशोक : हाँ था, लेकिन मैं कोशिश कर रहा था अभी सोचने की कि उर्दू विभाग में कौन थे उस समय? कोई याद नहीं आता।

उदयन : घर पर आने वाले लोगों में कोई ऐसा होता हो जो उर्दू भाषी रहे हों....

अशोक : एक तो जब हम स्कूल में थे, हमारे एक अध्यापक थे, अज़हर अली। एकाध-दो बार हम उनके यहाँ दस्तरखान में बैठकर खाने गये लेकिन वो पढ़ाते इतिहास वगैरह कुछ थे। उनकी वजह से भी उर्दू का कोई भाव हो ऐसा नहीं था और ये भाव तो बहुत बाद का है, मेरा ख़याल है कि एम.ए. करने के बाद का है कि उर्दू की ज़रूरत लगने लगी और वो दूसरे कारणों से था।

उदयन : घर में मोटे तौर पर जो व्यवहार था, वो खड़ी बोली का ही था।

अशोक : हाँ।

उदयन : इसका मतलब यह है कि उर्दू का जो ज़्यादा अनुभव है, वह बहुत बाद का है। यह मैं इसलिए पूछ रहा हूँ क्योंकि तुम जब नौकरी में आये होगे, कचहरी की भाषा तो उर्दू थी।

अशोक : हाँ।

उदयन : और क्या नाना की भाषा भी उर्दू थी, क्योंकि कचहरी में वो काम करते थे तो उर्दू ही बरतते होंगे।

अशोक : असल में क्या था कि उस समय तक दो चीज़ें हो गयी थीं। एक तो बँटवारे के बाद उर्दू को कुछ सन्देह की नज़र से देखा जाने लगा था, हालाँकि जो सरकारी कागज़ात थे, वहाँ उर्दू ही थी जैसे- समन, इस्तगासा का ही प्रयोग होता था, दबिश...

उदयन : फरारी।

अशोक : हाँ, और फरारी। ये सब शब्द उर्दू के थे और ये कचहरी से आते थे लेकिन मेरा ख़याल है कि तब तक कचहरियों में उर्दू की कुछ चीज़ों को छोड़कर बाकी कामकाज हिन्दी में होने लगा था और या फिर अँग्रेज़ी में होता था। पुराना रवैया यह था कि कलेक्टर के यहाँ, डिप्टी कमिश्नर या कमिश्नर के यहाँ जो कुछ होता होगा, अँग्रेज़ी में होता था और बाकी काम हिन्दी में होना शुरू हो गया था। इसलिए दादा भी कोई उर्दू का बहुत व्यवहार अपनी बोलचाल में करते हों, ऐसा मुझे याद नहीं आता।

उदयन : अन्य भारतीय भाषाओं के बारे में विश्वविद्यालय में या तुम्हारे बचपन में क्या ऐसी कोई चेतना थी कि ये भारत की दूसरी भाषाएँ भी हैं!

अशोक : दूसरी भाषाएँ हैं, यह बी.ए. में आकर जाना। वहाँ मराठी विभाग था। अँग्रेज़ी के एक अध्यापक थे अमरेश दत्त और एक थे मुखर्जी, वे बाँग्ला भाषा के थे। फिर रवीन्द्रनाथ और शरतचन्द्र को जाना। शुरूआत में रवीन्द्रनाथ और शरतचन्द्र हिन्दी के ही लगते थे, उनके अनुवाद इतने लोकप्रिय थे कि जैसे सारा का सारा प्रेमचन्द पढ़ा वैसे ही शरतचन्द्र पढ़ गये, रवीन्द्रनाथ पढ़ गये। हमारे अध्यापक लक्ष्मीधर आचार्य ने हमको जनेऊ के अवसर पर पुस्तकों का उपहार दिया था। उसमें एक पुस्तक गीतांजलि का अँग्रेज़ी अनुवाद थी।

उसे पढ़कर मैं बहुत ही चकित हुआ कि यह रवीन्द्रनाथ की कविता क्या हुई, इस पर उनको नोबल पुरस्कार कैसे मिल गया! उसके प्रभाव में गद्यगीत वगैरह भी हमने लिखे। लेकिन वह सब बाँग्ला चेतना से प्रभावित होने जैसा था। सागर में इनसे बहुत बड़ा मराठी समुदाय था, कई वकील,रिंगेमास्टर, संगीत की दुनिया में भी मराठी लोग थे। मराठी का मध्यवर्ग प्रतिष्ठित था, तो मराठी का थोड़ा एहसास था। उस समय बहुत सारी पत्रिकाएँ निकलने लगी थीं जैसे पुणे से 'राष्ट्रवाणी;' राष्ट्रभाषा प्रचार सभा से निकलती थी, वह नयी कविता के प्रति ग्रहणशील थी और उसमें मराठी के अनुवाद आते थे। 'कल्पना' में एक ज़माने में हैदराबाद के एक कवि जिनका नाम भूल गया, उनकी उर्दू कविताएँ देवनागरी में छपती थीं। 'कहानी' पत्रिका श्रीपत राय निकालते थे और 'कल्पना' में भी कई उर्दू लेखकों की रचनाएँ रूपान्तरित होकर प्रकाशित होती थीं। उनसे भी उर्दू का एक दूसरे किस्म का माहौल बनना शुरू हुआ। देश के बँटवारे का इतना कम रचनात्मक अन्वेषण हिन्दी में हुआ है जबकि उर्दू में वह काफ़ी थाः सआदत हसन मण्टो, फ़ैज अहमद, अब्बास और कृश्नचन्दर की कहानियाँ, रामानन्द सागर का एक उपन्यास 'इन्सान मर गया' ये सब देवनागरी में आये थे। बाद में हमारे सागर में रहते एक पूरी पत्रिका ही देवनागरी में निकलने लगी थीः 'उर्दू साहित्य' जिसे बलवन्त सिंह- जो उर्दू में उपन्यास लिखते थे- निकालते थे।

उदयन : सागर से ....

अशोक : नहीं, इलाहाबाद से। मतलब यह कि हिन्दी में एक पूरी पत्रिका उर्दू साहित्य की थी पर ऐसा कभी उर्दू में नहीं हुआ कि हिन्दी साहित्य पर कोई पत्रिका उर्दू में निकले। वह मासिक पत्रिका थी, उसमें उर्दू के तमाम रचनाकार प्रकाशित हुए। उसी समय मैंने क़ुर्तुल-एन-हैदर की कहानी 'जिलावतन' पढ़ी 'अपरम्परा' में (पटना से प्रकाशित), जिसमें आंचलिकता का एक नया ही रूप था। वह आंचलिकता लन्दन तक चली गयी, वह कोई गाँव की आंचलिकता नहीं थी, अपनी भाषा की आंचलिकता थी। फिर एक पत्रिका आती थी 'डेल्टा', जो हॉलैण्ड से प्रकाशित होती थी, अँग्रेज़ी में बहुत ही सुन्दर पत्रिका थी, पता नहीं कैसे मैंने कोई चिट्ठी लिखी और वह पत्रिका मेरे पास आने लगी।

उदयन : सागर में!

अशोक : हाँ, उससे ह्यूगो क्लाउस की एक कविता का मैंने अनुवाद किया था, वे वहाँ के बड़े कवि थे। हाल ही में उनकी मृत्यु हो गयी। अब तक उनका नाम नोबल पुरस्कार के लिए चलता रहता था। यह सब वो ज़माना है जब चेतना में दूसरी कलाओं का स्फुरण हो रहा था। उन दिनों मैंने अली अक़बर ख़ान के सरोद वादन पर कविता लिखी थी, जिन्हें पहली बार रेडियो पर सुना था। हीराबाई बड़ोदेकर और शराफ़त अली ख़ान की संगीत सभाएँ आकाशवाणी की तरफ से विश्वविद्यालय में हुईं, उनको सुना। कृष्णराव शंकर पण्डित को सुनकर हमारी पूरी रुचि ही बदल गयी। लता मंगेशकर, कुन्दनलाल सहगल और फ़िल्मी गानों से हटकर शास्त्रीय संगीत पर चली गयी। उसी समय 'कल्पना' में बहुत सारे चित्र छपते थे- हुसेन, विनोद बिहारी आदि के।

उदयन : रामकुमार...

अशोक : हाँ रामकुमार के भी, फिर हमने अपने जीवन में पहली बार एकल चित्र प्रदर्शनी देखी, वह रामकुमार के चित्रों की थी।

उदयन : यह दिल्ली में हुआ होगा...

अशोक : हाँ फरवरी १९५८ में, आकाशवाणी की प्रतियोगिता में भाग लेने जब हम आये थे। फिर 'कृति' में श्रीकान्त वर्मा बहुत सारा कलाओं के बारे में छापते थे। 'कल्पना' में संगीत पर टिप्पणियाँ निकलती थीं, रंगमंच पर सुरेश अवस्थी, नेमि जी वगैरह लिखते थे। यह सब सन् ५५-५६ से लेकर सन् ६० तक हुआ होगा, जो सागर में हमारे अन्तिम वर्ष थे। उस समय ये सब हो रहा था और इन सबके लिए जो भाषा उपयुक्त और पर्याप्त लगती थी, वह हिन्दी थी। उसमें यह भी भाव था कि उर्दू का बहुत सारा हिन्दी में आसानी से आ ही जाता है। तब तक ग़ालिब के दीवान आदि देवनागरी में छप चुके थे और बहुत लोकप्रिय थे। दूसरी भाषाओं की रचनाओं से भी संवाद था जैसे 'राष्ट्रवाणी' में नर्मदा की परिक्रमा पर एक उपन्यास धारावाहिक रूप से छपता था। 'किसी एक की भ्रमण गाथा' भड़ौंच से लेकर अमरकण्टक तक भी प्रकाशित हुई। थी।

उदयन : क्या वह गुजराती उपन्यास था ?

अशोक : उपन्यास शायद मराठी में है, चरित्र मराठी या गुजराती हैं। उस समय गुजरात और महाराष्ट्र एक ही था, तब तक बम्बई राजधानी थी, ये दोनों अलग नहीं हुए थे। दूसरी तरफ ये लोग थे, जैसे मुक्तिबोध के यहाँ मराठी का असर है- 'स्वप्न चल रहा है कि जागृति शुरू है', यहाँ 'शुरू' 'चल रही है' के अर्थ में है जबकि हम लोग शुरू का इस्तेमाल आरम्भ के अर्थ में करते हैं। उनके यहाँ इस तरह की अभिव्यक्तियाँ हैं। हमारी भाषा में यह सब कुछ सम्भव है। एक मंगलदेव शास्त्री हुए, वे 'कल्पना' में वैदिक विषयों पर एक धारावाहिक लिखते थे, लेखमाला जैसी चलती थी, यह सब हिन्दी में था। हिन्दी में एक तरह का आत्मविश्वास भी बन रहा था। फिर दृश्य पर अज्ञेय आये, हमने उनको विश्वविद्यालय के छात्र-संघ का उद्घाटन करने बुलाया था, तब उनकी उमर सैंतालीस बरस की थी। हमारी संस्था 'रचना' के अन्तर्गत दिये गये भाषण 'कवि कर्मः माध्यम और मर्यादा' को हमने रिकार्ड कर उन्हें भेज दिया था। वह उनके 'आत्मनेपद' में संग्रहीत है। उन्होंने छात्रसंघ के समय उद्घाटन भाषण दिया, उसमें हिन्दी का एक दूसरा ही रूप था। सागर में अँग्रेज़ी का आतंक नहीं था, वहाँ नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे लोग थे। बाद में मुक्तिबोध भी आये। यह भाव बना कि हिन्दी में सबकुछ सम्भव है अगर कोशिश की जाए और यह कि हिन्दी दूसरी भाषाओं से कुछ कमतर है या कम विकसित है, ऐसा भाव बिल्कुल नहीं था। यह भाव था कि हिन्दी पर्याप्त और उपयुक्त है।

उदयन : संस्कृत को लेकर घरों में क्या स्थिति थी ?

अशोक : संस्कृत हमने पढ़ी थी। हमारे स्कूल में यह व्यवस्था थी कि हिन्दी लो या संस्कृत, हमने संस्कृत ली थी और इसके बाद जब बी.ए. किया, विज्ञान से हटकर, उसमें भी संस्कृत ली। लेकिन संस्कृत पढ़ाने की पद्धति बहुत खराब थी। उस समय सागर विश्वविद्यालय में जो अध्यापक थे, रामजी उपाध्याय और वनमाला भवालकर, वे बहुत ही पोंगापन्थी थे। संस्कृत की अपनी जो निर्भयता और खुलापन है, ऐन्द्रिकता एवं तथाकथित अध्यात्म के परस्पर जुड़े होने की उसमें जो सामर्थ्य है, ये सब बातें उस समय अध्यापक नहीं बताते थे बल्कि अध्यापक हमें कई ग्रन्थों से दूर रखते थे। कालिदास को बी.ए. स्तर पर इसलिए नहीं पढ़ाया जाता था क्योंकि उनमें बहुत अश्लीलता है उन दिनों इस तरह की धारणा थी और ये सब पोंगापन्थी

किस्म के लोग थे, इनकी अपनी विद्वत्ता सम्भवतः असन्दिग्ध रही होगी लेकिन इनसे सम्वाद की कोई सम्भावना नहीं थी। हमने हिन्दी विषय लिया भी नहीं था सो हिन्दी विभाग से एक तरह का तनाव लगातार बना रहता था। हम लोगों ने 'रचना' संस्था बनायी जिसका निमन्त्रण-पत्र अँग्रेज़ी में छपता रहता था और उसमें फ्रेंच शब्दों का इस्तेमाल भी होता था, चिढ़ाने के लिए मुख्यतः। गंगाधर झा और प्रेमशंकर को छोड़कर बाकी सब लोग वहाँ चरणस्पर्शी थे। बाद में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का रुख बदला और नयी कविता पर उन्होंने कुछ विधेयात्मक ढंग से लिखा लेकिन तब वे उसके जातशत्रु माने जाते थे। बल्कि उस समय एक विचित्र बात यह थी कि तथाकथित नयापन या आधुनिकता हम लोग अपने साहित्य में गढ़ने और समझने की चेष्टा कर रहे थे तो हम युवा छात्रों को जो समर्थन मिल रहा था उसमें श्यामाचरण दुबे, दयाकृष्ण इस तरह के लोग थे, हिन्दी विभाग के लोग नहीं थे। उस समय की स्थितियों से बने पूर्वग्रह से मैं आज तक मुक्त नहीं हुआ कि हिन्दी विभाग और संस्कृत विभाग ज़्यादातर पोगापन्थी हैं, आज भी वैसे ही हैं, उनमें कोई बहुत सुधार नहीं हुआ है और इस नाते उन्होंने भाषा और साहित्य का जो अहित किया है, वो अपार है। ये सवाल बार-बार मैं पूछता रहा हूँ कि आखिर इतने हज़ार छात्र हर वर्ष हिन्दी में एम.ए. करके निकलते हैं फिर ऐसा क्या होता है कि वे ज़िन्दगी भर वापस साहित्य के पास नहीं आते, कुछ-न-कुछ तो हम ऐसा करते होंगे कि उसमे बेहद अरुचि और अनिच्छा पैदा हो जाए।

उदयन : क्या तुम्हारी दृष्टि में संस्कृत को लेकर लोगों में एक पुण्य भाव जैसा रहा है कि इसमें रोज़मर्रा या श्रृंगार जैसे विषय कैसे पढ़ाये जा सकते हैं और क्या अध्यापकों के बीच भी यही भाव मौजूद रहा है।

अशोक : गर आप कोशिश न भी करें, आप जान जाते हैं कि संस्कृत के बारे में लोग जैसा दिखाते हैं, उसमें उससे कहीं बड़ी परम्परा है और आप ये भी देख पाते हैं कि जो संस्कृत पढ़ायी जा रही है और यह जो उसकी व्यापक परम्परा है, उनका सम्बन्ध बहुत क्षीण है और बहुत ही गैरप्रातिनिधिक है। कोई ऐन्द्रिय चीज़ नहीं पढ़ायी जाएगी। संस्कृत में चीज़ों का विशद वर्णन है या कि रोज़मर्रा के जीवन का वर्णन है, इसका कोई आभास संस्कृत अध्यापन में नहीं था। संस्कृत के लोग यही कोशिश करते हैं कि वह शोभापरक-पूजामय चीज़ बनकर उन्हीं के बीच सिमटी रहे और यह कहते रहें कि बहुत अच्छा उच्चारण कर दिया, बस। यही सब था लेकिन उसका सत्व पता नहीं था, वह बाद में समझ आया। यह जो शैक्षणिक स्तर पर क्षति होती है, चाहे संस्कृत को समझने में हो चाहे हिन्दी को उसकी क्षतिपूर्ति ज़्यादातर लोग उसके बाद नहीं कर पाते, उन्हें क्षतिपूर्ति करने की अक्सर ज़रूरत भी नहीं लगती।

उदयन : अगर हिन्दी विभागों की शिक्षा की और खासतौर पर हिन्दी की इतनी खराब हालत थी तो जो आत्मविश्वास हिन्दी में खासतौर पर अपेक्षाकृत छोटे शहरों में रहने वाले तुम्हारे जैसे लेखकों में बना, उसके स्रोत क्या हैं।

अशोक : एक स्रोत था अपनी सर्जनात्मकता, दूसरा अपनी जिज्ञासा से ऐसा बहुत कुछ खोज पाना जो शिक्षा व्यवस्था आपको नहीं दे रही थी।

उदयन : उस उम्र में, सागर जैसे शहर में, विश्वविद्यालय की छाया में जो पला-बढ़ा हो, क्या यह चेतना थी कि जो शिक्षा उसे पढ़ायी जाती है, वह अपर्याप्त है?

अशोक : हम लोग, यानि मुझमें, रमेशदत्त दुबे, उमाशंकर पाण्डेय, आग्नेय आदि में सिर्फ़ रमेशदत्त दुबे हिन्दी के छात्र थे। हम इस मत के हो चुके थे कि यह सब जो यहाँ पढ़ाया जा रहा है, जो हिन्दी और संस्कृत पढ़ायी जा रही है, उसका कोई विशेष अर्थ नहीं है। बाद में प्रबोध कुमार, जितेन्द्र कुमार भी आ गये थे वे भी हिन्दी के छात्र नहीं थे। जितेन्द्र फिर नौकरी करने लगे थे। यह सबको पता था कि यह जो हमारे ऊपर लादा जा रहा है, यह हिन्दी या संस्कृत की समस्या नहीं है, यह व्यवस्था की समस्या है कि वह हमें जो देना चाहिए वह नहीं दे पाती। उस समय यह समझ में आना शुरू हो गया था। आखिर हिन्दी में 'कल्पना', 'कृति', 'आलोचना' 'ज्ञानोदय' जैसी पत्रिकाएँ भी निकलती थीं, ये सब हमारा नोटिस ले रहे थे। हम लोगों का नोटिस बहुत कम उम्र में ले लिया गया था। हम जब बी.ए. करके दिल्ली आये तब तक 'ज्ञानोदय' में एक पूरा-का-पूरा विवाद हमारी एक कविता को लेकर हो चुका था। 'कल्पना' में हम जब छपे, हमारी उम्र सत्रह बरस की थी। इन पत्रिकाओं से जो दुनिया प्रकट होती थी और उस समय के अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर जैसे रचनाकार और बहुत सारा साहित्य मिलकर हमारा आत्मविश्वास बनाते रहे। शमशेर को पढ़ने से लगता था कि भई उर्दू में भी क्या बात है। 'समवेत' के पहले अंक में वे उर्दू के लेखक थे, उसमें उन्होंने 'असगर को नहीं देखा' वगैरह कुछ दिया था। हम लोग सोच भी नहीं सकते थे कि यह सम्भव है, उनकी जब डायरी छपी, उसमें उर्दू का जिस तरह का इस्तेमाल हुआ, वह अद्‌भुत है। यह जो शिक्षा द्वारा संकीर्ण की जा रही भाषा थी, वह साहित्य द्वारा, पत्रिकाओं द्वारा, समकालीन पुस्तकों द्वारा विस्तृत की जा रही थी। यह एक विचित्र अन्तर्विरोध था। आत्मविश्वास इस कारण था वरना उस तरह की शैक्षिक व्यवस्था में आत्मविश्वास का तो कोई आधार ही नहीं बनता था।

उदयन : इस सब परिवेश में पढ़ा-लिखा एक लड़का उन्नीस साल की उमर में दिल्ली आया, दिल्ली में भी खासी अँग्रेज़ियत थी उस समय भी, तब तुम्हारी इस भाषा चेतना को कैसा लगा, आत्मविश्वास बढ़ा कि डिगा तब क्या हुआ ?

अशोक : बिल्कुल शुरु में यानि वर्ष उन्नीस सौ साठ के जुलाई-अगस्त-सितम्बर के जो महीने थे, दाखिला लेने के बाद समझ में आया कि यहाँ तो सारा माहौल ही अँग्रेज़ी का है और हिन्दी सिर्फ़ धोबी या नौकरों से बोली जाती थी।

उदयन : हिन्दी की ठीक वही हालत थी, जो बुन्देली की सागर में ?

अशोक : हाँ, क़रीब-क़रीब वैसी ही। अँग्रेज़ी ऐसे बोली जाती थी कि सब अँग्रेज़ी-अँग्रेज़ी, हमको इतनी अँग्रेज़ी बोलने का न तो अभ्यास था और न चाव था लेकिन कोई चारा भी नहीं था। शुरू में आत्मविश्वास बहुत डगमगाया उसमें सिर्फ़ जो तसल्ली की बात थी वो यह कि एक कवि या लेखक के रूप में थोड़ी मान्यता हो गयी थी। हम अक्सर दिन में पढ़ाई करने के बाद शाम को भाग जाते थे। श्रीकान्त वर्मा, कमलेश, अशोक सेक्सरिया बाद में प्रयाग शुक्ल भी आ गये, ये सब लोग होते थे, इनके साथ गपशप होती, एक तरह से हम हिन्दी की अपनी दुनिया में वापस आ जाते थे। फिर देवीशंकर अवस्थी, जो दिल्ली विश्वविद्यालय में पढ़ाते थे, अजित कुमार और विश्वनाथ त्रिपाठी थे, ये सब लोग मॉडल टाउन में रहते थे, कभी-कभी वहाँ चले जाते थे। अच्छा खाना भी इन लोगों के यहाँ मिल जाता था और दूसरे हिन्दी की दुनिया। धीरे-धीरे यह बात

समझ में आयी कि हिन्दी की एक दुनिया दिल्ली में भी है। अज्ञेय जी थे और बाद में निर्मल वर्मा भी विदेश से वापस आ गये थे। भले ही दिल्ली में अँग्रेज़ी का वर्चस्व रहा हो। फिर अँग्रेज़ी जानना भी अच्छा था, हमने बहुत सारा पॉल वेलेरी, रिल्के यह सब सागर में रहते पढ़ लिया था।

उदयन : विदेशी कवियों को विशेषकर यूरोप और अमेरिका के कवियों को पढ़ने में सागर में रहते हुए लगाव का क्या कारण रहा होगा।

अशोक : सागर में रहते हुए लगाव का कारण यह था कि ये किताबें वहाँ मिल सकती थीं। 'पीएल ४८०' कुछ था, उस समय अमेरिका से अनाज खरीदने के साथ-साथ बहुत सारी अमरीकी किताबें वहाँ सागर जैसे कई विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों को उपहार में मिलती थीं। उसमें पॉल वेलेरी, काफ़्का, कामू, पार्टीजन रिव्यू ये सभी किताबें और पत्रिकाएँ सागर आती थीं।

उदयन : ये सब अँग्रेज़ी में तुम लोग पढ़ते थे, खासतौर पर तुम।

अशोक : हाँ, रिल्के, पाब्लो नेरुदा, टी.एस. इलियट, हैबर्ट रीड, आई.ए. रिचर्ड्स, पास्तरनाक आदि ये सब कौतूहलवश पढ़ते थे, इससे यह लगता था कि इस तरह की कविता भी हो सकती है, हमारी कविता वैसी क्यों नहीं हो सकती, वगैरह।

उदयन : इससे भी एक किस्म का आत्मविश्वास बना होगा।

अशोक : हाँ, इसलिए जब यहाँ सेण्ट स्टीवेंस में हम आये, एक आत्मविश्वास इस बात से भी पैदा हुआ कि हमारे अधिकांश सहपाठी सिन्धिया स्कूल, मेयर कॉलेज से पढ़े हुए थे, वे अँग्रेज़ी साहित्य के बारे में जानते थे लेकिन उन्हें दुनिया के साहित्य के बारे में बहुत कम पता था जो हम सौभाग्य से जानते थे। इससे अपनी स्थिति ठीक से बनाने में मदद मिली। एक तो हम उन्हीं की दुनिया में महदूद नहीं थे और दूसरा हम इन सबको पढ़ चुके थे तो उसने भी एक आत्मविश्वास दिया। उस समय भाषा को लेकर कुछ बातें समझ में आने लगी थीं जैसे यह कि हिन्दी को ठीक से लिख पाने के लिए तीन और भाषाएँ जानना अच्छा है- संस्कृत, उर्दू और अँग्रेज़ी। एक तरह से इन तीनों भाषाओं का कुछ-न-कुछ तत्व हमारी भाषा में है। जब कभी स्मृति को उद्‌बूध करना होता है तो कई बार संस्कृत की तत्सम शब्दावलियाँ-पंक्तियाँ, कई बार उर्दू मददगार होती है और अँग्रेज़ी में जो एक सुथरापन है कि बात को खामखा उलझाना नहीं, उसका भी प्रभाव पड़ा। पहले भी और जब हम यहाँ थे तब भी 'कल्पना' में राममनोहर लोहिया के कुछ लेख छपे थे, राम-कृष्ण और शिव पर, 'आगे-देख आधुनिकता पीछे-देख आधुनिकता' इत्यादि और वे 'जन' पत्रिका निकालते थे, कमलेश उनके साथ थे, वे जैसी भाषा का इस्तेमाल करते थे कोई और ऐसी भाषा का इस्तेमाल नहीं करता था। मुझे लगा कि जर्मनी में पढ़ा और जर्मन भाषा में जिसने अपनी पीएच.डी. की थीसिस लिखी, वह आदमी इस तरह की भाषा लिख सकता है तो हम साहित्य में इस तरह की भाषा क्यों नहीं लिख सकते! कुछेक दबाव इसका भी पड़ना शुरू हुआ। बाद में 'आलोचना' में सरोकार, बखान, पहचान और पड़ताल जैसे शब्दों का इस्तेमाल हमने किया। अब छोड़ दिया क्योंकि ये सब अब पिट गये।

उदयन : सेण्ट स्टीवेन्स के शिक्षक तुम्हारे इस वैश्विक कविता के ज्ञान को या साहित्यिक ज्ञान को किस तरह लेते थे?

अशोक : सेण्ट स्टीवेन्स के शिक्षकों से हमारी दूरी ही थी। हमारे दूसरे सहपाठी अधिकांश वहाँ पहले से थे, उन्होंने बी.ए. वहीं से किया था, हम कुछ लोग ही वहाँ एम.ए. में पहुँचे थे। उनका सम्बन्ध हमारे मुकाबले अधिक गाढ़ा था यहाँ सिर्फ ट्यूटोरियल होते थे बाकी व्याख्यान विश्वविद्यालय में। बालचन्द्र राजन विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर थे। एक वर्ष एम.ए. फाइनल में वे रहे। सम्पर्क उनसे भी नहीं था लेकिन उनका प्रभाव बहुत था। दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष नगेन्द्र थे, उनका बड़ा रूतबा और बहुत पैठ थी। उस समय जो तीन हिन्दी के बड़े आलोचक थे नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी और नगेन्द्र; इनमें मैं सबसे कम प्रभावित नगेन्द्र से था। नगेन्द्र नन्ददुलारे वाजपेयी और हजारी प्रसाद द्विवेदी की तुलना में किसी मसरफ के नहीं लगते थे। उनकी भाषा-विचार-शैली का वो क़द नहीं था। उन्होंने कोई काम भी बड़ा नहीं किया। वे तिकड़मी-से लगते थे। वे हिन्दी के उस रूप का प्रतिनिधित्व करते थे जो अवांछनीय था और जिसमें कोई सत्व नहीं था। हालाँकि उसमें संस्कृत का बहुत इस्तेमाल होता था, वे संस्कृत जानते भी थे। उस समय लोग कहते थे कि अंग्रेज़ी में थर्ड डिवीजन पास हैं। एक तरह से स्कूल को छोड़ दें तो सागर में जो हिन्दी विभाग था उससे दूरी थी। दिल्ली में जो अंग्रेज़ी विभाग था, उससे भी दूरी थी। एक तरह से हर स्तर पर एक प्रभावशाली गुट या हिस्से से लगभग जानबूझकर दूरी बनती गयी। बाद में यही भारतीय प्रशासनिक सेवा में भी हुआ। वहाँ जो प्रभावशाली वर्ग था जिसकी आकांक्षाएँ दूसरे किस्म की थीं, उनसे भी अलग रहकर कुछ करने की एक तरह से आदत बन गयी।

उदयन : यह जो समूह है जिसमें तुम हो, कमलेश हैं, अशोक सेक्सरिया हैं, इनमें भाषा-चिन्तन या भाषा को लेकर क्या विचार था क्योंकि लोहिया उस वक्त तक इन सब पर हावी थे।

अशोक : लोहिया की भाषा के प्रभाव के साथ ही इन सबमें एक दूसरे किस्म की वृत्ति भी विकसित हो रही थी जो लोहिया में भी थी, वह थी एक तरह की प्रश्नवाचकता, जैसे परम्परा के बारे में प्रश्न पूछना वगैरह। अशोक सेक्सरिया खेल पर लिखते थे, 'हिन्दुस्तान' में काम करते थे, हिन्दी में उन्होंने बहुत अच्छी भाषा में खेल पर लिखा जिस पर अँग्रेज़ी की कोई छाया नहीं थी। उन पर गाँधी-लोहिया का प्रभाव ताज़िन्दगी रहा है। कमलेश ने गद्य बहुत कम लिखा, अब जाकर लिखना शुरू किया। उन्होंने उस ज़माने में श्रीकान्त जी के एक कविता संग्रह की समीक्षा की थी जो बहुत अच्छी समीक्षा थी और उसकी बहुत अच्छी भाषा थी। श्रीकान्त जी में एक दूसरा गुण था। वे सूक्ति, कोई चमकता हुआ वाक्य बीच में डाल देते थे। इन सबके बारे में दिलचस्प बात यह थी, अशोक सेक्सरिया को छोड़कर जो एक महानगर से दूसरे में आ गये थे, कि बाकी सब छोटे-छोटे शहरों से आये हुए लोग थे, कमलेश गोरखपुर से, श्रीकान्त बिलासपुर से, हम सागर से। हम सब अपने-अपने भाषा संस्कार लेकर आये थे। श्रीकान्त शुरू-शुरू में 'झुनकुर' इत्यादि छत्तीसगढ़ी शब्दों का इस्तेमाल करते हैं लेकिन धीरे-धीरे वे कास्मोपोलिटन हो गये। श्रीकान्त को बीसवीं शताब्दी के कवि होने की आकांक्षा थी, मतलब यह आकांक्षा कि उनकी कविता में बीसवीं शताब्दी बोलनी चाहिए। तो भले ही उनकी ऐसी कुछ कविताएँ बहुत अच्छी नहीं थी, उनमें अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ, चेकोस्लोवाकिया आदि आते हैं। हमारे साथ और भी लोग थे जैसे महेन्द्र भल्ला जो उस समय कविताएँ, कहानियाँ और गद्य भी लिखते थे। निर्मल वर्मा भी इसी तरह के थे जब वे यूरोप से लौटकर आये।

उदयन : इन सबके बीच में गाँधी की क्या स्थिति थी? लोहिया का तो असर सीधा-सीधा दिख रहा है फिर वे जीवित भी थे।

अशोक : मेरा ख़याल है कि स्वतन्त्रता संग्राम के अर्थ को छोड़कर बाकी उनकी कोई विशेष उपस्थिति नहीं थी। जिस हद तक वे लोहिया व अन्य समाजवादियों में बोलते थे उस हद तक वे थे, उनकी कोई सजीव उपस्थिति अपने आप हो, ऐसा मुझे याद नहीं आता। अशोक सेक्सरिया में गाँधी की पारिवारिक उपस्थिति थी, उनके पिता के चलते लेकिन श्रीकान्त के पिता के स्वतन्त्रता सेनानी होने के बावजूद भी उनके सन्दर्भ में ऐसा नहीं कहा जा सकता। पर हाँ संस्कृत व उर्दू की उपस्थिति धीरे-धीरे बढ़ी। उस समय हालाँकि कुछ आधुनिक होने का चक्कर भी रहा होगा पर सेण्ट स्टीवेन्स से एम.ए. करने वाला, अँग्रेज़ी में लिखे यह विकल्प कभी मेरे मन में आया ही नहीं। कभी जानबूझकर यह निर्णय भी नहीं लिया कि हम अँग्रेज़ी में नहीं लिखेंगे लेकिन ये निर्णय तो निश्चित ही लिया कि हम हिन्दी में लिखेंगे, यही हमारी भाषा है, इसके अलावा कुछ और हो सकता है, ये लगा ही नहीं।

उदयन : इसका अर्थ यह है कि तुम अँग्रेज़ी से विद्रोह नहीं कर रहे थे।

अशोक : हाँ, बल्कि उसी समय जब सेण्ट स्टीवेंस से निकलने के बाद जब अध्यापक हुआ, शिकागो की एक पत्रिका 'महफ़िल' में अज्ञेय जी पर केन्द्रित विशेषांक के लिए मुझसे लिखने को कहा गया, मैं तो जानता ही नहीं था, थोड़ा आश्चर्य में पड़ा कि उन्होंने मुझसे कैसे कहा! अज्ञेय पर मैंने पहला लेख 'ग्रेंजर ऑफ़ लोनलीनेस' लिखा।

उदयन : 'अकेलेपन का वैभव।'

अशोक : वह अँग्रेज़ी में था, उस पत्रिका के लिए। फिर थोड़े दिन बाद जब मुक्तिबोध की मृत्यु हो गयी, काँग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम में प्रभाकर पाध्ये ने मुझे मुक्तिबोध पर अँग्रेज़ी में व्याख्यान के लिए आमन्त्रित किया। यह अक्टूबर-नवम्बर, १९६४ की बात है, मैंने 'हॉरर एण्ड होप ऑफ़ मुक्तिबोध' शीर्षक से व्याख्यान दिया। वही 'भयानक खबर की कविता' शीर्षक से हिन्दी में आया। दिलचस्प है कि उसकी अध्यक्षता समाजवादी अशोक मेहता ने की थी जो बाद में मन्त्री बने। उसमें अज्ञेय, श्रीकान्त, अजितकुमार सहित पन्द्रह-बीस लोग थे।

उदयन : यह कार्यक्रम मुक्तिबोध की मृत्यु के ठीक बाद हुआ था ?

अशोक : लगभग एक-डेढ़ महीने बाद। वह लेख पूरा अँग्रेज़ी में था लेकिन सारे उद्धरण हिन्दी में थे, उनका अनुवाद मैंने नहीं किया था। बहरहाल मैं जानता था अँग्रेज़ी में लिखा जा सकता है, उसमें कोई खास असुविधा नहीं है। उसी दौरान अँग्रेज़ी उच्चारण में कोई परिवर्तन हुआ होगा, जानबूझकर नहीं लेकिन शायद अन्तर्मन में ऐसा चलता रहा होगा कि मैं ससुरा अँग्रेज़ी में पढ़े इन छात्रों से स्पर्धा कर रहा हूँ तो मुझे अँग्रेज़ी कायदे से बोलना भी आना चाहिए। दिलचस्प है कि जब मैं पहली बार विदेश गया, सन् चौंहत्तर में, सोवियत यूनियन, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी; वहाँ हम अँग्रेज़ी में ही बोलते थे तो लोग पूछते थे कि क्या आप कैम्ब्रिज में पढ़े हैं, मैंने तब तक कैम्ब्रिज देखा भी नहीं था। ज़ाहिर है कि किसी अचेतन भाव से मैंने जो उच्चारण करने की पद्धति अपना ली थी, वह कुछ-कुछ कैम्ब्रिज के जैसी रही होगी। जब मैं सेण्ट स्टीवेन्स से निकलकर दयालसिंह कॉलेज में पढ़ाने लगा, टी.एस. इलियट पर सेण्ट स्टीवेन्स में एक सेमीनार हुआ।

मुझे भी निमन्त्रण मिला जबकि वहाँ से कभी आमन्त्रण मिलने का सवाल ही नहीं था। हिन्दी के कवि होने का वहाँ कोई मतलब नहीं था। वहाँ एक बार दिनकर आये थे।

उदयन : स्टीवेंस में ?

अशोक : हाँ, वहाँ एक अशोकरत्नम् नाम का लड़का था, उसकी माँ कमला रत्नम थीं, वे संस्कृत की विदुषी थीं, उनका कुछ सम्बन्ध दिनकर जी से था। वे उस लड़के के कमरे में आये। हिन्दी के दो-चार लोग बुलाये गये। उनमें हम भी थे। उस समय दिनकर की जो धजा थी, देखने योग्य थी- वे बेहद अहंकारी, नकचढ़े थे; मतलब हमारे सामने हिन्दी के ऐसे रूप भी प्रकट होते रहे जो बहुत ही अप्रीतिकर थे। इसी तरह एक बार नगेन्द्र कामायनी पर व्याख्यान दे रहे थे। एक बार खिड़की में खड़े होकर सोचा सुनूँ। वे बोल रहे थे कि युद्ध का मूल इसमें नहीं- उसमें नहीं, फलाँ में नहीं, ढिकाने में नहीं, अब डेढ़ सौ दो सौ छात्र दम साधे प्रतीक्षा कर रहे हैं कि युद्ध का मूल क्या है ? फिर नगेन्द्र बोले, युद्ध का मूल मानव चेतना में है। इस तरह का एक रूप था और दूसरी ओर दिनकर आदि का रूप था, जो बहुत ही विचित्र था।

उदयन : उन दिनों और ऐसे कौन-से हिन्दी के विद्रूप थे।

अशोक : असल में उन दिनों तरह-तरह के लोग थे जैसे थोड़ा-बहुत हमारा सम्पर्क जगदीश चतुर्वेदी और इस मण्डली से भी था, बल्कि 'तार सप्तक' जैसा एक कविता संकलन निकालने की बात हुई थी, उसमें शुरू में मैं भी शामिल था। फिर जब मुझे लगा कि ये कवि बहुत कम पढ़े-लिखे हैं पर उनकी महत्वाकांक्षा बहुत बड़ी है मैंने इनसे खुद को अलग कर लिया। लेखकों का एक अण्डरवर्ल्ड भी था, उसमें तरह-तरह के लोग थे, कुछ हिन्दी विभागों में, कुछ अखबारों में, कुछ इधर-उधर घुसे हुए लोग थे। दूसरी तरफ रघुवीर सहाय, मनोहर श्याम जोशी, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और नरेश मेहता थे (जो फिर इलाहाबाद चले गये) श्रीकान्त वर्मा, मोहन राकेश, सुरेश अवस्थी, नेमि जी थे, यह उजला पक्ष था। हमारी एक समस्या शुरू से ही रही है कि जैसे सागर विश्वविद्यालय में जब हम थे, हमारे अपने समकालीन छात्रों में से लगभग किसी से हमारी घनिष्ठता नहीं थी। हमारे मित्र थे नामवर सिंह, विजय चौहान जैसे अध्यापक। या राजा दुबे, आग्नेय, प्रबोध कुमार जो एम.ए. में थे, जबकि हम बी.ए. थे। सेण्ट स्टीवेन्स में भी हमारे मित्र हमारे समवयसी नहीं थे, वे हमसे अलग-अलग और बड़े थे। यह एक तरह का पैटर्न-सा बन गया, उसमें शायद कुछ अहंकार भी शामिल रहा होगा कि ये ससुरे हमारे स्तर के नहीं है, इनसे क्या बात करना। हमसे उमर में हमारे सब मित्र बड़े थे, श्रीकान्त, कमलेश, रघुवीर सहाय तो थे ही फिर बाद में नामवर सिंह, विजय चौहान जैसे लोग आ गये थे इनसे और दुनियाभर के मतभेद रहे लेकिन ये अच्छे-भले लोग थे। इसी सबके बीच शुरूआत हुई 'धर्मयुग' में लिखने की। नगेन्द्र ने हजारी प्रसाद द्विवेदी की अध्यक्षता में हिन्दी विभाग में नयी कविता पर एक आयोजन किया जिसमें श्रीकान्त वर्मा, मुद्राराक्षस, बालस्वरूप राही और मुझे भी बुलाया था। देर होने के कारण मुझे और मुद्राराक्षस को बोलने का अवसर नहीं मिला। उसमें जो कुछ कहा गया और जिस तरह से, उस पर हमने 'नयी कविता विश्वविद्यालय में' शीर्षक से एक रिपोर्ट लिखी, जिसे 'धर्मयुग' ने दो किस्तों में छापा। उससे बड़ा हड़कम्प मचा। हड़कम्प यूँ मचा कि हमारे दयाल सिंह कॉलेज की गवर्निंग बॉडी में नगेन्द्र थे तो शायद उन्होंने प्रिंसिपल से शिकायत की होगी। प्रिंसिपल ने मुझे बुलाकर कहा कि तुम हिन्दी में लिखते हो, ऐसा क्या लिख दिया तुमने कि नगेन्द्र नाराज जी हैं। मैंने कहा, जिस

सेमीनार के बारे में मैंने लिखा उसमें मैं स्वयं आमन्त्रित था, अँग्रेज़ी अध्यापक के बतौर नहीं एक लेखक के रूप में शामिल था।

उदयन : अच्छा, उन्होंने तुम पर अँग्रेज़ी का होने के कारण ये आरोप लगाये होंगे।

अशोक : हाँ, ये कहा गया कि ये अँग्रेज़ी का है और आपके दयालसिंह कॉलेज में है। यह इस तरह के छोटेपन का एक उदाहरण है। यह हर भाषा में होता होगा केवल हिन्दी की ही यह विशेषता नहीं होगी। हर भाषा में कुछ-न-कुछ छुटभैये, बड़े लोगों का छोटापन, शक्तिशालियों की अभद्रताएँ और मूर्खताएँ आदि होती हैं।

उदयन : तुम्हारे दिल्ली के कालखण्ड में दिल्ली शहर में और केन्द्र सरकार में केन्द्र सरकार के विज्ञापनों आदि में, यहाँ के अखबारों में हिन्दी की क्या स्थिति थी?संसद का ज़्यादातर काम अँग्रेज़ी में होता था, बाद में शायद अनुवाद होता होगा। हिन्दी ही नहीं भारतीय भाषाओं की जो स्थिति थी वह हमारी सर्वोच्च लोकतान्त्रिक संस्थाओं में अच्छी नहीं रही है। लोहिया और अन्य लोगों का संघर्ष दूसरा पक्ष है। उसके बाद हिन्दी का शासकीयकरण हुआ, इसमें अलग-अलग लोगों ने शब्दकोश बनाये, शब्दों के इस्तेमाल के उपाय सुझाये, उन दिनों इस सबका क्या असर था।

अशोक : उन दिनों दिल्ली हिन्दी साहित्य का केन्द्र बनने की ओर काफ़ी तेज़ी से बढ़ रही थी। हिन्दी अंचल के बहुत सारे लोग नौकरियाँ और अवसर पाकर यहाँ आ रहे थे। उस समय यह दिखायी देने लगा था कि हिन्दी का, हिन्दी साहित्य का केन्द्र अब दिल्ली होने जा रही है। राजकाज के काम की वजह से भी जैसे केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय आदि में बहुत से लोग काम करते थे, जिसमें सुरेश अवस्थी, जगदीश चतुर्वेदी आदि थे। हिन्दी के कई बड़े लेखक यहीं थे- जैनेन्द कुमार, अज्ञेय, दिनकर, बच्चन, भवानी प्रसाद मिश्र और बाद की पीढ़ी के रघुवीर सहाय, निर्मल वर्मा, श्रीकान्त वर्मा, मनोहरश्याम जोशी, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना आदि। उन्हीं दिनों 'दिनमान' निकला। हिन्दी साहित्य में उस समय एक महत्त्वपूर्ण घटना घटी, वह थी मुक्तिबोध की मृत्यु क्योंकि उसने दो चीज़ें प्रकट कीं। एक यह कि हिन्दी लेखक अपने लेखक की मरणान्तक बीमारी से उद्विग्न, सक्रिय हो सकते हैं, इसके पहले ऐसा इज़हार नहीं हुआ था। लेखकों का एक प्रतिनिधिमण्डल प्रधानमन्त्री से मिला, हम लोग उसमें थे और उनसे यह आग्रह किया कि मुक्तिबोध को दिल्ली सरकारी खर्चे पर इलाज के लिए बुलाया जाए। यह इसके पहले कभी नहीं हुआ था। यह भी नहीं हुआ था कि मसलन मुक्तिबोध की बीमारी में एम्स में डॉ. राममनोहर लोहिया जैसे राजनेता पूछताछ के लिए आये। उसके कई फलितार्थ थे, उस समय भले ही ठीक से समझ में नहीं आये हों। हिन्दी के लेखक वैचारिक मतभेदों के बावजूद एक लेखक के लिए इकट्ठे हुए। उसके पहले लेखक केवल सार्वजनिक मामलों के लिए इकट्ठे होते थे, प्रगतिशील लेखक संघ में और इसी तरह से। उसी परिवेश में सन् १९६४ में मुक्तिबोध का पहला कविता संग्रह निकला। उस कविता संग्रह को तरतीब देने का काम मैंने किया था। मैंने यह तय किया था कि संग्रह 'भूल गलती' से शुरू और 'अँधेरे में' पर समाप्त हो और बीच में कौन सी कविता कहाँ हो। अब तक तो यह कभी कहा नहीं हमने, ये सब कहने की बात नहीं। उस समय उल्लेखनीय यह था कि एक लेखक का कविता संग्रह मरणोत्तर प्रकाशित हो रहा है, उनकी मृत्यु के दो-तीन महीने बाद ही यह अवश्य था कि उसका अनुबन्ध उनके जीते जी हो गया था।

उदयन : ज्ञानपीठ से?

अशोक : हाँ और उस अनुबन्ध में संग्रह का नाम था- 'सहर्ष स्वीकारा है'। उस अनुबन्ध पर मुक्तिबोध के अचेत होने के चार दिन पहले हमने भोपाल में उनसे उस पर दस्तख़त कराये थे। जब तरतीब देना शुरू हुआ लगा कि इस कविता में सहज स्वीकार और हर्ष दोनों नहीं है। इससे पहले कि यह छपे, कविता संग्रह का नाम बदलना चाहिए। मैंने श्रीकान्त से बात की, नेमिजी से बात की, दोनों सहमत हुए। फिर हमने नये नाम की तलाश शुरू की। काव्य पंक्तियों से दो नाम 'डूबता चाँद कब डूबेगा' और 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में से श्रीकान्त जी को 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' ज़्यादा अच्छा लगा। वह हिन्दी का पहला कविता-संग्रह है, जो एक तो इतने बड़े लेखक का मरणोत्तर प्रकाशन है, दूसरा तीन पीढ़ियों के लेखक उसे सम्भव बनाने में लगे हुए थे। शमशेर ने भूमिका लिखी, नेमि जी ने उसके समझ में न आने वाले शब्दों को देखा और तय किया कि यहाँ यह शब्द होगा क्योंकि उसमें बहुत सारे अटपटे शब्दों का इस्तेमाल है। यह पहली पीढ़ी हुई। दूसरी पीढ़ी के श्रीकान्त और तीसरी के हम थे। 'अँधेरे में' कविता का एक रूप हम लोगों ने मुक्तिबोध से सागर में सुना था। सुनने वाले हम पाँच लोग ही थे- राजा दुबे, आग्नेय, प्रबोध कुमार, रमेशदत्त दुबे और हम। बाद में मैंने उनको चिट्ठी लिखी थी कि यदि 'वेस्टलैण्ड' पश्चिमी कविता का क्लैसिक है तो आपकी यह कविता हिन्दी कविता का क्लैसिक है और अब मैं आपको 'दूसरा निराला' कह सकता हूँ। मैं यह लिख चुका था पर मुझे याद नहीं रहा था। मुक्तिबोध ने सारे लेखकों की चिट्ठियाँ सम्भालकर रखी थीं, उनकी ये चिट्ठियाँ जब छपीं 'मेरे परिजन' शीर्षक से, तब उसमें मेरी यह भी चिट्ठी थी। उन दिनों यहाँ दिल्ली में ज्ञानपीठ का दरियागंज में दफ़्तर था, उसमें महीने में एक बार गोष्ठी शुरू हुई थी। जब मुक्तिबोध बीमार पड़े तो एक गोष्ठी में तय हुआ कि ज्ञानपीठ से ही मुक्तिबोध का संग्रह निकालने की बात की जाए और यह बात श्रीकान्त वर्मा और प्रभाकर माचवे करेंगे। उनका ज्ञानपीठ से कुछ सम्पर्क भी था। पोलैण्ड की अग्नेश्का सोनी थीं, वे राजनाँदगाँव गयी थीं, मुक्तिबोध ने वह कविता उनके हाथ भेज दी, उस समय उसका शीर्षक था- 'आशंका के द्वीप अँधेरे में'। उस कविता का पाठ ज्ञानपीठ की गोष्ठी में करना तय हुआ। श्रीकान्त ने थोड़ी देर पाठ किया फिर उनका गला जवाब दे गया, बाकी पाठ मैंने किया, करीब तीन चौथाई कविता मैंने पढ़ी। फिर यह तय हुआ कि इसको 'कल्पना' में प्रकाशन के लिए भेजें। 'कल्पना' में 'आशंका के द्वीप अँधेरे में' शीर्षक से ही यह कविता छपी। उसके पहले हम कमलेश के साथ एक पत्रिका निकालने की योजना बना रहे थे- 'पुनर्वसु' उसके लिए मुक्तिबोध को चिट्ठी लिखी थी कि वे कविता भेजें। उन्होंने लिखा कि आपने बताया है कि आपकी पत्रिका बत्तीस पृष्ठों की होगी, हमारी कविताएँ ही इतनी लम्बी होती हैं कि बत्तीस पृष्ठ तो एक कविता ही खा जाएगी। शायद उनके दिमाग में उस पत्रिका में इस कविता को भेजना रहा हो, बहरहाल। यह पहली बार प्रकाशित हुई और जहाँ तक मुझे याद है कि एक 'साहित्यिक की डायरी' भी १९६४ में ही प्रकाशित हुई। किसी एक लेखक की मरणोत्तर दो-तीन पुस्तकें निकलने के साथ उसकी बीमारी में लेखकों का इकट्ठा होना, इस सबने हिन्दी जगत पर एक गहरा प्रभाव छोड़ा। बल्कि मुक्तिबोध की एक तरह से हिन्दी में मान्यता की शुरुआत हो गयी। दूसरी तरफ हिन्दी साहित्य का केन्द्र बनने की स्थिति के बावजूद यहाँ हालात ऐसे बने हुए थे कि अँग्रेज़ी की ही पूछ बनी थी। अज्ञेय 'टाइम्स ऑफ़ इण्डिया' में एक स्तम्भ लिखते थे, 'लिटरेरी कॉज़ेरी।' अब हिन्दी या भारतीय भाषाओं की किसी घटना या वृत्ति या आयोजन की कोई रिपोर्ट अँग्रेज़ी के किसी अखबार में नहीं होती, उस समय ऐसी हालत नहीं थी। बाद में हमने जब 'पहचान' निकाली, श्रीकान्त ने 'पहचान' की एक समीक्षा अँग्रेज़ी में हिन्दुस्तान टाइम्स में छपवाई थी। उस समय तक यह ध्रुवीकरण, जो बाद में हुआ, नहीं था। थोड़ी-बहुत

चिन्ता कि और भारतीय भाषाओं में क्या हो रहा है, अँग्रेज़ी प्रेस भी करता था। उस समय हिन्दी का किसी हद तक प्रक्षेपण करने वाले मैथिलीशरण गुप्त, रामधारी सिंह दिनकर, बच्चन वगैरह लोग थे जो संसद और उसके बाहर लेखक के रूप में हिन्दी का कुछ न कुछ करते रहते थे। तब तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, नागरी प्रचारिणी सभा, विभिन्न विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों जिनमें दिल्ली विश्वविद्यालय भी था, जे. एन.यू. तो बना ही नहीं था, इन सबका विद्वत्ता के स्तर पर और अध्यापकों के व्यवहार के स्तर पर भी वैसा अधःपतन नहीं हुआ था। हिन्दी शोध की इतनी हालत खराब नहीं थी जितनी अब है। केन्द्र सरकार में हिन्दी को लेकर शुरू से ही जो दुचित्तापन था, वह बढ़ता ही गया। उसमें कोई खास कमी आयी नहीं थी। हिन्दी को लेकर एक दुश्चक्र बना नौकरशाही में, खासकर केन्द्र की नौकरशाही में जो अँग्रेज़ी में ही काम करने की बहुत इच्छुक थी और हिन्दी में अनिच्छुक। तब के राजनैतिक परिदृश्य में कई राज्यों में हिन्दी को लेकर बहुत विरोध भी था। इन दोनों ने मिलकर जो भूमिका निभाई, हिन्दी को राजभाषा बनाने के लिए जो प्रयास किए, उसने भाषा में गैर मुहावरेदारी व व्यर्थ की संस्कृतनिष्ठता पैदा की जिससे हिन्दी राजभाषा बोलचाल से जितना दूर हो सकती थी, होती गयी और एक 'खग भाषा' बन गयी जिसे हिन्दी अनुवादक ही समझ सकते हैं, हिन्दी का सामान्य भाषा-भाषी नहीं। धीरे-धीरे नौकरशाही में और उसके प्रभाव में रहने वाले राजनेताओं में यह धारणा बद्धमूल हो गयी कि हिन्दी में सूक्ष्मता, जटिलता, परिष्कृति इत्यादि सम्भव ही नहीं। लोहिया आदि ने और समाजवादी पार्टी ने अँग्रेज़ी हटाओ आन्दोलन किया लेकिन वे इसे दूसरे छोर पर ले गये। इससे भी बाद में मोह भंग होना शुरू हुआ। नामपट्ट अँग्रेज़ी में नहीं होंगे, उन्हें पोतना शुरू किया गया। कुल मिलाकर १९६५ में हिन्दी को राजभाषा पूरी तरह बन जाना था तो फिर ये संशोधन आया कि ये दोनों भाषाएँ चलेंगी, हिन्दी और अँग्रेज़ी, हिन्दी के व्यवस्थित राजकाज में गैर हिन्दी प्रदेशों की अनुकूलता बनने तक। ज़्यादातर जगहों में धीरे-धीरे हिन्दी का काम करने वाले ज़्यादातर लोग ऐसे होते चले गए जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं थी। इनमें बहुत सारे पंजाबी थे जिनका हिन्दी से सहज सम्बन्ध नहीं था। ऐसे लोग थे जेा कहते हैं कि आप 'हंस' रहे थे, क्योंकि वो अर्धचन्द्र को पढ़ नहीं पाते थे। उन्होंने इस अटपटेपन को और बढ़ाया। एक तरफ तो यह हुआ कि हिन्दी तरह-तरह के भाषा-भाषी बोल लिख सकते हैं, यह अच्छी बात है। किन्तु प्रयोग का अटपटापन एक समस्या है। एक दूसरी समस्या यह भी है कि हिन्दी में दूसरी भाषा सीखने का उत्साह बहुत कम है। उसका एक बड़ा कारण यह है कि हिन्दी में बोलियाँ ही इतनी हैं और कइयों का क्षेत्र इतना बड़ा है, उनको बोलने वालों की संख्या इतनी अधिक है कि खड़ी बोली हिन्दी का व्यवहार करने वाला व्यक्ति एक और बोली का धनी होता ही है। वो एक तीसरी भाषा कैसे और क्यों सीखे। लेकिन इसका बुरा प्रभाव पड़ना शुरू हुआ। ये छवि बहुत पहले बनना शुरू हो गयी थी कि हिन्दी में बहुत सारे लोगों को जिस प्रतिभा और उपलब्धि के आधार पर अच्छी नौकरी मिल सकती है वैसी ही प्रतिभा व उपलब्धि रखने वाले अन्य भाषा-भाषी को नहीं मिल सकती है। बैंकों में, सार्वजनिक उपक्रमों में, मन्त्रालयों में जैसी सारी जगहों में हिन्दी अधिकारी आदि के पद हिन्दी भाषियों के लिए सुरक्षित रहे। हिन्दी में सत्ता की चापलूसी करने की वृत्ति फैल गयी है जो संस्कृत में भी रही है और शायद हर भाषा में रहती होगी। हालत यह है कि सत्ता का विरोध करने वाले लोग भी, जैसे नामवर सिंह, मंच पर सत्ता की चापलूसी करने से बच नहीं पाते। ये एक और दबाव हिन्दी पर था, जो लोग नियुक्त हुए उन्होंने चापलूसी का एक तन्त्र बना लिया। यह हिन्दी-सत्ता थी, यहाँ गलत-सलत आँकड़े बताकर यह कोशिश होती है कि बताया जाये कि हिन्दी में बहुत काम हो रहा है जबकि नहीं हो रहा था या है।

उदयन : लेकिन इसका क्या एक कारण यह नहीं होगा कि ज़्यादातर हिन्दी वालों और संस्कृत वालों को भी इस बात का अहसास होगा कि अपनी भाषा का होने से हम तो वैसे ही हाशिए के हैं, चापलूसी करके हम शायद कुछ अच्छा कर लें।

अशोक : हिन्दी में चापलूसी की कोई परम्परा नहीं रही। अज्ञेय ने यह कहा था कि हिन्दी संघर्ष की भाषा रही है। सत्ता में होने का न इसको अनुभव है और न कभी उसने सत्ता चाही है। एक तरह से हिन्दी का स्वभाव सत्ता के विरुद्ध संघर्ष का रहा है और उसमें सच्चाई भी है। संघर्ष की परम्परा वाली भाषा का आगे चलकर एक विद्रूप बना- विश्व हिन्दी सम्मेलन, हालाँकि यह बाद में बना। इसकी शुरूआत नागपुर से हुई। अपने को वैध बताने के चक्कर में और यह जताने की कोशिश में कि हम संसार भर में फैले हुए हैं, बड़े लश्तम-पश्तम ढँग से यह चला। भले ही शुरूआत में सदिच्छा रही हो लेकिन उसका जो रूप बनता गया, उसमें हिन्दी के बहुत सारे लोगों में सत्ता की आकांक्षा जागी। उस समय के जितने हिन्दी क्षेत्र के विश्वविद्यालय हैं, उनके अधिकांश हिन्दी विभाग आपस में लड़ने-झगड़ने वाले विभाग बने और चापलूसी के मंच बने। उन विभागों के कई लोग जिनमें नन्ददुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र इत्यादि शामिल थे कुलपति होने के न केवल आकांक्षी हुए बल्कि प्रयत्नशील भी रहे। नगेन्द्र सफल नहीं हो पाये। नन्ददुलारे वाजपेयी कुलपति बने और उसी के दबाव में- तनाव में उनकी मृत्यु भी हुई। उनकी आकांक्षा सागर विश्वविद्यालय के कुलपति होने की थी। ऐसा और जगह भी हुआ जैसे देवेन्द्रनाथ शर्मा थे पटना में। धीरे-धीरे हिन्दी का जो विद्या परिसर है वह चापलूसी का, लड़ाई-झगड़ों का, बुद्धि के दूर हटने का परिसर बनता गया। अगर इसके बावजूद कोई अच्छा छात्र भी निकला वह हिन्दी शिक्षा के कारण ऐसा नहीं हुआ, उसने अवान्तर जो प्रयत्न किया होगा, स्वयं कुछ किया होगा, उससे वह अलग हुआ होगा। इस सबकी शुरुआत उस समय थी और एक तरह से यह इच्छा कि हिन्दी में अन्य भाषा-भाषी भी आयें और उनका भी समान रूप से स्वागत हो, उसका फल यह हुआ कि वहाँ ऐसे लोग भी आये जिन्होंने हिन्दी को अटपटा व गैर मुहावरेदार बनाने में अपनी भूमिका निभायी। हिन्दी पत्रकारिता में उस समय 'नवभारत टाइम्स' व 'दैनिक हिन्दुस्तान' की ही प्रतिष्ठा थी, 'वीर अर्जुन' भी था। बहुत अखबार तो थे ही नहीं, अब बढ़ गये हैं। इनसे बहुत सारे हिन्दी के लेखक सम्बद्ध रहे। उसी के आसपास 'दिनमान' निकला, 'धर्मयुग' था जिसने उस समय महत्वपूर्ण काम किया। फिर 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' निकला, 'सारिका' जैसी पत्रिकाएँ निकलीं। पत्रिकाएँ निकलीं तो प्रकाशन समूहों से लेकिन इनके मालिक हिन्दी प्रेमी लोग थे जिनमें बाबू शान्तिप्रसाद जैन, रमा जैन आदि भी थे जिन्होंने ज्ञानपीठ प्रकाशन बनाया, ज्ञानपीठ पुरस्कार स्थापित किया। यह सब हिन्दी की ही पहल है। उस समय पत्रिकाओं के माध्यम से ही हिन्दी का एक बड़ा पाठक वर्ग दीक्षित हुआ, इन्होंने सांस्कृतिक साक्षरता फैलाने का काम किया। संसार भर में जो हो रहा है, उसको बताने का काम, शास्त्रीय संगीत में समझ बढ़ाने का काम, रंगमंच के प्रति जागरूकता लाने का काम, ललित कलाओं को समझने का काम, पुस्तकों को गम्भीरता से पढ़ने-समझने का काम 'दिनमान' व अन्य पत्र-पत्रिकाओं ने उस समय किया। इनको हिन्दी समाज का समर्थन भी मिला लेकिन एक समस्या बाद में जाकर विकराल हुई कि हिन्दी पट्टी आर्थिक तौर पर विपन्न ही रही। उसके पास वित्तीय साधन इतने कभी नहीं हुए कि वो ऐसे प्रयत्नों को टिकाऊ बना सके। मसलन 'दिनमान' और बाद में 'धर्मयुग' बन्द किये गये। उसके पीछे बड़ा कारण ये था कि उन पर जितना खर्च आता है, विज्ञापन उतने नहीं मिलते और प्रसार संख्या से उतना खर्च निकालना सम्भव नहीं था। उनके बन्द होने का व्यावसायिक कारण था लेकिन हिन्दी समाज के पास वह आर्थिक

शक्ति भी नहीं थी। मेरा ख्याल है कि तभी हिन्दी का एक उठाईगीर किस्म का नकलची मध्यवर्ग विकसित होना शुरू हुआ जो अब इतना फैल गया है कि भारत का सबसे बड़ा मध्यवर्ग है।

उदयन : सबसे शक्ति सम्पन्न भी....

अशोक : हाँ, और इसका अपनी भाषा से कोई लगाव नहीं है। यह वर्ग हिन्दी पट्टी से हर हालात में अपने को दूर करने में लगा रहता है। इस समाज की बड़ी भारी एक कमी यह रही है, बाकी और भाषी समाजों से कि उसे अपने साहित्य और लेखकों की कोई विशेष चिन्ता नहीं रही और वह चिन्ताहीनता उदासीनता में बदल गयी। अब स्थिति यह है कि हिन्दी समाज इस बात पर गर्व कर सकता कि उसके पास वैसा साहित्य है जो संसार की किसी भी भाषा के समकक्ष रखा जा सकता है पर उसे उसकी खबर ही नहीं है। यह कैसा विचित्र समाज है कि उसे अपनी ही साहित्यिक उपलब्धियों से इतनी बेखबरी है। इस बढ़ती-विकराल होती उदासीनता की शुरुआत उस समय हो गयी थी। बहुत सारी अच्छी पत्रिकाएँ जैसे 'कल्पना', 'कृति', 'दिनमान' लगातार बन्द होती रहीं। क्यों बन्द हुई जबकि मराठी में, मलयालम में किसी लेखकीय प्रयत्न से निकलती, बदरीविशाल पित्ती जैसे लोगों द्वारा निकाली जा रही थीं। बाँग्ला की 'देश' पत्रिका चल रही है, वह व्यावसायिक प्रकाशन है, दुनिया में कहीं जाएँ कोई बंगाली मिले, वह 'देश' पत्रिका अवश्य मँगवाता है। हमारे यहाँ ऐसा नहीं होता।

उदयन : तुम ये जो पूरा दृश्य बता रहे हो- सामाजिक, शैक्षिक दृश्य, कहीं ऐसा तो नहीं कि इसकी जड़ें खड़ी बोली के बनने में हों, खड़ी बोली का बोलियों से जो सम्बन्ध बना, उस कारण वह इनसे दूर छिटक गयी या यह विशुद्ध रूप से एक तरह की संस्कृति की लापरवाही या उदासीनता या फिर दोनों का परिणाम रहा। एक समाज, जो तुमने कहा, कि उस वक़्त दिल्ली में पनप रहा था और शक्ति सम्पन्न हो रहा था लेकिन एक और समाज है उससे हिन्दी भाषा का क्यों सम्बन्ध नहीं बन पाया। हिन्दी की साहित्यिक व सांस्कृतिक स्थिति का; और इसके क्या कारण रहे होंगे।

अशोक : कारण कई होंगे। एक तो खड़ी बोली ने हिन्दी का मुख्य माध्यम बनने के बाद उसकी बोलियों का तिरस्कार किया। उन्नीसवीं शताब्दी से पहले हमारी सारी कविता खड़ी बोली से इतर बोलियों में है लेकिन बीसवीं शताब्दी की शुरुआत से खड़ी बोली का वर्चस्व बढ़ता है तो इन बोलियों में लिखी जाने वाली कविता या साहित्य को कोई हिसाब में ही नहीं लेता। थोड़ा-बहुत भोजपुरी, राजस्थानी में क्षेत्रीय दबाव के चलते कुछ है, पर कुल मिलाकर खड़ी बोली में इनके प्रति तिरस्कार भाव-सा है। इससे जो कटाव पैदा हुआ वह भी एक कारण है। दूसरा बड़ा कारण दिखता है मार्क्सवादी हस्तक्षेप। शुरुआत में बहुत बड़ा अभियान तुलसीदास के खिलाफ ही चला फिर बाद में रामविलास शर्मा वगैरह को अक्ल आयी तो मूलोच्छेदन भाव कम हुआ। इस सब से इस पूरे समाज में नये किस्म के विभाजन व छुआछुत पैदा हुई। इसकी विडम्बना यह है कि नागार्जुन तो मैथिली में, संस्कृत में भी कविता लिखते थे लेकिन उनके जिस पक्ष को मार्क्सवादी उभारते रहे, वो यह पक्ष नहीं था। इस हस्तक्षेप ने एक तो नये विभाजन व ध्रुवीकरण पैदा किये। मार्क्सवादी विचारधारा के आधार पर विश्लेषण- मान्यता-सरणियाँ-संस्थागत उपाय-पत्रिकाएँ-संघ बने, इससे हिन्दी का बहुत बड़ा हिस्सा बाहर कर दिया गया। किसी वैधता की तलाश में जब ज़रूरत पड़ी तो निराला को, भारतेन्दु को हथिया लिया वरना प्रेमचन्द के अलावा और फिर बाद में नागार्जुन-त्रिलोचन-केदारनाथ

अग्रवाल ही उनकी मान्यता में रहे। यह बड़ा दिलचस्प है कि मुक्तिबोध पर इनकी आरम्भिक प्रतिक्रिया प्रतिकूल ही थी। रामविलास शर्मा ने पूरी पुस्तक ही लिखी जिसमें उनको अस्तित्त्ववादी करार दिया गया। अस्तित्त्ववादी थे ही तो वे क्या मार्क्सवादी होना कुछ कम हो जाते? हो जाते हैं, क्योंकि अन्ततः आपकी कोटियाँ मार्क्सवादी और गैर मार्क्सवादी भर हैं। हिन्दी के बढ़ने के जो आन्दोलन हो सकते थे, बोलियों के साथ सम्बन्ध को दुरुस्त करने के आन्दोलन हिन्दी में साहित्य की स्थिति को सशक्त करने के वो सब माध्यम व आन्दोलन एक झूठे वैचारिक संघर्ष में झौंक दिये गये जिससे कोई खास नतीजा अन्ततः नहीं निकला। जो भी अभियान चला अज्ञेय, निर्मल वर्मा, विद्यानिवास मिश्र आदि के विरुद्ध चला, हिन्दी में इनके कद में कोई खास कटौती तो हुई नहीं, थोड़ी-बहुत देर-सबेर भले ही लगी हो। जब भी बड़े लेखकों के नाम लिए जाएँगे, ये रहेंगे ही। एक वैचारिक संघर्ष हिन्दी की वैचारिक सम्पदा को बढ़ाने में लगता जैसे बहुत सारे मार्क्सवाद से प्रभावित लोगों ने इतिहास में, समाजशास्त्र में बहुत काम किया, उससे आप सहमत हों-असहमत हों ये अलग बात है- लेकिन उन्होंने सामग्री तो तैयार की, वैसा कुछ हिन्दी में नहीं हुआ, हुआ भी तो बहुत थोड़ा। कोई वैचारिक समृद्धि भी नहीं हुई- कोई सम्पन्नता की ओर भी नहीं बढ़े और एक झूठे वैचारिक युद्ध में पीढ़ियाँ-दर-पीढ़ियाँ खप गयीं। हिन्दी के मध्यवर्ग के दिमाग में ये छवि बनना शुरू हुई कि ये लेखक आपस में इतना लड़ते-झगड़ते रहते हैं, इनमें दिलचस्पी लेने का क्या मतलब है। अन्य भाषाओं में जहाँ वैचारिक मतभेद होते हैं वहाँ लेखकों के बीच एक आपसदारी भी है। बाँग्ला में, मलयालम में जहाँ कि वामपन्थी सरकारें रही हैं- वहाँ अधिक खुलापन रहा। एक बार मैंने कहा था कि हिन्दी में मार्क्सवादी प्रवृत्ति के इतने हिंसक रूप से आक्रमक होने और वैचारिक छुआछूत फैलाने का एक कारण यह भी है कि वे कभी यहाँ सत्ता में नहीं आये और उनका सत्ता से एक किस्म का शमन या उसकी सच्चाइयों की एक बेहतर समझ पैदा नहीं हुई। चूँकि आप न सत्ता में आये न निकट भविष्य में आ सकते हैं, आपने साहित्य को ही सत्ता का एक रूप बना दिया और उसी में शक्ति संघर्ष करते रहते हैं ताकि वहाँ हमारी प्रभुता बनी रहे क्योंकि प्रभुता की आकांक्षा प्रबल है। इनके बड़े लेखकों में न रही होगी- मुक्तिबोध में नहीं रही, शमशेर में नहीं रही, सम्भवतया नागार्जुन में भी नहीं रही लेकिन और लोगों में रही और उसका फल भी वो खूब भोग ही रहे हैं।

उदयन : उस समय ऐसे कौन से हिन्दी के पुराने कवि थे भक्तिकाल-रीतिकाल, के जिनकी कविता की तरफ तुम्हारा रुझान बढ़ रहा था क्योंकि तुमने दुनियाभर की कविता पढ़ने के बारे में पहले जो बताया, उससे हिन्दी की ओर जो आत्मचेतना जाग्रत हुई होगी तो निश्चित ही कुछ प्राचीन कविता के प्रति कुछ रुझान उत्पन्न हुआ होगा।

अशोक : उनमें तुलसीदास, कबीर, सूरदास आदि को मैंने विधिवत तो पढ़ा नहीं था, इनसे थोड़ा बहुत परिचय था। दिदिया 'रामचरितमानस' पढ़ती थीं और दादा भी पढ़ते थे। उनके साथ मैंने 'रामचरितमानस' का अखण्ड पाठ भी किया था लेकिन तब वैसी समझ नहीं थी। 'रामचरितमानस' से ज़्यादा ध्यान मेरा 'विनय पत्रिका', 'कवितावली' की तरफ गया। तुलसीदास का अकाल वर्णन, सूरदास की वात्सल्य लीला की प्रचलित छवि से अधिक रसलालित्य की कविता-शृंगारिक कविता की ओर ध्यान गया। कबीर की ओर ध्यान देने का कारण एक तरह से कुमार गन्धर्व का संगीत बना। पद्माकर और देव को थोड़ा-बहुत पढ़ा। पद्माकर सागर के थे लेकिन हमको न तो ये पता ही था और न उनके काव्य की कोई ज़्यादा खबर थी। रीतिकवियों ने

भक्तकवियों से कहीं अधिक भाषा के साथ खिलवाड़ किया-अच्छे अर्थों में। उसकी सर्जनात्मकता का, ऊष्मा का प्रभाव पड़ना भी शुरु हुआ।

उसी समय सत्ता में शामिल होने का सुयोग या दुर्योग जुड़ रहा था तो यह बात समझ में आने लगी कि सत्ता में रहकर भी आप सत्ता के चारण होने के बजाए साहित्य की सत्ता स्थापित करने की चेष्टा कर सकते हैं। एक तरह से रीतिकाव्य में प्रतिसत्ता है जो कविता की सत्ता है। राज्य से आप संरक्षित व पोषित हैं लेकिन आप कर ये रहे हैं कि अपनी कविता की ही स्वतन्त्र सत्ता बन रही है। उसको बनाने के लिए उन्होंने भक्तिकाव्य के कुछ अभिप्रायों का सहारा लिया, मतलब पौराणिक चरित्र कृष्ण और राधा ही लिये। उनसे ये भी कोई नहीं कह सकता था कि आप सत्ता के विरुद्ध जा रहे हैं। वे एक तरह से भौतिक व मानवीय सत्ता के बरअक्स एक मिथकीय काव्यसत्ता स्थापित कर रहे हैं। उस समय जब ये समझ में आया, उससे एक नैतिक बल मिलना शुरू हुआ।

उदयन : जब तुम शासन में आये, मसूरी में प्रशिक्षण के समय से ही अँग्रेज़ी का माहौल रहा होगा, भारतीय भाषाओं का कोई अच्छा स्थान उस जीवन में सम्भवतः न रहा होगा।

अशोक : वैसा नहीं था। जो लोग हिन्दी नहीं जानते थे, उनके लिए अलग से हिन्दी की कक्षाएँ होती थीं लेकिन वहाँ सब काम अँग्रेज़ी में ही होता था। असल में जब मसूरी से मध्यप्रदेश पहुँचा, फिर एक बड़ा परिवर्तन हुआ क्योंकि मध्यप्रदेश में अँग्रेज़ी का कोई मतलब नहीं था। हम पहले कलेक्टरेट में फुड ऑफिसर बने-असिस्टेण्ट कलेक्टर के रूप में। प्रशिक्षण के दस महीने पूरे हुए, होना चाहिए थे अठारह पर हमारे कलेक्टर भावे साहब ने कहा कि हो गया, अब तुम महासमुन्द के अनुविभाग अधिकारी हो जाओ। वहाँ अँग्रेज़ी का कुछ नहीं था। हिन्दी की दुनिया से जब मैं दिल्ली आया तो अँग्रेज़ी की दुनिया में आया और फिर यह जो दुनिया थी अँग्रेज़ी की दुनिया से वापस अपनी हिन्दी की दुनिया में पहुँच गया।

उदयन : इन सब बातों से आगे जाकर यह पूछना चाहता हूँ कि अब हम तुम्हारी कविता के तत्सम निष्ठता स्रोतों की बात करें। तुम्हारी दृष्टि में वह कहाँ से आती हैं।

अशोक : जो बातें चल रहीं थी उनमें दो-तीन बातें छूट रही हैं, पहले उन्हें लेते हैं। हम जिस समय की बात कर रहे थे, यह वह समय था जब हिन्दी अंचल में बहुत सारी निजी पहल पर शुरू की गयी संस्थाएँ- हिन्दी साहित्य सम्मेलन, नागरी प्रचारिणी सभा, राष्ट्रभाषा परिषद, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान इत्यादि जिन्होंने एक जमाने में बड़ा अच्छा काम किया, वे सब धीरे-धीरे नष्ट होती गयीं और उनको नष्ट करने का काम भी हिन्दी सेवियों ने किया। हिन्दी के नाम पर उन्हें सरकारों से अनुदान मिलना शुरू हो गया था, ज़्यादातर हिन्दी सेवियों की दिलचस्पी अनुदान पर ही लगी रही और इन संस्थाओं का धीरे-धीरे हिन्दी साहित्य समाज से भी सम्बन्ध टूट गया। इसकी चर्चा इसलिए कि बाद में जब 'भारत भवन' की परिकल्पना हुई या मध्यप्रदेश कला परिषद का पुनराविष्कार किया तो उस सबके पीछे एक कारण था कि मुझे इस बात का बहुत ही तीखा अहसास था कि हिन्दी अंचल में संस्थाएँ अब चल नहीं पा रही हैं इसलिए नया संस्थागत प्रयत्न करने की ज़रूरत है।

उदयन : इसकी शुरुआत तुम्हारे 'पहचान' के प्रकाशन से ही शुरु हो गयी थी, जो एक तरह की असंस्थागत पहल ही थी। वह तुम्हारे अपने व्यक्तिगत प्रयास से शुरु हुई थी।

अशोक : 'पहचान' के पीछे दो तरह की बातें थी। एक यह कि सरकारी सेवा में रहते हुए मेरा सम्बन्ध साहित्य की दुनिया से टूट न जाए, उस सम्बन्ध को बनाने की उत्सुकता व बेचैनी थी। दूसरा ये था कि हमारी पीढ़ी के और बाद के बहुत से प्रतिभाशाली कवि थे और उन दिनों कविता संग्रहों के प्रकाशन की कोई सम्भावना नहीं थी। हिन्दी अंचल में जो विचार की परम्परा पहले थी जिसमें वासुदेवशरण अग्रवाल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, काशी प्रसाद जायसवाल, रायकृष्णदास जैसे लोग थे जो संस्कृति, साहित्य, कलाओं पर विचार करते थे, वह परम्परा भी क्षीण हुई थी। उसके पीछे मेरा यह सन्देह है कि हिन्दी विभागों की जड़ता और मूर्खता या उनका एक तरह का अलगाववाद कारण रहा होगा। हिन्दी विभाग अधिकतर चापलूसी, प्रतिस्पर्धा, वफ़ादारी में उलझ गये और दूसरे अनुशासनों से हिन्दी का संवाद बनाने में उनकी जो भूमिका हो सकती थी, वह उन्होंने तज दी। थोड़ी बहुत शायद कहीं बाकी रही होगी वरना यही वह समय है जब हिन्दी में शोध का ह्रास और उसमें तरह-तरह का कदाचार हुआ। प्रेमचन्द का समाजशास्त्रीय अध्ययन जैसे विषयों पर यदि ठीक तरह से शोध किया जाता तो उसमें कोई एक समाजशास्त्री को निर्देशक होना चाहिए था। हिन्दी की अनर्जित लेकिन सर्वज्ञ विद्वत्ता का भ्रम हिन्दी विभागों ने पालना शुरू किया कि दार्शनिक-समाजशास्त्रीय-मनोवैज्ञानिक ये सब सलाहियतें हिन्दी में ही हैं- हिन्दी आलोचना व साहित्य में हैं, इसके लिए दूसरे अनुशासनों की मदद लेने या संवाद करने की जरूरत ही नहीं है।

उदयन : किशोरीदास वाजपेयी का भी यही हुआ कमोबेश, उन्होंने भी इतनी बढ़िया किताब लिखी पर उसकी भी अब कम ही स्मृति है।

अशोक : ये जो दुनिया बनी, इसमें एक भूमिका हिन्दी विभागों की है। आज हम इसका बड़ा रोना रोते हैं कि हिन्दी में कोई विचार सम्पदा नहीं है, हिन्दी में कोई बड़ा इतिहासकार, अर्थशास्त्री या दार्शनिक नहीं है। इसके पीछे हिन्दी विभागों आदि का विचित्र किस्म का अलगाववाद व अहंकार, अपनी अनर्जित विद्वत्ता पर अपरीक्षित आत्मविश्वास रहा है। उसने भी भाषा की सम्भावनाओं को कुण्ठित किया। जो युवा शोधकर्त्ता या पढ़ने-लिखने वाले थे, उनमें ज़्यादातर बाद में फिर मार्क्सवादी समूह में चले गये। उनको कोई इतर दृष्टि देने में ही हिन्दी विभागों की कोई भूमिका नहीं रही। एक द्वैत बना कि सामाजिक दृष्टि तो मार्क्सवादी है और सौन्दर्यपरक दृष्टि कलावादी। इस ध्रुवीकरण में हिन्दी विभागों की मूढ़ताओं का हाथ है क्योंकि उन्होंने साहित्य का अपना कोई स्वायत्त शास्त्र हो सकता है, इस पर विचार ही नहीं किया। पश्चिम में जो विचारशास्त्र बने थे उनका एक अधकचरा-सा संस्करण यहाँ बना, हमारी अपनी इतनी लम्बी परम्परा थी जो स्वायत्तता व स्वतन्त्रता पर आग्रह करती थी, उसकी कोई बौद्धिक उपस्थिति ही नहीं हुई। हम लोगों ने जब लिखना शुरू किया और यह समझ में आया कि हमारी ज़िन्दगी में सबसे महत्त्वपूर्ण काम साहित्य लिखना होने वाला है, वह एक ऐसे परिवेश में था जिसमें इस तरह के कोई सम्बल सहज उपलब्ध नहीं थे, वे मौजूद ही नहीं थे। एक तरह का वैचारिक शून्य या वैचारिक अराजकता थी। भाषा के नाम पर शोषण व उपभोग करने वाले लोगों की नयी फ़ौज थी। ऐसी राजकाज की भाषा का विकास हो रहा था जिसमें न तो राज सम्भव था न काज सम्भव था। कुल मिलाकर एक ऐसे बौद्धिक परिवेश का अभाव था जो आपको चुनौती दे, सहारा दे, उत्तेजना दे। हिन्दी विभागों ने ही हिन्दी की अपनी जो साहित्यिक बौद्धिकता थी,

उसको तिरस्कृत करने का प्रयत्न किया। हमारे जितने बड़े कवि हुए तुलसीदास, सूरदास और बाद के रीतिकालीन कवि, फिर छायावाद के कवि निराला-प्रसाद आदि ये सब बौद्धिक कवि भी हैं। इनकी कविता बौद्धिक हस्तक्षेप की कविता है, वह बिना बुद्धि की सक्रिय भूमिका के हो ही नहीं सकती। हिन्दी विभागों का विकास छायावादोत्तर गीतिपरक कविता के वातावरण में हुआ। एक तरफ प्रेमचन्द की ज़्यादातर अभिधापरक गल्पबुद्धि दूसरी तरफ बच्चन-दिनकर आदि की भावोच्छवास वाली कविता, इस सबने मिलकर बौद्धिकता को ही सन्दिग्ध बना दिया। मैं कहता रहा हूँ कि नयी कविता ने हिन्दी की बौद्धिकता का पुनर्वास किया, उसको छायावाद की बौद्धिक परम्परा से फिर से जोड़ा जो उससे पहले की व्यापक-लम्बी बौद्धिक परम्परा से जुड़ी है। अन्यत्र उसे हटाने का भी प्रयास हुआ। नयी कविता और नये साहित्य को लेकर अमेरिका को छोड़कर सारे संसार में हमेशा ही, यूरोप के सारे देशों में वर्षों तक अस्वीकार्यता रही है और बड़ी मुश्किल से इलियट भी ऑक्सफोर्ड व कैम्ब्रिज में प्रवेश कर पाये। विश्वविद्यालयों का एक तरह का रूढ़ि-प्रेम प्रबल होता ही है लेकिन हमारे यहाँ वह ज़्यादा ही लम्बा चला और उसका ध्रुवान्त भी ऐसा है कि ऐरे-गैरे-नत्थू खैरे समकालीनों पर पीएच.डी. हो रही है, शोधग्रन्थ लिखे जा रहे हैं। मध्यकालीन कविता पढ़ने की इच्छा व प्रयत्न ग़ायब हो गये। एक नितान्त समसामयिकता से अध्ययन व शोध घिर गया और अब ये हालत है कि तुलसीदास और कबीर को पढ़ाने वाले अध्यापक नहीं हैं और नीरज, श्रीकृष्ण सरल जैसे लोगों पर पीएच.डी. व डी.लिट्. के शोधग्रन्थ लिखने वाले अपार लोग हैं।

उदयन : अज्ञेय व अन्य दो-तीन लोगों के अलावा जिन्होंने थोड़ी-बहुत कोशिश की और जिनका कोई अकादेमिक सम्बन्ध नहीं था, क्या हिन्दी विभागों में या हिन्दी जगत में अन्य कलाओं को लेकर कुछ विमर्शात्मक हलचल थी।

अशोक : कई लोगों ने काम किया था जैसे जगदीश गुप्त ने किया (जो विश्वविद्यालय में थे लेकिन विश्वविद्यालय में उनकी कोई आवाज़ इस क्षेत्र में नहीं थी और वह हिन्दी विभाग में नहीं हो सकती थी)। हिन्दी में किसी तरह का कला विमर्श सम्भव हो इसकी चेष्टा या तो अज्ञेय ने की थी अपनी पत्रिकाओं में या फिर थोड़ी छोटी-मोटी कुछ अन्य व्यक्तियों ने। अपनी पत्रिकाओं में जैसे श्रीकान्त वर्मा ने 'कृति' में या फिर एक ज़माने में 'कल्पना' में। इसके अलावा इप्टा के उत्तराधिकार के रूप में इस दिशा में थोड़ा-बहुत विमर्श होना शुरू हुआ पर वह विचारधारात्मक स्तर पर हुआ। चित्रप्रसाद, रामकिंकर जैसे जनवादी चित्रकारों के यहाँ। कुल मिलाकर पिछले पचास वर्षों में हिन्दी में कलाविमर्श यानि ललित कला विमर्श, संगीत विमर्श, नृत्य विमर्श, ये तीनों विमर्श बहुत क्षीण, शिथिल, सतही और अक्सर गैरवैचारिक रहे। वर्षों से प्रकाशित हो रही 'संगीत' नाम की पत्रिका पर आप किसी भी किस्म की वैचारिकता का आरोप नहीं लगा सकते। खुद श्रेय लेना ठीक नहीं लेकिन ये प्रयत्न ज्यादा संगठित रूप से तो भोपाल में ही शुरू हुआ। 'पूर्वग्रह' के अलावा और कौन-सी पत्रिका है जिसने स्वामीनाथन, सैयद हैदर रज़ा, रामकुमार, कुमार गन्धर्व, हबीब तनवीर इत्यादि पर पूरे-पूरे विशेषांक निकाले? लेकिन व्यापक हिन्दी की दुनिया में ऐसा कोई विमर्श नहीं है।

उदयन : उन दिनों ठाकुर जयदेव सिंह लिखते रहे होंगे, प्रेमलता शर्मा भी, इनका हिन्दी के साहित्यकारों व संस्थाओं पर कोई असर नहीं।

अशोक : कोई असर नहीं। इनका असर ज़्यादा से ज़्यादा संगीतकारों या संगीत के अध्यापकों तक रहा। ठाकुर जयदेव सिंह अँग्रेज़ी के अध्यापक थे, अँग्रेज़ी के ही विद्वान थे और उन्होंने संगीत के बारे में अपना सारा विचार अँग्रेज़ी में ही लिखा, इसी तरह प्रेमलता शर्मा ने। गाहे-बगाहे इनको कहीं बुला लिया जाता हो लेकिन हिन्दी की अपनी साहित्य केन्द्रित दुनिया में इनसे कोई संवाद की ज़रूरत ही किसी को नहीं लगती थी।

उदयन : क्या तुम ये कह रहे हो कि हिन्दी समाज ने, साहित्य ने, संस्थाओं ने एक तरह से अपनी सम्भावित समृद्धि के स्रोतों को खुद ही अवरुद्ध कर दिया।

अशोक : हाँ बिलकुल, इसका कोई बचाव नहीं हो सकता। किसी और ने तो यह किया नहीं। राज्य पर आप ये आरोप लगा सकते हैं कि उसने इस स्थिति से उबरने में कोई मदद नहीं की। लेकिन ये उसका काम नहीं। संस्थाएँ राज्य-पोषित बनीं, अकादेमियाँ स्थापित हुईं, पत्रिकाएँ निकलीं। ये भी विचित्र है कि रंगमंच का क्षेत्र जिसमें साहित्य का सीधा प्रवेश है उसमें भी जो रंगविमर्श की पहल हुई, वह भी एक व्यक्ति की निजी है- नेमिचन्द्र जैन और उनकी पत्रिका 'नटरंग'। बाकी किसी ने प्रायः कुछ नहीं किया। बहुत सारी छोटी-मोटी पत्रिकाएँ निकलीं और राज्य-पोषित संस्थाओं से निकलीं पर किसी का स्तर भी नहीं था और ऐसा प्रभाव भी नहीं था। स्थिति ये बनी कि हिन्दी का जो समकालीन रंगमंच है, पिछले तीस-चालीस-पचास वर्षों का, उसमें ज़्यादातर बड़े रंगकर्मी गैर-हिन्दी भाषी हैं- कारन्त कर्नाटक के हैं, हबीब तनवीर छत्तीसगढ़ी हैं, बंसी कौल, एम. के. रैना कश्मीर के, एक सत्यदेव दुबे भर हिन्दी भाषी रहे हैं। यहाँ नाटक पर शोध होता रहा, नाटक पढ़ाये जाते रहे, वर्षों तक ऐसे नाटक पढ़ाये जाते रहे जिनका रंगमंच से कोई सम्बन्ध नहीं था, जिनका रंगमंच में कोई नाम नहीं लेता था। इतने बड़े सामाजिक-राजनैतिक क्षेत्र में जहाँ रंगमंच स्वाभाविक प्रासंगिकता प्राप्त कर लेता है, तरह-तरह से लोग उसका उपयोग करते हैं, वह कुछ ढंग का बना ही नहीं। हमारे इतने बड़े हिन्दी अंचल में कोई व्यावसायिक रंगमंच नहीं है। अपेक्षाकृत छोटे भाषायी अंचलों में जैसे कन्नड़, बाँग्ला, मराठी में पेशेवर रंगमंच और उसके अलावा शौकिया रंगमंच है। हिन्दी रंगमंच पूरा का पूरा शौकिया ही है। उससे भी निपटने की हम लोगों ने कोशिश की जब भारत भवन में रंगमण्डल बनाया कि एक पेशेवर रंगमंच हिन्दी क्षेत्र में बने वह बहुत सफल प्रयोग था, आर्थिक दृष्टि से भी, फिर वह दूसरे कारणों से आगे नहीं चला।

उदयन : क्या यही कारण रहा होगा कि हिन्दी रंगमंच इतना स्मृति विपन्न है जबकि रतन थियम, कावालम नारायण पणिक्कर जैसे लोग चारों तरफ हैं।

अशोक : पूरी हिन्दी पट्टी स्मृति-वंचित हो गयी है। यहाँ जिनके पास थोड़ी-बहुत स्मृति बची, उनमें से ज़्यादातर पोंगापन्थी हो गये। उनके लिए स्मृति अतीतजीविता ही थी, उसमें कोई समकालीन प्राणवत्ता नहीं थी जैसा कि और भाषायी क्षेत्रों में है, मणिपुरी में है, मलयालम और कन्नड़ में है। मैंने 'अन्धायुग' की एक बहुत खर्चीली प्रस्तुति देखी थी, अलकाज़ी की, सन् १९६०-६१ में, फिरोज़शाह कोटला पर, उसमें भव्यता थी- उसका ज़बरदस्त प्रभाव पड़ा था लेकिन जब मैंने उसकी पटकथा को पढ़ा तो पाया कि वह बहुत कमज़ोर है। वैसे भी वह रेडियो नाटक था, उसकी भाषा भी कमज़ोर है, भाववाचक संज्ञाओं का बहुत उपयोग है। उसमें बड़ी चेष्टा कृष्ण को ईसा मसीह बनाने की है। उस समय मैंने एक चिट्ठी लिखी थी 'स्टेट्समेन' में।

मैंने जब वह नायक देखा, मुझे लगा कि उसमें कृष्ण ईसा मसीह की छवि जैसे हैं। पर तब भी वो नाटक था जिसने एक तरह से स्मृति का पुनर्वास किया। उसके अलावा जो कुछ हुआ, उससे लगा कि ये हिन्दी अंचल पूरा ही स्मृति-वंचित है। पिछले तीस-चालीस वर्षों का साहित्य स्मृति-वंचित है और संस्कृत-वंचित भी है। स्मृति व संस्कृत का एक गहरा सम्बन्ध है इसलिए जब तुम पूछ रहे थे कि मैं तत्सम की ओर क्यों गया तो इसके पीछे मूल कारण ये था कि यदि मुझे अपनी कविता को जातीय स्मृति का भी माध्यम बनाये रखना है तो इसके अलावा कोई और विकल्प नहीं है कि मैं संस्कृत का यानि तत्सम का सहारा लेता। तब तक यानि सन् सत्तर तक, साहित्य में अभिधा ने अपनी लगभग तानाशाही स्थापित कर ली थी। कविता खबर की तरह लिखी और खबर की तरह पढ़ी जाने लगी थी। कविता का काम कोई अन्वेषण करना या नये सम्बन्ध खोजना या रूपक गढ़ना उतना नहीं रह गया जितना कि खबर देना कि दुनिया में क्या हो रहा है- हमारे आसपास क्या हो रहा है। उसकी भी अपनी शायद एक सीमित भूमिका रही होगी, हमने भी एक ज़माने में सपाटबयानी का पक्ष लिया था कि कविता उलझाव नहीं है। लेकिन कविता वहीं रुक जाये मतलब बयान यदि सपाट होकर ही रह गया, यह बहुत नहीं चल सकेगा। रघुवीर सहाय की कविता के अधिकांश का स्मृतिहीनता से अच्छा तालमेल बैठ जाता है क्योंकि उनकी कविता से अधिक से अधिक आपको खड़ी बोली की कविता की स्मृति, जिसकी अवधि बहुत थोड़ी है, मिलती है जो मैथिलीशरण गुप्त, भारतेन्दु तक की स्मृति है। वहाँ उसके पहले की कोई स्मृति नहीं है न भक्ति काव्य की, न रीतिकाव्य की, न संस्कृत की। रघुवीर सहाय का जो प्रभाव पड़ा, वह श्रीकान्त वर्मा और विजय देवनारायण साही का नहीं पड़ा, या अज्ञेय और शमशेर का नहीं पड़ा। इन सबके पीछे स्मृति का सम्भार था और यह अपने-अपने ढंग से व्यक्त हुआ था। श्रीकान्त के यहाँ 'मगध' में। अज्ञेय के यहाँ अनेक संग्रहों में। अज्ञेय हिन्दी के सम्भवतः अन्तिम संस्कृत कवि हैं, इस अर्थ में कि संस्कृत की उपस्थिति उनकी कविता में बार-बार आती है। शमशेर के यहाँ भी फ़ारसी और संस्कृत की स्मृति है। कमलेश की कविता स्मृति सम्पन्न थी पर वे दृश्य से ही गायब हो गये, खुदा जाने कहाँ चले गये। उनका पहला कविता संग्रह 'जरत्कारु' ही शायद चौहत्तर-पचहत्तर में निकला। वे हमारी पीढ़ी से पहले के कवि हैं, वे लगभग केदारनाथ सिंह की उम्र के हैं। फिर यही नहीं कि स्मृति गायब हो गयी, स्मृति को सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा कि कविता से यह तो पीछे लौटना है क्योंकि स्मृति को ढिढोरा पीटने वाले लोग दुर्भाग्य से पोंगापन्थी थे। वे आधुनिकता से मुठभेड़ करने के अनिच्छुक थे। उन्हें लगता था कि हमारी संस्कृति और देश महान है। वे महानता के चक्कर में जगत भर का तिरस्कार करते थे। इसलिए हिन्दी में ऐसे कवि जिनकी जड़ें स्मृति में हों, अकेला होना शुरू हो गये। अकेले हो गये क्योंकि उनको-उनकी कविता के इस पक्ष को विधेयात्मक ढंग से समझने वाले लोग ही नहीं थे और इसलिए उनका बहुत प्रभाव भी नहीं पड़ा। इसलिए अगर पिछले पचास वर्षों की हिन्दी कविता का इतिहास लिखा जाये, उसमें स्मृति की भूमिका बहुत कम है। भूमिका-अनुगूँज-पुनर्वास या पुनराविष्कार कम है और स्मृतिहीनता को अघोषित मूल्य के रूप में स्थापित करने वाली कविता का बोलबाला रहा जो आगे भी निरन्तर है।

उदयन : क्या यही कारण उन दिनों निर्मल वर्मा जैसे लेखकों की आलोचना का भी बना।

अशोक : हाँ, ये तो बना ही था। जैसे कविता में स्मृतिहीनता हावी हुई वैसे ही गल्प में भी। अगर कोई स्मृति की बात करे या संस्कृति में आ रही गिरावट की या आधुनिकता के अभियान को-दम्भ को चोट पहुँचाने की चेष्टा

करे और कुछ पुराने को याद करे तो वह गलत समझा जाएगा। दुर्भाग्य से राजनीति में भी इसी स्मृतिहीनता के कारण ही एक बहुत ही सीमित स्मृति और औपनिवेशिक समझ वाली स्मृति जो राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ इत्यादि की है, उसने घर करना शुरू कर दिया। स्मृति का झण्डा उठाने वाले वे हो गये और अगर आप स्मृति की बात करें, आपको वहाँ से यह कहकर जोड़ दिया जाएगा कि ये तो पुनरुत्थानवादी हैं। हिन्दी के लोगों ने अपने को जानबूझकर पिछले पचास वर्षों में स्मृतिवंचित, संस्कृत-वंचित, विचार-वंचित सब एक साथ किया। यदि आप स्मृति से वंचित होंगे तो विचार से भी वंचित होंगे। यदि विचार अपदस्थ करेंगे तो ये तय है कि आप स्मृति को भी हटा देंगे इसलिए ऐसा हुआ कि एक ऐसी भाषा बनी जो अखबार के उपयुक्त है, विचार के उपयुक्त नहीं, जो अभिधा के उपयुक्त है व्यंजना के लिए उपयुक्त नहीं। जो शोरगुल मचाने के लिए उपयुक्त है लेकिन अन्तर्ध्वनियों के लिए उसमें जगह नहीं है।

उदयन : क्या हम यह कह सकते हैं कि जो हमारी औपनिवेशिक संस्थाएँ बनीं, उनके फलस्वरूप हमारी काहिली, निर्लज्जता व अकर्मण्यता का स्वरूप सामने आया। इस सबके कारण ही उत्तर भारत में जो दोनों किस्म की राजनीति बनी-एक पश्चिमोन्मुखी स्मृति विमुखता और दूसरी वह जो तथाकथित पश्चिमोन्मुख नहीं पर स्मृतिवंचित फिर भी है, इन दोनों का मूल हिन्दी प्रदेश की या भारत की व्यापक स्मृतिवंचना ही है।

अशोक : ये बिलकुल ठीक है। इस दौरान तीन तरह की राजनीति हिन्दी अंचल में उभरी। एक-धर्म आधारित, जिसमें धर्म की विकृत समझ उन लोगों ने प्रकट की जो धर्म के नाम पर ही पोषण पाते हैं, धर्म को विकृत कर राजनीति में उसका इस्तेमाल करते हैं। दूसरी जाति आधारित राजनीति। जाति प्रथा के अनेक दोष हैं, इसकी वजह हुए अत्याचारों की बड़ी विकृत परम्परा रही है लेकिन उसके मर्म को समझे बिना- उसकी ऐतिहासिक स्थिति को समझे बिना, उसकी स्मृति से वंचित एक औपनिवेशिक षडयन्त्र की तरह उसका इस्तेमाल राजनीति में हुआ। तीसरी तथाकथित वामपन्थी राजनीति जो विश्व स्मृति से बेहद आक्रान्त हुई और जिसमें इस कदर अपनी स्मृति में विश्वस्मृति का आरोपित करने का आग्रह रहा कि अपनी ही स्मृति इस प्रक्रिया में नहीं बची। इन तीनों तरह की राजनीति में जो समानता है वह है स्मृति-वंचित होना। अब जब पूरा अंचल ही स्मृति-वंचित हो रहा है, इसका साहित्य कैसे बच सकता है। साहित्य जो भूमिका अन्ततः निभा सकता था, वह कुछ लोगों ने निभायी लेकिन एक संस्था के रूप में साहित्य ने समग्रतः वह भूमिका नहीं निभायी। एक और बात उल्लेखनीय है कि इस सबके साथ ही टेक्स्ट (पाठ) पर ध्यान देना गायब हो गया। इस दृष्टि से माता प्रसाद गुप्त, वासुदेव शरण अग्रवाल आदि की परम्परा समाप्त हो गयी। साहित्य को खबर की तरह पढ़ने की आदत ने हिन्दी अध्यापन में विपन्नता फैलाने में भूमिका निभायी। हिन्दी के ज़्यादातर अध्यापक खराब अध्यापक है। किसी भी स्कूल या महाविद्यालय या विश्वविद्यालय में छात्रों की ओर से सर्वे कराया जाए कि आपके कौन-से अध्यापक ज़्यादा खराब हैं तो उसमें बहुमत हिन्दी और संस्कृत के अध्यापकों का होगा। स्मृति से अभिव्यक्ति की नयी अवधारणाएँ, नये पद आदि गढ़ने व प्रकट होने की सम्भावना बनती है। आप नयी परिस्थिति से निपटने के लिए स्मृति का सहारा लेते हैं। वहाँ से कुछ खँगाल के निकालते हैं जिससे नये पद, नयी अवधारणाएँ गढ़ते हैं। हिन्दी की ज़्यादातर आलोचना इतनी उबाऊ और अपढ़ है क्योंकि वहाँ सब प्रत्याशित है, उन्हीं शब्दों का खेल है। किसी को ध्यान से पढ़ा गया है इसका प्रमाण कम ही मिलता है। थोड़ा-बहुत एक-दो दलित आलोचकों ने बेहतर काम किया है, उन्होंने प्रेमचन्द आदि पर प्रहार करने के लिए उनको ध्यान से पढ़ा ताकि उन्हें तथ्य मिल सकें। लेकिन

उन्होंने भी इसलिए नहीं पढ़ा कि उनको प्रेमचन्द के लिखे का रस लेना था बल्कि इसलिए कि प्रहार करना है, ज़्यादातर आलोचना में पाठ पर ध्यान केन्द्रित करने की बात हुई है प्रहार करने के लिए यानि अनैतिक इस्तेमाल के लिए, उसके अपने सुख के लिए नहीं। एक बहुत बड़ी बात उभरी कि लगने लगा कि हिन्दी समाज को साहित्य में रस आना बन्द हो गया। लोग अब जैसे साहित्य को उसके अपने स्वाद के लिए नहीं पढ़ते-भाषा का स्वाद, अच्छी कविता या कहानी का स्वाद, भले ही वह और दुनिया के बारे में जो भी बताता हो। शुद्ध पठन इसलिए कि पढ़ने में बहुत आनन्द आया, ऐसा समझने वाले लोग बहुत कम हो गये। इसीलिए जो साहित्य बिकता है, लोकप्रिय है, जिसकी पूछ-परख है वो कौन-सा साहित्य है ? बहुत से लोग कहते पाये जाएँगे कि प्रेमचन्द आज भी हिन्दी के सबसे पढ़े जाने वाले लेखक हैं। यह इस भाव से कहा जाता है कि इस तरह का पढ़ा जाना एक बड़ी उपलब्धि है और यह प्रेमचन्द साहित्य के टिकाऊपन व स्थायी महत्व को प्रमाणित करता है। यह भी कहा जा सकता है कि असल साहित्य जिसमें भावात्मक-बौद्धिक उद्यम लगता हो, चाहे निराला की कविता हो चाहे प्रसाद का महाकाव्य हो, जैनेन्द्र-अज्ञेय का साहित्य हो, रेणु-निर्मल वर्मा का साहित्य हो जो बिना भावात्मक-बौद्धिक उद्यम के ठीक से पढ़ना सम्भव नहीं होगा, ऐसे किसी उद्यम की ज़रूरत प्रेमचन्द के यहाँ अधिकतर नहीं पड़ती, सो वह लोकप्रिय है। साहित्य को भाषायी आवश्यकता मानने वाला वर्ग हिन्दी में लगभग अल्पसंख्यक हो गया। बहुत ही कम लोग होंगे जो इसलिए साहित्य पढ़ते हैं कि उन्हें दुनिया को समझना है, इसलिए पढ़ते हैं कि भाषा में उनकी रुचि है- भाषा में रुचि का अर्थ भाषा में अन्तर्निहित तमाम रुचियों से है। ऐसे लोग कम होते जाते हैं। ऐसे लोग बढ़ते जाते हैं जो साहित्य को किसी-न-किसी चीज़ का उपकरण मानते हैं। कोई इसे नीति का, अनीति का, बाज़ार का उपक्रम मानते होंगे, ये सब साहित्य के दायरे में आते हैं। साहित्य इन सबको समेटते हुए भी कुछ ऐसा कहता है जो वही कह सकता है। कुछ ऐसा करता है जो वही कर सकता है, ऐसा मानने, समझने और सराहने वाले लोग हिन्दी में कम होते जा रहे हैं।

उदयन : तुम्हारी बात से इसका जो कारण निकल रहा है वह शायद यह है कि यह हमारी तमाम संस्थाओं की, एक संस्था के रूप में भाषा की भी स्मृति को जीवन्त रखने की विफलता है। साहित्य इन सभी के रास्ते अपनी वैधता को खोजने की कोशिश करता रहा है जबकि उसे भाषा को शक्ति सम्पन्न करने की चेष्टा करनी चाहिए थी। 'भारत भवन' बनने की जब भूमिका बनी तब क्या ये सारे प्रश्न तुम्हारे मन में थे। 'भारत भवन' ने बहुत सारे कलाकारों, साहित्यकारों के एक बड़े वर्ग को स्मृति-सम्पन्न करने का काम किया है। ऐसा हो सके इसके पीछे कौन-सी प्रेरणाएँ थीं, एक तो अज्ञेय लगते हैं, श्रीकान्त और कमलेश जैसे लोग रहे होंगे जिनके लेखन के तुम प्रशंसक रहे हो। और क्या प्रेरणाएँ रहीं क्योंकि 'भारत भवन' ने बहुत स्तरों पर काम किया है। भारतीय स्तर पर स्मृति के पुनर्वास का काम जैसा सांस्थानिक उपक्रम 'भारत भवन' में हुआ, देश में और कहीं नहीं हुआ।

अशोक : मेरे मन में ये गहरी कचोट रही कि मध्यप्रदेश को पिछड़ा समझा जाता है। हिन्दी की इतनी विशालता के बावजूद यहाँ पिछड़ापन था। एक तरफ विचार की विपन्नता है व दूसरी तरफ स्मृतिहीनता, तीसरी तरफ ये विडम्बना कि हिन्दी में ही कुछ अखिल भारतीय किया जा सकता है। इन सब बेचैनियों से 'भारत भवन' की कल्पना सम्भव हुई। उसके पहले लगभग दस वर्षों तक एक तरह की सांस्कृतिक साक्षरता फैलाने का काम हमने भोपाल में शुरू किया था। मन में यह भाव था कि हिन्दी में सीधे-अच्छा-साफ़-सुथरा और प्रासंगिक

विचार सम्भव हो, हिन्दी अपने परिसर में, दूसरी कलाओं के पड़ौस में होने का ज़िम्मा ले सकती है। यह भी था कि भले हमारी अपनी जो दृष्टि हो- और उस दृष्टि को हम छोड़ेंगे नहीं- लेकिन इस बात का भी एहतराम करेंगे कि दूसरी दृष्टियाँ भी हों, दूसरे विचार वाले लोग भी हों, उनको भी हम इस प्रयत्न में शामिल करेंगे। इस प्रयत्न की बहुलता और खुलेपन से ही उसके दो किस्म के विरोधी पैदा हुए। एक दक्षिणपन्थ से जुड़ाव रखते थे, जिनका मानना रहा कि उनका ही एकमात्र विचार है- दूसरे विचार की जगह नहीं है। दूसरे वामपन्थी भी यही मानकर बैठे थे कि उनकी विचारदृष्टि ही विचारदृष्टि है बाकी सब कुछ बेकार। ये दोनों ही 'भारत भवन' के विरोधी रहे और एक तरह से दोनों ने ही मिलकर उसको नष्ट कर दिया। इसलिए उसका यह पक्ष कि वो क्या करने की कोशिश कर रहा था, धीरे-धीरे सामाजिक ध्यान से बाहर चला गया। पूरा समाज ही यदि स्मृतिविहीन और विचारविपन्न है तो वह स्मृति के पुनर्वास व विचार के खुलेपन को क्यों समझेगा या सराहेगा या उसमें शामिल होगा। 'भारत भवन' कुछ दूसरा करने की कोशिश कर रहा था जिसमें समाज को यह याद दिलाया जाना अनिवार्यतः शामिल था कि तुम्हारे पास न तो स्मृति है, न विचार तो उसे यह क्यों अच्छा लगता? हिन्दी समाज में विशेषकर लेखकों-कलाकारों की कोई सामाजिक हैसियत या इज्ज़त नहीं थी। जैसे अनन्तमूर्ति के समकक्ष हमारी भाषा में भी साहित्यकार हैं लेकिन वे यदि कुछ बोलते थे, कन्नड़भाषी ध्यान से उसे सुनते थे, भले ही वो उनसे असहमत हो, हमारे यहाँ हिन्दी में ऐसा हुआ ही नहीं। आखिरी लोग थे अज्ञेय-जैनेन्द्र या निर्मल, ये जब बोलते थे, इनको सुना जाता था। धीरे-धीरे ऐसा नहीं रहा। हमारे यहाँ लेखकों की कोई हैसियत नहीं बनती और कलाकारों को भी लगभग हेय दृष्टि से देखा जाता है। ऐसे में 'भारत भवन' ने ये कोशिश की कि इसी अधकचरे हिन्दी समाज में कलाकार को सेलिब्रेट कैसे किया जा सकता है, उसको धूप में कैसे लाया जा सकता है। बहुत सारे कलाकारों-लेखकों पर केन्द्रित आयोजन-पुरस्कार आदि एक तरह से उस सामाजिक हैसियत पर इसरार करने की कोशिश थी जो उन्हें स्वाभाविक रूप से मिलनी चाहिए और जो हिन्दी अंचल में सम्भव नहीं हो रही थी।

उदयन : एक बार और राजनीति पर लौटें। हमने बात की कि तीन तरह की स्मृतिविपन्नता थी, उनसे ज़्यादातर राजनैतिक दल ग्रस्त हैं, किसी में कोई तत्व अधिक है, किसी में कोई। इनमें एकमात्र अपवाद राममनोहर लोहिया हैं। ये कहा जा सकता है कि राममनोहर लोहिया का अगर राजनीति में प्रभाव बढ़ा होता, भारत भवन जैसी संस्थाओं को चलाए रखने में राजनीतिक-सामाजिक समर्थन मिल सकता था। स्वयं लोहिया की जो हालत हुई कमोबेश वही है जो 'भारत भवन' की हालत हुई।

अशोक : लोहिया को एक तरह से नष्ट करने का काम समाजवादियों ने ही किया। एक दल उनके नाम पर उनके उत्तराधिकारी रूप में है जिसका लोहिया की किसी चीज़ से कोई सम्बन्ध नहीं। उसका भ्रष्टाचार, संकीर्णता, जातीय चरित्र ये सब लोहिया से अलग ही नहीं बल्कि लोहिया जिन मूल्यों पर विश्वास करते थे, उनके विरुद्ध है। अगर कोई ये कह सकता है कि उत्तर प्रदेश में आज लोहिया की दृष्टि का सबसे विकृत और घृणित रूप कौन-सा है तो वो समाजवादी पार्टी है। उसी व्यक्ति के नाम पर उसी द्वारा चलायी गयी पार्टी उसे नष्ट कर रही है जैसे कॉंग्रेस ने गाँधी को नष्ट किया। ये हमारी भारतीय राजनीति में अपने स्थपति को नष्ट करने की एक सशक्त परम्परा है। गाँधी को कॉंग्रेस ने नष्ट किया, जयप्रकाश नारायण को जनता पार्टी

ने और लोहिया को समाजवादी पार्टी ने। इस सबों से अन्य जो भी उनकी असहमतियाँ रही हों, वामपन्थी दलों ने भी अपने स्थपतियों को नष्ट किया। ये नष्ट करना इस हद तक हुआ कि फिर इनको पुनर्जीवित करना सम्भव ही नहीं रह गया यानि वो ढाँचा इतनी दूर एवं विकृत हो चुका था कि उसे पुनर्जीवित करना मुमकिन न था। मैं कदमनिट्टा रामकृष्णन् के कार्यक्रम में गया था। नम्बूदरीपाद को कदमनिट्टा रामकृष्णन् की कविताएँ ज़ुबानी याद थीं और उन्होंने कहा कि कदमनिट्टा रामकृष्णन् की कविताओं को दमित करने का अधिकार किसी को नहीं है, सी.पी.एम. सरकार को भी नहीं हो सकता। आज किसमें होगी यह क्षमता? इसका कुल नतीजा यह है कि भले ही उसका थोड़ा-बहुत हिस्सा संस्कृति के नाम पर भी चलता हो, भारतीय राजनीति इस समय भारतीय संस्कृति से जितना दूर जा सकती थी उतना दूर जा चुकी है। अब इससे अधिक दूर जाना सम्भव ही नहीं। ठीक उसी तरह जैसे सत्ता गाँधी से जितनी दूर जा सकती थी उतना चली गयी, अब इससे अधिक दूर जाया नहीं जा सकता। ये कुछ हमारी भारतीय राजनीति के चरित्र में ही है। मैं राजनीति शास्त्र का विद्यार्थी नहीं रहा। मुझे नहीं मालूम कि पश्चिम में जहाँ इस तरह की राजनीति का समुचित जन्म हुआ, क्या वहाँ ऐसा होता है और क्या उसी से हमने यह सीखा है। यही सब किसी हद तक चीन में हुआ है। चीन का रूप परिवर्तन क़रीब-क़रीब वैसा ही है कि माओत्से तुंग को नष्ट किये बिना चीन की मुक्ति नहीं हो सकती। नष्ट करने के बाद भी माओत्से की तमाम मूर्तियाँ लगी हुई हैं और उसके नाम पर बहुत कुछ होता है। हमारे यहाँ भी 'महात्मा गाँधी मार्ग' वगैरह हैं और इस सब मामले में हम और चीन एक-से हैं। सम्भवतः एशियाई राजनीति की कोई खासियत होगी कि हम इस तरह से दोनों काम करते हैं, नाम का पाखण्ड बनाये रखते हैं और साथ-साथ उसको नष्ट भी करते हैं।

उदयन : शायद यही कारण हो कि 'भारत भवन' जैसी संस्थाओं से या अज्ञेय या तुम्हारे जैसे लेखकों से इन तमाम स्मृतिवंचित लोगों या संगठनों का एक सहज विरोध रहा। स्मृति विपन्न लोगों की एक खासियत है कि वो अपनी स्मृति विपन्नता पर गर्व किये बिना अपनी विपन्नता को चालू नहीं रख सकते। भारत भवन का नष्ट होना उसके प्रयास में ही निहित हैं क्योंकि कोई स्मृति-सम्पन्न समाज इतना विपन्न हुआ होता तो शायद अपनी विपन्नता दूर करने का प्रयास करता लेकिन हमारा वो समाज है जो अपनी विपन्नता पर गर्व करता है और इसीलिए इसका साहित्य राजनीति के इतने करीब है। वो स्मृति से ज़्यादा नैकट्य राजनीति से पाता है क्योंकि दोनों स्मृति-विपन्न हैं। यही कारण स्वयं लोहिया के निकट आने का भी लोगों का है- लेखकों का है और उनसे दूर जाने का भी। जो लोग निकट आये थे, वे जातीय स्मृति की खोज में थे, अपने को स्मृति-सम्पन्न करना चाहते थे। लोहिया या उन जैसे बहुत सारे नेतृत्वकर्त्ता ऐसे थे जैसे वासुदेवशरण अग्रवाल, किशोरीदास वाजपेयी और अज्ञेय। बाकी जो थे उनको राजनीति ज़्यादा मुफ़ीद बैठती थी क्योंकि राजनीति ने उनकी कविता को ज़्यादा आसानी से प्रमाणित किया। तुम्हारी कविता हिन्दी समाज में तुम्हारी निजता थी। अज्ञेय, श्रीकान्त वर्मा, कमलेश और तुम्हारी कविता देखा जाए तो ये कविताएँ उत्तरोत्तर अकेली होती जाती कविताएँ हैं। इसका एक कारण तो यह समझ में आता है कि ये स्मृति का पुनर्वास करने की चेष्टा करती हैं। स्मृति-विपन्न साहित्य समाज को इससे डर लगता है, वह इससे भयाक्रान्त रहता है और क्या कारण हो सकता है क्योंकि ये अकेली होती कविताएँ हैं। इसके स्रोतों में एक तो तुमने कहा कि संस्कृत की स्मृति की ओर जाना है और अन्य क्या स्रोत रहे हैं?

अशोक : ग़ालिब ने ये भरोसा करवाया कि बिल्कुल अकेले पड़ते हुए और नाउम्मीदी के गाढ़े अँधेरे में गुम होते हुए

भी कवि बने रहना सम्भव है। फिर दुनिया में ऐसी बहुत कविता है- रिल्के, ज़िब्न्यू हर्बेत आदि की। हर्बेत स्मृति का एक विडम्बनात्मक पुनर्वास करता है। आज की विडम्बना आज की ही नहीं है, पहले भी ऐसा ही होता आया है। उसकी दो प्रतिक्रियाएँ सम्भव हैं, एक ये कि आप जो इसे सर्वथा अप्रत्याशित मान रहे हैं उसको वो प्रत्याशित में बदल देती है। कविता का ये काम ही है कि जिसको आप अप्रत्याशित समझते हैं उसको प्रत्याशित करे और प्रत्याशित समझ को अप्रत्याशित करे। दूसरा ये बताना कि स्मृति में जैसे गरिमा की, गौरव की परम्परा है वैसे ही अन्तर्विरोध की है- विडम्बना की है, अविश्वास की, विश्वासघात की भी परम्परा है। स्मृति का मतलब कोई सिर्फ़ गौरव नहीं है, हर्बेत ने यह किया। रिल्के हैं तो ईसाई पर उन्होंने कविता पैगन लिखी जिसमें वे वस्तुओं को, राजनीतिक शक्तियों को, धरती को, आकाश को एक तरह की जगह दे रहे हैं, दैवीयता दे रहे हैं और एक तरह की पवित्रता से सम्बोधित कर रहे हैं। ये रिल्के का बहुत बड़ा वैशिष्ट्य है। नेरूदा व्हिटमैन किस्म का कवि है, उसने वस्तुओं की दुनिया से लेकर सभी कुछ की विपुलता का एक ऐसा गान, लगभग अराजक विपुलता को अपनी कविताओं में व्यक्त किया है। आक्टोवियो पॉज़ या इधर चेस्लाव मीवोश ने हमारे चरम नैतिक प्रश्न जिन्हें हम मनुष्य के शाश्वत प्रश्न कहते हैं, उन्हें अपनी कविता में उठाया। हमने एक ज़माने में शाश्वत के नाम पर बहुत ही बेनाम किस्म की अशाश्वत शाश्वतता को, जो नितान्त समकालीन है उसमें जो शाश्वत छिपा है, उसकी पहचान करने की कोशिश की। एक कविता है- 'अगर तुम्हारे पास होता' जिसमें वे कहते हैं कि यहीं प्रलय का पूरा दृश्य देख सकते हो, 'अगर थोड़ी फ़ुर्सत हो' ऐसे कहा जा रहा है जैसे बगल में हो। ये हर चीज़ को पड़ौस में-बगल में, घर में लाने की कोशिश, इसकी बहुत सारी प्रेरणा और उत्साह इस तरह के कवियों से भी मिलता रहा है जिनमें आध्यात्मिक और ऐन्द्रिक एकान्त है, जिसमें एक ठोस चीज़ को इतनी दूर ढकेला जा सकता है कि वो अमूर्त लगने लगे और अमूर्त चीज़ को इतने पास लाया जा सकता है कि वो ठोस लगने लगे। ये सब बातें औरों से भी सीखीं। फिर मैंने इस सबसे पाया कि आप अकेले पड़ जाने से घबराएँ नहीं क्योंकि आप एक दूसरी संगत में हैं। दूसरी सोहबत आप बनायें, मतलब जिस भाषा में आप लिख रहे हैं उस भाषा और समाज में आपको कोई खास जगह नहीं मिल रही है न मिले क्योंकि आपकी सोहबत औरों के साथ हैं। उसकी सोहबत में रहना अपने को कम अकेला होने देना है अकेले आप तब भी होंगे लेकिन यह अपने को कम अवसाद में डालना होगा।

उदयन : कौन-कौन से ऐसे कवि तुम्हें याद आते हैं जिनको तुमने वैसी रुचि से पढ़ा। जैसे रुचि से उन कवियों को जिनके तुमने नाम लिए वे सब अपनी भाषा के ऐसे कवि हैं जिन्होंने अपनी भाषा में मूलभूत स्तर पर योगदान दिया और उस संस्कृति की अपनी कविताओं में एक तरह की पुनर्स्थापना की और संस्थापन भी किया है, जैसे पाज; क्योंकि तुम्हारी सोहबत सिर्फ़ भारतीय भाषाओं के कवियों से ही नहीं बल्कि पूरी दुनियाभर के कवियों से है। मेरे खयाल से तुम हिन्दी के अकेले ऐसे लेखक हो जिसका दुनियाभर की कविता से एक जीवन्त रोजमर्रा का सम्बन्ध रहा, बाकी जितने लेखक हैं उनके लिए वो दूर की बात है। तुम्हारे लिए, जैसे तुमने कहा, अब वो इतने आत्मीय हैं जैसे तुम्हारे मित्र ही हों।

अशोक : जैसे ईव बोनफ़ुआ, उनकी कविताओं में लोग बहुत कम हैं, चीज़ें बहुत ज़्यादा हैं। एक ही बिम्ब जैसे पत्थर पर तो सारी कविताएँ पत्थर पर और फिर भी इस कविता की मानवीय ऊष्मा में कोई कमी या कटौती नहीं लगती। अन्ना अख़्मातोवा व मारीना त्स्वेतायेवा ये दोनों भयंकर यन्त्रणाओं से गुज़रीं, निजी यन्त्रणा से

लेकर सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक यन्त्रणा इन्होंने जितनी झेली और उसके बावजूद कविता में विश्वास बना रहा, कविता से होने वाली एक तरह की आध्यात्मिक क्षतिपूर्ति में विश्वास बना रहा, ये बहुत सीखने की बात है। ये बिलकुल ही अकेले लोग हैं, लगभग अकेले मरने को छोड़ दिये गये और उनमें ऐसी अद्‌भुत जीवट बना रहा। फिर अर्जेण्टिना के राबर्तो हुआरोज़ के यहाँ आप दुनिया की छोटी-सी चीज़ को, मसलन पैदल चलने को या फिर दैनिक क्रिया को ऐसे देख सकते हैं कि उसमें आपको पूरी क्लैसिकल भंगिमा जैसी दिखायी दे, यह निपट सामान्य को एक तरह की गरिमा देना है। इन सबसे सीखने का, इनसे एक तरह से बतियाने का मौका है, अब हमारे समाज में जो होता है सो होता रहे।

उदयन : तुमने ये सुन्दर बात कही कि तत्सम के सहारे पूरी स्मृति को खींचकर दुबारा कविता में ला सकते हैं और इसे अब तो पूरी दुनिया में लोग मानते हैं। तुम्हारी कविता में तत्समनिष्ठता का, संस्कृत का पुनर्वास है पर ऐसे संस्कृत के कौन-से कवि हैं जिनको तुमने पढ़ा तो तुम्हें चोट लगी और मन में आया, 'अरे वाह क्या बात है।'

अशोक : कालिदास-भवभूति-अमरु और गाथा-सप्तशती के हाल कवि क्योंकि हमारी बहुत सारी प्रेम कविताओं में इनसे संवाद हैं। ये परम्परा जो तमिल संगम कवियों में थी जिसमें इस तरह संवाद आते हैं कि 'उसने कहा' और 'मैंने कहा' मतलब एक तरह से पुरुष ने कहा- स्त्री ने कहा। उससे भी हमारी कविता का संवाद हुआ है। कहाँ से क्या मिलता है, इसका बहुत ध्यान रहता नहीं। अब जैसे महमूद दरवेश एक ऐसे कवि हैं जिसमें एक तरह नेरूदायी तत्व- चीज़ों की गन्ध जैसे बादाम की गन्ध, पकवान की गन्ध है वह कहाँ से चीज़ों को एक साथ बाँध देता है और एक ऐसे समाज में जो लगातार खतरे में है, लगभग भौतिक रूप से नष्ट किये जाने के खतरे में या कि कभी भी बेघरबार किये जाने के खतरे में है। उनके लिए कविता घर बनती है, एक बस्ती या मुहल्ला बनती है जिसमें वे रह सकते हैं। यहूदा अमीखाई या महमूद दरवेश को उस इलाके से भले ही हटा दिया जाए, कविता के इलाके से नहीं हटाया जा सकता है क्योंकि वह उनकी अपनी भाषा का इलाका है और उससे उन्हें कोई अपदस्थ नहीं कर सकता। यह बात दूसरे स्तर पर अरबी कवि अडोनीस में इस भाव के साथ है कि अरब की परम्परा यह है। हम लोग अरब की परम्परा को विकृत रूप में जानने के कारण ठीक से नहीं लेते। मुझे ये पता ही नहीं था कि अरबी में कोई भक्तिकाव्य नहीं है, कोई धार्मिक काव्य नहीं है, ठीक वैसे ही जैसे हमारे यहाँ उर्दू में भक्तिकाव्य नहीं है। ये अचम्भे की बात है कि हमारे सबसे निकट जो भाषा है- उर्दू, उसमें ईश्वर विरुद्ध और धर्म विरुद्ध कविता अधिक है और धर्म के पक्ष में बहुत कम है, चाहे ग़ालिब हों- मीर हों। बाकी शायर जिन्होंने नातें वगैरह लिखी हों, उन्हें कवि तो माना नहीं जाएगा। लेकिन हमारे यहाँ तुलसीदास और सूरदास भक्त कवि हैं और बड़े कवि हैं। हमारे ठीक बगल में ये परम्परा है और हम ये मानते रहे हैं कि उर्दू का आधार धर्म है। उर्दू को लेकर विकसित हुए पूर्वग्रह इसलिए थे कि हमने उसे एक धर्म से सम्बद्ध कर देखा, उसमें इस अर्थ में धर्म है ही नहीं। वह एक बिलकुल अलग परम्परा को भारतीय परम्परा में मिला ले गयी। हम अगर ग़ालिब को पढ़े- हम पायेंगे वहाँ कोई स्थानीयता नहीं है- मीर में फिर भी थोड़ा इस अंचल का होना बोलता है- ग़ालिब के यहाँ यह बिलकुल नहीं है। ग़ालिब की कविता पढ़ने से आपको लगेगा कि जिस समाज में ग़ालिब रह रहे हैं, वहाँ का अधिक से अधिक ब्राह्मण आता है- 'एक बिरहमन ने कहा कि ये साल अच्छा है वगैरह'। बाकी सारी बिम्बमाला, सारी प्रतीक व्यवस्था ईरानी है, फ़ारस की है, बुलबुल-चमन आदि। फिर भी वो कविता यहीं की

है, उसमें जैसे उनका वह शेर- 'क्यूँ चिराँगाने दीवाली में सक-ब-सक जलता हूँ मैं;' यहाँ ग़ालिब ने दीवाली का उल्टा वर्णन किया है, दीवाली उत्सवपरक है, वो उसे वेदनापरक बना रहे हैं, यहाँ भी वही अप्रत्याशित को प्रत्याशित में बदलना है। इस सबको समझना बहुत ज़रूरी है। मुझे उर्दू नहीं आती लेकिन लगा कि बिना उर्दू से संवाद बनाये कुछ चीज़ों को नहीं जाना जा सकता। जैसे नज़ीर अकबराबादी हैं, उनमें जिस तरह आगरा बोलता है वैसा कोई शहर हिन्दी के किसी कवि में नहीं बोलता। बनारस प्रसाद के यहाँ उतना नहीं बोलता, इलाहाबाद न तो प्रेमचन्द में, न निराला में उतना बोलता है। ये शहर का बोलना विशेष है जहाँ पूरी कविता एक शहरनामा भी है आदमीनामा होने के अलावा। ये बहुत ही अद्‌भुत बात है कि एक व्यक्ति उस शहर के किसी एक रंग-रूप को छोड़ ही नहीं रहा, ककड़ी बेचने वाला और भी जितने लोग हैं- नज़ूमी, अखाड़ेवाले-दंगलवाले हो सकते हैं, उन सब पर वो कुछ न कुछ लिख रहा है। जो कविता यह कर सकती है, वह बड़ी है। एक शिल्प एक शहर तक महदूद है और उसके यहाँ उस तरह फ़ारसी-स्मृति नहीं बोल रही है जैसे कि इन दूसरे दो बड़े कवियों, ग़ालिब और मीर के यहाँ बोल रही है। एक भाषा के अन्दर भी तरह-तरह के कितने रंग-रूप हैं, ये भी बड़े चमत्कार की बात है। हमारे यहाँ गद्य बाद में आया, उर्दू में पहले आया। उर्दू में गद्य में उन्नीसवीं सदी में जो हो गया वो हमारे यहाँ बीसवीं सदी के उत्तरार्ध तक नहीं हुआ था। मसलन इतनी स्त्रियों ने लिखा और तरह-तरह के अनुभव सामने आये। महरौली में मुसलमानों का एक राहत शिविर बनाया गया था, उनको वहाँ खतरा था, दंगे शुरू हो गये थे। इतिहासकार ज्ञानेन्द्र पाण्डेय ने इस पर काम किया और बताया है कि वहाँ जो मुसलमान औरतें थीं, उनमें से कइयों ने अपनी डायरी लिखी। अब हिन्दी प्रदेश में कहीं औरतों की डायरियाँ नहीं मिलतीं, जानता नहीं कि कहीं किसी ने लिखी हो। जो डायरियाँ मिलीं उनमें से एक में एक मुसलमान स्त्री ने लिखा है कि 'अब हम महफ़ूज़ हैं क्योंकि गाँधीजी दिल्ली आ गये।' उसी में ये दर्ज़ है कि नेहरू जी जब मिलने आये, एक बूढ़े ने कहा कि 'हम अपनी ज़मीन छोड़कर किसी और वतन कैसे जाएँगे, हमारा वतन यही है।' ये सब औरतों ने दर्ज़ किया है। विभाजन की कोई स्मृति हिन्दी साहित्य में नहीं है। जिनमें है वे मूलतः पंजाबी लेखक हैं- कृष्णा सोबती, कृष्ण बलदेव वैद, अज्ञेय, भीष्म साहनी। ये सब पंजाबी हैं जबकि बँटवारे में सबसे ज़्यादा मुसलमान तो बिहार और उत्तरप्रदेश से गये थे। इनकी मूक सहमति बनी। लेकिन इतने देश लोग छोड़कर चले गये, इसकी कोई स्मृति हिन्दी साहित्य में नहीं है। किसी ने दुबारा सोचने की कोशिश नहीं की। मैनेजर पाण्डेय ने एक लेख लिखा अज्ञेय की 'शरणार्थी' कविताओं को लेकर। उनकी कुछ ऐसी कहानियाँ भी हैं। उस समय सारे प्रगतिशील और छायावादी जीवित थे लेकिन सिर्फ़ अज्ञेय ने 'शरणार्थी' शीर्षक से बँटवारे पर कविताएँ लिखी है, बाकी किसी ने ऐसा कुछ नहीं लिखा। न नागार्जुन ने, न निराला ने। इतना बड़ा विस्थापन, इतने लाखों लोगों का अपने देश से हटकर दूसरे देश को चले जाना, यह क्या कोई छोटी घटना है? शमीम हनफ़ी एक क़िस्सा बताते हैं कि रघुपति सहाय फ़िराक गोरखपुरी के मजनूँ गोरखपुरी बड़े दोस्त थे, जो उर्दू के बड़े आलोचक थे। बँटवारे के थोड़े दिन बाद वे भी पाकिस्तान चले गए। बहुत दिनों तक उनकी कोई ख़बर ही नहीं आयी। उन्होंने बाद में चिट्ठी लिखी कि 'बाकी सब तो यहाँ ठीक है लेकिन एक ही समस्या है, यहाँ मुसलमान बहुत हैं।' अब वो गये थे गोरखपुर-इलाहाबाद से जहाँ तरह-तरह के लोग रहा करते थे। हमारे यहाँ स्मृतिवंचन का ये भी एक रूप है, सबसे ज़्यादा दंगे हिन्दी अंचल में ही हुए हैं, आजादी के बाद से, यथार्थवादी विचारधारा का साहित्य प्रचुर मात्रा में होने के बावजूद इनका इतना कम

वर्णन साहित्य में क्यों? है लेकिन बहुत थोड़ा है। जातीय विद्वेष के विद्रूपों को लेकर ज़्यादा है और उसे अच्छा कहा जाता है। यथार्थ के दावों के बावजूद, रिपोर्ताज आदि के अलावा, साहित्य इतना कम क्यों है ?

स्मृतिवंचन का एक और पक्ष है संगीत के क्षेत्र में। शास्त्रीय संगीत के सारे बड़े घराने- एकाध-दो को छोड़कर-पूरे के पूरे हिन्दी प्रदेश में हैं, उनके नाम भी हिन्दी शहरों पर हैं- ग्वालियर, लखनऊ, जयपुर, आगरा, बनारस घराना। वो सब इस क्षेत्र से गायब हैं। इन घरानों का कोई नामलेवा संगीतकार जिसको आप थोड़ा धैर्य से सुन सकें, नहीं बचा, न इन शहरों में, न हिन्दी अंचल में। सारे पूना चले गये- बम्बई चले गये या बंगाल चले गये। ये भी एक सांस्कृतिक स्मृतिवंचन है, अब इसकी याद तक नहीं रह गयी कि ये घराने आपके थे। मध्यप्रदेश में ही थोड़ा-बहुत प्रयत्न ध्रुपद के बचे रहने के रूप में हुआ, उसके अलावा पूरे हिन्दी अंचल में पिछले पचास वर्षों में कुछ भी उल्लेखनीय प्रयास नहीं हुआ। एक ज़माने में प्रयाग में संगीत सम्मेलन होता था, वो देश के बहुत ही निर्णायक सम्मेलनों में से था। उसके आयोजकों का नाम प्रयाग संगीत समिति है। उसने बड़े-बड़े हॉल बनवाये हैं, उसी संगीत सम्मेलन की अतीतकीर्ति का लाभ लेते हुए और शादी वगैरह में किसी को भी किराये पर देते हैं।

उदयन : इसी सन्दर्भ में ऐसे कौन-से चित्रकार हैं जो एक तरफ हिन्दी से जुड़े हुए हों या भारतीय संस्कृति से उनके काम की सम्बद्धता हो, दूसरी तरफ वे काफ़ी समकालीन हों जिनसे तुम्हारा भी जुड़ाव रहा हो।

अशोक : असल में उस क्षेत्र में भी पाँच-छह बड़े चित्रकार, हुसैन-रज़ा-रामकुमार तो ऐसे कहे जा सकते हैं जो विश्व स्तर के आधुनिक भी हैं और गहरे स्तर पर हिन्दी अंचल के भी। रज़ा हिन्दी को अपनी मातृभाषा ही बताते हैं और हिन्दी की तमाम कविताओं का अपने चित्रों में इस्तेमाल भी करते रहे हैं। हुसैन के यहाँ भी बहुत सारा तत्व ऐसा है जो हिन्दी अंचल से आता है। रामकुमार के यहाँ भी बनारस वगैरह है और वे हिन्दी के कथा लेखक भी हैं। किसी हद तक मंजीत बाबा भी इसी कोटि में आयेंगे और तमिल होते हुए भी जगदीश स्वामीनाथन भी जिन्होंने हिन्दी में कविताएँ भी लिखीं हैं। इधर वालों में सुबोध गुप्ता और मनीष पुष्कले हैं पर इनकी संख्या कम है। इनमें से अधिकांश हिन्दी अंचल से अपना वित्तीय पोषण नहीं पाते। हिन्दी अंचल में इनकी कोई खास हैसियत नहीं है, कला जगत में है। लेकिन कला जगत की ही कोई खास हैसियत हिन्दी अंचल में नहीं है, इनकी होने से रही। हुसैन, रज़ा, रामकुमार, स्वामीनाथन जैसे राष्ट्रीय स्तर के लब्धप्रतिष्ठित कलाकारों को यहाँ जानने वाले कितने होंगे। इसके पीछे कोई गहरा सांस्कृतिक कारण होना चाहिए। हिन्दी समाज में आधुनिक रंगमंच, आधुनिक साहित्य और आधुनिक कला इन तीनों की कोई हैसियत नहीं बनी जो मसलन अन्य समाजों में है। सुनील गंगोपाध्याय की जब मृत्यु हुई, कलकत्ता में उनकी शव यात्रा में तीन-साढ़े तीन लाख लोग थे। यहाँ जब अज्ञेय की मृत्यु हुई तो उनकी शवयात्रा में हज़ार से कम लोग थे। वहाँ गणेश पाइन जैसे चित्रकारों को व्यापक रूप से समाज मानता है, हमारे यहाँ ऐसी स्थिति नहीं है।

उदयन : यही हालत फ़िल्मकारों की है।

अशोक : फ़िल्मकारों में भी जिन्होंने हिन्दी में स्मृति के पुनर्वास की चेष्टा की, वह चाहे मणिकौल या कुमार शहानी हों, उनको हिन्दी जगत जानता ही नहीं है। इनको तो अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा मिल जाने के कारण जाना जाता है इसलिए नहीं कि इन्होंने हिन्दी में कुछ महत्वपूर्ण काम किया है, चाहे 'खयाल गाथा' बनायी है, चाहे 'सतह

से उठता आदमी', चाहे 'नौकर की कमीज़' जैसी महान फ़िल्में बनायी है। हिन्दी में सिनेमा पर लिखा भी जाता है, उसमें से अधिकांश में ये नाम लिए ही नहीं जाते। इसका कोई गहरा सांस्कृतिक कारण होना चाहिए कि स्मृति-सम्पन्न, विचार-समृद्ध, प्रश्नवाचक आधुनिकता ने हिन्दी समाज में अपनी जड़ें क्यों नहीं जमायीं। ये स्थिति प्रकट है कि उसकी निर्णायक राजनीति सबसे घटिया है, पिछड़ी राजनीति है। वो उन चीज़ों व मूल्यों पर आधारित है जो विचार-प्रवण, स्मृति-सम्पन्न आधुनिकता से मेल नहीं खाते। इसका कोई और कारण खोजना चाहिए, मैं अभी तक नहीं खोज पाया। सोचता हूँ कि इस पर कोई काम करना चाहिए। क्या हुआ है हिन्दी मानस में कि एक तरफ वो इस कदर नकलची है, आधुनिकता की सारी नकलें भोजन में-वस्त्रभूषा में-शरीर की मुद्राओं में-बातचीत में-भाषा में, जितनी नकल हो सकती है पढ़ा-लिखा वर्ग बड़े उत्साह से करता है और दूसरी तरफ इसका मानस पिछड़ा हुआ और पोंगापन्थी और अध्यात्महीन, सतही धर्मान्धता से घिरा हुआ है। उस पर और विचार करना चाहिए। इसके कई और कारण होंगे।

उदयन : इसके उपचार स्वरूप कवि के रूप में कविता में तुमने क्या व्यक्तिगत प्रयास किये और उसके स्रोत क्या रहे हैं, यह कवि से पूछना बेवकूफ़ी है- ग़लत है क्योंकि कविता कोई पूरी तरह सचेतन कर्म नहीं होता। कवि स्वयं नहीं जानता कि उसकी कविता क्या दिशा ले रही है। जो सांस्थानिक प्रयास तुमने 'पहचान' के प्रकाशन से शुरू किये और 'भारत भवन' तक गये जहाँ हिन्दी समाज को समृद्ध करने- परम्परा की पुनर्स्थापना व अन्य कलाओं की स्मृतियों का एक बैंक-सा बनाने का प्रयत्न सम्भव हुआ जिससे लोग सीख सकें। फिर अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय स्थापित हुआ। उसमें तुम नौकरी छोड़कर गये, उसके पीछे एक चीज़ मैं देख ही सकता हूँ कि उसमें यही निरन्तरता काम कर रही है लेकिन उसमें और कौन-सी नयी उम्मीदें थीं जिनके साथ तुम गये और कौन-सी नाउम्मीदें थीं। भारत भवन की नाउम्मीदों के बारे में तुम कह चुके हों उस पर और क्या कहना लेकिन विश्वविद्यालय में तुम नयी आशाओं के साथ गये थे और तुम्हें निराशाएँ मिलीं। तुम्हारे काम से तुम्हें हमेशा नयी ऊर्जा मिलती रही लेकिन यहाँ भी निराशाएँ मिलीं।

अशोक : आशा यह थी कि यह नया खुला विश्वविद्यालय नयी स्लेट है, अभी उस पर कुछ लिखा नहीं है और इसकी सम्भावना है कि एक नया विकल्प हिन्दी में बन सके। ये सबसे बड़ी उम्मीद थी। दूसरी उम्मीद ये थी कि जो विश्वविद्यालयों में आमतौर पर होता है, उससे अलग कुछ नवाचार किया जाए। तीसरी उम्मीद ये थी कि एक विश्वविद्यालय अगर इस तरह का बन गया तो जो प्रतिष्ठित हिन्दी विभाग हैं और जिनमें ज़्यादातर अपना काम नहीं कर रहे हैं, उनके लिए ये विश्वविद्यालय एक चुनौती होगा- बौद्धिक, वैचारिक, संस्थागत चुनौती बनेगा। और चौथी उम्मीद थी कि बहुत सारे ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें हिन्दी में काम नहीं हुआ, वे किये जाएँगे। जैसे नया व्याकरण तैयार करना, उसमें नयी परम्परा बनना चाहिए कि तमाम नये शब्द उसमें शामिल किए जाएँ। विश्वविद्यालय की विद्यापीठों-भाषा-साहित्य-संस्कृति-अनुवाद, इन सबमें एक अन्तर्सम्बन्ध अनिवार्य रूप से स्थापित करें ताकि किसी एक में पढ़ने वाले को अन्यों में भी कुछ करने का अवसर हो। शुरू-शुरू में ये करते हुए लगा कि पर्याप्त अवसर हैं क्योंकि नया विश्वविद्यालय है। हमने वागीश शुक्ल की मदद से एक नयी चयन पद्धति विकसित की जो पूरी तरह पारदर्शी थी, जिसमें सिफ़ारिश के लिए कोई जगह नहीं थी। जो उसके ढाँचे और उसके उद्देश्य के बीच एक बड़ी विसंगति थीः ढाँचा आम विश्वविद्यालयों जैसा था लेकिन उद्देश्य आम विश्वविद्यालयों जैसे नहीं थे। इसका उद्देश्य था हिन्दी

को एक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करना, ऐसा करने के लिए आम विश्वविद्यालय का ढाँचा पर्याप्त नहीं था, वो तो बाधक था। इस अन्तर्विरोध को दूर करना कठिन था। वो कुछ-कुछ ऐसा था कि हमको केन्द्रीय विश्वविद्यालय बनाना है और ब्रिटिश काउंसिल भी चलाना है, मतलब इसका काम हिन्दी का विश्वप्रसार करना भी है, मदद करना भी और ज्ञान का अर्जन भी। उस काम के बीच में पहुँचने तक, दो-ढाई बरस बाद, सरकार बदल गयी। मुरली मनोहर जोशी आये, हालाँकि वे इलाहाबाद जैसे विश्वविद्यालय में विज्ञान पढ़ाते रहे हैं, जो एक प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय था भले ही अब वहाँ जाति-विद्वेष बढ़ चुका है। लेकिन उन्होंने संकीर्ण विचारधारा के तहत ही काम किया। अगर कोई गैर हिन्दी प्रदेश का होता, उसकी उपेक्षा या उदारता से हम कुछ कर गुज़रते। ये उत्तर प्रदेश से आये थे, सारा बैगेज साथ लाये थे। उन्होंने उसे धीरे-धीरे नष्ट करने का बीड़ा उठा लिया और विश्वविद्यालय के कामकाज में बाधाएँ उत्पन्न होने लगीं। जो काम किया जा सकता था बावजूद रुकावटों के हमने किया जैसे पत्रिकाएँ प्रकाशित कीं। हमने तीन पत्रिकाएँ शुरू कीं- 'बहुवचन', 'पुस्तकवार्ता' और 'हिन्दी'। बहुवचन ने ऐसा जतन किया कि ऐसे लोगों के विचार प्रकाश में लाये जाएँ जैसे आशीष नन्दी, धर्मपाल आदि के जो हिन्दी से अलग थे लेकिन महत्वपूर्ण काम कर रहे थे। विद्वत्ता एवं सर्जनात्मकता दोनों का मेल 'बहुवचन' में हुआ। 'पुस्तक वार्ता' इसलिए निकाली थी कि हिन्दी में साहित्य के अलावा भी पुस्तकें निकलती हैं जिनका कोई नोटिस ही नहीं लेता, धीरे-धीरे 'पुस्तक वार्त्ता' 'टाइम्स लिटरेरी' सप्लीमेण्ट जैसी कुछ बन सके ऐसा विचार था। तीसरी पत्रिका 'हिन्दी', ये अँग्रेज़ी में थी, उसमें ये कोशिश थी कि विश्व स्तर पर हिन्दी के अच्छे अनुवाद करके अँग्रेज़ी में दिये जाएँ और जो लोग दुनियाभर में हिन्दी में काम करते हैं, उनके लिए भी एक मंच बन सके। हमने संचयिताएँ तैयार करायीं। बड़े-बड़े लेखकों की कई सारी चीज़ें उपलब्ध नहीं होतीं, ग्रन्थावलियाँ बड़ी-बड़ी होती हैं, छात्र-अध्यापक उन्हें नहीं ले पाते- देख नहीं पाते। इसलिए अज्ञेय, निराला, मैथिलीशरण गुप्त, श्रीकान्त वर्मा, महादेवी वर्मा, त्रिलोचन, रघुवीर सहाय, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि अनेक लेखकों की संचयिताएँ प्रकाशित की गयीं। उस समय 'दृश्य-माध्यम' काफ़ी महत्वपूर्ण हो गया था। हमने हिन्दी के अपने लेखकों की दृश्यावलियों-छवियों का एक पोर्टफोलियों बनाया- विष्णु चिंचालकर, नेमिचन्द्र जैन, निर्मल वर्मा, कुँवर नारायण आदि को लेकर एक श्रृंखला बनी। इधर भाषा विज्ञान का काम थोड़ा आगे बढ़ा। हमने बिलकुल नये विषय लेकर पूरे हिन्दी प्रदेश में जिनमें इलाहाबाद-फ़ैजाबाद आदि शामिल हैं, परिसंवाद किया, भाषा विज्ञानियों को लेकर यह पता करने कि इस विश्वविद्यालय में इस दिशा में क्या हो सकता है और कैसे। इस पर एक व्यापक वैचारिक गुणीजन-मत संग्रह किया। उसके आधार पर एक विज़न डाक्यूमेण्ट तैयार करना शुरू किया। फिर अलग-अलग ऐसी जगहों पर जहाँ लोग अपने ही पूर्वजों को भूल गये थे, उनकी स्मृति में एक-एक व्याख्यान माला शुरू की। जयशंकर प्रसाद पर बनारस में जहाँ उन पर कुछ नहीं होता, रेणु पर पटना में, नन्ददुलारे वाजपेयी पर सागर में, अज्ञेय पर यहाँ दिल्ली में, जैनेन्द्र पर; इन सब पर एक-एक व्याख्यान इनकी स्मृति में हमने व्याख्यानमाला के अन्तर्गत शुरू किये, ये स्मृति प्रोजेक्ट हैं। जब मैं देश के बाहर गया तो देखा कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी की जानकारी, हिन्दी की वर्तमान सर्जनात्मकता की जानकारी बहुत-थोड़ी है। हमने विदेशों में करीब डेढ-सौ संस्थानों और विभागों को हिन्दी की तरह-तरह की पत्रिकाएँ जिनमें 'उन्मीलन' जैसी दार्शनिक पत्रिका, 'पहल' जैसी मार्क्सवादी पत्रिका से लेकर 'हंस', 'कथादेश' को विश्वविद्यालय की ओर से निःशुल्क भेंट करने की

योजना बनायी और इन पत्रिकाओं को हवाई खर्च मिलाकर एक वर्ष का शुल्क दिया। योजनाएँ बहुत सारी और भी थीं। जिन विदेशी लोगों ने हिन्दी में अच्छा काम किया जैसे कामिल बुल्के, उनकी स्मृति में एक व्याख्यानमाला शुरू की जाए जो बहुत अकादमिक स्तर की हो। वह व्याख्यान कोई विदेशी विद्वान तीन दिन तक दें और उसकी एक पुस्तक भी निकाली जाए। फिर नदी को लेकर, प्रेम को लेकर यानि ऐसे विषयों को लेकर जिनमें लोगों की रुचि जगती है, कविताओं के संचयन की योजना थी, अभी हम लेकर आये हैं प्रेम को लेकर जो कविताएँ छपी उनका संकलन, उसकी भी श्रृंखला शुरू की जो नहीं निकल पायी। विद्यानिवास मिश्र के सम्पादन में हिन्दी की बोलियों, दस या बारह बोलियों में समकालीन कविताओं का एक संचयन प्रकाशित किया। प्रकाशन के क्षेत्र में काफ़ी काम हो पाया क्योंकि इसके लिए हमें फ़ैकल्टी वगैरह की ज़रूरत नहीं थी, हम बाहर के लोगों से मदद लेते रहे।

उदयन : इस सब काम के होने में पहले से बने विश्वविद्यालयों के शिक्षकों की क्या भूमिका थी।

अशोक : एक बड़ी निराशा मुरली मनोहर जोशी के आने से असहयोग के रूप में हुई। उसमें बड़ी भूमिका इस बात की थी कि सन् २००२ में गुजरात का नरसंहार हुआ। उस समय हम कुलपति थे। हमने कहा कि ये बर्दाश्त नहीं किया जा सकता। हमने लेखकों, कलाकारों, रंगकर्मियों, चित्रकारों, संगीतकारों सबको यहाँ जमा किया और मार्च कर हम लोग राष्ट्रपति भवन गये, उन्हें विरोधस्वरूप ज्ञापन दिया।

उदयन : यह लोकतान्त्रिक प्रयास है इसी सबसे किसी भी देश के लोकतन्त्र का ताना-बाना सबल होता है। लोकतान्त्रिक समाजों में असहमतियों का प्रदर्शन ही उसे मज़बूत बनाता है, वे अपवाद नहीं, लोकतन्त्र का मूल विधान हैं।

अशोक : हमने कहा कि गुजरात की सरकार को भंग किया जाए, आदि। फिर हमने एक पत्र लिखा जो यद्यपि हमारे घर के पते से लिखा गया था, जिसमें हम चाहते थे कि भारत के कम-से-कम सौ लेखक, कलाकार, रंगकर्मी, संगीतकार आदि गुजरात पर अपनी प्रतिक्रिया दें; हम उसकी एक पुस्तक छापना चाहते हैं। उसे विश्वविद्यालय से नहीं, अलग से छापते। वह पत्र किसी ने मानव संसाधन विकास मन्त्रालय में भेज दिया होगा। मुझसे पूछा गया कि आपको क्या कहना है। मैंने बताया कि मैं कुलपति हूँ लेकिन मुझे भी अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता है। मैं केन्द्र सरकार का कर्मचारी नहीं हूँ। मैंने ऐसा ही एक पत्र देश के अन्य कुलपतियों को भी लिखा कि हमें इन परिस्थितियों में बौद्धिक-नैतिक नेतृत्व सम्भालना चाहिए लेकिन किसी ने जवाब नहीं दिया। मैंने मन्त्रालय से कहा कि ये मेरा अधिकार है। यद्यपि ये पत्र मैंने विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में नहीं लिखा है, अपने घर के पते से लिखा है, विश्वविद्यालय का कुलपति होने के नाते भी मेरे हिसाब से मुझे यह अधिकार है। मैंने यह भी लिखा कि इस समय के मानव संसाधन विकास मन्त्री वर्षों तक विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर भी रहे हैं, भारतीय जनता पार्टी के नेता भी, इसको लेकर कोई आपत्ति की गयी हो, मुझे तो नहीं पता। इसके बाद मन्त्रालय से असहयोग बढ़ गया। इस बीच हमने हिन्दी क्षेत्र के बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों के हिन्दी अध्यापकों, जो मौखिकी परीक्षा वगैरह में आते रहते थे, उनसे पूछा कि हम उन्हें आमन्त्रित करें तो क्या वे हमारे यहाँ प्रोफ़सर होकर आएँगे। एक-दो लोग जो मिले, उनमें पुरुषोत्तम अग्रवाल थे, जो उस समय एशोसिएट प्रोफ़ेसर थे। बाकी वर्धा क्यों जाते? जे.एन.यू. में प्रोफ़ेसर हो जाना बड़ी बात है बजाए एक नये विश्वविद्यालय के। इतना खोजने के बाद दो-तीन को छोड़कर बाकी

कोई इस योग्य ही नहीं मिला कि कहें कि हमारे यहाँ आ जाओ। दूसरी तरफ हमने हिन्दी-उर्दू का सम्मिलित पाठ्यक्रम बनवाया। उसमें हिन्दी और उर्दू दोनों के विद्वानों को बिठाया और उनसे कहा कि ऐसा पाठ्यक्रम बनाएँ जिसमें हम उन्नीसवीं सदी को पढ़ा सकें, हम ग़ालिब को, भारतेन्दु को भी पढ़ा सकें। पाठ्यक्रम बन गया, बैठकर एक सम्मिलित चर्चा हो रही थी तो उर्दू वालों ने कहा कि अशोकजी, ये पाठ्यक्रम हिन्दी में चल जाएगा, उर्दू में नहीं चलेगा। कहा, क्यों ? तो उन्होंने कहा कि उर्दू का तो अधिकांश देवनागिरी लिपि में छप गया है लेकिन हिन्दी का एक बटा दस भी उर्दू में नहीं है।

उदयन : ये क्यों नहीं हो पाया।

अशोक : उर्दू और हिन्दी खासकर बँटवारे के बाद दो विपरीत दिशाओं में चलीं। हिन्दी चली उर्दू की ओर और उर्दू ने हिन्दी से किनारा करना शुरू किया। इस समय हिन्दी-उर्दू की दूरी हिन्दी की तरफ से बहुत कम हो गयी जबकि उर्दू की तरफ से बहुत बढ़ गयी है। अब इसके बहुत सारे सांस्कृतिक कारण होंगे, राजनैतिक भी होंगे ही। एक तरफ ये स्थिति भी बनी कि ऐसे भी लोग नहीं बचे थे कि जिनसे कहें कि आप हमारे विश्वविद्यालय में आएँ, जिनको हम आमन्त्रित कर सके। वे इस काबिल नहीं थे। दूसरा ये कि हिन्दी का अध्यापकीय वर्ग विश्वविद्यालयों-महाविद्यालयों में इस तरह के नये विकल्प के लिए तैयार नहीं था। बहुत अच्छे लोगों की दिलचस्पी भी अपनी बहू, अपने रिश्तेदार, अपने शिष्य, अपनी विचारधारा के अनुचर की नौकरी लगा देने में थी। वह हमारे यहाँ सम्भव नहीं था क्योंकि सिफ़ारिश की हमने गुंजाइश ही नहीं रखी थी। मैंने अपने हिसाब से इस विश्वविद्यालय के पूरे लक्ष्य की जो परिभाषा पढ़ी, उसमें मुझे लगा कि कक्षाएँ चलाना सबसे अन्त में होना चाहिए। मैंने प्रधानमन्त्री को चिट्ठी भी लिखी थी। इसको एक विश्व हिन्दी संस्थान के रूप में बनाया जाना चाहिए; इसका काम बुनियादी तौर पर शोध तो रहे, पढ़ाना नहीं।

उदयन : ऐसे विज्ञान के बहुत संस्थान हैं।

अशोक : हाँ, हैं। हमारे यहाँ विज्ञान में, समाज विज्ञान में ऐसे संस्थान हैं। तमाम अन्य अनुशासनों में हैं तो हिन्दी में क्यों नहीं? इसका बुनियादी काम पढ़ाना नहीं होना चाहिए। आप उसको विश्वविद्यालय का दर्जा दे दें लेकिन उसे विश्वविद्यालय की आम संरचना से मुक्त रखें। इस प्रस्ताव पर किसी ने ध्यान नहीं दिया, पत्र कहीं पड़ा होगा। एक और निराशा थी, कोई बौद्धिक या नैतिक समर्थन हिन्दी की अकादेमिक दुनिया से नहीं मिला। उसमें कुछ थे जो आने के प्रत्याशी थे- बाद में कुलपति बन जाएँ या कुछ और बन जाएँ। फिर ये प्रवाद फैलना शुरू हुआ कि इस विश्वविद्यालय में पढ़ाई ही नहीं होती। नहीं होती थी यह सही था और जानबूझकर नहीं होती थी। बहुत ज़ोर था कि पढ़ाई हो। अब हम विज़िटर नॉमनी के बिना चयन समिति नहीं बना सकते थे सो अध्यापकों का चयन नहीं कर सकते थे। राष्ट्रपति का नामज़द एक विशेषज्ञ होना आवश्यक है जो तब की सरकार ने मेरे कार्यकाल के दौरान दिया ही नहीं। हमने तरह-तरह के नाम प्रस्तावित किए कि इनको नहीं कर सकते तो इनको कर दीजिए। फिर सरकार बदल गयी। सब यही रहा। हम कोई फ़ैकल्टी ही नहीं बना पाये, फैकल्टी का कोई स्थायी व्यक्ति हम नियुक्त ही नहीं कर पाये और तुर्रा ये कि सब लोग कहते रहे कि पढ़ाई ही नहीं होती। किसको हम जाकर बताएँ कि क्यों नही होती पढ़ाई, कौन पढ़ाये? हमने फिर अतिथि अध्यापकों से काम शुरू किया, बावजूद इस कठिनाई के कि हमारे पास स्थायी फ़ैकल्टी नहीं थी, हमने अच्छे-अच्छे लोगों को चुना, पहले बैच को अच्छे-अच्छे लोगों से पढ़ने

का मौका मिल गया, कई अतिथि अध्यापकों को दस-पन्द्रह दिनों के लिए वहाँ बुलाया गया। ये जो विश्वविद्यालय बना, हमने माना था कि इसमें तीन बीज शब्द हैं, विश्वविद्यालय के विशेषण के रूप में एक महात्मा गाँधी, उनके नाम पर, वे तो हर चीज़ के विकल्प हैं तो इसको विकल्प बनना चाहिए। दूसरा-हिन्दी, चूँकि विश्वविद्यालय हिन्दी भाषा के नाम पर है, हमें उसके साथ व्यापक कल्पना करना चाहिए। तीसरा वह अन्तर्राष्ट्रीय है। अन्तर्राष्ट्रीय होने का मतलब आपके पास ज्ञान के शोध और अन्य सामग्री का विपुल भण्डार हो और इसके काबिल फ़ैकल्टी हो। तीनों इतनी जल्दी सम्भव नहीं थे और सरकार में विकल्प बनाने की कोई स्पष्ट इच्छा भी नहीं थी। उन्होंने एक हिन्दी विश्वविद्यालय बना दिया, अपनी एक घोषणा पूरी कर दी, अब जो होना है सो हो। दूसरे विश्वविद्यालयों से अलग होने की सरकार की न तो इच्छा थी और न आदत थी। यहाँ भी एक विचित्र विडम्बना है कि वह विश्वविद्यालय नष्ट भी हिन्दी के कारण ही हुआ, हिन्दी में जो ओछापन, संकीर्णता, चापलूसी इत्यादि का माहौल है, उसी से यह सब हुआ।

उदयन : अब जो हो रहा है विश्वविद्यालय में वो खैर... वैसी कहानी नहीं है जो तुम्हें कहना चाहिए। इसके बाद एक तो रज़ा फाउण्डेशन की स्थापना हुई जो एक स्तर पर आज है। इस बीच तुमने 'हिन्दी कुम्भ' के आयोजन की बात की। क्या एक तरह से इन्हीं चीज़ों की निरन्तरता में उसको देखना चाहिए।इसके पीछे व्यापक दृष्टि क्या है?

अशोक : व्यापक दृष्टि ये है कि एक तरफ हिन्दी में एक तरह का झूठा अभिमान और झूठी आकांक्षाएँ हैं- संघ की भाषा के रूप में हिन्दी को मान्यता मिलनी चाहिए। पर इसका उपयोग भारत के राजनयिक भी नहीं करेंगे, भारत के राजनयिक विदेश या देश में भी हिन्दी में नहीं बोलेंगे, लेकिन उसकी चर्चा लगातार चलाते रहते हैं। हिन्दी को शायद खुद ये खबर नहीं है कि उसकी व्याप्ति कितनी है यानि वो कहाँ से कहाँ तक फैली है। अपनी छयालीस बोलियों में वो व्याप्त है, अपनी इतनी सारी लोककलाओं में वो व्याप्त है, वो शास्त्रीय संगीत-नृत्य-सिनेमा में व्याप्त है, वो राजकाज-शिक्षा-साहित्य इत्यादि में व्याप्त है। इसका कोई समग्र चिन्तन हिन्दी में कभी होता नहीं है यानि हिन्दी को अपनी सम्पन्नता और विपन्नता दोनों की खबर नहीं है। एक झूठे अभिमान में और व्यर्थ की आकांक्षाओं में वो अपने को बरबाद करती रहती है, खर्च करती रहती है। इतना सारा मीडिया-प्रिण्ट और इलेक्ट्रॉनिक, ये सब दुनियाभर के नवाचार हैं, इसको कम-से-कम सालभर में एक बार इकट्ठा किया जाए- साथ लाया जाए ताकि लोगों को कम-से-कम एक बार सब साथ देखकर अपनी शक्ति भी समझ में आये और कमज़ोरी भी दिखायी दे। हिन्दीतर दुनिया को भी कुछ भान हो कि यह भाषा इतनी बड़ी है और कितनी बहुलता व विविधता इसमें है। इसका भी साल में एक सशक्त और लोकप्रिय इज़हार हो उसे 'हिन्दी कुम्भ' कहा था।

उदयन : इसमें फिर परेशानी खड़ी होने वाली है क्योंकि जैसा कि तुमने कहा कि पिछले पचास सालों के हिन्दी साहित्य की आमतौर पर हालत बहुत अच्छी नहीं है। हमें पुराने लेखकों का पुनर्प्रतिष्ठापन करना होगा जिसकी कोशिश तुमने विश्वविद्यालय में रहते हुए की। पुराने लोगों और हिन्दी की स्मृतियों में जाना पड़ेगा, उससे अगर बात बन सके तो बनेगी पर इसका विरोध स्वयं हिन्दी में होगा।

अशोक : अब तो हमको यह मानकर चलना चाहिए, मुझको ये मानकर चलने में दिक्कत नहीं है। कि जो कुछ भी करूँगा, उसका विरोध होगा ही क्योंकि कोई-न-कोई उससे आहत होता ही है। अब इसको हम बचा नहीं

सकते तो क्या करें, होगा तो होने दो, वह होगा ही। लेकिन अगर कुछ लोगों को ये बात समझ में आये कि इसके पीछे कोई तत्व की बात है, इसके पीछे खरी चिन्ता या बेचैनी है, तब शायद कुछ लोगों का दिमाग फिरे। इसको भी निराशा का कर्त्तव्य कहना चाहिए।

उदयन : तुम खुद भी उर्दू के सम्बन्ध को लेकर काफी संवेदनशील रहे, उसका एक आत्मसम्मान है। तुम्हारी नज़र में हिन्दी-उर्दू का सम्बन्ध, आमतौर पर, वो ऐसा क्यों बना हुआ है। उत्तरप्रदेश में लम्बे समय तक हिन्दी-उर्दू दोनों साथ में चलती रहीं, बल्कि वहाँ लम्बे समय तक पढ़ाई का माध्यम उर्दू थी। पंजाब के पास पंजाबी थी- उर्दू बाद में आयी। कहीं ये तो नहीं कि हिन्दी को अवसर ही नहीं मिला और हिन्दी की हालत दयनीय ही रही हो।

अशोक : उर्दू फिर भी सत्ता के अधिक निकट थी। फ़ारसी भी मुगलों के समय में थी लेकिन उर्दू को सत्ता के निकट रहने का अवसर रहा। हिन्दी को उस तरह से सत्ता में रहने का अनुभव नहीं है। राजे-रजवाड़ों में हिन्दी भले ही थी लेकिन व्यापक रूप से उसे सत्ता में रहने का अनुभव नहीं है। संविधान बनने के बाद उसे सत्ता के पाखण्ड में रहने का अनुभव तो है लेकिन हर स्तर पर सत्ता में रहने का नहीं, वह प्रतीकात्मक तो है सचमुच का सत्ता में रहना नहीं है। अब ये तो एक भाषा का अपना दुर्भाग्य है। ये भौतिक दुर्भाग्य है लेकिन यह दुर्भाग्य ज़्यादा गहरा हो जाता है जब ये उसका आध्यात्मिक दुर्भाग्य भी बन जाता है। यानि उसका आन्तरिक दुर्भाग्य भी बन जाए जो कि हिन्दी का बन गया कि अगर हमारी ज़रूरत वहाँ नहीं है तो हमें भी उसकी ज़रूरत नहीं है। अगर विचार जगत में हिन्दी की प्रतिष्ठा नहीं है तो हिन्दी को भी विचार की ज़रूरत नहीं है, कुछ इस तरह का तर्क-सा बन गया।

उदयन : कैसा कुतर्क है यह। बिना गहर विचारों के निवेश के कोई भी भाषा सशक्त नहीं बन सकती। भाषा के सरोवर में अन्यान्य वैचारिकताओं के सोते फूटते रहने चाहिए तभी उसका जल निर्मल बना रहता है, निर्मल और सम्भावनाशील!

अशोक : हाँ, यह सोच विकसित हो गयी कि हमें क्या मिल जाएगा। अब जो थोड़ी-बहुत ज्ञानोत्पादन की वृत्ति थी दुर्भाग्य से नयी टेक्नोलॉजी, इण्टरनेट वगैरह के कारण वो भी जाती रही। सारा कुछ ज्ञान, सब कुछ गूगल आदि से मिल जाएगा तो जो ज्ञान की रचना करने का उत्साह या ज़रूरत थी वो भी क्षीण हो गयी क्योंकि यह भाव घट कर गया कि क्या करना है हमें। हिन्दी का बहुत बड़ा संकट एक और लगता है कि ये असल में बहुत सारी स्थानीयताओं का समुच्चय थी, बोलियाँ उस स्थानीयता इज़हार हैं। ये जो अलग-अलग बोलियाँ थीं, इनके अपने अलग-अलग इलाके थे, इलाकों में भी कहीं कुछ-कहीं कुछ और उस स्थानीयता का जनजीवन और वहाँ की संस्कृति पर असर होता था। हिन्दी में धीरे-धीरे वो स्थानीयता भी गायब हो गयी। अब भी किसी रचना में एक तरह की स्थानीयता की कुछ झलक-चमक आती है तो वो एकदम ध्यान खींचती है क्योंकि ज़्यादातर अब स्थानहीन कविता लिखी जाती है।

उदयन : समयहीन क्योंकि स्मृति-विपन्न है और स्थानहीन क्योंकि स्थानीयता नहीं है।

अशोक : वो कहीं की भी हो सकती है और तीसरा इसका एक और पक्ष यह है कि ये सारा साहित्य मध्यवर्ग का है, इसमें दूसरे वर्ग जो आमतौर पर समाज में होते हैं, शामिल हो सकते हैं, पर नहीं हैं। हर समाज में

सम्भवतः ज़्यादातर लिखना तो निम्न वर्ग ही करता है लेकिन हिन्दी में मध्यवर्ग के अलावा जैसे कोई कुछ करता ही नहीं, लिखता ही नहीं।

उदयन : बाकी जो हैं वो सब प्रतीक है।

अशोक : हिन्दी की विडम्बनाओं का ही कोष बन सकता है। एक तरफ स्मृतिहीनता है, स्थानहीनता है और दूसरी तरफ़ समय के साथ अपने को बावस्ता करने की इच्छा भी है। ये एक के बाद एक विडम्बनाएँ हैं, पर इसमें लगभग सब कुछ सम्भव है।

कविता की कुछ पंक्तियों पर विचार

शिरीष ढोबले

निकृष्टतम पाठक वे हैं जो लुटेरी सेना की तरह व्यवहार करते हैं। वे कुछ हिस्से उठाते हैं, जिन्हें वे इस्तेमाल करते हैं बचे हुए को वे मैला कर देते हैं। वे भ्रम पैदा करते हैं और सम्पूर्ण का असम्मान करते हैं।

नीत्शे

पढ़ने की केवल एक ही पद्धति है पुस्तकालयों को, किताब की दुकानों को छान मारिये, जो किताबें आकर्षक लगें, उन्हें उठाइये, उन्हें परे रख दीजिए यदि वे उबा रही हैं ; उनके उन हिस्सों को छोड़ दीजिए जो घिसट रहे हों और कभी भी इसलिए न पढ़िये कि आपको पढ़ना ही चाहिए या जब वह लिखाई किसी आन्दोलन का हिस्सा हो या जब वह किसी सामूहिक रुझान का भाग हो।

डोरिस लेसिंग

नीत्शे एक अहमक और असहज व्यक्ति हैं।

टॉलस्टॉय

कविता के बारे में कविता जो कहती है (और वह जो कविता नहीं कहती है) उससे अधिक क्या कहा जा सकता है ? कविता का अन्तःकरण (यदि कविता का कोई अन्तःकरण होता हो तब भी और यदि कविता ही किसी अदृश्य सत्ता का अन्तःकरण हो तब भी) किसी निश्चित पाठ से आविष्ट नहीं होता इसलिए कविता के बारे में कहा-सुना, लिखा-पढ़ा, थोड़ी दूर चलकर कहने वाले का, सुनने वाले का लिखने वाले का और पढ़ने वाले का अपना अत्यन्त निजी आख्यान/आग्रह/प्रवचन बन कर रह जाता है।

कविता यदि वह पत्रकारिता का प्रहरी शिखर बनने से बची रहे तब लगभग हृद्य के स्पन्दन और श्वासोछ्वास की गति से उत्तेजित एवं पोषित, एक सम्पूर्ण जीवन ही की तरह पाठक के संसार में प्रवेश करती है और हर बार एक 'इतर' जीवन ही की तरह स्वयं को सम्प्रेषित भी करती है। एक सम्प्रेषण इस को समझे बूझे जाने से पहले आता है। समझना बूझना पाठक का कविता पर किया गया संस्कार है और सम्प्रेषण कविता का पाठक पर किया गया संस्कार !

कविता अपने भीतर हर ऋतु, हर काल समाहित कर चलती है, प्रातः का राग वह अपने भीतर की भोर को सुनाती है और विरह की अमावस्या का वाक्य वह अपने भीतर के उजाड़ से कहती है।

किसी अजनबी शहर के गली कूचों से जब एकाधिक बार हम गुज़रते हैं तो क्रमशः उन कूचों के कुछ संकेत हम कुछ-कुछ समझने लगते हैं लेकिन कुछ गलियों कुछ कूचों और किसी एक मकान से तो वह शहर नहीं बना होता। यह पाठ इस स्वीकारोक्ति के साथ में प्रस्तावित कर रहा हूँ कि मैं नीत्शे की नज़र का वही निकृष्ट पाठक होकर अशोक वाजपेयी की कविताओं को पढ़ता रहा हूँ। इनमें बिखरे संकेतों में

से कुछ संकेत उठाकर उन्हें जोड़ घटाकर कोई शहर ही जैसे बना रहा हूँ और यह अत्यन्त सम्भव है यह जगह उनकी कविताओं के (और जो अधिक महत्त्वपूर्ण है उनकी कविताओं से बने हुए उनके) शहर से सर्वथा अलग हो।

लेकिन शहर की और सम्भावना की अन्तःक्रीड़ा को वे समझते हैं, शायद उन्हें इस पाठ से कोई आपत्ति न होगी। शहर स्वप्न की तरह कामनाओं और भय से बना होता है। इसका आलाप रहस्यमयी, इसके नियम अतार्किक और इसका मंज़र फ़रेब देने वाला होता है क्योंकि हर किसी बात में कोई और बात छुपी होती है।

इतालो कॅल्वीनो

कोई भी महत्त्वपूर्ण कवि, समकालीन या पूर्वज, इस भाषा का या उस भाषा का अन्ततः एक वैश्विक महाकाव्य के कुछ छन्द रचने का प्रयत्न कर रहा होता है, इस वैश्विक महाकाव्य का स्वभाव यह है कि सिवा कवि की चेतना के यह और कहीं भी अदृश्य ही बनी रहती है। कवि की चेतना या उसके अचेतन की रीती अंजुरी में इस महाकाव्य की धारा आ कर गिरती है, कुछ झरकर किसी और के छन्द में जा पड़ती है, कुछ इसकी कविता में।

कविताएँ कभी इस तथ्य का दम्भ नहीं रखती कि वे एक ऐसी चेतना के अंश से जिससे पृथ्वी जैसे ब्रह्माण्ड की धुन्ध से वेष्ठित है। हर कवि के हिस्से इस धुन्ध का कोई चौकोर टुकड़ा (जैसे आकाश का) कोई वृत्त (जैसे वृष्टि का) आता है। कठिन यह है कि इस चौकोर को, इस वृत्त को जैसे प्रकाश को चन्द्रिका को कैसे पूर्ण से अलग किसी रूप में परिभाषित किया जाए। कविता में यदि कोई सीमा है तो वह सीमा यदि दम्भ है तो वह दम्भ कवि के घर उसके दरीचों उसके आँगन की सीमा है। उसके अपने वैयक्तिक आग्रहों/पूर्वाग्रहों का दम्भ है; कहना मैं यह चाहता हूँ या कदाचित कहना मैं यही चाहता हूँ कि कविता और कवि कितनी बार कितनी कविताओं से कितने किबाड़, कितने गवाक्ष इस तरह खोलता है कि उस अदृश्य महाकाव्य का आभास उसकी पदचाप उसकी सुगन्ध को वह स्वयं या उसका पाठक साझा कर सके, कविता अपने सम्प्रेषण में एक उत्तर न होकर एक प्रश्न का रूप भरती है उत्तर श्रोता को या पाठक को खोजने पड़ते हैं।

पाठ अन्ततः अदृश्य का दृश्य पाठ है, मौन का वाचक पाठ है। पूर्ण का आंशिक पाठ है इसलिए अक्षम पाठ है और लगभग आग्रह का आलाप ही है लेकिन क्या हर लिखे हुए की नियति ऐसे या इससे मिलते जुलते पाठ से परिभाषित होते रहने की नहीं है?

'जीवन विभिन्न सुगन्धों के व्यापार के सिवा क्या है ?'

इतालो कॅल्वीनो

प्रेम की गन्ध उसकी स्मृति की गन्ध विरह की और विरह के सत्त्व के चारों ओर एक गिलाफ़ की तरह किसी अनिवार्य उपस्थिति की गन्ध, सुख के क्षणों की गन्ध, पीड़ा की गन्ध, दुःख के ठण्डे सन्ताप की गन्ध, बाघ को हरिणी की हरिणी को बाघ की गन्ध, देवताओं को मनुष्य की मनुष्य को मृत्यु की गन्ध, जितने को हम पवित्र मानते हैं उतने पवित्र की गन्ध जितना हम त्याग देते हैं उतने त्याग की गन्ध और सबसे अधिक हमारे वाक्यों को उनके शब्दों की गन्ध उन शब्दों को अर्थ की अनर्थ की निरर्थक की गन्ध और इन सबको समाहित करती किसी कविता की गन्ध यही गन्ध हमारे श्वासोच्छ्वास में रची-बसी है इसी गन्ध से हम उस दृष्टिहीन पथिक की तरह अपना पथ टटोलते हैं, कवि अपना शब्द टटोलता है, बिम्ब टटोलता है शब्द और बिम्ब अपनी कविता टटोलते हैं और कविता ब्रह्माण्ड जैसे विस्तृत सभागार में (जहाँ केवल परदा उठने की प्रतीक्षा हवा में सरसराती है) अपना आसन टटोलती है।

क्या यही वह व्यापार नहीं जो अन्ततः कविता का या प्रकारान्तर से जीवन का व्यापार है ?

हम अपने पूर्वजों की अस्थियों में रहते हैं ...

या हमारी अस्थ्यिों में पूर्वज रहते हैं या दोनों ही। प्रत्येक मनुष्य अपना एक निजी, स्वतन्त्र और एकनिष्ठ संसार लेकर जन्म लेता है और सारा जीवन इस संसार के बिम्ब 'बाह्य' संसार में खोजता रहता है। कवि इन बिम्बों को एक 'प्रदत्त' भाषा और परम्परा में बनाने का प्रयत्न भी करता रहता है : उन्हें पाता रहता है, खोता रहता है, फिर पाता है फिर खो देता है, ऐसे ही उसकी कविता बनती है। जिसे हम पूर्वजों की अस्थियाँ कहते समझते हैं वह कवि के निजी संसार का एक महत्त्वपूर्ण स्थापत्य है, महत्त्वपूर्ण इसलिए कि उसकी अस्थि मज्जा की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति अपने

पूर्वजों की स्मृतियाँ समेटना भी है। ये स्मृतियाँ इतनी सान्द्र और इतनी आन्तरिक होती हैं कि उनका एक अदृश्य लेकिन छुआ जा सके इतना गाढ़ा चन्दोवा उसके सर पर तना होता है और वह कभी जानते हुए कि ऐसा हो रहा है, कभी न जानते हुए कि ऐसा हो रहा है इसकी छाया में रहता है, पूर्वज कभी किसी उत्फुल उच्छ्वास की तरह, कभी किसी आह की तरह, कभी कराह की तरह उसके शब्दों की सतह पर डूबते उतरते रहते हैं।

पूर्वजों का उल्लेख जब कविताओं में आता है तब उसे उन हाड़मांस के मानवों का उल्लेख भर मान लेना जो वंशावली के पूर्वज हैं शायद इन बिम्बों का केवल आंशिक सत्य समझने जैसा होगा। ऐसे बिम्ब कवि के संसार और ईश्वर के संसार का एक अनवरत द्वन्द्व हैं, कवि की नियति यह है (और इस पर ध्यान देना आवश्यक होगा) कि वह एक संसार के बिम्ब के सहारे, संकेतों के सहारे किसी दूसरे संसार का शोध करने के लिए बाध्य है।

कई बार इसीलिए लिखने से अधिक सरल न लिखना होता है लेकिन क्या यह सच नहीं कि कवि का न लिखना भी उसके लिखे में गुम्फित होता है।

सुकरात ने कवि को ईश्वर का दुभाषिया कहा है, कवि ठीक यही है : ईश्वर के संसार को अपने संसार की भाषा से परिभाषित करता। यह अलग बात है कि वह असफल रहता है (और इसीलिए ईश्वर नहीं होता)।

कवि ईश्वर के मौन का भी दुभाषिया है। शायद !

उन्हें भी जगह दो जो
एक दिन दगा करेंगे...

'अपना चातुर्य बेच दो और थोड़ा अचरज खरीद लो।'

रूमी

चातुर्य सर्वप्रथम आत्मरक्षा फिर आत्मतुष्टि और फिर आत्मश्लाघा का पथ है। इस पथ पर कब और किसका हित पैरों तले कुचला जाएगा, यह अनदेखी यह उद्ण्डता ही वह निधि है जो रूमी के माल-असबाब में बिकाऊ है (और हर उस कवि के माल में भी बिकाऊ होना चाहिए जिसकी कविता चतुराई की छाया पड़ने पर छटपटाती है) रूमी के लाल ओ गुहर पर अचरज का प्रकाश पड़ता है जिसके आलोक में वह संसार देखता परखता है, कविता में वह उस दर्प को प्रतिबन्धित करता है जो उसे शायद उस कर्कश वाक्य की तरफ़ धकेले जिसके विन्यास से उपजे सन्ताप ही से वह किसी अलग पंक्ति को लिखने के लिए पहले पहल उद्यत हुआ था।

माँ लौटकर जब .....

कहीं लौट कर आना अनिवार्यतः कहीं से लौट कर जाना भी होता है और यह आना-जाना हमारे पहले आगमन से लेकर अन्तिम जाने के बीच पसरा हुआ तिलिस्म है। मित्रों के साथ चहल कदमी के समय किसी अतिरंजित पद्धति से झुकी हुई टहनी से हम एक पत्ती तोड़ लेते हैं, कोई पत्थर कहीं बैठे-बैठे हमारे हाथ आ जाता है, यह पत्ती यह पत्थर हमारे जेब में पड़े रह कर घर तक आ जाता है, क्या यह लौटते समय कुछ लाने जैसा है? बावजूद इसके कि पत्ती से अधिक सुन्दर गढ़ाई वाली कोई और बात नहीं किसी पत्थर जैसा कोई और पत्थर सारे संसार में नहीं होता, हम

पत्थर या पत्ती लौटते समय नहीं ले आते, हम वे संकेत वे बिम्ब लेते आने का प्रयत्न करते हैं जो हमने कभी तजी हुई किसी सृष्टि के साथ बाँध रखे हैं और वे संकेत और वे बिम्ब लेते आते हैं जो हमने उस सृष्टि के साथ बाँध रखे हैं जहाँ हम लौट कर जा रहे होते हैं, यह सब हम उन स्मृतियों के सहारे करते हैं जो हमारे 'वक़्ते सफ़र' के माल असबाब का हिस्सा होती हैं !
जो कुछ हम लाते लिवाते हैं, वह कभी किसी और के लिए नहीं होता वह सब किसी और की परिक्रमा करती हमारी स्मृतियों, हमारे बिम्बों के लिए आभूषणों की तरह हम इकट्ठा करते हैं।

इ.इ. कमिंग्स जब कहते हैं कि वे घर लौटते समय शायद एक गोल और मुलायम पत्थर ला सकते हैं जो पृथ्वी जितना छोटा या एकान्त जितना बड़ा हो तब शायद वे इन्हीं संकेतों की बात कर रहे होते हैं !

लौटते समय किसी के लिए भी और विशेषतः माँ या पिता या बहन या भाई के लिए कुछ लाना और भी कठिन होता है और वह इसलिए कि हम और हमारी स्मृतियाँ, उनकी आकृतियों को कभी किसी रूप में भी बदलने ही नहीं देती और बदलते वे ज़रूर हैं। कवि उसकी कविताओं में इन सम्बन्धों के बिम्बों को तब एक प्रकार से अक्षत यौवन ही प्रदान कर रहा होता है जब वह जीवन में इन्हीं सम्बन्धों को खोजता भटकता रहा होता है-इस खोज को, शोध को हम कभी जाने से, कभी लौटने से, कुछ लाने से या खाली हाथ आने से, अपनी विजय या अपने पराभव, अपने उल्लास से और अपने अवसाद से अलंकृत करते रहते हैं।

अव्वल तो कोई कहीं जाता नहीं और इसीलिए कभी कहीं लौटता नहीं और स्वर्णाभूषणों की गफ़लत में सिवा काठ के टुकड़ों के कुछ लाता नहीं।

शायद 'क्या लाऊँगा' प्रश्न उतना नहीं जितना उत्तर है।

जीवन भूलने का एक लम्बा सिलसिला है ! ...

भूलना तभी तक एक चुना हुआ विकल्प है जब तक न भूलने का कोई विकल्प न हो।

शायद हम पराजय की पीड़ा को, असम्मान के दुःख को, अप्रिय की अनिवार्यता को भूलना चाहते हैं लेकिन सच तो यह है कि ये सारे भाव हमारे मन की प्रयोगशाला में रखे रंगबिरंगे शीशे में इकट्ठे रसायनों की तरह सजे हमारे ही मन में निर्मित हैं। अपनी विजय के सुख के सम्मान के उल्लास के तत्त्वों ही से हम लगातार हमारा ही दुःख बना रहे होते हैं जिसे हम अन्ततः भूलना चाहते हैं। स्मृति और विस्मृति मानो किसी रासायनिक सूत्र के दो सिरों पर आबद्ध दो अणु हैं, कभी अन्तःकरण की सतह पर एक या कभी दूसरा उभरता है। हम याद करते हैं या भूल जाते हैं मन की एक करवट पर यह तिलिस्म खुलता बन्द होता है।

'कुछ भी इतने उत्कट ढँग से अपरिचित नहीं होता जितना यात्रा के अन्त में स्वयं को उद्घाटित करता परिचित' सिंथिया ओज़िक का यह वाक्य परिचित ही है जो स्मृति में सुरक्षित या विस्मृत है और यही अपरिचित। वे भी शायद परिचय या अपरिचय का संकेत उठाकर स्मृति और विस्मृति की ही बात कर रही हैं और जहाँ तक यात्रा का प्रश्न है वह क्षणार्ध से छोटी और जीवन से अधिक लम्बी हो सकती है।

अन्ततः मैं तुम्हारी फीकी आवृत्ति हूँ ...

पिता वह डोर है जिसके सहारे पहले हम भविष्य से, फिर अपने अतीत से साक्षात्कार करते हैं। यह डोर एक गाढ़ी उत्कण्ठा और जिसे केवल एक स्वप्न उद्घाटित कर सके वैसा अचरज का पथ है, साथ ही साथ यह एक गहरी अन्यमनस्कता और एक अनिवार्य विषाद का भी पथ है। हमारी उत्कण्ठा हमारा अचम्भा जीवनभर पिता कहलाने वाली छाया से सुदूर जगमगाते किसी नक्षत्र पर दृष्टि गड़ाए खड़े रहने से उपजता है। जीवन धीरे-धीरे हमें उस नक्षत्र की ओर ढँकेलता है या शायद वह नक्षत्र ही हमें अपनी ओर खींचता है। लेकिन हर नक्षत्र अनिवार्यतः और अन्ततः एक टूटा हुआ बिल्लौर निकल आता है चमकीला लेकिन निरर्थक और तब जब हमारी मुखाकृति इस टूटे बिल्लौर पर उभरती है उसके किसी और हिस्से में पिता की भी विषाद और अन्यमनस्कता से चूर, जितना आश्चर्य करने की क्षमता हममें इस यात्रा की अन्तहीन थकान के बावजूद बची रही हो उतने आश्चर्य से हम देखते हैं कि हमारी और पिता की आकृति एक जैसी है

विषाद और अन्यमनस्कता।

हमारी इसी आकृति को जो बिल्कुल पिता जैसी है जो टूटे बिल्लौर पर उभरी है, किसी और छाया में खड़ा कोई उत्कण्ठित और चकित बालक देखता है : उसे इतनी दूर से, वह नक्षत्र जैसी दीख पड़ती है।

यह पुत्र है जो यात्रा के लिए निकलने को आतुर है।

कभी-कभी लेकिन क्या यह सम्भव नहीं हो सकता कि एक नक्षत्र ही घटी-पल और मुहूर्त का निश्चय कर ईशान्य में उभर रहा हो, पिता सब जानते समझते भी इसी आशा में, कभी वह डोर इतना नहीं खींच लेते कि पुत्र के पैरों का सन्तुलन ही बिगड़ जाए।

एक मूक सहमति से पिता और पुत्र दोनों ही शायद एक यात्रा पर निकलते हैं।

उत्कण्ठा और अचरज, विषाद और अन्यमनस्कता की यात्रा।

बहुत बाद में आते हैं मल्लिकार्जुन मंसूर ...

क्या वे अपने श्रोताओं के जीवन में देर से आते हैं,
क्या वे दृश्य में देर से आते हैं,
क्या वे रंगमंच पर देर से आते हैं,
क्या वे एक राग से दूसरे राग पर देर से आते हैं,
क्या वे आलाप से विलम्बित पर देर से आते हैं,
क्या वे एक सुर से दूसरे सुर पर देर से आते हैं?
पण्डित मंसूर के बारे में ये सारे प्रश्न यदि पूछे जाए तो उत्तर हर बार शायद हाँ में होगा।

जब वे कोमल वयस में किसी नाटक का कोई छन्द गाने घर से निकले होंगे तो उन्हें नाट्यग्रह आने में बड़ी देर लगी होगी, देर इसलिए लगी होगी की वे सारे रास्ते उस संगीत से अपनी आत्मा को सींचते चल रहे होंगे जिसके लिये उनका मन प्राण बना था। सूर्य, चन्द्र-चन्द्रिका का प्रकाश या अँधेरे में झींगुर की वाणी इस सबको एक अदृश्य सांगीतिक विक्षेप की तरह वे अपनी इन्द्रियों से सोख रहे होंगे, गुन रहे होंगे और फिर बुन रहे होंगे।

उन्हें नाट्यग्रह पहुँचने में इतनी देर इसलिए भी लगी होगी कि हर मोड़ पर उन्हें कोई स्वर कहीं बैठा दिख जाता होगा जिससे बतियाये बगैर वह आगे नहीं बढ़ते होंगे।

वे नाट्यग्रह आये ज़रूर पर फिर वह कचेरियों और महफ़िलों में भी आये लेकिन तब तक शायद विलम्ब उनके कण्ठ का ही कोई आयाम हो गया होगा। क्योंकि जिस तरह से वे सुर लगाते हैं, लगता ऐसा रहता है कि सुरों को इसकी उत्कण्ठा अधिक है कि पण्डित मंसूर की आवाज़ उन तक पहुँचे, उनकी आवाज़ तो अपना समय लेकर सुरों तक पहुँच ही जाती है।

सच तो यह है कि पण्डित मंसूर का गायन इस सीमा तक उनके स्वयं के शास्त्र की परीक्षा करता है कि राग-रागिनियाँ छन-छनकर विरल होती जाती हैं, इतनी विरल कि व्योम को ढँक लें। नटविहाग में पायल, सास, नन्द, देवरानी, जेठानी का शिकवा इतना विरल हो जाता है कि शिकवा न रह जाकर इस बात का हल्का इशारा भर रह जाता है कि पायल, सास, नन्द के साथ नायिका के सम्बन्धों का धर्म क्या है, जो बचा रहता है वह है, पण्डित मंसूर का स्वर, वही देर से आता हुआ !

लेकिन यह सब कहने सुनने की जगह यह भी कहा जा सकता था कि मल्लिकार्जुन मंसूर बहुत बाद में आते हैं या यह कि उनका गाना इतना विरल होता है कि जितना विरल होने की कामना ईश्वर ने स्वयं अपनी वाणी के लिए की होगी।

शब्द तो थे पर उनसे चीख्न नहीं पाया...

'ऐसी कोई भाषा नहीं होती जो फ़रेब न देती हो ।'

इतालो कॅल्वीनो

हम हमारी लगभग मूर्खता की हद छूती सरलता में उन संकेतों पर विश्वास करने लगते हैं जो हमने ही गढ़े हैं और इन संकेतों में 'शब्द' सबसे अव्वल हैं।

हम चुनते हैं एक शब्द-'सफल' और सफलता उस शब्द को त्याग देती है। हम 'प्रेम' शब्द चुनते हैं और विरह उस शब्द में घर बना लेता है फिर हम 'घर' शब्द चुन लेते हैं, वह घर जो जाड़े में धूप की तरह, बारिश में छाते की तरह, हम पर दया रखे लेकिन वही शब्द 'घर' एक उधड़े हुए ऊनी कम्बल और बदरंग काले छाते को हमारी पीठ पर लाद कर हमें देहरी के बाहर एक अन्तहीन यात्रा पर धकेल देता है।

हाफ़िज़ कहते हैं कि हम जो कहते हैं, वही हमारा घर हो जाता है। लेकिन हम जब विषाद, विरह, विदेश या विदग्ध जैसे शब्द कहते हैं तब क्या जो-जो हम कहते हैं वह कहे गये के सिवा कुछ है या कहे गये के सिवा सबकुछ है या कहे गये के साथ-साथ कुछ और भी है ?क्या हमें शब्दों में कहना नहीं आता या शब्द हमें फ़रेब देते हैं ?

यह पहेली या यह तिलिस्म ही वह तिलिस्म है, जिसे लोरका जीवन की अनिवार्यता मानते हैं। सच (जितना यह 'शब्द' सच को कहने में सक्षम या अक्षम है उतना) तो यह है कि लोरका के ही शब्दों में हम हमेशा इस खोज के लिए उत्कण्ठित रहते हैं कि वह क्या है जो हमें सर्वाधिक आहत कर सकता है। हम सुख शब्द गढ़ते ही इसलिए हैं कि इसके परदे में छुपा दुःख हमें दिख सके।

शब्द हमारे हैं और उन पर फ़रेब का संस्कार भी हम ही करते हैं। शब्द सबके हैं लेकिन सबसे अधिक वे कवि के हैं, उससे भी अधिक वे कविता के हैं और कविता ही एकमात्र ऐसा अवकाश है, जहाँ शब्द और उनके बिम्ब एक दूसरे में तिरोहित होते दीखते हैं, बिना फ़रेब के। कवि का दुर्भाग्य यह है कि वह कविता की मुद्रा लेकर अकविता के व्योम में सौदे - सुलफ के लिए भटकता है और इसलिए अपने शब्दों के सहारे हमेशा किसी झूठे पते पर पहुँच जाता है।

कविता में कवि हमेशा यह चीह्न पाता है कि वह क्या चीह्न नहीं पाया। अकविता से वह दुनियादारी के मेले में किसी दरवेश की तरह अप्रासंगिक दीख पड़ता है। अपनी झोली में कंकड़-पत्थर लिये फिरता।

कवि विषादग्रस्त है कि जिन संकेतों से वह एक संसार बना सकता है, उन्हीं शब्दों से वह कोई ओर संसार चीह्न नहीं पाता।

दुःख चिट्ठीरसा है...

चिट्ठियों पर किसी मुकाम का पता ठिकाना लिखा होता है, जिसे अपनी खड़खड़िया साईकल पर खोजते कभी आवाज़ देकर, कभी किवाड़ों पर टँगी काली लेकिन इस्तेमाल के कारण मुलायम हो गयी सतह वाली लोहे की साँकल..... बजाकर एक अधेड़ चिट्ठीरसा उसे मकान मालिक या किरायेदार के हवाले कर आगे बढ़ जाता है (कभी आपने इस बात का ध्यान किया हो वह साईकल हाथ में होने के बावजूद पैदल ज़्यादा चलता है, उस पर सवारी करता कम दीख पड़ता है। खैर !)

प्रत्येक का दुःख रोला बाख्त कहते हैं कि अपनी एक सरासर निजी लय रखता है, इतनी निजी कि शायद उसका पता भी उतना निजी न होता हो।

चिट्ठी दुःख है, पता दुःख है, चिट्ठीरसा वह जीवन है जो अचूक 'अभिमन्त्रित तीर' की तरह हमें ढूँढता हमारे निजी दुःख के आकाश का एक टुकड़ा लगभग हर बार ही कुछ वाक्यों की हरी लाल डोरी से व्यवस्थित बँधा हम तक पहुँचा आता है।

सुख में हम हमारे मन प्राण की देहरी से बाहर खड़े होते हैं। सुख हमें वह क्षणिक अवकाश प्रदान करता है जहाँ हम स्वयं से बाहर रहकर स्वयं को देख पायें। सुख का एक दृश्य होता है, इसके विपरीत दुःख हमें अपनी परिधि के भीतर रखने का प्रयत्न करता रहता है। दुःख एक परदा है, वैसा जैसा उस दर्पण पर साँझ ढले हम डाल दिया करते थे, जो घर के किसी कमरे में कन्घी और तेल रखने की जगह के बगल टँगा रहता था। अन्तर केवल इतना है कि यह दर्पण हम स्वयं हैं। दुःख तब भी एक परदा है, दुःख दृश्य नहीं है, हल्के कीमखाब से आवृत्त हमारा प्रतिबिम्ब है और इसीलिए हमें हमारी सूचना देता है।

रूमी कहते हैं कि यदि तुम पौंछे की प्रत्येक रगड़ से तिलमिलाओगे तो तुम्हारा दर्पण साफ़ कैसे होगा !

दुःख परदा है लेकिन पुराने तौलिये से बना वह पौंछा भी है जो यदा-कदा इस दर्पण को रगड़कर साफ़ करने के काम आता है।

तो दुःख चिट्ठी है, दुःख पता है। चिट्ठीरसा भी एक जीवन का रूप धरकर आया कोई दुःख है। दुःख, हम जो दर्पण हैं, उस पर पड़ी 'कीमखाब' भी है, दुःख वह पुराना तौलिया भी है, जो हमारी आत्मा की सतह को धोता-रगड़ता रहता है।

मेरे हाथ ज़रा-सी देर बाद भूल गये !...

यदि हम स्पर्श को स्पर्श शब्द की तरह अपने मन में बाँधकर रख पाते या किसी नाम या रूप को तो क्या हम अपने शब्दों का उच्चारण कुछ अधिक सजगता से, कुछ अधिक उत्तरदायित्त्व के साथ नहीं करते?

शब्द में जो अर्थ है वह यथार्थ में क्या हमारा ही कोई बिम्ब नहीं है? स्पर्श शब्द में स्पर्श किसका है? भय में भय किसका है? सत्य में सत्य किसका है? कोई भी शब्द न सार्वभौमिक है, न किसी दैवीय अर्थ से अभिमन्त्रित है या शायद उस सीमा तक सार्वभौमिक अर्थ से और उस सीमा तक दैवीय अर्थ से अभिमन्त्रित अवश्य हो सकता है, जिस सीमा तक हम या हमारा उच्चारण किसी सार्वभौमिक अथवा दैवीय उत्तेजन से संचालित है। क्या कोई शब्द स्वयं को परे रखकर उच्चरित हो सकता है? यदि नहीं तो कोई भी अभिव्यक्ति, कोई भी उच्चारण अपने स्वत्व को मध्य में रखे बिना कैसे सम्भव है?

किसी की भी और कवि की और भी अधिक, विडम्बना यह है कि, शब्दों से ऐसी संगठना रचना चाहता है जो वह स्वयं पर घटित होते कहीं दूर किसी निरपेक्ष बिन्दु पर खड़े स्वयं ही देख सके। कविता में और दैनन्दिन कथोपकथन में अन्तर यही है कि इस स्थिति का, इस उलझन का दुर्लक्ष कविता में करना असम्भव है। इतर प्रयोजन में शायद भाषा यह दबाव उच्चारण पर नहीं डालती।

'हाथों पर स्पर्श था, जो अब विस्मृत है' जब ऐसी पंक्ति लिखी जाती है तो विस्मृति वह शब्द बन जाता है, जिसके गर्भ में एक विस्मृति ही के सिवा सब-कुछ होना सम्भव है।

यह कविता का सत्य है। कवि के हाथ जिन पर स्पर्श था, वे हाथ जिनका वह स्पर्श था, वह हाथ अब जो अकेले रह गये हैं और वह मन जो यह पूरा दृश्य घटता हुआ देखता है, इस सबको 'अन्य' की तरह देखता है। जो छूट जाने का भाव है, वह 'द्रष्टा' कवि का नहीं, उस व्यक्ति का है जो दृश्य है। यह कविता की नियति भी है, यही उसका सफलतम क्षण भी है कि वह विस्मृति शब्द लिखते-लिखते विस्मृति ही को वाक्य से निष्कासित कर दे !

इसी निष्कासन में कवि के शहर की ही नहीं उसके समूचे संसार की सम्भावना है।

सीढ़ियों पर दोनों चढ़े देवता भी, कीड़े भी...

क्लान्त मन और क्लान्त देह से कोई शापित देवता सीढ़ियाँ चढ़ता है, अनन्त की अभिलाषा और आकांक्षा से। देवत्व अन्ततः अनन्त के स्वभाव के सिवा क्या है? इसीलिए अनन्त की अभिलाषा और आकांक्षा। अभिलाषा और आकांक्षा

लेकिन दैवत्व का स्वभाव नहीं है इसीलिए शापित, इसीलिए सीढ़ियाँ। सीढ़ियों का स्वभाव अनन्त नहीं है इसीलिए कीड़े भी उस पर चढ़ आते हैं। कीड़ों की कोई अभिलाषा/आकांक्षा नहीं। जीवन ने खींच दी हो ऐसी किसी अदृश्य रेखा पर यदि सीढ़ियाँ हैं तो एक प्रार्थना की तरह उस पर जितना बने सीधी चाल से चलना। चढ़ना ऐसा संकल्प भी नहीं, शायद प्रयत्न भी नहीं।

देवता और कीड़े एक समय में एक साथ एक सीढ़ी पर लेकिन इन दोनों का समय एक जैसा कब है? क्या देवता इस असंगति को अपना शस्त्र और कीड़े इसे अपनी ढाल बनाकर सीढ़ियाँ चढ़ते हैं ?

काफ़्का के ऑद्रादेक के साथ कोई देवता नहीं है, वह सीढ़ियों पर ग्रहस्वामि के आते-जाते वहीं लुढ़कता-पुढ़कता रहता है, उसकी देह से जुड़े धागे काफ़्का को ऑद्रादेक के समय की अन्तहीनता की तरफ इशारा करते लगते हैं, यहाँ कविता में इस दृश्य की साक्षी एक पीली चिड़िया है, मन्दिर का शिखर और गवाक्ष हैं, मन्दिर में देवता नहीं है, वह सीढ़ियों पर है, कीड़ा किसी पराक्रम की आकांक्षा के बगैर उन्हीं सीढ़ियों पर है।

मन्दिर का शिखर और गवाक्ष दृश्य नहीं, दृश्य के साक्षी हैं ! अनन्त कहीं नहीं है !

कविता एक-एक कर इन सबको एक क्रम में व्यवस्थित करती है, अवस्थित करती है,

देवता शब्द में है

अनन्त शब्द में है

कीड़े और उसका साक्ष्य शब्द में है

कवि गवाक्ष के उस पार से भीतर नहीं झाँक रहा। गवाक्ष के इस पार से बाहर देख रहा है। शब्दों से देवताओं का पथ बना रहा है और यदि उसकी इच्छा उस पथ में एक 'शब्द' सीढ़ी डालने की है तो क्यों नहीं?

वे भारहीन गिरते हैं...

शब्द मन की देहरी पर पड़ने वाली मन ही की पदचाप नहीं तो और क्या है? मन के हर कम्पन, हर उच्चावचन, हर उच्छ्वास का, हर कराह का, हर सुर और स्वर का एक ढीला अंगवस्त्र या उत्तरीय ही क्या शब्द नहीं है। शब्द (या भाषा) मन को एक मृग तृष्णा की तरह ही किसी 'निरपेक्ष परम' की तरह भासती रहती है लेकिन इन्हीं शब्दों की, इसी भाषा की अपनी मृग तृष्णा कवि चुनता है, यह एक निजी संशोधन है।

शब्द का भार मन के अपने भार, शब्दों का संतुलन मन की अपनी नींव के स्थापत्य की क्रीड़ा है, क्या भाव से गुरूतर भार वाला कोई शब्द कभी चुना जा सकता है? क्या मन के मौन से अधिक भारहीन कोई मौन है?

शब्द लेकिन अपने साथ जाने अनजाने अपने नितान्त निजी और एकनिष्ठ अतीत के कुछ चिथड़े लेते आते हैं। ये चिथड़े इन शब्दों के पूर्व जन्मों की स्मृतियों के, उनकी जन्मजन्मान्तरों की यात्राओं से उपजी थकान के और अनिद्रा के चिथड़े हैं। स्मृतियों का, थकान का और अनिद्रा का यही अतिरिक्त भार है, जो मन कभी तज देता है, कभी अपने भाव में भर लेता है। यह भार, यह गन्ध ही है, जिसे किसी को भी किसी भी भाषा में अपनी पगडण्डी बनाने के लिए त्यागना पड़ता है, कवि को तो और भी अधिक।

कवि के अन्तःकरण पर शब्द भारहीन गिरते हैं। इसी भारहीनता में उसकी भाषा, उसकी कविता, उसके संसार का न गिरना समाहित है। गिरना या न गिरना ये दोनों सम्भावनाएँ केवल शब्द (या वाक्य या भाषा) के व्योम में एक साथ रहती हैं। यह विज्ञान के विपरीत है जहाँ केवल सम्भावना के लिए जगह होती है। भाषा की अपनी स्मृतियाँ, अपनी यात्राएँ, अपनी गन्ध एक उथले दृश्य में, एक उथले स्तर पर अर्थवान हो सकती हैं लेकिन कविता के लिए कवि मानो उस पर पहली बार ये सारे संस्कार करता है।

जो स्वयं निःशब्द प्रार्थना हो...

प्रार्थना का एक वाक्य भी समूची भाषा को उसके व्योम से निष्कासित करके ही लिखा जा सकता है। प्रार्थना का अर्थ सिर झुकाकर या हाथ उठाकर या भूमिष्ठ होकर याचना करना नहीं है। प्रार्थना का अर्थ सिर झुकाकर या हाथ उठाकर या भूमिष्ठ होकर अपनी कृतज्ञता की पावती लेना भी नहीं है। सच तो यह है कि हमारी भाषा में ही प्रार्थना का कोई शब्द गढ़ा नहीं गया है, जिसे हम प्रार्थना कहते समझते हैं, वह हमारी भ्रष्ट और अहंकारी भाषा की माया है। वह माया है, वह फ़रेब है जिसको भाषा अपने भीतर अन्तर्निहित और अन्तर्प्रवाहित याचनाओं, आकांक्षाओं, महत्त्वकांक्षाओं को ढँकने के लिए किसी अंगवस्त्र की तरह उपयोग कर पसारती है।

क्या फिर यह सम्भव है कि हम कभी भी प्रार्थना कर सकें? चाहे वह निःशब्द ही क्यों न हो? समस्या यह है कि हमारा निःशब्द भी हमारे शब्दों के स्पर्श से या हमारे शब्दों के निष्कासन से ही उद्घाटित होता है। प्रार्थना को प्रकट होने के लिए एक ऐसे व्योम की प्रतीक्षा करनी पड़ती है जो भाषा के अपनी जगह से जाने के बाद का व्योम है, निःशब्द के अपनी जगह से जाने के बाद का व्योम है।

कई बार हमारे और हमारी भाषा के विरसे में ऐसा सम्भव हो सका है कि प्रार्थना का कोई आभास उसकी अनुगूँज कभी हुई हो, अगर ध्यान दें तो आभास उन व्यक्तियों की परिक्रमा पर घटित हुआ है जिन्होंने एक 'दन्त' भाषा का निषेध कर अपनी कोई भाषा गढ़ी हो, ऐसी भाषा जो अपने जीवित रहने के लिए किसी माया, किसी तिलिस्म, किसी फ़रेब का कोहरा नहीं चुनती। ऐसी भाषा जो याचनाओं, आकांक्षाओं के समक्ष अपना निःशब्द नहीं, अपना मौन रख पाती है और ऐसे नहीं जैसे किसी प्रश्न के सामने उत्तर रखा जाता है या प्रतिप्रश्न रखा जाता है या जैसे किसी उत्तर के सामने प्रत्युत्तर रखा जाता है।

यह भाषा एक व्यक्ति की भाषा होती है। यह शब्द एक व्यक्ति के शब्द होते हैं। यह भाषा किसी को सम्बोधित नहीं होती, स्वयं को भी नहीं।

शायद ऐसे शब्द ऐसी भाषा गढ़ने वाले लोगों को अन्ततः प्रार्थना की आवश्यकता ही नहीं पड़ती होगी क्योंकि जैसे-जैसे और जहाँ-जहाँ एक मायावी भाषा बहिष्कृत होती जाती है, प्रार्थना स्वयं ऐसे व्योम को भरती जाती है और उस व्यक्ति का सारा लोकाचार एक प्रार्थना में परिवर्तित होता जाता होगा। प्रार्थना शब्दकोष से शब्द चुनने का कर्म नहीं है। यह शब्दकोष से शब्द त्यागते जाने का कर्म है। यह कठिन कर्म है। हमने मोहनदास गाँधी को प्रार्थना करते, मदर टैरेसा को प्रार्थना करते देखा है लेकिन कौन यह कह सकता है कि उनकी भाषा वही भाषा थी जिसका संसार में अन्यत्र प्रयोग हो रहा था।

कवि जब शब्द या भाषा चुन रहा होता है, यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वह कितने शब्दों का, कितनी भाषाओं का बहिष्कार भी कर रहा होता है।

इसलिए यह सम्भव है कि इस बहिष्कार से उसे प्रार्थना की एक कौंध अपनी कविता के व्योम पर कभी दिखे। लेकिन कवि को वह जीवन भी चाहिए जो प्रार्थना जैसा हो। शायद कविता उस भाषा की ओर इशारा कर सकती हो, जहाँ और जिससे ऐसे जीवन की छवि दिखना शुरू हो।

मेरे हाथ ज़रा-सी देर बाद भूल गये !...

शब्द एक 'शब्द' भी है जो छूट सकता है वह शब्द 'शब्द' है। छूटना एक शब्द है जो छूट जाता है वह भी एक शब्द है 'साथ' एक शब्द है, जो एक दूसरे शब्द (जो शब्द 'छूटना' है) के साथ लिखे जाने पर तीसरा शब्द बन जाता है। यह तीसरा शब्द 'झूठ' है।

शब्द जो शब्द हैं, छूट जाते हैं, उन पर जो सच का, झूठ का, मृत्यु का और अमर्त्यता का संस्कार है, वह निःशब्द भी श्वांस भरता है, जीवित रहता है, जीवन के आसपास धँसा रहता है। लेकिन जीवन भी तो एक शब्द है।

प्रेम में उसने अपने को जानना शुरु किया ...

प्रेम सुनहरे पंखों और इन्द्रधनुषी रंगों की गर्दनवाला एक पक्षी है जो कभी हौले से, कभी धृष्टता से किसी के कन्धों पर उतर आता है। यह उस पक्षी का आखेट है/इस मृगया का विष देह तो देह मन और परछाईं तक में एक साथ फैलता है। यह लीला रच कर यह क्रूर पक्षी वापस उड़ जाता है। कभी वहाँ नहीं रुकता जहाँ उसका विषस्पर्श और जहाँ उसकी कस्तूरी की सुगन्ध पसरे होते हैं। प्रेम केवल इतने से कंधे पर स्पर्श हो जैसे, अपना परिचय देता है या दूसरे शब्दों में वह अपरिचय की धुन्ध को भेदता नहीं इतना तो कभी भी नहीं की उसकी स्मृति किसी आकृति का रूप धर सके।

प्रेम मानो अपरिचय का ही एक आयाम है।

यह नीमकश तीर है और नीमकश भी क्या यह तो वह तीर है जो किसी की परछाईं में धँसा हुआ है। इसकी पीड़ा लेकिन इतनी वास्तविक है कि जैसे देह में ही बिंधा हो। इस अवास्तविक आखेट और वास्तविक पीड़ा का जो अनपेक्षित और अपरिचित संसार है वही प्रेम का व्योम है। यह पीड़ा ही उसकी रसद है।

यह परिचय ही प्रेम का पथ है।

संयोग से और दुर्भाग्य से यही पथ परिचय का भी पथ है। सच तो यह है कि एक ही बिन्दु से प्रियकर लगभग किसी नशे का गुलाम ही हो जैसे, परिचय की ओर भागता है और उसकी परछाईं उसके ही शाश्वत विरोध में अपरिचय की ओर भागती है।

यह कठिन पथ है, कठिन साधना है। यह पक्षी किसी इस वृत्त में जो परिचय है, कभी उस वृत्त में जो अपरिचय है और कभी इन वृत्तों के बीच जो निरपेक्ष की परती भूमि है, जो अन्धकार है वहाँ दीख पड़ता है। अपने सुनहरे पंख

फैलाये। यह असम्भव पथ है, असम्भव साधना है कि प्रियकर परिचय की सुरा की भिक्षा माँगता फिरे और उसकी परछाईं अपरिचय को खोजे और प्रेम इस बीच कहीं दूर किसी नक्षत्र पर 'अपने पंख खोले उड़ता फिरे।'

प्रेम परिचय और अपरिचय को एक बाजीगर की तरह कभी हवा में, कभी हाथों में सन्तुलित करने का पथ है।

शायद कभी इसीलिए नेरूदा ने यह पंक्ति लिखी हो, 'मैंने तुमसे वैसे प्रेम किया है जैसे किन्हीं अँधियारी चीज़ों से किया जाता है, गुप्त परछाईयों और मन के बीच।'

जब प्रेम इस 'अँधियारेपन' से बाहर निकलता है या इस रहस्यमयी वृत्त से या जब प्रेमी इसे 'जानता' है तो यह विलीन होने लगता है। प्रेम की साधना यह होती है कि उसके जानने में न जानना 'सध' जाये, चाहे यह जानना स्वयं को जानना हो या अपने प्रियकर को। और इस जानने न जानने के बीच अवस्थित भूमि पर कोई घर (शायद बेदरो-दीवार का) बनाया जाये।

मैं ईश्वर की मेज़ साफ़ करूँगा...

एक बिना ओर-छोर की मेज़ की परिक्रमा पर बैठा संसार उत्कण्ठा से किसी यज्ञ के मंगलाचरण की तरह पसरे एक स्तब्ध और मौन रात्रि के पीले प्रकाश में भोज के लिए एकत्रित होता है। ईश्वर एक अक्षयपात्र के पास बैठा अपनी रसोई का प्रपंच रच रहा है, उसके अन्न की गन्ध हर दिशा में पसरती है, संसार इस गन्ध को आपस में बाँट लेता है। बाघ के लिए यह हिरण की गन्ध है, हिरण के लिए दूब की, दूब के लिए यह ओस की और ओस के लिए चन्द्रिका की ऐसी ही किसी अन्तःहीन शृंखला में गुम्फित यह गन्ध अपनी सत्ता स्थापित करती है।

अन्न की यह गन्ध ईश्वर के किसी और प्रपंच का अभिमन्त्रित शस्त्र भी है। यह बाघ के लिए अरण्य, हिरण के लिए हरी दूब का बिछौना भी बनता है, यह गन्ध एक आखेट भी है।

हर मन प्राण और हर देह में शायद किसी अन्न का, किसी गन्ध का कोई सर्वथा एकनिष्ठ रेशा अवश्य रहता होगा, ऐसा रेशा जो अपनी क्षुधा से बाध्य और बाधित अपने अन्न को या उसकी गन्ध को खोजता-फिरता होगा।

क्या हम सब किसी रसोई के पास किसी कोने वाली मेज़ पर ईश्वरों को बैठा देख यह मान सकते हैं कि ईश्वरों के भीतर भी ऐसा कोई रेशा यदा-कदा उन्हें विचलित करता है?

क्या वह मेज़, वह रसोई, वह गन्ध, वह रात्रि, वह पीला प्रकाश वह अकेला मेज़बान जो इन विचलित ईश्वरों के बगल खड़ा इन्हें अन्न परोसता है, किसी और प्रपंच का ही कोई हिस्सा तो नहीं? जो उस रसोई से, उस अक्षयपात्र से, उस अन्तःहीन मेज़ के पार्श्व से उठती गन्ध से ईश्वरों ने रच रखा हो।

लेकिन यह सब बाद में, अभी तो एक मेज़ है जो साफ़ करनी है।

यह कोई कवि है जिसने अपना कोई संसार और उसके भीतर अपने कोई प्रपंच रच रखे हैं। केवल कवि ही ईश्वरों को सलाह दे सकता है, अपनी धृष्टता में और अपने धृष्ट संसार में।

अधिकांश कविताएँ श्री अशोक वाजपेयी द्वारा स्वयं चुनी हुई कविताओं के संग्रह (किताबघर से प्रकाशित) 'कवि ने कहा' से उद्धृत।

पन्द्रह कविताएँ
जितेन्द्र कुमार

'ऐसे भी तो सम्भव है मृत्यु' जैसी कविता लिखकर - जो हिन्दी की प्रसिद्ध कविताओं में गिनी जायेगी- स्वयं अपनी मृत्यु का साक्षात्कार करने वाले जितेन्द्र कुमार को जब अपने डॉक्टर-सैनिक बेटे देवाशीष की मृत्यु की खबर मिली, वे भीतर से टूट गये। घर से बाहर वे पहले ही कम निकलते थे, इस हादसे के बाद, उन्होंने खुद को अपने ही घर में क़ैद कर लिया। उनका घर से निकलना बन्द हो गया और वे मानो अपने ही शोक की धारा में बहते चले गये। उनका दिन-रात साथ उनकी पत्नी निर्मला शर्मा ने दिया जो स्वयं उत्कृष्ट सिरेमिक कलाकार हैं और जिनके सौजन्य से हमें जितेन्द्र की ये कविताएँ मिली हैं। जितेन्द्र कुमार के कुछ कविता संग्रह- 'आईने में चेहरा', 'ऐसे भी सम्भव है मृत्यु', 'इस्पात नगरी', कुछ कहानी संग्रह, 'पचमढ़ी के घोड़े', 'वहीं से कथा' और कुछ उपन्यास- 'औरत-मर्द', 'नृशंसता' आदि प्रकाशित हुए हैं। वे हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों में शुमार हैं। उन्होंने सम्भवतः हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ प्रेम और मृत्यु की कविताएँ लिखी हैं। उनके लेखन में गहन शास्त्रीयता और नितान्त भदेसपन एकसाथ हैं, एक-दूसरे को माँजते हुए और एक-दूसरे को प्रश्नांकित करते हुए। अपने जीवन के अन्तिम कुछ बरसों में बेटे के जाने के बाद वे निरन्तर शोक-कविताएँ लिखते रहे। ऐसी शोक-कविताएँ जो तीर की तरह घाव करती हैं, हमारे साहित्य की अनुपम धरोहर हैं। जितेन्द्र कुमार सन् २००६ में भोपाल में जीवन के अन्तिम वर्ष गुज़ार कर इहलोक से विदा हुए।

एक

तुम जैसा चाहते हो वैसे गायब नहीं हो सकते
तुम लिथड़-लिथड़ कर मरोगे।
मामूली वक्तों में भी तुम इसे याद रखोगे
बेटे के सारा खून बह जाने की तरह नहीं
न ही वह तुम्हारी सहज निर्मल बीवी है कि
तुम्हारे कहने पर चले, न ही वह चौबीसों
घण्टे चलने वाला टी.व्ही. है कि रिमोट दबाते
ही चल पड़े-मृत्यु इस क़दर ऐच्छिक या
मामूली चीज़ नहीं है-वह अड़ियल और बहरी है।

(१९९९)

दो

पृथ्वी पर गिरा मौन आसमान से
अपनी आकांक्षाएँ
अपना यशःगान
सबका ही तो अपना छद्म होता है
छद्म से बढ़कर
प्रसिद्ध हैं देवता बलात्कार के लिये
तब मनुष्य संस्कृतिकर्मी क्यों रहें पीछे
उसकी घर गिरस्थी है
अपना अपराध है
वह उसे क्यों न जिये?
नहीं, शब्दों का सचमुच कोई अर्थ नहीं
जीवन का तो अपना विधान होता है
केवल छद्म का है अपना तर्क
बाकी तो सब बियाबान होता है
पृथ्वी उसके ही दम पर तो घूम रही है।

(१९९२)

तीन

गाना सुनते-सुनते वह बूढ़ा अचानक रो पड़ा
क्या हुआ भाई, क्या हुआ?-तमाशा?
हाँ वही तो
सामने से उसका मरा बेटा जा रहा था
वहीं कहीं बैठे थे उसके एकान्त दुख और
ढेर सारे मेहमान!
भीड़ भरे शहर में, मुहल्ले में,
मकान में।
(कहीं भी तो लोग चैन से जीने क्या
मरने भी नहीं देते, लोग-मार तमाम लोग!)
फब्तियाँ कसता है एक बनिया जमींदार लेखक
उसके पाप गिनाता है जो सब सच थे
मगर उनका पता उस पाक आतंकी को कैसे लगा
क्या वह पाक एजेण्ट भी है-बड़ा लेखक?

पर उसका मरा बेटा खुश-खुश लगातार गा रहा है
'हिम्मत से काम लो, घबराना कैसा?'

चार

आपको क्या नाराज़ी है?
आप तो सब भले लोग जन्म से द्विज
साफ़-सुथरे भले मानस हो - भद्रलोक!

देखो तो हमारा भी क्या?बेटा मरना था
सो मर गया, छुट्टी हुई!
बात इतनी है कि उससे मिली जबरन
खैरात से जो मध्य वर्ग में आ गये
रक्तचाप बढ़ गया - बीड़ी पीने
लायक तक नहीं रहे - उसी से तो
अस्तित्व था - अस्मिता। ढेर सारे
अनजान शब्द वे फालतू दिमाग़ में
चढ़ गये-
सपनों में पता नहीं कौन-कौन अपना
बन पगड़ी उतार रहा है। जुनून, हे जुनून!
वही खत्म हो गया - ऐसे ही तो पत्नी ने
आधी रात सूचना दी थी - बेटू 'खतम' हो गया!

बुरी आदतों को और बुरी बना घर में बैठे रहे
तो क्या किसी पर एहसान किया?शायद
मैला-कुचला एक एहमक उजबक
'भद्रलोक' में आकर ही भद्रलोक से निकल गया!

फिर भी डर-सा लगता है - पता नहीं
कब तक यूँ ही एड़ियाँ रगड़ते-रगड़ते
जीना पड़े -
क्षिति जल पवन आकाश - न जाने किसका
या छोड़े गये समाज का -
पीठ के दर्द या कूल्हे की जकड़न से।

पाँच

वह बैठा है बूढ़ा
खाते पपीता अपने मरे बेटे को याद करता
(क्या यह उचित और तर्कसम्मत है - कविता?)
लिखी गयी है तो होगी ही
(जैसे उनकी उतनी सारी बातें!)
उसी मुद्रा में वह बूढ़ा पेट पर रख
हाथ अचानक रो पड़ता है।
अब यह क्या हुआ?खेल या उत्सव या दोनों?

नहीं केवल सत्य - मृत्यु केवल वही है!

छह

एक अहंकारी पुरुष था - और कौन?
उसमें नैतिकता जागी; अचानक उसने कहा,
मैं इन्हें कैसे मारूँ ये तो मेरे ही परिजन हैं
भगवान हरामखोर वहीं बगल में खड़ा था-बोला
तू क्या उन्हें मारेगा मैं तो उनकी पहले ही ले चुका हूँ

मेरा मनचाहा हो गया।
काले लारा ने गोरों को हराने की फिर कसम ली

और सुविधा संहार गया
यही तो जग की रीत है।

सात

सभी को पता है फटेहाल देशों के पढ़े-लिखे
गुलामी की तरह समृद्ध देशों को भागे चले जाते हैं
कितने भी आत्मसम्मानी या आत्ममुग्ध
आप क्यों न हों
फटेहाल होना तो फटेहाल होना ही है।
पर वहाँ वे सलीके के कपड़े तो पहिन सकते हैं
वहाँ बहुत बराबरी - बैरा और बड़े
एक-सा सूट पहिनते हैं
यहाँ भी कम से कम सलीके के कपड़े तो पहनो
व्यवहार में सलीका लाओ
भले कभी दाँत साफ़ नहीं करो
संस्कृति में मुँह अपने आप बन्द रहेगा।
इन कपड़ों में तो कोई शैताइन भी नहीं देखेगी
तुम्हारी तरफ़
मृत्यु समृद्ध और सुसंस्कृत महिला है।
औरतों की भी क्या कोई सीमा होती है
जैसे तुमने उन्हें जीवित सताया
अब मरते-मरते सताओगे
आदमी की ज़ात क्या कभी बदल सकेगी?

आठ

जंगल मृत्यु से भरा है,
सामान्य स्थलों पर वह उपलब्ध नहीं
उस बर्फ़ से ढँके मैदान में
वह उस तक बहते सुर्ख खून में
पचास मिनट तक आती-उस वक़्त तुम किसी
के साथ बैठे शराब पी रहे थे।
वह उसी का षडयन्त्र था
जिसकी आखिरी गोली वह निकाल रहा था
वह अपनी माँ की तरह ही सीधा और मिलनसार था
फिर भी उसका उसे बहुत पहले से इल्हाम था
पर आदमी तो अपने स्वभाव के अनुसार ही जीता है
इसीलिए उसने उसका किसी से ज़िक्र नहीं किया
सहज माँ, राक्षस पिता या भद्रलोक की प्रेमिका से
भद्रस्तान में लेकिन बात ही कुछ और है
वे पैसे मिलने से पहले कैसे समझ पाते कि
वह मर रहा था।

नौ

वृद्ध होने पर बुढ़्ढे तो तुम होते हो पर मानते नहीं
अपने अलावा किसी की चिन्ता तुम नहीं करते
करते नहीं कुछ भी अलावा बुरी खबर की प्रतीक्षा के

वह आयी तो तुम सहज ही वृद्ध हो गये
पर उसमें भी कुछ बाँट-छाँट नहीं कर सके
मृत्यु में बाँटने का धरा भी क्या है?
सुबह चाय बनाते जब तुम क्षरण महसूस करते
तो घूमने जाते-स्वास्थ्य का एक ख़ामाख़याल
ब्रिक्स वॉक पैंतालीस मिनट रोज़।
उससे असमंजस में पड़ गये-पहले
पिता होने के अलावा तुम क्या थे?
मृत्यु के बाद क्या बचे?

तुम चाहते क्या हो-मृत्यु?
पर वह क्या तुम्हारी पत्नी जितनी सहज हो।
अच्छी बात अब यही है कि तुम कुछ नहीं चाहते
बीवी बेटे के बिना तुम हो भी क्या?
कोई छिछला पुरस्कार?
डरते हो पर प्रतीक्षा नहीं करते
करो भी तो किसकी?
तुम्हें अचानक मालूम हो गया है कि जीना
बुरी खबर के अलावा एक बड़ी निरर्थक
परेशानी भी है।

दस

अकुलाहट ढाँपने अंग वस्त्र पहने
जब वह लेटती है बिस्तर पर
धूम्र रहित अंगार का
अलाव धधक उठता है
पानी का स्रोत आन गाँव बहता
कब का मरुथल में समा गया

वह क्या करे
ठण्डी बयार लिए क्या
औसारे में निकल पड़े?
वहीं तो वह मरा हुआ वापस घर आया है
फिर भी क्या कोई यूँ निर्वस्त्र खड़ी होती है!

जानबूझकर तो यूँ कोई
अपनी पोल नहीं खोलती
यह नैतिक भले लोगों का देश है।

ग्यारह

मुश्किल होता है जीना बेटे की मृत्यु के बाद
पर क्या मरना अपने हाथ की बात है
आप चाहें तो शराब पी सकते हैं
जिसको जितना दुख देना हो दे लो
हम तो भिखमंगे हैं
नहीं तो क्या बेटा यूँ खुले खेत में मारा जाता
उड़ने से पहले लाश आती है
ऊपर पहुँचकर पता भेजेंगे
वह लिख कर आया आखिरी ख़त
एक रोज़ पहले ही मिला था
वादे के अनुसार वह ऊपर चला गया
पर पता नहीं भेजा
ईश्वर के यहाँ भी हड़ताल है।

बारह

लाल होकर भी खून से लिखी इबारत ये नहीं है
वह तो बेटे ने पचास मिनट लिखी या सोची या
दुहराई

Evacuate the jawans first
(पहले जवानों को ले जाओ)
ये मैं खड़ा हूँ यहाँ उजले सफ़ेद कपड़ों में
काले चेहरे - उसी से भदरंग काले जूतों में
अपने बेटे का हत्यारा - आज रिज़ल्ट का दिन है
और पत्नी का केवल इतना कहना है
जहाँ सुख से रहते हो - वहीं रहो।

तेरह

वह अपना कर्त्तव्य करते-करते मारा गया
क्या इससे अधिक प्रशंसा भरा या अश्लील
कोई और वक्तव्य हो सकता है-
अब मैं अपने कर्त्तव्य से भाग रहा हूँ
और रुकी पैसेंजर गाड़ी में बेटे को याद करके
रो रहा हूँ। - तो?-
जैसे मेरा पाजामा सही जगह पर बँधा भी है
और तोंद की वजह से नीचे भी खिसक रहा है
मुझे अब तो इसे बदल लेना चाहिए।
तुम जीवित हो, तुम्हें जीना ही है
उसके साथ तो तुम ऐसा नहीं कर सकते
क्या मुझे उसकी परवाह है या नहीं है?
पता नहीं।
क्या उससे मेरी पेन्शन रुक सकती है?
वह मेरे बेटे की आ गयी है।
कभी-कभी तो लगता है कुछ हुआ नहीं
तुम्हारा तो कोई बेटा था ही नहीं
जो मर सकता हो-
नहीं, कोई बेटा नहीं।

चौदह

अब यह बताइये कि अपना क्या कहा जा सकता है
और क्यों?
मरे हुए के अलावा - उसी से तो तुम यह लिख रहे
हो
अधिकांश लोग अनेक चीज़ों को अपना कहते हैं
वे किस भ्रम में हैं
पर दरअसल अपना आत्मीय क्या है?
वह जिससे दिल काँच-सा छितर जाये
संवेदना पर चोट आये
जिसका पर्याय और कोई न हो
पर यह किसकी परिभाषा है - सहूलियत की?
तब क्या संवेदनहीन लोगों का कोई नहीं होता
पर सभी तो उन्हीं के चारों ओर मँडराते हैं
असली मुहावरा कुत्ते का गू नहीं बिल्ली का गू
होना
न लीपने का, न पोतने का
कुछ ऐसा कुछ वो जो तुम्हारे साथ रहे वर्षों-वर्षों
सुख से दुखी और देर तक
हालाँकि अट्ठारह साल भी कुछ कम तो नहीं
होते-
बुरे में, भले में।

पन्द्रह

और क्या बचा है बेटे के मरने के बाद
एक छोटा-सा फ़ेशनेबल ब्रश
महँगी एक जरकिन जिसे अब मैं पहनता
पत्नी, सहज कोमल सरल
पर जीवित को क्या मैं कभी आराम से जीने
देता हूँ
क्या बचा है - यह इस तरह का सवाल
कि क्या बचा (बजा) है?
उसकी एक प्रेमिका तुम से कहीं घबराती
कहीं अधिक अकेली
पर अपने दम्भ में तुमने क्या दूसरे का
कुछ सहा (देखा) है
निरन्तर माँगते कि अपने जीवित जीवन में
दूसरे तुम्हारा दुख समझें
तुम्हारी बातें सुनें
भले वे दम्भोक्तियाँ बकवास हों
इसलिए तुम अपने अपमान, अपने दुख
को बढ़ाते हो - बेटा नहीं रहा है।

बजरंग बिश्नोई की कविताएँ

तुम

क्या तुम्हें कोई रंग पसन्द है है तो सोचो
वह रंग दूसरे रंगों के
साथ कहाँ पर होगा
क्या वह अकेला रहता है
लेकिन तुम जानते हो
कि कोई रंग अकेला नहीं रहता
अक़्सर वह दूसरों से मिल कर रहता है
उनसे मिल कर
एक नयी छटा में रहता है
रंग न ठोस होते हैं, न जड़
रंग तैरते रहते हैं तुम्हारी आँखों में
उनके अक़्स तभी उतरते हैं
जब वे चाहते हैं रहना
तुम नहीं कर सकते
उन्हें अकेला, न क़ैद
चाहे तुम कर लो बन्द
भले अपनी आँखें
रंग बिखेरते रहेंगे अपनी छटा
उड़ते हुए फैला कर अपनी पाँखें

सुख

सुखों ने उसे जब बूढ़ा कर दिया
उसने शुरू कर दी तलाश दुखों की

दुख दूर भागते थे उसे देख कर
वे पहचान लेते थे बहुरूपिया को
जिसने चुराकर कुछ दुखों को पहना दिया था
सुखों वाला जामा
लेकिन बरकरार था उनका जैविक गुण
दरअसल सुखों का कोई
गुणसूत्र ही नहीं है

टूटा हुआ धागा

सम्भावनाएँ हमेशा दूसरे छोर पर होती हैं
एक महीन धागे का
एक छोर पकड़ कर तुम
पार करते हो वहाँ तक का फ़ासला
जहाँ कुछ नहीं होता
फिर भी सम्भावनाएँ
दूसरे छोर पर होती हैं

ये मरीचिकाएँ नहीं होती
जिन्हें देख कर तुम मचल सकते हो
जैसे आदमी होना
अब भी एक सम्भावना है
और कविता रचती रहती है ऐसी सम्भावनाएँ

ऐसे महीन धागे के दूसरे छोर पर
कुछ नहीं पाने पर लगना चाहिए
धागा दूसरे छोर से
पहले कहीं टूट गया है

घड़ी

कलाई पर बँधी हुई घड़ी
मेरे साथ-साथ चलती है
कभी-कभी मैं उसके साथ चलता हूँ
किसी दिन इसी घड़ी को बाँधे-बाँधे
मैं मर जाऊँगा
और इसके साथ नहीं चल सकूँगा
और यह न रुकेगी
चलती रहेगी
न दर्ज करेगी मेरा मरना
न मेरा जीना

आभास-७१ (७१वें वर्ष में लगने पर)

(बारहों महीने पतझर। मूल्यों के विघटन की आवाज़ें कवि सुनता है। जानता है नये पत्ते निकल रहे होंगे बेआवाज़। उसका शरीर निष्प्राण हो रहा है। अहसास टपक रहे हैं और खयालात रिस रहे हैं। चित्रकार हो, संगीतकार हो, दार्शनिक हो या वैज्ञानिक हो सब इस हालात में रहकर भी नहीं रहते। क्षरण और निर्बलता की अवस्था की एक कविता - सत्तर वर्ष पूरे होने पर।)

आभास-७१

पसीजे हुए ठण्डे फ़र्श पर पड़ा था मेरा शरीर
चारों ओर दीवारों पर नीली स्याही फैल रही थी
फ़र्श से उठ रही थी धुँधली रोशनी
मुझे लगा कि छू कर देखना चाहिए अपना शरीर
ज़रा एक अँगुली तो गड़ा कर देखूँ अपने
लेकिन अँगुली ने जुम्बिश नहीं ली
एक दीवार की ओर से बढ़ा एक हाथ
मैंने सोचा इससे अपना हाथ मिलाना चाहिए
मेरा हाथ ज़रा भी नहीं हिला
मैं पहचान रहा था बढ़ा हुआ हाथ पिकासो का था
मेरे नथुने शान्त थे
जो फ़ड़कना चाहते थे पास से सुनते हुए
बीथोविन की पाँचवी सिम्फनी
लेकिन वे नहीं फ़ड़के
नीली स्याही पुती एक दीवार से झाँक कर
मुझे देखते हुए आइंस्टीन
पता नहीं किस सोच में पड़ गये
मैं चाहता था कहूँ उनसे, गुडमार्निंग

इस सीलन भरे अँधेरे में लेकिन हलक़ सूखा
और निःस्वर था
आहिस्ता आहिस्ता वे सब चले गये
जैसे लोप हो गया हो
छोड़ कर कोई पसीजे फ़र्श पर
पसरे हुए एक शरीर को इस जगह
दरअसल यह जगह एक डिफ्रॉस्ट होता हुआ
फ़्रिज है
जिसमें दीवारों से रिस रहे हैं ख़यालात
टपक रहे हैं अहसास बेनाम कविताओं से
टूट कर गिर रहे हैं शब्द
और नहीं सुनी जा सकती हैं
उनकी आवाज़ें
हाँ, दीवारों पर नीली स्याही
अब भी तारी है और फ़र्श ठण्डा
बाहर पतझर हो रहा है
और उसकी आवाज़ें हैं

उपन्यास अंश

स्त्री का सौन्दर्य

आनन्द हर्षुल

सूरज चला गया है तो डूब गया है अँधेरे में गाँव। चिड़ियाँ सो गयी हैं। सो गये हैं पेड़। पेड़, सोये-सोये उलटी साँसें ले रहे हैं। पेड़, दिन में लेते हैं सीधी साँसें। रात वे अपनी साँसों को उलट देते हैं।

अभी रात के आठ बजे हैं, बस। बस, आठ बजे हैं और गाँव सोने लगा है। गाँव की बहुत-सी झोपड़ियाँ, अँधेरे में गुम हैं पर कुछ झोपड़ियों में अब भी ढ़िबरी और लालटेन जल रही है। इन जाग रही झोपड़ियों से, रोशनी इस तरह झाँक रही है और काँप रही है, इस तरह कि टिमटिमाती-सी लग रही हैं जागती झोपड़ियाँ। इन टिमटिमाती झोपड़ियों से जाना जा सकता है कि किसकी टिमटिमाहट ढ़िबरी की है और किसकी है लालटेन की। दोनों की रोशनी में अन्तर है। ढ़िबरी की रोशनी, थोड़ी धीमी और ज़्यादा लहराती-सी है। लालटेन की रोशनी, कम लहराती और तेज़ है। इन टिमटिमाती झोपड़ियों के कारण अँधेरे में यह गाँव टिमटिमाता-सा दिख रहा है। बुझा दी जाएँ, सारी ढ़िबरी और लालटेन तो अचानक धप् से गायब हो जाएगा यह गाँव पृथ्वी से। तब तक किसी को नहीं दिखेगा जब तक सूरज आकर नहीं दिखाएगा।

गाँव के आसमान में चन्द्रमा है। तारे हैं। चन्द्रमा पर कोई धब्बा नहीं है : काली फफूँद-सा। तारे आसमान में उसी तरह टिमटिमा रहे हैं जैसे पृथ्वी पर टिमटिमा रहा है यह गाँव-अपनी झोपड़ियों में।

अँधेरे में डूबे इस गाँव में सबसे अधिक दो झोपड़ियाँ टिमटिमा रही हैं। एक भुलवा की है : ज़ोर-ज़ोर से धड़कते दिल-सी। ज़ोर-ज़ोर से धड़कते दिल-सी- दूसरी विराजो की है। विराजो की झोपड़ी की टिमटिमाती खिड़की पर विराजो का चेहरा हैं : टिमटिमाता और धड़कता। भुलवा की खिड़की पर भुलवा का चेहरा है : धड़कता और टिमटिमाता। दोनों खिड़कियाँ लगभग आमने-सामने हैं। ठीक-ठीक आमने-सामने नहीं। ठीक-ठीक पास-पास भी नहीं। दूर हैं। दूर इतनी कि जितनी दोनों की झोपड़ियाँ दूर हैं, एक-दूसरे से। दोनों झोपड़ियों के बीच साग-भाजी के खेत हैं। खेतों ने दोनों झोपड़ियों को चारों तरफ से घेर रखा है। कोई खेत हरा है : पालक भाजी। कोई खेत लाल है : लाल भाजी। अभी सारे खेत काले हैं -अँधेरे में डूबे। भाजियों पर अँधेरा रच गया है। पालक हरी नहीं दिख रही है।

नहीं दिख रही है लाल भाजी, लाल। पालक और लाल भाजी की गन्ध है-अँधेरे में उठती। अँधेरा, पालक और लाल भाजी को मिलाकर पका रहा है। अँधेरे की रसोई से उठ रही है पालक और लाल भाजी की महक।

लाल-हरे खेतों से घिरी, विराजो की झोपड़ी के पास कुछ केले के पेड़ है-- झुण्ड में खड़े : बतियाते। केले के पेड़ों के नीचे चार-पाँच पत्थर एक दूसरे से सटे रखे हैं। पत्थरों के ऊपर एक बाल्टी रखी है बड़ी-सी। बाल्टी में पानी भरा है। यह पानी, रात-बिरात की जरूरत के लिये है। केले के पेड़ों की झुण्ड का एक पेड़, इस तरह झुका-सा है बाल्टी पर कि बाल्टी को उठाकर ले जाना चाह रहा है खेतों की ओर, दिशा-मैदान के लिये।

भुलवा की झोपड़ी के पास, आम के तीन पेड़ हैं। तनकर खड़े। घने। आम के पेड़ एक दूसरे से इतनी दूरी पर हैं कि उनकी शाखाएँ एक-दूसरे से न टकराएँ। यहाँ भी आम के पेड़ों से दिन में जो छाया बनती है, जो अभी अँधेरे में नहीं दिख रही है उस छाया पर रखे हैं तीन पत्थर। तीन पत्थर के पास एक मिट्टी का बड़ा-सा मटका रखा है। पानी भरा। मटके के मुँह पर, पानी के ऊपर, एक लोटा तैर रहा है। मटके के गोल मुहाने से बार-बार टकरा रहा है पीतल का खाली लोटा।

पालक और लाल भाजी के खेतों के बीच से एक टेढ़ी-मेढ़ी मेड़ चली गयी है। मेड़, भुलवा की झोंपड़ी के आम के पेड़ों से थोड़ी दूर बाद शुरू होकर विराजो की झोपड़ी की उस बायीं दीवार को छू देती है, जिसमें अभी जाग रही खिड़की है, और है विराजो का चेहरा। दोनों पड़ोसी हैं तीन पीढ़ियों से। तीन पीढ़ियाँ आती-जाती रही हैं एक दूसरे घर। विराजो और भुलवा एक दूसरे को देखते-देखते बड़े हुए हैं। इसलिये वे कभी ध्यान से नहीं देखते हैं, एक दूसरे का चेहरा। इस तरह कभी नहीं जैसे पहली बार देख रहे हों उसे। एक दूसरे का चेहरा हमेशा वे प्रेम से देखते हैं। देखते हैं मन से। करते रहे हैं इस तरह आवाजाही इस टेड़ी-मेढ़ी मेड़ पर कि मेड़ उनके आने-जाने से पगडण्डी ज़्यादा लग रही है मेड कम । बचपन से अब तक, सबसे अधिक इस मेड़ पर चले हैं, विराजो और भुलवा, एक-दूसरे के घर की ओर। एक-दूसरे से मिलने की ओर।

भुलवा विराजो का चेहरा देख रहा है जो ढ़िबरी की लगातार काँपती रोशनी में काँपता-सा दिख रहा है। दमक रहा है काँपता-सा। काँपता-सा मुस्कुरा रहा है। काँपता-सा महक रहा है। विराजो के चेहरे की महक अँधेरे में और ज़्यादा बढ़ गयी है। अँधेरे में डूबी नहीं है महक। महक अँधेरे में रोशनी-सी फूट रही है। विराजो की महक भाजी के खेतों को छूती हुई भुलवा तक पहुँच रही है। विराजो की महक में लाल और पालक भाजी की हल्की महक भी घुली हुई है। यह ऐसी महक है जो मोगरे के फूल की महक में लाल और पालक भाजी की महक को मिला देने से बन रही है।

अपनी खिड़की पर खड़ा भुलवा गहरी साँसें ले रहा है। ले रहा है इतनी गहरी साँसे कि देह के भीतर खींची गयी हर साँस उसके फेफड़ों को पार कर एड़ी तक पहुँच रही है। भुलवा विराजो की खुशबू से भरी अपनी हर साँस को अपने भीतर रोक लेना चाहता है पर उसकी देह कुछ क्षण बाद ही फेंक देती है विराजो की महक को बाहर। देह महक के साथ मरना नहीं चाह रही है। भले ही मरना चाह रहा हो भुलवा-विराजो की महक को अपनी देह में भरे-भरे।

भुलवा की देह छोड़ रही हैं लम्बी साँसे, हर साँस तेज़ी से जा रही है- विराजो की ओर। भुलवा की देह से निकली साँसें भुलवा की महक से भरी हैं और छू रही हैं विराजो का चेहरा। विराजो के चेहरे पर काँपती रोशनी-सी काँप रही है, भुलवा की हर साँस। थोड़ा गाँजे की महक से और थोड़ा बीड़ी की महक से भरी। थोड़ा भुलवा के पसीने की महक से और थोड़ा थकान की महक से भरी। भुलवा की साँस गरम लोहे सी लाल, छोड़ रही है ताप। ताप इतना कि छिड़क

दो पानी तो आवाज़ आये छन। विराजो इतनी दूर खड़ी है, पर महसूस कर रही है, भुलवा की साँसों का ताप और उसकी महक जो विराजो के चेहरे को छू रही है सहलाती-सी। एक साँस के बाद, दूसरी साँस लगातार छू रही है उसका चेहरा। साँसे जो ढ़िबरी की काँपती रोशनी में, काँपती-सी साँसे बन डोल रही हैं, विराजो के चेहरे पर। भुलवा के साँसों की खुशबू सिर्फ़ विराजो बता सकती है। सिर्फ विराजो बता सकती है कि भुलवा की महकती साँसें कितनी गरम है।

विराजो भुलवा से दो साल बड़ी है। दो साल पहले आयी है, इस पृथ्वी पर। इस दो साल में एक-दो दिन कम हो सकते हैं। हो सकते हैं, एक-दो-दिन ज़्यादा। पर यह तो सच है कि आस-पास की दुनिया को दो साल अधिक देखा है विराजो ने। भुलवा ने देखा है, दो साल कम दुनिया को। जब तक जीवित रहेंगे दोनों-दो साल का यह अन्तर बना रहेगा। पेड़ों ने, पहाड़ों ने, नदी ने, फूलों ने, चन्द्रमा ने, आकाश ने, सूरज ने, तारों ने ... दो साल अधिक देखा है विराजो को। भुलवा को विराजो से कम देखा है दो साल-पेड़ों ने, पहाड़ों ने, नदी ने, फूलों ने, चन्द्रमा ने, आकाश ने, सूरज ने, तारों ने ...

विराजो की महक खींचने लगी है भुलवा को अपनी ओर जैसे कोई ताकतवर हाथ पकड़ खींच रहा हो। भुलवा अचानक खिड़की से गायब दिखा। वह अपने कमरे की ढ़िबरी के पास खड़ा हो गया। उसने अपनी हथेलियों से ढ़िबरी की काँपती लौ को ढँक लिया। लौ के ढँकते ही अचानक भुलवा की झोपड़ी अँधेरे में डूब गयी। भुलवा के कमरे को साथ लेकर, कमरे की खिड़की भी डूब गयी अँधेरे में, जिससे थोड़ी देर पहले दिख रहा था भुलवा का चेहरा। कुछ क्षण बाद भुलवा ने ढ़िबरी की रोशनी को अपनी हथेलियों से मुक्त किया तो झोपड़ी फिर जाग गयी। झोपड़ी जागी तो कमरा जागा। कमरा जागा तो खिड़की भी जाग गयी पर भुलवा की खिड़की पर भुलवा का चेहरा नहीं है। विराजो ने देख ली है भुलवा की खिड़की, बिना भुलवा का चेहरा लिये, अँधेरे में गुम हुई। फिर बिना भुलवा का चेहरा लिये रोशनी में आती दिखी। विराजो समझ गयी भुलवा का सन्देश।

भुलवा जब वापस अपनी खिड़की पर अपना चेहरा लाया तो उसने देखा कि विराजो की खिड़की पर नहीं है अब विराजो का चेहरा। वह समझ गया कि विराजो तक पहुँच गया है उसका संदेश। वह अब खिड़की पर अपना चेहरा लिए विराजो के जवाब का इन्तज़ार करने लगा। कुछ ही क्षण हुए थे कि विराजो की झोपड़ी घप् से अँधेरे में डूब गयी। झोपड़ी के साथ, डूब गयी खिड़की भी, जिसमें विराजो का चेहरा था। कुछ क्षण बाद ही धप् से झोपड़ी जागी। झोपड़ी के साथ जाग गयी खिड़की। थोड़ी देर बाद ही खिड़की में उगा विराजो का चेहरा। भुलवा मुस्कुराया। भुलवा के साथ-साथ विराजो की महक मुस्कुरायी। भुलवा के पास अब अपनी महक बची ही नहीं है। वह विराजो की महक से महक रहा है। ठीक इसी क्षण विराजो के पास विराजो की महक बची नहीं है वह भुलवा की महक से महक रही है।

भुलवा परछी से लगे उस कमरे से बाहर आ गया, जिसमें धान की कुछ बोरियाँ हैं और है दिन-रात जागती एक खिड़की जो हमेशा विराजो की खिड़की को देखती रहती है दिन-रात। बाबू परछी में सो रहा है। उसकी नींद शराब में डूबी हुई है : गहरी, गीली और शराब की गन्ध से भरी। बाबू झकझोड़ने पर ही हड़बड़ाते हुए उठ सकता है और उठने के बाद भी बहुत देर तक उसे कुछ समझाया नहीं जा सकता है। आँगन को पार कर भुलवा ने बाहर का दरवाज़ा खोला। फिर बाहर आकर, धीरे से अपने पीछे, दरवाज़े को उड़का दिया। इतने धीरे कि दरवाज़े के उड़कने की आवाज़ नहीं हुई। उड़कने की आवाज़ अगर होती तो भी बाबू नहीं जागता पर माँ जाग जाती। यह सावधानी माँ के लिये है।

बाहर आसमान में चन्द्रमा है : पूरा। चन्द्रमा जो अपनी नीली रोशनी से, अँधेरे के भीतर, अंसख्य नीले सुराख बनाने की कोशिश कर रहा है। भुलवा मेड़ पर है, जो पगडण्डी बन गयी है, मेड़ उसे विराजो की झोपड़ी तक पहुँचा रही है। अँधेरे में डूबी मेड़, आसमान में तनी रस्सी-सी लग रही है। भुलवा किसी नट-सा सावधान, मेड़ पर चल रहा है। पैर फिसला तो खेत के पानी और कीचड़ में गिरा पैर। पैर फिसला तो खेत में उगी भाजी नष्ट हुई। नष्ट हुई भाजी तो सुबह चिल्ला-चिल्ला कर कहेगी कि रात उसे रौंदता कोई गुज़रा है इस मेड़ से। कोई गया है भुलवा के घर से विराजो के घर तक। वैसे तो मेड़, पगडण्डी-सी बन गयी है, असंख्य पैरों के असंख्य बार अपने ऊपर होने के कारण। पर अँधेरे में पैर, उबड़-खाबड़पन खो पगडण्डी बन गयी इस मेड़ पर भी, फिसल जाते हैं। नंगे पैर अँधेरे में लिथड़े। सावधान पैर, अँधेरे में लिथड़े। कितनी भी सावधानी रखो अँधेरा पैरों को मेड़ से नीचे खींच ही लेता है। मेड़ के किसी उबड़-खाबड़पन से टकराकर, एक पैर, बायाँ या दायाँ गड़बड़ाता है और पैर को अपना भटक जाना तब पता चलता है, जब भाजी की मुलायम गुदगुदी तलवों को छूती है। छूती है गुदगुदी तलुवों को, ठीक भाजी के तलवों से कुचल जाने से पहले। और पैर फिर भाजी पर ... भाजी पर पैर फिर ओह .. भाजी पर एक और पैर का निशान। यह भी भुलवा का पैर ही है। दायाँ या बायाँ। विराजो की खिड़की तक पहुँचते-पहुँचते पाँच-सात निशान तो कम-से-कम भाजी पर छोड़ जाएगा भुलवा। भुलवा जब लौटेगा तो पाँच-सात और होंगे। सुबह सूरज की रोशनी में, कुचली हुई भाजी के निशान, उभरेंगे इस तरह कि गाएँगे ज़ोर-ज़ोर से, एक खिड़की से दूसरी खिड़की तक जाने की कथा।

विराजो खिड़की पर नहीं है। खिड़की अँधेरे में डूब गयी है। सो गयी है खिड़की। लग रहा है जैसे विराजो सो गयी है। असल में विराजो घर से बाहर निकल आयी है। जब भुलवा की खिड़की बुझी थी, तभी वह समझ गयी थी कि भुलवा उससे मिलने आ रहा है। पहली बार, जब भुलवा उससे मिलने आया था, उसकी खिड़की तक तो ऐसी ही जागते चन्द्रमा की रात थी। नीली रोशनी में डूबी रात। भुलवा और विराजो, आज की तरह ही, एक दूसरे की खिड़की पर थे। एक दूसरे को देखते। एक दूसरे की महक लेते। उस दिन पहली बार, अपने कमरे में जल रही ढ़िबरी को हथेली से ढँका था भुलवा ने। जब भुलवा की झोपड़ी अँधेरे में डूबी तो विराजो को लगा कि वह सोने चला गया है। वह हट गयी थी खिड़की से। अँधेरे को मार फिर जागी खिड़की। जागी खिड़की पर विराजो ने देखा नहीं। वह अपनी खिड़की के नीचे ही पीठ टिका, भुलवा को सोचती, कभी हँसती, कभी मुस्कुराती, बैठी रह गयी थी कि अचानक उसने अपनी खिड़की पर भुलवा की फुसफुसाहट से भरी पुकार सुनी-विराजो ... ओ विराजो ... वह खड़ी हुई तो देखा उसकी खिड़की पर भुलवा है। भुलवा ने फुसफुसाते हुए कहा-बाहर आ ना ...विराजो डरी-सहमी खड़ी रही, अपनी खिड़की पर। यह सोचती कि भुलवा की फुसफुसाती पुकार की अँगुली पकड़ बाहर आये या न आये। खड़ी रही वह। सोचती रही। फिर आ गयी बाहर।

पहली बार, अपने जीवन में, विराजो एक लड़के से मिलने घर से बाहर आयी, वह भी रात को। अपने सोते माँ-बाप को छोड़। छोड़ अपने भाई-बहन को सोता। पंजो पर चलते बेआवाज़। बजी पायल, रुन-झुन तो उसने उतार दी पायल। अँधेरे को टटोलते, बेआवाज़ धीरे से खोले घर के दरवाज़े। दरवाज़े तीन थे बाहर निकलने के। बाहर आयी वह। अपने ही घर का आधा चक्कर लगा, पहुँची अपनी ही खिड़की के बाहर। जहाँ भुलवा उसका इन्तज़ार कर रहा था। दोनों खिड़की के नीचे बैठ गए उकड़ू। बिना कुछ बोले। चुप बैठे रहे। सुन्दर चुप्पी,जिससे झड़ती रहती है फूलों की खुशबू। भुलवा की बाँह विराजो की बाँह को छू रही थी। कोहनी छू रही थी कोहनी को। पैर छू रहे थे पैर। भुलवा की दायीं देह विराजो की बायीं देह को छू रही थी। बैठे-बैठे देह जितना छू सकती थी एक-दूसरे को छू रही थी उतना। यह पहली बार था, जब विराजो रात में आयी थी घर से बाहर-भुलवा से मिलने। फिर वह आने लगी बार-बार।

जब-जब भुलवा की खिड़की भुलवा की हथेलियों के खेल में फँसकर अँधेरे में डूबती और फिर जागती-विराजो की हथेलियाँ भी अपने कमरे की ढिबरी के साथ, यही खेल खेलती। अँधेरे में डूबती विराजो की खिड़की और फिर जागती।

विराजो अपनी खिड़की के नीचे आज भी उकडू बैठी है। बैठी है-मिट्टी की दीवार पर पीठ टिकाए। वह देख रही है कि मेड़ की पगडण्डी पर भुलवा परछाईं-सा तैरता आ रहा है। आ रहा है, जैसे कोई तनी हुई रस्सी पर चलता आ रहा हो : डगमग। सन्तुलन बनाये रखने के लिए दोनों हाथों को हवा में विचित्र तरह से लहराता हुआ। रस्सी-सी तनी हुई है मेड़। तनी हुई मेड़ हवा में डोल रही है। डोलती मेड़ पर चला आ रहा है भुलवा...

भुलवा पहुँच गया है। वह चन्द्रमा की रोशनी में नीला है। नीली है उसकी मुस्कुराहट। नीले रंग में, रंग गयी है उसकी बण्डी। धोती भी नीले में डूबकर निकली-सी है। वह विराजो के ठीक सामने उकडू बैठ गया है। एक नीले रंग का ढ़ेर। उसके हाथ विराजो के घुटनों को सहला रहे हैं। इस सहलाने से विराजो की साड़ी अपनी मर्यादा छोड़ना चाह रही है। विराजो इतनी गोरी है कि चन्द्रमा की रोशनी उसकी देह पर चढ़ने की कोशिश में बार-बार फिसलकर गिर रही है। विराजो की देह के नीचे की धरती चन्द्रमा की रोशनी से गीली हो गयी है। भुलवा एकटक विराजो को देख रहा है। इस एकटक नज़र को विराजो समझ रही है। देख रही है, वह भी एकटक भुलवा की ओर। धीरे से मुस्कुरायी विराजो की आँखें। उतने ही धीरे से मुस्कुरायीं भुलवा की आँखें। चन्द्रमा और तारों के संग आकाश ने देखा उन दोनों का मुस्कुराना। मुस्कुराना आँखों का अर्थभरा। अर्थ समझ, एक साथ मुस्कुराए चन्द्रमा, तारे और आकाश। अभी दोनों पर यह जो नीला रंग झरने लगा है लगातार-चन्द्रमा, आकाश और तारों की मुस्कुराहट है।

पता नहीं क्या हुआ। हुआ कैसे पर विराजो और भुलवा को देखता चन्द्रमा, थोड़ा छिटक गया है अपनी जगह से। नीचे आ गया थोड़ा। थोड़ा उससे पीछे रहे गये हैं, आसमान और तारे। विराजो का चेहरा है चन्द्रमा के सामने। चन्द्रमा के सामने भुलवा की पीठ है। चन्द्रमा, अपनी ही साँसों में नहाया हुआ, उस लड़के और लड़की को देख रहा है जो एक दूसरे की देह की ओर धीरे-धीरे बढ़ रहे हैं। विराजो के पोलका के बटन खुल चुके हैं। विराजो के सुडौल स्तन सुनहरे, बारी-बारी से आ रहे हैं, एक के बाद एक, भुलवा की हथेली के नीचे। कभी एक तो कभी दूसरा। विराजो की आँखें मुँदती जा रही हैं। सुख उसकी पलकों को दबा रहा है। पैर ज़मीन पर सीधे फैल गये हैं। फैल गये हैं इतने अधिक कि पैरों के बीच बैठा है भुलवा। भुलवा के ओंठ अब उसके स्तनों की ओर बढ़ रहे हैं। चन्द्रमा की नज़र से छिप रहे हैं, विराजो के स्तन। छिप रहे हैं, भुलवा के घुँघराले बालों वाले सिर के नीचे-बारी-बारी। विराजो की दीवार से टिकी पीठ अब धीरे-धीरे नीचे सरक रही है। अब वह लेट गयी है। वह अपनी देह को, दीवार के बाजू से शुरू और भाजी के खेत पर खत्म जगह को दे चुकी है। यह थोड़ी खुरदुरी जगह है पर सूखी जगह है। भुलवा ,पीछे खिसक गया है। वह विराजो के पैरों के पास बैठा है, उसे एकटक निहारता और गहरी साँसे लेता। विराजो का लुगड़ा, कमर तक ऊपर आ गया है। विराजो के स्तन, अब तक एकटक भुलवा को देख रहे हैं। चन्द्रमा देख रहा है-विराजो के सुन्दर-सुडौल स्तन और नंगी हो गयी जाँघे : सुन्दर-सुडौल। थोड़ी ही देर देख पाया चन्द्रमा फिर उसे भुलवा की देह, एक धब्बे की तरह नाचती दिखी-विराजो की देह के ऊपर। इस तरह चन्द्रमा ने पहली बार देखा कि धरती पर कैसे उगता है एक चन्द्रमा। कैसे धरती आसमान हो जाती है। धरती में अचानक उग आये चन्द्रमा पर कैसे उभरता है एक धब्बा। उभरते धब्बे को कैसे ग्रहण करता है धरती का चन्द्रमा, जैसे अपने भीतर पूरी तरह समा लेना चाह रहा हो, धरती में उग आए चन्द्रमा को। मुग्ध होकर देख रहा है आकाश का चन्द्रमा-धरती के चन्द्रमा को...

भुलवा और विराजो को मालूम नहीं है कि चन्द्रमा के अलावा भी कोई और है जो उन्हें देख रहा है। देख रहा है एक मिरचुक-भूत। लालभाजी के खेत में खड़ा लालसा से देख रहा है। मिरचुक-भूत भटकता रहता है रात-बिरात। वह रात-बिरात भाजी के खेतों में भटकने के लिये ही भूत है। इसलिये खेतों में भटकते हुए कभी नहीं धँसते हैं उसके पैर खेतों की कीचड़ में। खेतों की कीचड़ से कभी गन्दे नहीं होते हैं-मिरचुक भूत के पैर। उसके पैर हवा में तैरते से-चलते हैं, जैसे पानी पर चलती है डोंगी। हवा को छूते हैं तो धरती को छूने से बचे रहते हैं। बचे रहते हैं गन्दे होने से। पर खेतों में भटकते हुए मिरचुक-भूत के पैरों पर बनी रहती है लाल या पालक भाजी की गुदगुदी। यह गुदगुदी भूत को अच्छी लगती है। भाजी से सिर्फ़ गुदगुदी छूते हैं भूत के पैर। भूत के पैर इस तरह कभी नहीं छूते भाजी को कि भाजी घायल हो जाये। बस थोड़ी-सी गुदगुदी की चोरी करते हैं। इस तरह चलता है मिरचुक-भूत, भाजी के ऊपर कि भाजी की एक पत्ती भी कभी नहीं टूटती है। किसी पत्ती पर कभी नहीं उभरती है--भूत के चलने की लकीर। बल्कि होता यह है कि मिरचुक-भूत के पैर गुदगुदी सोखते हुए भाजी पर लग रहे कीड़ों को चट कर जाते हैं। भाजी, ताजी बनी रहती है। बनी रहती हैं, उसकी पत्तियाँ चमकदार और स्वस्थ। भाजी के खेतों में, भाजियाँ हमेशा मिरचुक-भूत के आने का इन्तज़ार करती हैं, जैसे देवताओं का इन्तज़ार करते हैं मनुष्य। भाजी की गन्ध से, जब उन्मुक्त हो जाता है मिरचुक-भूत तो लोटने लगता है-कभी लाल भाजी के खेत पर तो कभी पालक के खेत पर। जैसे रंगना चाह रहा हो अपनी देह, लाल रंग में और फिर हरे रंग में। भाजी, भूत की देह के आर-पार हो लहराती रहती है, धीरे-धीरे रात की हवा में। भाजी धीरे-धीरे सहलाती रहती है-मिरचुक-भूत की देह। देह मिट्टी है। वायु है देह। देह जल है। आकाश है देह। यह एक भूत की देह है। हवा से हल्की और मिट्टी, जल, वायु और आकाश हो जाने को तत्पर।

मिरचुक-भूत को, ऐसी हवा से हल्की देह, तब मिली जब वह पाँच साल का था। वह अपने बढ़ई पिता और दिन-रात घर और बाहर खटती माँ का इकलौता पुत्र था। वह माँ की गोद से पिता की गोद में और पिता की गोद से माँ की गोद में आते-जाते पाँच साल का हो गया था। उसकी उम्र माँ-बाप के लाड़ में पाँच साल की हुई थी, इसलिये न माँ-बाप को लगता था कि वह पाँच का हो गया है और न उसे लगता था कि वह पाँच का हो गया है।

एक दिन अचानक वह पाँच साल का लड़का बीमार पड़ गया। रातभर उल्टी और दस्त के बीच रहा। रातभर में लस्त पड़ गयी देह। वैद्य नहीं मिला। नहीं मिली कोई दवा। छोटा-सा गाँव। इस गाँव में तो वैद्य था नहीं। पाँच कोस दूर, पड़ोस के गाँव में बाबू वैद्य को बुलाने गए तो पता चला कि वे बाहर गाँव गये हैं। सुबह हुई तो रातभर में लस्त पड़ चुकी-पाँच साल के बच्चे की देह हवा से भी हल्की हो गयी। अब पाँच साल का बच्चा, अपनी ही देह से बाहर खड़ा, अपनी ही देह को देख रहा था। आश्चर्य चकित। मुस्कुराता। पिता के बनाये अधूरे खाट-पाटी और बैलगाड़ी के पहियों के बीच उसकी देह पड़ी थी परछी में। उसकी देह पर खपरैलों से छन कर आ रही सूरज की रोशनी की पट्टियाँ गिर रही थीं। माँ, छाती पीट रही थी। उसकी देह पड़ी थी परछी में, उन स्त्रियों के बीच जो छाती पीटती माँ के दुःख को सम्हालने की कोशिश कर रही थीं। माँ उसकी देह के ऊपर बिलखती बार-बार गिर रही थी। अपनी देह से बाहर खड़ा, वह समझ नहीं पा रहा था कि माँ क्यों रो रही है। वह तो है उस देह को छोड़, इस हवा-सी हल्की देह में। पाँच साल का बच्चा समझ नहीं पा रहा था कि उसे कोई देख क्यों नहीं पा रहा है। परछी के आसपास, गाँव वालों की भीड़ बढ़ती जा रही थी। वह सबके पास गया। सबको उसने दी आवाज़ पर कोई उसे नहीं सुन रहा था। नहीं देख रहा था कोई उसे। पाँच साल का वह बच्चा अब मिरचुक-भूत बन गया था। आश्चर्यचकित था और था दुःखी भी। उसे लगा कोई पहचाने या न पहचाने माँ तो पहचान ही लेगी कि वह अपनी देह छोड़कर अब भी जीवित है। है माँ के पास ही। वह बिलखती माँ की पीठ से लिपट गया ज़ोर से। माँ बिलखती रही पर उसके लिपटने को महसूस नहीं कर

पायी। लिपटना जैसे हवा का झोंका बन गया। आया और चला गया। पाँच साल का मिरचुक-भूत बस चाहता रहा कि वह माँ का बिलखना रोक ले। रोक ले पिता का दुःख। दुःख जो असमय, एक पाँच साल के पुत्र की, अपनी देह छोड़, हवा-सी हल्की देह पाने के कारण उनके भीतर उपजा है। पर वह कर नहीं पाया। उसकी देह हवा थी और हवा सबको झोंका बन महसूस होती रही पर कोई नहीं पकड़ पाया कि हवा का झोंका एक पाँच साल का बच्चा है ...

रोते-रोते थक गयी माँ। जब बेटे की देह उठायी गयी तो वह बहुत ज़ोर से चीखी और बेहोश हो गयी। पिता और गाँव के पुरुष तालाब के किनारे ले गए बच्चे की देह। सेमल के पेड़ के नीचे उन लोगों ने एक छोटा गड्ढा खोदा। जब तक गड्ढा खुदता रहा, सेमल के पेड़ की छाया में लेटी रही बच्चे की देह। बच्चे का पिता अपने बेटे की देह के पास उकडू बैठा रहा। गड्ढा खुदते देख, पिता सोचने लगा कि गड्ढे के ऊपर पड़ रही है, सेमल की छाया, यह अच्छा है। सेमल के फूल और सेमल की छाया के नीचे, पड़ा रहेगा उसका बेटा-जिसने फूलों को सिर्फ पाँच बार खिलते देखा है। अब देखता रहेगा बरसों-बरस, खिलते और शाखाओं से झड़कर, अपनी कब्र पर आते, सेमल के फूलों को। पिता जो मन में सोच रहे थे-मिरचुक-भूत उसे ठीक-ठीक सुन पा रहा था। यह पहली बार हुआ था कि वह किसी के मन में सोची बात को सुन पा रहा था। बिलख नहीं रहे हैं पर बाबू भी उसे कितना चाहते हैं। यह सोच रहा था वह। मन में सोची बात नहीं सुन पाता मिरचुक-भूत तो अपने बाबू को समझ नहीं पाता। सोच ही रहा था यह सब कि गाँव वालों ने उसकी देह, धीरे से उतार दी खोदे गये गड्ढे में जो ठीक उसकी देह के नाप का था और उसका नन्हा सिर और नन्हें पैर गड्ढे की दीवारों को-दबाते हुए छू रहे थे।

मिरचुक-भूत को, अपनी देह में घुसते ही, सफ़ेद नये कपड़े की गन्ध आयी। भूत ने गहरी साँस ली और नये कपड़े की गन्ध, उसके भीतर भर गयी। उसे अच्छा लगा। मिट्टी उसके ऊपर गिरने लगी। गिर रही मिट्टी में, गाँव वालों, रिश्तेदारों तथा पिता की मुट्ठी की गन्ध थी। पाँच साल के मिरचुक-भूत ने अपनी देह के भीतर लेटे-लेटे इतनी सारी मुट्ठियों की गन्ध को पहली बार महसूस किया। अलग-अलग जीवित देह के पसीने से लिपटी मिट्टी की गन्ध। मिट्टी गिर ही रही थी कि सेमल के पेड़ ने तीन सेमल के फूल गिराये-उसकी कब्र पर। अब मिरचुक-भूत के पास तीन सेमल के फूलों की भी खुशबू थी।

मिट्टी से जब पूरी तरह भर गया गड्ढा तो थोड़ी देर बाद मिरचुक-भूत को साँस लेने में कठिनाई होने लगी। अकबकाने लगी भूत की साँस। पर थोड़ी देर बाद मिरचुक-भूत की साँसों ने ले ली अपनी लय। ऐसी लय जो सिर्फ भूत की साँसों में रहती है। साँस, बच्चे की मरी हुई देह नहीं, मिरचुक-भूत की हवा से तैरती देह ले रही थी। अपनी ही बिना साँस की देह को छोड़, मिरचुक-भूत उठ खड़ा हुआ और चार-पाँच फुट मिट्टी को पार कर, आ गया ज़मीन से बाहर। मिरचुक-भूत ने तब देखा कि पिता को सहारा देते रिश्तेदार और गाँव वाले तालाब में नहाकर बस पंछा पहने और बाकी खुली देह लिये लौट रहे गाँव की ओर। भूत ने एक टेढ़ी-मेढ़ी और स्त्रियों के लुगड़ों से रंगबिरंगी हुई पंक्ति को भी देखा-जिसमें सबसे आगे माँ थी लाल और आँसू भरी आँखें लिये और पीछे एक के बाद एक गाँव की स्त्रियाँ थीं-एक लम्बी पंक्ति में। जिनके लुगड़े के रंग माँ के दुख से गीले और गाढ़े हो गए थे। तालाब से गाँव लौटती पगडण्डी में पाँच साल के बच्चे के अचानक मर जाने का दुःख बह रहा था और पगडण्डी गीली हो गयी थी ....

तब से बारह बरस हो गये। भटक रहा है मिरचुक-भूत। मिरचुक-भूत अब सत्रह का हो गया है। अब वह सत्रह का ही रहेगा। रहेगा जब तक पृथ्वी पर। अब नहीं बढ़ेगी भूत की उम्र। बरसों-बरस बीतेंगे और मिरचुक सत्रह का बना रहेगा : एक किशोर भूत।

दिनभर मिरचुक-भूत सोया रहता है, सेमल के नीचे दबी अपनी देह के भीतर। रात होते ही, जैसे जागता है और भटकता रहता है भाजी के खेतों में। लाल और पालक भाजी की गन्ध पीता कि भाजी की गन्ध ही मिरचुक-भूत की खुराक है। आज अचानक, भाजी की गन्ध को चीरती-अलग-सी, मुलायम गन्ध मिरचुक-भूत को आ रही है। पहली बार। यह अभिसार की महक है। महक है प्रेम की। ऐसी महक, उसे भाजी से कभी नहीं आयी है। अब तक वह, भाजी से उठती महक को दुनिया की सबसे अच्छी और महीन महक समझता रहा है। अभी-अभी आयी महक में मोगरे की गन्ध है। गन्ध है, एक स्त्री के हाँफते सुख की। एक स्त्री के पसीने की महक है। महक है एक स्त्री की मुँदी पलकों की। मिरचुक-भूत के पास, बार-बार आ रही यह महक मोगरे और एक स्त्री के पसीने की मिली-जुली महक। रुक-रुक कर बार-बार आ रहा है महक का झोंका। महक खींच रही है, मिरचुक- भूत को अपनी ओर। महक को रस्सी की तरह पकड़ कर मिरचुक-भूत पहुँच गया है वहाँ जहाँ महक का स्त्रोत है।

स्रोत में विराजो और भुलवा हैं। बन्द आँखों से आसमान देखते। देखते चन्द्रमा, तारे और आकाश। अस्त-व्यस्त। लस्त पड़े। विराजो और भुलवा की लम्बी-लम्बी साँसो से भर गयी वह जगह। तो यह है महक का स्रोत-मिरचुक-भूत ने सोचा। मुस्कराया भूत। तभी भूत को हाँफती विराजो की खुली जाँघ पर माड़ की तरह का गाढ़ा सफेद पदार्थ दिखा। हँसने लगा भूत-तो यह बात है। इतना हँसा-इतना हँसा कि हँसते-हँसते लोट-पोट हो गया। भाजी के खेतों की मेड़ पर लुढ़कने लगा गेंद-सा। मिरचुक-भूत लुढ़कते और हँसते जब थक गया तो भुलवा और विराजो से थोड़ी दूर खड़ा हाँफता दिखा। अभिसार की महक उसे अब और तेज आने लगी है। वह झूमने लगा है। अभिसार की गन्ध उसे पकड़ कर हिलाने लगी है। इतनी तेज हिलाने लगी अभिसार-गन्ध मिरचुक-भूत को कि वह भड़ से लाल भाजी के खेत में गिरा। वह भाजी में डूब गया। थोड़ी ही देर के लिये वह भाजी की गन्ध में डूबा। फिर वह अलग-सी गन्ध, जो अभिसार की है, उसे भाजी के खेत से फिर ऊपर खींचने लगी।

आसमान से चन्द्रमा ने देखा कि अब धरती के उस गाँव में, खुले आसमान के नीचे से, उसे देखते दो मनुष्य हैं और एक सत्रह बरस का भूत है। भूत को भाजी में गिरता देख, चन्द्रमा ने बड़ी मुश्किल से अपनी हँसी रोकी है, कहते हैं कि चन्द्रमा मनुष्य पर हँसे या हँसे भूत पर हँसते ही धीरे-धीरे छोटा होने लगता है।

मिरचुक-भूत ने अब अपने को सम्हाल लिया है। वह उठ खड़ा हुआ है लाल भाजी के खेत से। जब वह गिरा था भाजी के खेत पर तो उसे दिख गया था चन्द्रमा। उठते ही उसने चन्द्रमा की ओर अपना हाथ उठाया और हाथों के पंजे हिलाने लगा विचित्र-विचित्र तरह से। विचित्र-विचित्र तरह से, वह अपने चेहरे की भंगिमाएँ बना रहा है। चिढ़ा रहा है मिरचुक-भूत चन्द्रमा को। चन्द्रमा उसे देख रहा है चुपचाप। चुपचाप देख रहा है-एक छोटे से भूत की हिम्मत।

विराजो अब भी उत्तेजित है। वह थककर हाँफ रही है। भुलवा पहली बार किसी स्त्री के इतना करीब गया है। मन में वह कई बार जा चुका है। पर मन में जाना, मन में जाना है। मन पूरी छूट लेता है और कभी हारता नहीं है। मन की विराजो को कई बार परास्त कर चुका भुलवा, आज सच की विराजो से परास्त हो चुका है। कल्पना की स्त्री और सच की स्त्री में बहुत अन्तर है...

सच की स्त्री, विराजो के सामने था भुलवा। पहली बार की उत्तेजना इतनी ऊँची थी-भुलवा के भीतर कि जैसे समुद्र की ऊँची लहर थी। लहर बहुत तेज़ी से ऊपर उठी और फिर तेज़ी से नीचे आते हुए नष्ट हो गयी। भुलवा की उत्तेजना की लहर विराजो की बायीं जाँघ पर गिरी पड़ी है। चिपचिपी। भात के माड़-सी।

भुलवा, आँखे बन्द किये, विराजो के बाजू में, पीठ के बल लेटा है। लम्बी-लम्बी साँसें लेता। वह ऐसी साँसे ले रहा है, जैसे मीलों से दौड़कर आया हो और गिर पड़ा हो यहाँ। विराजो अब भी वैसे ही पड़ी है। विराजो की जाँघें और स्तन चन्द्रमा को देख रहे हैं। चन्द्रमा देख रहा है-विराजो के थरथराते स्तन और सुनहरी जाँघें। चन्द्रमा, आसमान को भूल रहा है। भूल रहा है तारों को। चन्द्रमा के भीतर पृथ्वी पर नीचे उतर जाने की इच्छा ज़ोर मार रही है...

अचानक चन्द्रमा ने देखा कि मिरचुक-भूत धीरे-धीरे बढ़ रहा है-विराजो और भुलवा की ओर। लगता है यह कमीना मोहित हो गया है विराजो पर। चन्द्रमा ने सोचा और हँसने लगा। हँसते हुए जैसे ही वह छोटा होने लगा, उसने बहुत कठिनाई से अपनी हँसी रोकी। आसमान और तारे चन्द्रमा को फिर याद आ गए हैं और पृथ्वी पर उतरने की इच्छा मर गयी है। वह मन ही मन मुस्कुराता रहा-मिरचुक-भूत को देख जो भाजी की क्यारियों को लाँघता, बढ़ा जा रहा था विराजो की ओर ...

थोड़ी देर बाद चन्द्रमा ने देखा कि मिरचुक भुलवा के ऊपर झुका हुआ है। भुलवा जहाँ लेटा हाँफ रहा है- लाल भाजी का खेत ठीक वहीं से शुरू हो गया है। मिरचुक के पैर लाल भाजी की क्यारी के भीतर डूबे हुए हैं। भूत भाजी के खेतों के भीतर तैरता हुआ भुलवा तक पहुँचा है। उसकी छाती के ठीक सामने पड़ा है- हाँफता हुआ भुलवा। भुलवा पर झुके-झुके ही मिरचुक-भूत, घुस गया भुलवा की देह के भीतर। हल्के से काँपी भुलवा की देह और देह का हाँफना रुक गया जो भुलवा के स्खलन से पैदा हुआ था। भुलवा की देह के भीतर जाकर मिरचुक भूत पूरी तरह फैल गया भुलवा की देह में। सत्रह का भुलवा और सत्रह का मिरचुक-भूत। दोनों की देह में रत्ती भर भी फ़र्क नहीं। अब पृथ्वी पर मिरचुक-भूत चन्द्रमा को नहीं दिख रहा है। दिख रहा है सिर्फ़ भुलवा जो अब, बस विराजो की ओर पलटने वाला है, धरती से अपनी पीठ उठाकर। पलटा नहीं है भुलवा। पलटा है मिरचुक-भूत विराजो की ओर। अब, भुलवा की देह में घुसा मिरचुक-भूत, विरजो के ऊपर है। फिर फैलने लगी है महक विराजो के भीतर। विराजो के भीतर धीरे-धीरे फिर उठने लगा है सुख। सुख ने धीरे-धीरे बन्द कर दी हैं विराजो की आँखें। आँखे, पूरी तरह सुख में डूबने-उतरने लगीं हैं। अपार सुख : अनन्त...

कौन हो तुम? विराजो ने पूछा। सुख के साथ दूर तक बह जाने के बाद उसे लगा कि भुलवा-सा दिखता हुआ शायद यह भुलवा नहीं है या यह सोच उसने ठिठोली की कि थोड़ी देर पहले के भुलवा और अभी के भुलवा में कितना अन्तर है... पूछती हुई विराजो के चेहरे पर संभोग-सुख का पसीना झिलमिला रहा है। पसीने के नीचे से विराजो का चेहरा मुस्कुरा रहा है अब भी जैसे वह संदेह में हो... थोड़ी देर पहले के भुलवा और अब के भुलवा में बस भूत-भर का अन्तर है।

भुलवा-सा दिखता और भुलवा के भीतर घुसा मिरचुक-भूत चुप है। भीतर से वह मुस्कुराया तो भुलवा के चहेरे पर उसकी मुस्कुराहट दिखी। वह सोच रहा था कि बता दे भूत हूँ या चुप रहे...सोच रहा था कि पता नहीं बताने पर क्या हो...उस पार घृणा हो या हो प्रेम...

विराजो ने उसकी छाती पर मुक्के बरसाते हुए कहा- बताओ कौन हो तुम?

चुप रहा भुलवा के भीतर घुसा भूत। सत्रह साल का है वह। वह इतना समझदार भी नहीं है। भुलवा अगर होश में रहता तो इस जगह पर विराजो के सामने निश्चय ही भूत से ज्यादा समझदार दिखता। अचानक मिरचुक-भूत को चन्द्रमा याद आया। आया याद कि थोड़ी देर पहले ही वह उसे चिढ़ा चुका है। खुश हो गया भूत। मुस्कुराया।

मुस्कुराया तो बेहोश भुलवा के चेहरे पर दिखी विराजो को उसकी मुस्कुराहट। विराजो ने फिर कहा बहुत लाड़ से- बताओ... बताओ कौन हो तुम? अब की बार एक क्षण भी नहीं लगा मिरचुक-भूत को, उसने तुरन्त कहा- चन्द्रमा हूँ .. उतर आया हूँ आसमान से ... तुम्हारी सुन्दरता खींच लायी है मुझे...

यह भुलवा नहीं, उसके भीतर घुसा मिरचुक भूत बोल रहा है और चन्द्रमा सुन रहा है-आसमान से साफ़-साफ़ कि मिरचुक-भूत अपने को चन्द्रमा कह रहा है। कमीना भूत।

सुन्दर हो इसलिये चन्द्रमा हो-विराजो ने पूछा।

नहीं चन्द्रमा हूँ इसलिये सुन्दर हूँ-मिरचुक-भूत हँसा भुलवा की देह से।

भुलवा के भीतर घुसे मिरचुक-भूत की बात सुन चन्द्रमा चिढ़ गया। चिढ़ गया और उसने आसमान से कहा कि ज़रा मैं इस भूत को ठीक करके आता हूँ। बता कर आता हूँ कि चन्द्रमा कितना सुन्दर होता है।

चन्द्रमा गुस्से में नीचे उतर आया है। ठीक वहाँ पर जहाँ भुलवा की देह के भीतर घुसा मिरचुक-भूत, अब भी विराजो की देह से लिपटा पड़ा है।

चन्द्रमा की रोशनी से दोनों चौंके-विराजो और मिरचुक-भूत भरी भुलवा की देह। चन्द्रमा को एकटक देख रही है विराजो। विराजो चन्द्रमा की नीली रोशनी में डूब गयी है। मिरचुक-भूत भुलवा बना, अब भी विराजो के पास पड़ा है। उसका बायाँ पैर, विराजो के ऊपर है। हाथ दाहिना, विराजो के सिर के नीचे है।

विराजो ने देखा कि नीला चन्द्रमा झुक रहा है भुलवा के ऊपर। चन्द्रमा ने अपने दहिने हाथ से, भुलवा के बालों को पकड़ उठा लिया उसे ऊपर। भुलवा किसी कपड़े के गुड्डे-सा हल्का हो उठ गया। चन्द्रमा ने, ग्यारह बार भुलवा की देह को हवा में गोल-गोल घुमाया। इतनी तेज़ी से कि हवा में घूमती भुलवा की देह हवा-सी अदृश्य हो गयी। चन्द्रमा के एक हाथ में फूल-सी हल्की हो घूम रही है भुलवा की देह। ठीक ग्यारहवें चक्कर में मिरचुक-भूत टप से भुलवा के मुँह से गिरा।

भुलवा की देह को, आहिस्ते से ज़मीन पर रख, चन्द्रमा ने मिरचुक को पकड़ लिया। फिर कपड़े की तरह धरती पर वह उसे पछीटने लगा जैसे कोई धोबी कपड़ा पछीटता है घाट पर। चन्द्रमा, मिरचुक को तब-तक पछीटता रहा, जब तक मिरचुक- भूत के टुकड़े-टुकड़े नहीं हो गये। असंख्य टुकड़े।

विराजो सहमी-सी, उकडू बैठी, यह सब देख रही है। उसे पता ही नहीं चला है कि किस क्षण वह चौंककर उठ बैठी है। उसके सामने बेहोश भुलवा पड़ा है। पर वह भुलवा को पूरी तरह भूल चुकी है। वह बस चन्द्रमा को देख रही है एकटक। एकटक देख रही है चन्द्र-लीला।

चन्द्रमा ने धरती पर पड़े मिरचुक-भूत के असंख्य बारीक-बारीक टुकड़ों पर अपना हाथ फेरा जैसे सहला रहा हो टुकड़ों को। चन्द्रमा के हाथों का स्पर्श पाते ही मिरचुक-भूत के असंख्य टुकड़े-असंख्य केंचुओं में बदल गये। केंचुए, धीरे-धीरे सरकते हुए, उतरने लगे भाजी के खेत में, जिनकी तह में कीचड़ है। गीली मिट्टी है। जहाँ वे रह सकते हैं आराम से। जी सकते हैं केंचुए खेत की मिट्टी में। खेत को बना सकते हैं उपजाऊ...

चन्द्रमा ने अपना काम कर लिया है। आसमान उसे पुकार रहा है कि बहुत देर आसमान उसके बिना खाली नहीं रह

सकता। रात में तो बिल्कुल भी नहीं जब चन्द्रमा-तारे साफ़-साफ़ दिखते हैं। साफ़-साफ़ दिखने में पकड़े जाने का भय बहुत ज़्यादा रहता है। रात में बिना चन्द्रमा और तारों के अजीब लगता है आसमान। जैसे बिना आसमान के अजीब लगता है चन्द्रमा। आसमान लगातार पुकार रहा है चन्द्रमा को। चन्द्रमा वापस लौटने लगा है। उसने एक नज़र विराजो पर डाली फिर बेहोश पड़े भुलवा पर और ऊपर उठने लगा-आसमान की ओर। नीली रोशनी विराजो के पास से कम होने लगी। रोशनी को कम होता देख विराजो बेचैन हो गयी। अकबकाने लगी। नीली रोशनी नहीं जैसे साँसें कम पड़ रही हों।

तभी विराजो ने उसे पुकारा- रुको चन्द्रमा।

विराजो अब भी अर्ध-नग्न है। उसने जो कुछ देखा था, वह उसे आधी बेहोशी की ओर धकेल चुका है। वह एक ऐसी स्त्री है-जिसका विवाह बचपन में हो गया है और गौना तीन दिन बाद होना है। ऐसे समय वह रात अपनी झोपड़ी से बाहर है। झोपड़ी के भीतर सो रहे उसके माँ-बाप के स्वप्न में उसका गौना है। विराजो विचित्र प्रपंच में फँस गयी है। इस प्रपंच के भीतर उसके साथ भुलवा है, जिसके साथ वह मन से होना चाह रही थी अब तक। पर अब भुलवा के अलावा, मिरचुक-भूत और चन्द्रमा भी आ गये हैं। क्या सोचा था और क्या हो रहा है। यह सारी बदमाशी मिरचुक-भूत की है। सब कुछ उसका ही किया धरा है। मिरचुक अगर भुलवा की देह पर नहीं आता और नहीं कहता अपने को चन्द्रमा तो चन्द्रमा आसमान से नीचे नहीं आता। चन्द्रमा नीचे नहीं आता तो विराजो उसे देखकर मोहित नहीं होती। मोहित नहीं होती तो रोकती नहीं चन्द्रमा को इस तरह ...

चन्द्रमा रुक गया है। अब वह प्रेम से देख रहा है विराजो की ओर। चन्द्रमा भी मोहित हो गया है विराजो पर। पर वह चन्द्रमा है। है नहीं मिरचुक-भूत। वह बेहोश भुलवा भी नहीं है। वह बस चन्द्रमा है-जिसका अब भी आसमान इन्तज़ार कर रहा है।

चन्द्रमा, विराजो की ओर देखते हुए फिर ऊपर उठने लगा। उसका मन तो नहीं हो रहा था-आसमान में जाने का पर हर बार ऐसा कहाँ होता है कि मन जो चाहे वह कर पाए। बार-बार यह होता है कि मन जो चाहता है, वह कर नहीं पाता। उसने सोचा वह कभी फिर आ जाएगा विराजो के पास। वह विराजो को देखता और मुस्कुराता हुआ ऊपर उठ रहा है, आसमान की ओर...

'रुको चन्द्रमा, जाने से पहले बताओ कि अब मेरा क्या होगा ... अगर मैं पेट से हो गयी तो पैदा होगा मिरचुक-भूत का बच्चा ... बच्चा एक भूत का ... मैं इस धरती पर कैसे पालूँगी एक भूत के बच्चे को ...' विराजो की यह बात सुन चन्द्रमा के चेहरे से मुस्कुराहट गायब हो गयी। वह सोच में पड़ गया। उसकी रोशनी धीमी पड़ने लगी। उस पर काले धब्बे उभरने लगे। चन्द्रमा ज़्यादा ऊपर नहीं उठा है आसमान की ओर। वह फिर नीचे आने लगा। जैसे ही चन्द्रमा ने नीचे आना शुरु किया पृथ्वी की ओर उसकी रोशनी तेज़ होने लगी और काले धब्बे झड़ने लगे।

चन्द्रमा नीचे आ गया है। वह विराजो के बिल्कुल करीब है। इतने करीब कि विराजो उसकी गर्म साँसों को महसूस कर रही है। कहा उसने विराजो से कि विराजो इसका बस एक ही उपाय है कि मैं मार डालूँ तुम्हारे भीतर डले मिरचुक-भूत के बीज को पर इसके लिये मुझे तुम्हारे भीतर डालना होगा अपना बीज ... मेरा बीज मिरचुक के बीज को मार देगा ....

'चन्द्रमा तुम सच कह रहे हो ... या मुझ पर मोहित हो ... पाना चाहते हो मुझे....' विराजो ने कहा।

'हाँ, मैं मोहित हूँ तुम पर ... पर मैं सच भी कह रहा हूँ .. अगर मिरचुक-भूत का बीज तुम्हारे भीतर हुआ तो वह मेरे से मर जाएगा ... अगर नहीं भी हुआ तो तुम धारण करोगी मेरा बीज तुम सोच लो ...'

भुलवा अब भी बेहोश पड़ा हुआ है-ठीक विराजो की बगल में। उसकी आँखे बन्द हैं। वह कोई स्वप्न भी नहीं देख रहा है। वह स्वप्न से बाहर है। बाहर है धरती से। भुलवा धरती पर है इस तरह कि धरती पर नहीं है।

विराजो ने अपने पोलका के बटन खोल दिये चन्द्रमा के लिये। पृथ्वी पर अब चन्द्रमा है, विराजो के नंगे स्तन और नंगी जांघों पर नाचता। आसमान चन्द्रमा को देख रहा है। आसमान को पहली बार लगा कि कैसे एक चन्द्रमा, पृथ्वी की एक स्त्री के सामने, धब्बे में बदल जाता है। आसमान ने सोचा कि पृथ्वी की एक स्त्री का सौन्दर्य चन्द्रमा के सौन्दर्य से करोड़ों गुना ज़्यादा होता है ...

अवगाहन

तिलोत्तमा मजूमदार
बांग्ला से अनुवाद : डॉ. रामशंकर द्विवेदी

गृह प्रवेश करने के दिन ही मेरे और तपस के बारे में सभी ने एक धारणा बना ली थी। मैं भी यही चाहती थी। यह बात माँ बाबा के कानों तक इसके बाद पहुँच जाएगी और यही होगी एक प्रकार से मेरे लक्ष्य की पूर्णता। मैंने जो दूसरा सम्बन्ध स्वीकार कर लिया है उसे स्वीकार कर लेने माँ-बाबा दोनों ही मानसिक रूप से तैयार हो जाएँ, उस प्रयोजन की पूर्ति के लिए यह भूमिका अपरिहार्य थी।

तापस अवश्य सीधे-सीधे सारी बातें बता देने के पक्ष में था। किन्तु मेरा स्वभाव ही ऐसा है कि प्रत्यक्ष वाद-विवाद करना, अपने तर्कों को रखना, आँसू बहाना, ये सब बातें मुझे ज़रा भी सहन नहीं होती हैं। सिर्फ़ इसी स्वभाव के कारण मेरे जीवन में बहुत कुछ नहीं हो सका। कभी किसी से प्रगाढ़ मित्रता नहीं हुई, प्रेम नहीं हो सका, भाई-बहनों के साथ कभी अन्तरंगता नहीं हुई, आमने-सामने न हो पाने के कारण ही मैं और सन्दीपन दो वर्ष तक एक-दूसरे से बँधे रहे थे। मेरे घर के सभी लोग चाहते थे कि यह सम्बन्ध बना रहे। मैं उस बन्धन को एक मर्यादा देने का प्रयास करती रही थी, अपनी शारीरिक उपस्थिति के द्वारा। हालाँकि वह शारीरिक-संघटना ही मेरे मन को सन्दीपन से उखाड़ कर बहुत दूर ले गयी थी। इस तरह जीते जी मृत जैसा सम्बन्ध सिर्फ़ मेरी आमने-सामने न हो पाने की इच्छा के कारण ही सम्भव हुआ था।

हालाँकि मैं किसी की भी खूब परवाह करती हूँ ऐसा है नहीं। कुल मिलाकर मैं अपने को समझ नहीं पाती। मेरा स्वभाव ही ऐसा है चाहे जैसी प्रतिकूलता हो उसे दबाए रखना और उसे सहन करते रहना। सहन करने की अन्तिम सीमा पर पहुँचने के बाद फिर किसी की भी परवाह किये बिना सम्बन्ध विच्छेद या प्रत्याख्यान। सन्दीपन के विषय में भी मैंने वही किया था। किसी ने मुझसे कहा था, थोड़ा और समय लो। और भी दो-तीन वर्ष सोच कर देखो। मैं किसी को भी नहीं समझा पायी कि इस विवाह का प्रयोग-परीक्षण यहीं पर शेष है। घण्टा बज चुका है। छोटू दादा और भालदीदी मुझे समझाने आए थे, तू जानती तो है माँ-बाबा किस तरह रूढ़िवादी हैं। उन्हें बड़ा आघात पहुँचेगा।

माँ-बाबा की रूढ़िवादिता को जतन पूर्वक प्रश्रेय देना मेरे स्थिर जीवन से भी अधिक महत्वपूर्ण है, उस दिन मैंने यह

बात समझ ली थी। हाँ, माँ-बाबा के भाष्य में मेरे छोटे भाई और भालदीदी का भी वक्तव्य मिला हुआ है, यह मैं जानती थी। फिर भी मैंने उनकी परवाह नहीं की।

सिर्फ़ तापस ही एक ऐसा व्यक्ति था जिसके सामने कपट रहित होने में मुझे कोई बाधा नहीं होती थी। किसी छल छद्म की जरूरत ही नहीं पड़ती थी। क्यों, इसे मैं नहीं जानती थी। वह प्रायः कहता था, मुझमें बचपना बहुत है। अभी भी चारित्र्य की ऋजुता मुझमें निर्मित नहीं हुई है। सुनते ही उसे हँसी आती थी। आखिर लड़का था। सोलह वर्ष हो गये तब माध्यमिक परीक्षा पास की थी। आज दो वर्ष से नौकरी ही तो कर रही हूँ। नौकरी और विवाह दोनों एक ही समय।

माँ-बाबा गृह प्रवेश के दिन नहीं आए थे। रूपू अर्थात मेरे छोटे भाई की दूसरी सन्तान उसी समय हुई थी। हाँ उसके कारण मुझे कोई असुविधा अवश्य नहीं हुई थी। बड़ी भाभी अर्थात् टूसी ने पूजा आदि के सारे काम सम्हाल लिये थे। मैं पूजा-ऊजा कुछ विशेष नहीं कर पाती हूँ। दिन के अन्त में एक बार भगवान को अवश्य प्रणाम करती हूँ। बस वही मेरी पूजा है। यहाँ तक कि गृह प्रवेश के समय होने वाले इन आचार-अनुष्ठान करने की मेरी कोई इच्छा भी नहीं थी। माँ ने दबाव डाला था। इसके अलावा तापस को परिचित करा देने का वह एक उपलक्ष्य भी बन गया था।

मोहित नगर के इस फ्लेट को मैंने और तापस ने पसन्द किया था। ईस्टर्न बायपास से पूर्व की ओर रिक्शे से दस मिनट का रास्ता था। नये-नये सभी फ्लैट बने थे। उनकी कीमत इस समय भी हम लोगों की पहुँच के भीतर थी। इन्हीं दामों पर मूल कलकत्ता में हम लोगों को दस वर्ष पुराना फ़्लैट मिल सकता था। वह भी खूब सुन्दर और सुविधाजनक जगह थी, ऐसा नहीं था। फिर इसके ऊपर वहाँ पर बहुत-कुछ फिर से बनाकर ठीक-ठाक करने के लिए था। पुराना फ्लैट खरीदने की हमारी इच्छा भी नहीं हो रही थी। कौन जाने दीवालों में कितनी लम्बी-लम्बी आहभरी साँसें मिली हों, मृत प्रेम से निकलने वाले कितने बैक्टीरिया। तापस ने मेरी अनिच्छा समझ ली थी। एकदिन उसी ने इस तरफ के फ्लैटों में किसी को खोज लेने की बात कही थी। बड़े दादा और भालदीदी ने लेक टाउन में एक साथ फ्लैट खरीद लिया था। भाल दीदी के पति उत्पलदा के साथ बड़दा खूब व्यवसाय भी कर रहे थे। व्यवसाय के बारे में सुनते ही उन लोगों की भौंहें ज़रूर टेढ़ी हो सकती हैं। वे उसे कन्सलटेंसी कहते हैं। व्यवसाय को इतना अछूत मानने के लिए क्या है कौन जाने। बड़दा सिविल इंजीनियर हैं और उत्पलदा एक स्थपति भवन निर्माता। दोनों ही एक निजी कम्पनी में नौकरी करते हैं। ऐसी सब कम्पनियाँ भी तो एक तरह से व्यवसाय ही करती हैं।

उत्पलदा ने कहा था बागुइआटि केष्टपुर तरफ वे कोई फ़्लैट देख लेंगे। वह उनके नज़दीक भी हो सकता है। मैं उसे टाल गयी थी। फिर केष्टपुर से रोज़ विजयगढ़ पढ़ाने आने में जो थकान और परेशानी होगी उसे मैं सहन नहीं कर पाऊँगी। वहाँ फ्लैट न लेने का यह एक महत्वपूर्ण कारण था। किन्तु वैसे भी मैं उन लोगों से थोड़ा दूर ही रहना चाहती थी। क्योंकि उन लोगों का जीवन सुर-ताल में चल रहा था और मेरे जीवन का छन्द थोड़ा भंग हो गया था। इस वजह से मेरे जीवन को नियंत्रित करने का उन्हें नैतिक अधिकार प्राप्त हो गया है, मैं वैसा नहीं चाहती हूँ। फिर मैं उनकी या ईश्वर की कोई अनुकम्पा भी नहीं चाहती हूँ। वे सुझाव देंगे, यहाँ फ्लैट खरीदो, उस स्कीम में रुपया जमा करो, उसी कम्पनी का सामान खरीदो और इस अखबार को वर चाहिए इस तरह का विज्ञापन दो। मैं ये सब काम भी नहीं करना चाहती हूँ। तेरे फ्लैट पर कौन आया था, किसके साथ फ़ोन पर बात कर रही थी, इतनी बात करना अच्छा नहीं है, ये सब झंझटें भी मैं नही चाहती। मैं शान्ति चाहती हूँ।

मेरा उद्देश्य सिद्ध हो गया है। मोहित नगर के पूर्व और उत्तर में जल भराऊ ज़मीन है। उसी के किनारे से सटी हुई एक लम्बी बस्ती है, गंदी पास-पास सटी हुई, इसलिये यहाँ पर असामाजिक क्रियाकलापों का जारी रहना भी स्वभाविक है किन्तु वे सब अपनी सीमा को छोड़कर इस तरफ नहीं आते हैं। ऐसा सुना है। भद्रजनों की रिहाईश अभी-अभी यहाँ बनी है। उसका मुख्य कारण है इस तरफ कई अच्छे हस्पताल बन गये हैं। कुछ दिनों बाद ही इधर घर खरीदना हमारे जैसे व्यक्तियों के लिए असाध्य हो जाएगा।

उत्पलदा ने सुनकर कहा था, दलदली ज़मीन के पास घर? दीवालों में नोंना लगेगा। लकड़ी में घुन लग जाएगा। मच्छर तुम्हें पागल कर देंगे। जैसे लेक टाउन में मच्छर न हों, पानी न भरता हो। नगरीय सभ्यता का वह आदर्श हो। गृह प्रवेश के एक मास पहले से ही मैंने और तापस ने धीरे-धीरे अपनी घर-गृहस्थी जमा ली थी। रंग हो गया, बेंत की कुर्सियाँ आ गयीं। लिखने-पढ़ने के लिए एक मेज़ आ गयी। खाट आ गयी। स्टील की अलमारी आ गयी। घर सजाने के लिए हम लोग अधिक पैसा खर्च नहीं कर सके। फ्लैट हम लोगों ने बैंक से होम लोन लेकर खरीदा था। भाई-बहनों का रुपया लग सकता है या नहीं। यह मैं जानना नहीं चाहती थी। अगर हाथ फैलाती तो वे मुझे विमुख न करते यह मैं जानती थी किन्तु क्या ज़रूरत थी।

आठ सौ स्क्वायर फुट का छोटा-सा फ्लैट था। बड़ा बेडरूम दक्षिण दिशा में था। उसके साथ एक छज्जा वाला बरामदा भी लगा हुआ था। दूसरा कमरा पूरब की तरफ था। तापस ने बड़े कमरे को ही सोने का कमरा बनाने को कहा था। छोटे कमरे को मैंने उसके लिए रख लिया था। चार बाई छह फीट की एक खाट उसमें बिछा दी थी। एक छोटी-सी स्टील की अलमारी। बाकी जगह उसकी चित्रकला के लिए। वह बहुत खुश था। जिस दिन पहली भोर वहाँ हुई। पानी की निचली सतह से लाल-लाल चमकता हुआ सूर्य उदित हो रहा था। देखा तापस खिड़की के पास खड़ा हुआ है। उसके नज़दीक जाते ही उसने मुझे बाहों में भर लिया। कहने लगा, उस सूर्य को देखो वेदवती। इसी को कहते हैं लाल सलाम।

वह कुछ ऐसा ही है शान्त, निरलंकार, बिना किसी साज-सज्जा के, स्वल्पभाषी किन्तु रसबोध-सम्पन्न। अधिक बात करने का मेरा भी स्वभाव नहीं है। इस फ्लैट में आने के पहले हम लोग काफी देर रास्ते में घूमते रहे हैं, नन्दन के चबूतरे पर बैठे हैं नाटक देखते रहे हैं, चित्रों की प्रर्दशनी देखने भी जाते रहे किन्तु बातें सिर्फ़ दो-चार ही की हैं। तो भी उसके साथ मेरे चरित्र का न मिलना ही अधिक है। मैं जल्दी नाराज़ हो जाती हूँ। उसका राग सिर्फ कूची पर है। मेरा राग अभिव्यक्ति का मार्ग न पाकर वहीं पर घुमड़ता रह पीड़ित करता रहता है। तापस ही वह पहला व्यक्ति है, जिसे मैं क्रोध होने पर काट लेती थी, नोंच लेती थी, फिर उसी के सीने से लगकर रोने लगती थी। इन सब चीज़ों को वह चुपचाप सहन कर लेता था। वह मेरे लिए अचरज-भरा उपशमन कारी प्रिय बिन्दु है।

वेदवती नाम से तापस मुझ कभी-कभी बुलाता था। अन्य समय पास-पड़ोस और घर में प्रचलित नाम से ही बुलाता था। हमारी साहित्य-प्रेमी माँ ने अपनी चारों सन्तानों के नाम काफी सोच-समझकर रखे थे। ऐसे नाम जो सहज में ही सुनने में नहीं आते हैं। मैं वेदवती और बुतूई हूँ, भालदीदी जातवेदा और जातुई। बड़े दादा वेदद्युति और बाबुई और छोटे दादा वेद श्लोक और तातुई। इतने जटिल नाम रखकर माँ को क्या आनन्द आया था, इसे कौन जानता है। स्कूल में मित्रों द्वारा उच्चारण करने पर विकृत हो जाएँ यह तो तय ही था। किन्तु कोई अगर कभी यह कह उठता कि कितने सुन्दर नाम हैं। तो इसके मानी क्या थे? किसने रखे हैं ऐसे नाम? माँ का मुँह गर्व के कारण चमकने लगता। साहित्य और नाट्य-प्रेमी होने की वजह से चाँदनिसरा से लेकर बेलाकोवा तक माँ की बहुत अधिक ख्याति थी।

चाँदनिसरा में बाबा सहकारी मैनेजर थे। मेरे बचपन में चाय बागानों के मैनेजरों का बड़ा महत्व था। असम में इस कम्पनी के और भी चाय बागान थे। बाबा को बीच-बीच में वहाँ भी जाना पड़ता था। तब माँ को देखती थी कि वे अधिकतर पुस्तकों में डूबी हुई हैं। सम्भवतः माँ बाबा का विरह सह नहीं पाती थीं। बाबा भी जब कभी बाहर जाते वहाँ से माँ के लिए अनेक वस्तुएँ लाते थे। बाबा के असम आने-जाने के सूत्र से ही माँ ने बहुत दिनों तक मेखला पहनी थी।

चाँदनिसरा जगह मुझे बहुत अच्छी लगती थी। इतनी घनी हरियाली, चाय बागान के छोर पर सूर्य डूबता था, मैदान में लड़के-लड़कियाँ फुटवाल खेलते थे, वृक्ष पर मोर बैठे रहते थे। कभी-कभी एकाध साँप दिख जाता था। शीत काल में सघन कुहासे में सहसा चराचर भी लुप्त हो जाता था किन्तु चाँदनिसरा से बेलाकोवा तक रोज़ आने-जाने के कारण बड़दा की पढ़ाई को काफी क्षति पहुँची थी। तब बाबा ने बेलाकोवा में ज़मीन खरीद कर एक घर बना लिया। अब बड़दा के बदले बाबा स्वयं रोज़ चाँदनिसरा आना-जाना किया करेंगे। उनके पास कम्पनी की गाड़ी है। बेलाकोवा उस समय एक सघन बस्ती होने लगी थी ऐसा नहीं है। उत्तरी बंग के सभी शहरों में ही हरियाली की माया विद्यमान है किन्तु चाँदनिसरा की गहन वन प्रकृति के साथ वेलाकोवा की तुलना नहीं की जा सकती है। मेरा मन बहुत खराब हो जाता था। माँ को अवश्य सुविधा हो गयी थी। मध्यम श्रेणी का एक पूरा पुस्तकालय ही उन्हें पास में मिल गया था।

साहित्य के प्रति आग्रह हम सभी लोगों में था। शायद यह बात माँ के प्रभाव के कारण ही थी। तो भी मेरे अलावा और किसी ने भी अपने जीवन में साहित्य का वैसा अनुशीलन जारी नहीं रखा। नाटक की ओर रुझान मेरा ही था। अभिनय करने की इच्छा से नहीं, नाटक देखना मुझे बहुत अच्छा लगता था। मेरे जीवन में यह आग्रह आज भी बना हुआ है। नाटक देखने जाने के कारण ही तापस से मेरा परिचय हुआ था।

तब मैं सन्दीपन को छोड़ चुकी थी। गोलपार्क में कामकाजी महिलाओं के लिए बने छात्रावास में रहती थी। वहाँ रहना अच्छा नहीं लग रहा था। बीच-बीच में भालदी अथवा बड़दा के पास जाती रहती थी और उनके पास रह भी आती थी। वहाँ भी अच्छा नहीं लगता था। वे लोग अपने काम में बहुत व्यस्त रहते थे। यही अपने बच्चों को लेकर स्कूल जा रहे हैं, आफिस जाने की हड़बड़ी, यही भालदी और टूसी की शापिंग। उड़ीदीदी नाच सीख रही थी। उसकी कक्षा रहती थी। फिर बच्चों के शिक्षकभी आते। फिर उत्पलदा के वापस आते ही कन्सलटेंसी आफिस का खुल जाना। उसके बारे में भी उनकी कई योजनाएँ थी। खूब जमा हुआ परिवार था। फिर गपशप का मतलब था उन्हीं सब बातों की चर्चा। नहीं तो मैं और सन्दीपन।

उनका कोई दोष नहीं था। कोलाहल भरा, वैचित्र्यपूर्ण, दुरन्त गति वाला जीवन ही उन लोगों को पसन्द था। जहाँ साहित्यिक पत्रिका तो आएगी किन्तु उसे खोला नहीं जाएगा, चार तरह के समाचार पत्र आएँगे किन्तु उन्हें पढ़कर देखा ही नहीं जाएगा, नोवेल अथवा बुकर पुरस्कार पाये साहित्यकारों की पुस्तकें जमा होती रहेंगी किन्तु उन्हें पढ़ने का उनके पास समय ही नहीं रहेगा। केवल मेरी इच्छा के साथ इन सब कार्यकलापों का कोई मेल नहीं था। मैं विजयगढ़ महाविद्यालय में अंग्रेज़ी पढ़ाती हूँ। नाटक देखती हूँ। रवीन्द्र संगीत सुनती हूँ। पुस्तकें खरीदती हूँ और पढ़ती भी हूँ। मेरे लिए कोई चीज़ छूटने वाली नहीं है।

भालदी और टूसी अक्षरशः बड़दा की कम्पनी की प्रमुख थीं। मैं कहीं भी कभी भी किसी संस्था की प्रमुख नहीं होना चाहूँगी। बढ़ते उपार्जन के प्रयास की अपेक्षा, नृत्यशिल्पी अथवा तैराक होने की इच्छा की अपेक्षा एक अवसर की तलाश मेरे लिए अधिक महत्वपूर्ण है। पूरब दिशा की खिड़की के पास बैठकर वरन् वही अवसर पाकर गाना सुनूँगी।

होगला (जल में उत्पन्न होने वाला एक पौधा जिससे चटाई तथा छप्पर बनाया जाता हैं) के पत्तों पर तितलियों का उड़ना देखूँगी। और देखूँगी कि छोटी नाव लेकर मछलियों की तलाश में मछुआरे जाल फैला रहे हैं, गोलपार्क के छात्रावास में मेरी सबसे बड़ी तीन समस्याएँ थीं। कमरा एवं कमरे के साथ स्नान घर को दूसरों के साथ बाँटकर उपयोग करना, पुस्तकें रखने की जगह का न होना और इच्छा होते हुए भी रात में जागकर न पढ़ पाना। प्रायः तीन वर्ष तक स्वाभाविक जीवन धर्म से मैं एक तरह से निर्वासित थी। सिर्फ़ एक मात्र सुविधा मिल गयी थी नाटक देखने की। पास में ही मधुसूदन मंच था। रवीन्द्र सदन भी ऐसा कोई दूर नहीं था। सन्दीपन के साथ रहते समय मेरा नाटक देखना हो ही नहीं पाता था।

उस दिन अकादमी ऑफ़ फ़ाइन आर्ट्स् में नाटक देखने गयी थी। थोड़ा पहले ही पहुँच गयी थी। बरसात खत्म हो चुकी थी और शरत् ऋतु आ गयी थी, सहसा झड़ीमार कर वर्षा आ गयी। भीगना नहीं चाहती थी इसलिये चित्रकला की प्रदर्शनी में घुस गयी। चित्रकला की गहरी रसिक अथवा समझदार इनमें से मैं कुछ भी नहीं हूँ। साहित्य, नाटक अथवा गाने की तरह चित्रकारी मेरे जीवन का कोई अंग नहीं थी उन दिनों। तो भी उस वर्षा से बचने के लिए प्रदर्शनी में जा पहुँची थी, उसी समय दुनिया की जितनी भी चित्रकला थी, मुझ पर अधिकार करने का षड़यन्त्र करती हुई मेरे में समा गयी।

कुल मिलाकर पाँच-छह दर्शक ही वहाँ थे। विशाल कक्ष की दीवालों पर बड़े सुन्दर ढंग से चित्र टाँगे गये थे। एक कोने में एक टेबिल को घेर कर कई व्यक्ति बैठे हुए थे। उनकी ओर मैंने अच्छी तरह ताक कर भी नहीं देखा था। एक के बाद एक छवि देखती जा रही थी। असार से लगने वाले चित्रों की अर्थवत्ता समझने का प्रयास कर रही थी। इनका माध्यम कौन, घराना कौन है। इन सब के बारे में मैं कुछ भी नहीं जानती थी। छवि देखने के मामले में पूरी तरह से असंस्कारित मेरी आँखें फिर भी एक छोटे-से चित्र के पास आकर ठहर गयीं। गाढ़े हरे रंग के ऊपर नीले रंग का मिश्रण था। एक पतला, धारदार चेहरा। तीक्ष्ण नुकीली नाक, उन्नत ललाट किन्तु अप्रत्याशित रूप से दो करुण आँखें। गले के पास तीर का फलक। गले को बेधता हुआ नहीं। सिर्फ़ लगे हुए की तरह। छवि का कोई नाम नहीं था। विचार आया अगर कभी किसी देवता के दर्शन हों तो वे ऐसे ही होंगे। छवि के नीचे चित्रकार के हस्ताक्षर थे, तापस दास। इस चित्र में उसने किसका रूपांकन किया है। जानने की उत्सुकता पैदा हो गयी। कोने में स्थित टेबिल की ओर बढ़ गयी। बोली, तापस दास ने वह जो छवि आँकी है वे क्या आज आएँगे?

यह सुनकर एक व्यक्ति उठकर खड़ा हो गया- मैं ही तापस दास हूँ।

दुबला, काला मध्यम ऊँचाई का एक व्यक्ति। उसके चेहरे में कोई वैशिष्ट्य नहीं था। पहनावे में कोई सलीका नहीं था। नाटक की दृष्टि से ऐसा चेहरा बड़े काम का होता है। गुण्डा, रिक्शेवाला, शिक्षक, छात्र, दलाल, मार्क्सवादी किसी की भूमिका में यह फब सकता है। उसका चित्र अच्छा लगा है, यह बात मैंने उसे जता दी। उसने मुझे एक कार्ड दिया, कारण नाटक शुरू होने वाला था इस बजह से मैं उससे विदा चाह रही थी। उसने कहा, अगर कभी इच्छा हो तो मेरे स्टूडियो में आइए। वहाँ और भी तस्वीरें हैं।

उस चित्र में तापस दास ने कृष्ण का रूपांकन किया था। बाँसुरी-रहित राजनीतिविद कृष्ण।

इसके कई दिन बाद भी कॉलेज स्ट्रीट गयी थी, कुछ पुस्तकें खरीदूँगी इसलिये। पत्रिकाओं के पूजा अंक खरीदने की भी इच्छा थी। उन दिनों वहाँ पर फुटपाथ उखाड़कर खूँटे गाड़कर एक बेड़ा बनाना शुरू हो गया था। कॉलेज स्क्वायर का

विराट पण्डाल बनकर प्रायः पूरा हो गया था। थोड़ी देर खड़े रहकर उसे देखती रही। घूम-घूम कर काफ़ी पुस्तकें खरीद डालीं। मेरे हाथ दर्द करने लगे थे। एक भी टैक्सी नहीं मिल रही थी। कॉलेज स्क्वायर के बीच से होकर मेडिकल कॉलेज की तरफ चलती जा रही थी, एकाएक तापस दास की बात याद आ गयी। कार्ड पर लिखा हुआ था पटुआटोला लेन। क्या जाऊँ? थोड़ी दुविधा, थोड़े संकोच से कार्ड निकालकर फ़ोन किया।

तापस दास ने कहा- पूछपाछ कर आने में आपको परेशानी होगी। आप महाबोधि सोसाइटी के पास खड़ी रहें, मैं आ रहा हूँ।

छोटे-से एक कमरे में तापस दास का स्टूडियो था। मेरे हाथ से उसने पुस्तकों का भारी बोझा ले लिया था। इसके पहले मैं किसी चित्रकार के स्टूडियो में नहीं गयी थी। एक पुराने सकरे घर का एक हिस्सा। छात्रावास के जिस कमरे में मैं और भी दो लोगों के साथ रहती हूँ उसके चौथे भाग का एक हिस्सा। मात्र एक छोटा-सा जंगला। दरवाज़ा देखकर ऐसा लगता है जैसे पहले यह एक जंगला ही था। अँधेरे कमरे में एक धूमिल-सी ट्यूब लाइट उजाला फैला रही थी। ज़रूरत के मुताबिक वह अपर्याप्त थी। कमरे की दीवारों पर काला अस्तर था। किसी समय इस पर हल्दिया रंग रहा होगा। एक मेज़, तीन कुर्सियाँ और तस्वीरें। छोटी-बड़ी और एकदम बड़ी। दीवाल से टिकाकर फ़र्श पर, दीवाल में खोदकर बनाये गये ताक पर तस्वीरें रखी हुई थीं। कमरे के दरवाज़े और खिड़की से बाहरी दुनिया का जो एक अंश दिखायी देता था। वह थी एक घर की भदरंग दीवाल और चाय की एक छोटी दुकान। इसी जगह ऐसे ही परिवेश में आँकी जा रही है मनोरम प्रकृति, कृष्ण अथवा सारहीन-सी लगने वाली किसी अलीक छवि की रेखाएँ। यह जगत् एक अनन्त-अपार विस्मय का जगत है।

उस दिन तापस बहुत व्यस्त था। बहुत जल्दी ही एक छोटी-सी कला वीथी में उसकी एकल प्रदर्शिनी होने वाली थी। रात दिन जागकर उसे काम करना पड़ रहा था।

फिर मैं अधिक देर उसके पास नहीं बैठी। अँधेरी, सकरी जगह में, प्राकृतिक सौन्दर्य से पूरी तरह वंचित, रोशनी और हवा से रहित, पूरी तरह अंधकूप जैसे कमरे में उस सृजनशीलता ने मुझे मुग्ध कर डाला था। तापस की एकल प्रदर्शनी के उद्घाटन में चली गयी। तापस थोड़ा हँस पड़ा। ज़रा भी भीड़ नहीं थी। दो-चार मित्रगण। एक वयस्क महिला कुर्सी पर बैठी हुई थी। मामूली साड़ी पहने हुए थी। थोड़ी कुबड़ी कच्चे-पक्के केश। फ़ीका, विषाद से घिरा चेहरा। कमरे की मध्यम ऊँचाई के बराबर पीतल के दीवट में जलने की प्रतीक्षा में पंचमुखी प्रदीप। नीचे फूलों की पंखुड़ियों की अल्पना। दीवालें तापस की तस्वीरों से सजी हुई थीं। फ़र्श पर कई मूर्तियाँ।

तापस कहने लगा- आपको जल्दी है?

मुझे कैसी जल्दी होगी! वही तो हॉस्टल में लौट जाना है। पुस्तकें पढ़ूँगी। आज किसी नाटक की मैंने झंझट ही नहीं रखी जो मुझे पीछे खींचे।

उसने बताया- प्रेस के लोगों के आते ही प्रदर्शनी शुरू हो जाएगी। आइए आपका परिचय करा दें।

दूसरों के सामने वह मुझे बन्धु ही कहता था। और भला वह कह ही क्या सकता था। शुरू में अन्य लोगों से मेरा परिचय करा कर वह उस महिला के पास आया। बोला, केया दी हैं। यही आज दीप प्रज्वलित करेंगी। उद्घाटन का समय जब हो गया तो देखा केयादी सीधी खड़ी भी नहीं हो पा रही थीं। हाथ काँप रहे थे। क्या उन्हें कोई बीमारी है?वे

आखिर हैं कौन? आयोजन सम्पन्न होने के बाद प्रेस ने दो-चार बातें पूछने के बाद बिदा ली, मिष्ठान्न से सूनी प्लेटों के डस्टबिन में फेंके जाने के बाद केयादी को तापस ने एक सुनहले रंग से मढ़ा हुआ एक स्मृति चिन्ह भेंट में दिया। केयादी रो रही थीं। तापस उन्हें पकड़े बाहर ले गया। टैक्सी में बैठाल दिया। उन्हीं का एक बन्धु उन्हें ले गया। मैं भी उन्हीं लोगों के साथ बाहर तक चली आयी थी। तापस ने मुझसे पूछ लिया, आपने तस्वीरें देख लीं?

बोली हाँ, थोड़ी-थोड़ी। अच्छी तरह से अब देखूँगी। उसके साथ मैं भीतर चली आयी। प्रतिमाएँ देखकर मैं उससे बोली, ये प्रतिमाएँ किसकी बनायी हुई हैं?

मेरी ही बनायी हुई हैं। उसने बताया, बीच-बीच में मैं इन्हें बनाता रहता हूँ। इन्हें बनाना अच्छा लगता है। किन्तु इन पर बड़ा खर्च आता है। हालाँकि चित्रांकन करने में भी प्रचुर खर्च आता है।

छवियों के नीचे उनके दाम लिखे हुए थे। सबसे कम दाम पाँच सौ रुपये थे। और दस हज़ार सबसे अधिक थे। उससे जिज्ञासा प्रकट की, क्या ये सब बिक जाएँगी।

उसने बताया, नहीं, अगर भाग्य अच्छे रहे तो चार-पाँच बिक जाएँगी। फिर भी एकल प्रदर्शनी में यह सुविधा हो जाती है कि जो कुछ तस्वीरें बिकेंगी वे मेरी ही होंगी। अन्ततः गैलरी का किराया तो निकल ही आएगा। और साथ फ्रेमिंग का खर्चा भी। ये लोग मेरी तस्वीरों की फ्रेमिंग करा देते हैं।

तस्वीरें देखते-देखते ये सब बातें होती जा रही थीं। इतना हिसाब-किताब मुझे अच्छा नहीं लग रहा था। यह तो मानो निमंत्रित कर खाने बैठते ही बाज़ार से आये सामान की सूची पेश करना है। बात बदलने के लिए मैंने केयादी का प्रसंग छेड़ दिया। उनके प्रति थोड़ा कौतूहल भी था।

तापस ने बताया- महाविद्यालय में वे मेरी न्यूड मॉडल थीं।

वे? मेरी वाणी रुद्ध हो गयी। वह कुबड़ी, विवर्ण, बूढ़ी होते जाने वाली महिला?

तापस मेरे विस्मय का अन्दाज़ा लगाते हुए कहने लगा, दसेक बरस पहले वे ऐसी नहीं थीं। आजकल तो वे बीमार रहती हैं।

मेरे मन में मॉडल का अर्थ था टी.व्ही. में देखे हुए मार्जर गति से धीर पदविन्यास करते हुए एकदम सुडौल, निर्मेद देहयष्टि वाली सुन्दरियाँ और रूपवान युवक। विश्वकर्मा ने स्वयं जिन्हें गढ़कर बनाने की ज़िम्मेदारी ली हो। दस बरस पहले स्वस्थ शरीर में भी केयादी ऐसी ही नहीं थीं... इसका अन्दाज़ लगाया जा सकता है। नग्न मॉडल को लेकर कहानी-उपन्यास भी मैंने बहुत पढ़े हैं। यह धारणा मुझे कहीं भी नहीं मिली। वे सब मॉडल होती हैं अत्यन्त सप्रतिभ अथवा रोमांटिक, सुन्दर तो होती ही हैं। पहली बार उनकी नग्नता देखकर तरुण छात्रों का दिमाग सिहर उठता है। अब की केयादी के इस परिचय से मुझे दुख होना शुरू हो गया। जिसे दीदी कहकर पुकारा जा रहा है उसे नग्न देखकर शरीर की रेखाएँ, पेशियाँ, कलात्मक बाँकपन और अनेक प्रकार की रहस्यमयता को आत्मसात करने के बाद तापस को कैसा लगा था? मेरा दिमाग भन्ना उठा। केयादी और तापस का स्टूडियो दोनो मानो अभिन्न सत्ताएँ हैं। नाटक की तरहा मंच के पीछे, आँखों की आड़ में रहने वाले रस्सा-रस्सियाँ, रंग, नकली दरवाज़े, सीढ़ियाँ, अनेक लोगों द्वारा पहनी गयी, पसीने की गन्ध से युक्त पोशाकों के ट्रंक, संवाद लिखे हुए फटे-फटे खातों की तरह।

परित्यक्त, नग्न मॉडल से प्रदर्शनी का उद्घाटन कराना क्या उचित है? इसे मैं आज भी नहीं जान सकी हूँ किन्तु इसके बाद मैं तापस के स्टूडियो में कई बार गयी हूँ। सैकड़ों बार। काफ़ी पैदल चली हूँ। अपने जीवन की पूरी कहानी, अपना पूरा अतीत उसे बता चुकी हूँ। मैं भी उसके मेस का ठिकाना जान गयी हूँ। जानती हूँ, ज़रा देर में ही उसे सर्दी लग जाती है। इन सब पुराने सीलन भरे घरों में प्रायः पूरे साल सर्दी से नाक भरी रहती है। पता है, एक विराट दीवाल भर में लगने वाली छवि की माँग वह पूरी नहीं कर पा रहा है, क्योंकि उसे आँक सकने लायक उसके पास जगह नहीं हैं। मैं जानती हूँ उसे चित्र आँकने को लेकर, जिस बात को लेकर सबसे अधिक सोचना पड़ता है, वह चित्रांकन का प्रतिपाद्य नहीं है, माध्यम भी नहीं है, रंग का वैशिष्ट्य भी नहीं है, उसे सोचना पड़ता है फ्रेमिंग कराने के खर्चे और गैलरी के किराये के सम्बन्ध में, कैनवास और रंग के दाम, बिना बिकी छवियों की सुरक्षा के सम्बन्ध में। अधिक वर्षा होने पर पटुआटोला लेन के इस कमरे में बाहर जमा पानी अन्दर घुस आता है, इस वजह से उसके कितने ही चित्र नष्ट हो गये हैं। मेस में पाँच बाई अढ़ाई की खाट भर की जगह है। फिर भी इस-उस कोने में छवियों के ढ़ेर को अन्य लोग रख लेने देते हैं। चित्रों का ठिकाना अनिश्चित होने के कारण तापस खाने-पहनने का खर्चा जुटाने के लिए पुस्तकों के कवर चित्रांकित करता रहता है। उसके उस चित्रांकन को मैंने बैठ-बैठ देखा है। उन्हें रखते और शेष करते। अगर कोई पाठ्य-पुस्तक हुई तो फूल, पत्ती, तितली अथवा हँसते हुए बालक-बालिकाओं के चित्र बना देता है। अगर कहानी या उपन्यास हुआ तो रंग की एक हल्की छुअन से विषाद-ग्रस्त एक रमणी का चेहरा। पहली बार देखने में ऐसे चित्र खराब लगते थे। इतनी अवहेलना से किये गये काम हैं। इतने घिसे-पिटे। उत्कृष्ट भी नहीं। सोचकर हैरानी होती है कि ये प्रच्छद पर बने चित्र और दीवाल से टिके हुए कलात्मक चित्र क्या एक ही स्रष्टा की कृतियाँ हैं। यह बात उसे जता भी दी थी। आँकते-आँकते गम्भीर चेहरे से उसने कहा था, वह ऐसा ही चाहता है।

क्यों चाहता है?

कारण ये सब बिक जाते हैं। अच्छा कव्हर, अच्छी छपाई, अच्छी पुस्तक इन सबकी उत्कृष्टता के बारे में दिमाग कितने लोग लगाते हैं?

मैं अपना तर्क प्रस्तुत करना चाहती थी, इसी वजह से क्या तुम्हारा अपने काम के प्रति जतन नहीं रहना चाहिए?

है तो। इस काम में इतने ही जतन की ज़रूरत है। देखो वेदवती, इन कव्हर डिज़ाइनों को अगर में यथोचित मनोयोग, परिश्रम और भावना के द्वारा आकूँ तो इनको बनाने में काफ़ी समय लगेगा, उतने दाम तो मुझे मिलेंगे नहीं, खूब कौशलपूर्ण बने चित्र प्रकाशक लोग चाहते भी नहीं हैं। निम्न स्तर के काम के द्वारा यदि लाभ कमाया जा सकता हो, अगर बाज़ार में बिक्री चालू रहे तो अलग से कोई क्यों चिन्ता करेगा? और कतिपय लोग, जो इन सब चीज़ों के बारे में इतनी गम्भीरता से सोचते हैं, उनके पास मैं पहुँच ही नहीं पाता हूँ।

मुझे तापस के लिए असीमित कष्ट होने लगा। वह जब मुझे बुतूई के नाम से पुकारने लगा और मैं जब उसके मेस के बिछौने के लिए खुद पसन्द कर एक चादर खरीद कर ले गयी तभी हम लोगों का एक साथ पुरी जाना हो सका। समुद्र हम दोनों को ही अच्छा लगता था। इसके अलावा कम खर्चे में पुरी घूमना मेरे लिए एक आदर्श था। जब तक बाबा की देख-रेख में थी रुपये-पैसे की चिन्ता नहीं करनी पड़ी। सन्दीपन की आमदनी इतनी अधिक थी कि मेरे लिए रुपये की इफ़रात थी। किन्तु अब मुझे सभी दृष्टियों से सोचना पड़ रहा था। अब मैं सचमुच में सांसारिक विषयों के बारे में सोचने वाली हो गयी थी।

प्रथम बार पुरी जाना हम लोगों के लिए था परम मिलन और महामुक्ति। हम लोग वैसे ही मिले जैसे एक व्याकुल नदी और दोनों हाथ बढ़ाए अपार समुद्र मिलता है।

सांध्य समय बालू के महल बनाते-बनाते मैं बोली, तापस तुम्हारी छवियाँ जब काफ़ी दामों में बिकने लगेंगी, तब हमारे पास काफ़ी रुपये हो जाएँगे, तब हम लोग एक सुन्दर, दुमंज़िला घर बनावाएँगे। ऊपर होगा हम लोगो के सोने का कमरा और तुम्हारे लिए एक विराट स्टूडियो। नीचे घर-गृहस्थी की और चीज़ें रहेंगी।

यह सुनकर वह हँसने लगा। जब सूर्य पूरी तरह डूब गया, पश्चिम में प्रकाश की रेखा तक नहीं रही, असीम कालिमा के बीच सफ़ेद रेखाओं से अंकित सिर्फ़ लहरें रह गयी थीं। तापस ने मेरा हाथ मज़बूती से पकड़ कर कहा, वेदवती अगर तुमसे मेरी भेंट न होती, मैं इतने आनन्द का अनुभव किये बिना ही मर जाता।

मैंने पूरे रोमांस के साथ उस पर नमकीन जल उलीच कर कहा- सिर्फ़ वही क्यों?और किसी का साथ मिल जाता। उस दिन यदि नाटक देखने न जाती और वर्षा न होती, अगर गैलरी में न घुस पड़ती तो हमारी भेंट भी नहीं होती।

तापस कहने लगा , हुई तो। इसके पहले भी तो अकादमी में मैंने अपने चित्र दिये थे, उस वक्त भी नाटक हुआ था, वर्षा भी हुई थी, बुतूई, तुम भी तो आयी थीं, यही सत्य है और कुछ क्यों सोचूँ? इतना आनन्द मैंने सचमुच कभी पाया ही नहीं है। यह देखो, यह जो समुद्र है, उसे कितने लोग देखते हैं, देखकर आनन्द पाते हैं। यही पूर्णता है, जो देख रहा है, उसके लिए वही आनन्द का मूल्य है। कितने लोग ऐसे हैं जो समुद्र देखे बिना ही मर जाते हैं।

जैसे मेरे बाबा, मैंने कहा।

उसने पूछा, समुद्र नही देखा?

नहीं। मैं यह जानती भी नहीं थी। किसी प्रसंग में माँ ने बताया था। मैं एक बार उन्हें ले जाऊँगी। बाबा समुद्र देखे बिना ही क्या मर जाएँगे? तापस? उनकी काफ़ी उम्र भी तो हो चुकी है।

कितनी हँसी, कितनी बातें, कितने सपने, कष्ट और संघर्ष में लिप्त हमारे दिन। इसके बाद दुमंज़िले के बदले मेरा छोटा-सा फ्लैट। उसको जब बताया, यह कमरा तुम्हारा है। उसने मुझे चपेट लिया। कई तस्वीरें उसने लाकर वहाँ रख दीं। अब वह दीवाल भर के नाप की छवि ज़रूर बनाएगा।

इन सब चीज़ों के बीच विवाह का प्रसंग हममें से किसी ने भी नहीं छेड़ा। फ्लैट में आ जाने के बाद उससे बोली, मेस छोड़कर यहीं आ जाओ।

उसने उत्तर दिया, मेस बना रहने दो। यह हमारा ही तो घर है, जब इच्छा होगी, आ जाया करूँगा और यहीं रहूँगा।

मैंने उस पर ज़ोर नहीं डाला। यही अच्छा रहा। एक साथ रहना ही सम्बन्ध की प्रगाढ़ता का निर्णय नहीं कर देता है, इसे मैं समझती थी। उसकी अपेक्षा अलग-अलग रहना ही अच्छा है। इच्छा का द्वार खुला रहना चाहिए। फिर मानसिक रूप से मैं अकेली थी ही नहीं। और वह, वह भी अकेला नहीं था। उस दिन खाना-पीना समाप्त होने के बाद वह चित्रांकन करने बैठा। मैं बैठ गयी अपनी पुस्तक लेकर। आसपास पूरी निशब्दता थी। कुत्ते भी भौंकना भूल गये थे। उस कमरे में वह अपने काम में डूबा हुआ था। इस कमरे में मैं। आनन्द के कारण आँसू आ गये मेरी आँखों में।

जीवन से इसकी अपेक्षा और भला मैं क्या चाह सकती हूँ। धीर कदमों से उसके पास गयी। बोली, आने की इच्छा हुई। तुम्हें असुविधा हो रही है।

वह मानो किसी दूर जगत् से लौट आया हो। हँसने लगा। हाथ की चीज़ें एक ओर रखकर कहने लगा, बुतूई किसी भी दिन किसी भी समय तुम मेरे लिए असुविधा जनक नहीं हो। ऐसी बात फिर कभी मत कहना।

गृह-प्रवेश के पहले दिन पुरोहित जी की सूची से मिलान कर बाज़ार से सारी चीज़ें खरीद डालीं। सब मिलाकर कुल दस लोग थे। उनके लिए अलग से बाज़ार किया। सामने की बस्ती से रसोई बनाने कमला आती थी। मेरा गैराज देखकर उसने सोचा था मैं गाड़ी खरीदूँगी। नारायण गाड़ी चलाना जानता है। बातचीत हो रही थी, तीनों जून के खाने-पीने के काम को वही सम्हाल लेगी। शुरू-शुरू में वह मुझे बऊदी-बऊदी कहकर पुकार रही थी। एक दिन मैंने कमला से कहा, बऊदी-बऊदी मुझे क्यों कहती हो?

मोटी-सोटी गृहस्थिन महिला मेरी तरफ देखकर फिक-फिक करती हुई हँस पड़ी। बिना कोई चीज़ छुपाए सीधे-सीधे बोली, लगता है आपने विवाह नहीं किया है?मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना वह कहने लगी, विवाह करना और न करना दोनों बराबर हैं। कितना कुछ मैंने देखा है। एक शंख ले आओ और लक्ष्मी का एक पट।

मैंने उससे कहा- पूजा-ऊजा मुझे आती नहीं है कमला। मैं शंख बजा भी नहीं पाती हूँ। उसने कहा, संध्या वेला मैं ही बजा दूँगी। बृहस्पतिवार का व्रत कर पांचाली पढ़ दूँगी। अगर तुम्हें कोई आपत्ति न हो तो। असल में एक हिन्दू गृहस्थ के घर अगर शंख-बंख न बजे तो वह श्मशान की तरह लगने लगता है। मुझे आपत्ति क्यों होगी। वही तो सब करेगी। मैनें उसे एक चाबी दे दी। चाबियाँ तीन थीं। बाकी दो में से एक मेरी और एक तापस की। कमला के लिए पीतल के एक लक्ष्मीनारायण और एक शंख भी सभी चीज़ों के साथ खरीद लिया गया। घर लौटते-लौटते रात के दस बज गये। तापस कहने लगा, मैं अब चलूँ। कल आ जाऊँगा। खूब जल्दी मैंने निर्णय ले लिया। तापस को छोड़कर क्या मैं और कुछ सोच भी सकती हूँ। नहीं सोच सकती तो फिर अब छुपाने के लिए कुछ नहीं है बल्कि उजागर करने के लिए यह सबसे बड़ा सुअवसर है।

मैंने कहा, नहीं तुम रुको।

इस पर वह बोला, सोच-समझकर कह रही हो? तुम्हें आपत्ति है नहीं किन्तु कल जो लोग आएँगे वे तो तुम्हारे आत्मीय जन होंगे?

अगर तुम्हारे भी आत्मीय स्वजन आते तो क्या तुम यहाँ नहीं रहते?

रहता। बुतूई तुम मेरा गुप्त सम्बन्ध नहीं हो अर्थात् तुमसे मेरा कोई छुपा हुआ सम्बन्ध थोड़े है।

मुझे गुस्सा आया। मैंने कहा, तुम्हें क्या लगता है, क्या तुम्हें छुपाकर रखने की मेरी इच्छा है?उसने मेरी बिनायी को तानते हुए कहा- पगली! चलें।

सोने जाने में काफ़ी रात हो गयी। सवेरे कमला और नारायण के चले आने के बाद मैं फिर सोने नहीं गयी। तापस अपने कमरे में सो रहा था। मैं भी कल नहीं सोयी थी। भोर का उजाला खिड़की से अन्दर आ रहा था। मेरी आँखों में चुभ रहा था। फिर अधिक देर सोना नहीं हो सका। किन्तु तापस अगर पास में हो तो उसके बिना सोने की इच्छा भी नहीं होती है।

भालदी और टूसी हलचल मचाती हुई अन्दर आ गयीं, अरे, बुतूई यह किस जल-जंगल में तूने फ़्लैट खरीद डाला? ढूँढ़ने से भी नहीं मिल रहा था। इससे बुरी जगह तो उत्पल तुम्हें देता नहीं।

मैं इन सब बातों के लिए पहले से तैयार थी। कोई बात मन में बिना लिये बोली, वे लोग कब आएँगें? बच्चे लोग नहीं आए?टूसी ने जबाब दिया, आजकल बच्चे लोग माँ का आँचल पकड़कर मौसी और बुआ के यहाँ छुटटी बिताने नहीं जाते हैं। वे लोग घर में ही बने रहते हैं। हमारा ड्राइवर मोहित है उनकी देखभाल के लिए घर में। हम लोग तो जतुई की गाड़ी से आये हैं। थोड़ा दिन चढ़ने पर उत्पल और बाबुई खुद गाड़ी चलाकर आ जाएँगें। भालदी घूम-फिर कर घर देख रही थीं। तापस के कमरे में झाँककर आँखे नचाती हुई कहने लगीं, कौन है रे? टूसी भी कौतूहल वश घर-बार देख आयी।

मैं जवाब देने को तैयार हो गयी। बोली, तापस।

तेरा मित्र?

हाँ, ऐसा कह सकती हो। भाल दी के चेहरे पर थोड़ी कालिमा-सी छा गयी।

पूछने लगीं, 'तेरी महरी क्या रात में यहीं रुकती है?'

मैंने जानबूझ कर उन्हें बताया, 'नहीं तो। वह यहाँ क्यों रुकेगी? क्या उसकी घर-गृहस्थी नहीं है? उसके चार बच्चे हैं, मैं तो अकेली ही रहती हूँ। जब उसकी इच्छा होती है, तापस आ जाता है। फिर वह यहीं रुक जाता है, फिर उन लोगों ने बात आगे नहीं बढ़ायी। मैनें तापस को जगाया। उसने बड़ी सहजता से ही बातचीत की। भालदीदी तथा अन्य लोगों ने बड़ी-बड़ी आँखे फाड़ते हुए देखा, तापस अलमारी खोल रहा है, रुपया निकाल रहा है, पूरोहित महाराज को ज़रूरत की सब चीज़ें समझाए दे रहा है। कमला और नारायण उसे ही सब आवश्यक बातें बता रहे हैं। सार बात, बड़े दादा और उत्पलदा की उनके परिवार में जो भूमिका है, मेरे यहाँ तापस को उस भूमिका से अलग नहीं किया जा रहा है। दोपहर बीतने के बाद तापस अपने स्टूडियो में चला गया। और उन लोगों ने मुझे घेर लिया। भालदी सबसे पहले बोलीं, विवाह कब कर रही है?

मैनें जवाब दिया, विवाह?उसके बारे में तो सोचा नहीं है?

भालदी अचरज से कहने लगीं, सोचा नहीं है?विवाह के बारे में सोचा नहीं है?बुतुई, तू कह क्या रही है?

उस पर उत्पलदा कहने लगे, तो क्या तुम लोग 'लिव टुगेदर' की तरह रहोगे?

मैनें जवाब दिया, उत्पलदा, आप क्या कहना चाह रहे है?तुम और भालदी, नोट यू लिविंग टुगेदर? (क्या आप दोनों सहवास नहीं कर रहे हैं?)

बड़े दादा ने अब तक कुछ भी नहीं कहा था। इस बार मुझसे नौ वर्ष बड़े होने के कारण अधिकार भरे स्वर में बोले, उत्पलदा क्या कह रहा है, तू जानती है। कुतर्क मत कर। तेरा मतलब क्या है?एक विवाह टूट जाने की वजह से तुम्हे स्वेच्छाचार करना चाहिए? एक बार फिर विवाह करना चाहती है, यह बताने पर क्या हम तेरे लिए दूसरे लड़के की तलाश न कर देते?

टूसी कहने लगी, लड़का तो उसने खुद ही देख लिया है। विवाह करने से ही सारा काम हो जाएगा।

इस पर बड़े दादा कहने लगे, पात्र? क्या तापस एक लायक पात्र है भी टूसी?सन्दीपन के बाद तापस?घर नहीं, द्वार नहीं, कोई शकल-सूरत भी नहीं, कोई कमाई नहीं। क्या करता है? अथवा पुस्तकों के कव्हर बनाता है। नाम तो देखो, तापस दास। नाम सुनते ही समझ में आ जाता है, इससे कुछ न हो सकेगा।

हाँ रे, एक शिल्पी होना क्या इतना सरल है? मैंने जबाब दिया, शिल्पी होने के कठिन काम को करने की वजह से ही तो तापस अब तक घर-द्वार हीन है बड़े दादा। उससे मुझे कोई असुविधा नहीं है। फिर सन्दीपन के साथ उसकी तुलना किस वजह से की जा सकती है।

इस पर उत्पलदा कहने लगे, देखो बुतूई यह तुम्हारे व्यक्तिगत जीवन की बात है, जो खुशी हो, वह तुम कर ही सकती हो। किन्तु हम लोगों की एक सामाजिक पहचान है, तुम्हारी भी है। तुम व्यक्तिगत रूप से 'लिव टुगेदर' का जीवन अपना कर महाविद्यालय में बच्चों को क्या शिक्षा दोगी?

मैंने जवाब दिया, 'विवाहित जीवन का अर्थ और सामाजिक महत्व तो मेरे पढ़ाने का विषय है नहीं' उत्पलदा। तापस से प्रेम करती हूँ इसलिये उसके साथ रहती हूँ। इससे जो अपराध होता है, एक बार, प्रेमहीन एक लड़के के साथ विवाह का बिल्ला लगाकर सहवास करना उससे भी बड़ा अपराध होता है।

इस पर भालदीदी बोलीं, इतनी बड़ी-बड़ी बातों की कोई ज़रूरत नहीं है। तू जिसके साथ खुशी हो रह किन्तु विवाह करने के बाद रह। इस्स, बच्चों को पता लगने पर क्या होगा, बता तो? छिः छिः छिः। मैं तो सोच ही नहीं पा रही हूँ। उसकी आँखों में आँसू आ गये। सहसा, उसने बचपन की तरह मुझे छाती से लगाकर कहा, बुतूई, तू इतनी अच्छी लड़की है, तू, ऐसा क्यों करना चाहती है? अच्छा, उत्पल जो कह रहा है वही कर। माँ-बाबा को हम लोग समझा लेंगे। तू विवाह कर उसके साथ रह।

मैंने उसका हाथ छोड़ दिया। फिर बोली, सन्दीपन की समस्या मैंने पहली बार तुम्हें ही बतायी थी भाल दीदी। तूने कहा था, हाँ वैसी एकाध समस्या होती ही है। उसकी इतनी अच्छी नौकरी है, थोड़ा समझौता कर चल। बड़दा, उत्पलदा, छोटे दादा इनमें से किसी ने भी उसे समझाना चाहा था? नहीं चाहा। क्यों नहीं? क्योंकि वह भी बुतूई के व्यक्तिगत जीवन की समस्या थी। बुतूई खुद ही उसे ठीक करे। आज यह मेरी व्यक्तिगत समस्या नहीं रही, सामाजिक हो गयी?

बड़दा इस पर कहने लगे, ना ऐसा नहीं है। तेरे वैवाहिक जीवन में क्या घटा या न घटा उसने हमारे जीवन पर कोई बुरा प्रभाव नहीं डाला किन्तु अगर तूने घृणित काम किया तो...

यह सब सुनकर मैं सहज बनी रही। मेरी खुली देह को जब तक वह जली सिगरेट से दागे नहीं तब तक सन्दीपन को कामोत्तेजना ही नहीं होती थी, यह बात तो मैं अपना शरीर खोलकर किसी को दिखा नहीं सकती थी। इसलिये क्योंकि उनकी दृष्टि में यह घृणित काम नहीं था? तुम लोग, यही तुम लोग, माँ-बाबा..... तुम सभी लोग चाहते थे कि मैं यह अत्याचार सहती रहूँ। वह तो सन्दीपन की एक बीमारी है, वह धीरे-धीरे ठीक हो जाएगी।

इस पर टूसी कहने लगी, इस तरह मत बोल बुतूई। हम लोगों ने तुम्हारे दर्द को ठीक से समझा था। किन्तु क्या तपाक से कहते ही तलाक का निर्णय लिया जा सकता है? इसके अलावा सन्दीपन एक विकृत मानसिकता का व्यक्ति था, उस वजह से तुम्हें तापस के साथ विवाह क्यों नहीं करना चाहिए?इसका अर्थ तो यह हुआ कि तुम एक ऐसे व्यक्ति के साथ रहती हो, जिस पर विश्वास ही नहीं करती हो।

मैंने उत्तर दिया, विश्वास करती हूँ, इसलिये विवाह की बात नहीं सोच रही हूँ। जितने दिन निष्ठा के साथ प्रेम कर सकूँगी, एक साथ रहती रहूँगी। एक रिश्ते के बंधन में बँधने से क्या लाभ? एक साथ रहने का मेरा कोई संस्कार नहीं है। मैं जानती हूँ, मैं कोई अनुचित काम नहीं कर रही हूँ।

इस पर भालदी कहने लगीं, एक बार माँ-बाबा के बारे में सोचो। वे इतने रूढ़िवादी है कि छोटे दादा के प्रेम विवाह तक को वे स्वीकार नहीं कर सके थे। बुतूई यहाँ तो बाबा का हार्टफेल हो सकता है, वैसे भी बाबा के हार्ट की स्थिति ठीक नहीं है।

मैंने कहा- कैसा समय है, इसे बाबा को भी समझना होगा भाल दी, उन्हें मेरे मन को समझना होगा। विवाह बिना एक साथ रहना अब कोई अपवाद नहीं है।

भालदी बोली- तेरे घर तो अब हम लोगों का आना होगा नहीं। हम लोग तो अपने बच्चों को खराब शिक्षा दे नहीं सकते हैं।

बड़दा बोले, तू भी तापस को लेकर धड़धड़ाती हुई हमारे यहाँ चली मत आना।

दो गाड़ियों पर बैठकर वे लोग चले गये। मैं सोचने बैठ गयी। विवाह करेंगे नहीं, ऐसा प्रण करके तो हम लोग बैठे नहीं हैं किन्तु विवाह आवश्यक है, यह भी नहीं सोचा है। सबसे बुरा यह हो सकता है कि तापस मेरे साथ रहे ही नहीं। छोड़ कर चला जाए। वह तो विवाह करने के बाद भी घट सकता है। जंज़ीरों से बँधे हुए सम्बन्ध से मैं घृणा करती हूँ। तो फिर आज मैंने अपने को नयी तरह से देखना शुरू किया। मेरे अन्तःकरण की आवाज़ ने सीधा, सपाट सवाल किया। यह क्या तापस का प्रभाव है?

तापस अब लौटेगा नहीं, उसने आज यही कहा था। वापस आ जाने के लिए मैंने उसे फ़ोन किया था। अकेले रहने की इच्छा नहीं हो रही थी। मैं जितना ही तर्क करती, भालदी लोगों द्वारा फेंका गया तिरस्कार का थूक मुझे गाढ़ एसिड की तरह जलाकर भस्म किये दे रहा था।

लौटकर तापस ने सारी बातें सुनीं। चुपचाप। मैंने उससे कहा... ये सब बातें मैं तुमसे कह रही हूँ, इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं परोक्ष रूप से तुम पर विवाह करने का दबाव डाल रही हूँ, तापस।

उसने जवाब दिया, मैं तो ऐसा मान नहीं रहा हूँ। तुम्हें कष्ट होगा तो तुम मुझसे ही तो कहोगी। बुतूई, अपमान होने अथवा रक्तपात होने पर अगर हम एक-दूसरे के पास आकर खड़े न हो पाएँ तो फिर हमारा रिश्ता ही क्या है। फिर, विवाह तो किया ही जा सकता है। उससे सारी समस्याएँ निपट जाएँगी, ऐसा मत सोचो। तुम्हारे परिवार जनों के संसार में मैं अवांछित ही बना रहूँगा। सन्दीपन के साथ मेरी तुलना भी चलती रहेगी, सम्भवतः और बढ़ ही जाएगी। वे लोग कहते रहेंगे, मेरे घर-बार नहीं है, पैसा-कौड़ी नहीं है इसीलिये मैं तुम्हारे कन्धे पर आ पड़ा हूँ।

समझ गयी, इसी वजह से वह पूरी तरह इस फ़्लैट में नहीं रह रहा है। मुझे अपना मानने के विषय में उसमें कोई द्वन्द्व नहीं है। कोई दुविधा भी नहीं हैं। रुपये-पैसे आदि को लेकर ग़लत समझने जैसी कोई चीज़ भी हमारे बीच में नहीं है। लोक लज्जा की हम लोग परवाह ही नहीं करते हैं किन्तु वह और किसी की ज़िम्मेदारी पर आ बैठा है, यह अभियोग वह नहीं सहन कर सकेगा।

उस रात उसकी बाँह का तकिया लगाकर, उसकी छाती में नाक घुसा जब मैं सोयी, उसकी छाती मेरे गालों का स्पर्श करने लगी, उसकी खुरखुरी चिबुक मेरे कपाल को छूने लगी, उसका पैर उठकर मेरी कमर पर आ गया, घने अँधेरे में, जल मग्न भूमि से बहकर आने वाली मछलियों की सौंधी-सौंधी गंध को साँसों में भरते-भरते मुझे ऐसा लगने लगा तापस और मेरे शरीर मानो एकाकार हो गये हों। मैं उसमें प्रवेश कर गयी और वह मुझमें। अकादमी से मोहित नगर तक चलते-चलते, पुरी के समुद्र में स्नान के भीतर से होकर हम दोनों लोग इस समय उस समुद्र के द्रवित तरल नमकीन जल हो गये थे।

तीन

दूसरे दिन ही माँ का फ़ोन आया, बुतूई, यह सब क्या सुन रही हूँ!

क्षोभ की ये सब पारिवारिक तरंगें तुमूल कोलाहल करती हुई उठती हैं, फिर एक दिन अपने आप शान्त हो जाती हैं। अगर इस बात को समझा जाए तो इन सब आवांछित परिवर्तनों के फलस्वरूप कोई किसी का बोझ नहीं बन जाता है। छोटे दादा ने जब घोषणा की थी कि मैं तो रूपू से ही विवाह करूँगा, उस समय भी मैंने ऐसा घटते देखा था। फ़ोन आते थे, जाते थे। माँ कभी क्षुब्ध होती थीं, कभी रोने लगती थीं। छोटे दादा का आहत, क्षुब्ध और नाराज़ चेहरा, किन्तु वे चुप बने रहते थे। बाबा का अस्थिर होकर चहल-कदमी करना और कटूक्तियाँ करना। उन्होंने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि उनकी सन्तानें अपना जीवन साथी खुद चुनेंगी। ऐसा कौन लोग करते हैं? वे इसकी विवेचना करते हुए कहते थे, जिन पर किसी का नियन्त्रण नहीं होता है, जिन्हें अच्छी शिक्षा नहीं मिलती है, जिनके पारिवारिक बन्धन छिन्न-भिन्न और अलग-अलग होते हैं, वही लोग ऐसा करते हैं किन्तु हमारी सन्तानें?

एक व्यक्ति किसी दूसरे से प्रेम करेगा, तो उनमें पारिवारिकता कैसे आएगी, कौन जाने! अगर ऐसा माना जाए तो विवाह के बाद भी अच्छी तरह शृँखलाबद्ध परिवार में किसी माँ-बाप की सन्तान को पति-पत्नी के रूप में एक-दूसरे से प्रेम नहीं करना चाहिए। अगर सतही तौर पर सोचा जाए तो यह विषय हास्य जनक है किन्तु अगर गम्भीरता से सोचा जाए तो यह विषय बेहद आक्रामक है। मेरी सन्तानों को यह करना चाहिए, वह नहीं करना चाहिए अर्थात मेरी इच्छा, अनिच्छा से उनका मनोराज्य संचालित होना चाहिए। तापस इसे सामन्तवादी मानसिकता कहता था। मनुष्य के सारे कार्य-कलापों को वह मार्क्सवादी दृष्टि से विश्लेषित करता था। कृष्ण का चित्र बनाए या गणेश का तापस ईश्वर में विश्वास नहीं करता था। उस दिन जब लक्ष्मी ने नारायण की मूर्ति और शंख खरीदा तब उसने पूछा था, 'तुम्हें रोज़ पूजा करने का समय मिल जाएगा?' इस पर मैंने उसे कमला की बात बतायी थी। सुनकर बड़ा गम्भीर मुँह बनाकर उसने कहा था, 'अगर ऐसा है तो इसका पुण्य किसे मिलेगा? जो शंख बजाएगा, उसे?अथवा जिसका शंख बजाया जाएगा, उसे?'

छोटे दादा के विवाह के कारण जो हलचल मची थी वह एक दिन थम गयी। रूपू बड़ी अच्छी बहू के रूप में घर आ गयी। अब माँ-बाबा के साथ उसका खूब स्नेह है। माँ तो एक दिन कह ही बैठीं, बुतूई तुम कुछ भी कहो हमारी दोनों बहुओं में रूपू ही अत्यधिक संवेदनशील और ज़िम्मेदार है। टूसी दूर से माँ-माँ करेगी, अच्छे-अच्छे उपहार देगी किन्तु यह करिश्मा दो-चार दिन के लिए ही होता है। सुसंस्कृत और सभ्य लड़की हमारे दिल में जल्दी तो घर बना नहीं पाती है। समझ में तब आता है जब उसे कोई दायित्व लेने को कहा जाता है। इस सम्बन्ध में माँ खुद ही इस निर्णय पर पहुँची थीं, शहर की आबोहवा लिये, सम्पन्न घर की लड़कियाँ देखने-सुनने में तो बहुत अच्छी लगती हैं किन्तु अगर मन की दृष्टि से कहो तो हमारे, उत्तर बंग की लड़कियों से उनकी तुलना नहीं की जा सकती है, वे अनुपम हैं।

कहने में कोई बुराई नहीं है, मेरी माँ भी उत्तर बंग की थीं। मेरे मामा लोग का घर मालदा में है।

तो फिर उत्तरी बंग में ऐसा कौन-सा चमत्कार है जो अरुई की काली, कोमल डाल के साथ इतने अच्छे हृदय की लड़कियों का जन्म होता है? उनका जन्म लेना कोई बुरी बात नहीं है। इसीलिये माँ की साहित्य पढ़ने वाली आँखों ने गलत नहीं देखा था, इसे मैं समझ गयी, जब मैं सन्दीपन को छोड़ देने के निर्णय पर दृढ़ रही। रूपू ने शुरुआत से ही मेरा पक्ष लिया था। उसका एक कारण था, माध्यमिक तक बेलाकोवा में हम लोग एक साथ पढ़े थे। वह मेरी प्राणों से भी प्रिय मित्र थी, ऐसा नहीं है, तो भी स्कूल छोड़ने के बाद सभी लोग बहुत प्रिय लगने लगते हैं। इसके अलावा भी रूपू ने मेरा दुःख और अपमान हृदय से समझा था। मेरे शरीर पर जलाने के दाग देखकर उसने कहा था, सन्दीपन को गोली मार देनी चाहिए। उस समय उसकी आँखों में आग और आँसू दोनों मैंने देखे थे।

रूपू के अलावा अन्य सब लोगों ने कहा था, मुझे कुछ दिन और देख लेना चाहिए। बाद में सब ठीक हो जाएगा। मैं धैर्य धारण किये रही थी। तब यहाँ तक कि उत्पलदा ने भी मुझे इस तरह समझाया था कि यौन जीवन का आनन्द लेने के मार्ग में कोई न्याय-नीति नहीं होती है। वहाँ पर तो सिगरेट, चाबुक, रकीरा, गाजर, आइसक्रीम से लेकर नली तक उपयोगी वस्तुएँ होती हैं।

तुम लोग इनमें से किस-किस चीज़ का उपयोग करते हो?मैंने पूछा था। असल में यह सब होती हैं संस्कार की मज़बूत जंज़ीरें। इन्हीं संस्कारों का नाम है विवाह। जीवन में कौन कितना सफल है, इसका निर्णय विवाह द्वारा ही होता रहता है। इसी को लेकर कितनी कहानियाँ, कितने उपन्यास और कितने चलचित्र बने हैं।

सभी की इच्छा को महत्व देते-देते जब मेरा धैर्य चरम सीमा पर पहुँच गया। अनेक तरह से जलने के दाग की पीड़ा झेलते-झेलते जब विच्छेद के निर्णय पर दृढ़ बनी रही, तब छोटे से लेकर विषादग्रस्त बड़े लोगो में सिर्फ़ बड़ी भाभी टूसी ने ही कहा था, यह तो अच्छा हुआ, सौभाग्य से बुतूई ने नौकरी नहीं छोड़ी थी।

अन्य लोगों ने भी मन में वही बात सोची हो, इसे मैं नहीं जानती। मैंने टूसी की बात विपरीत दृष्टि से भी देखने की कोशिश की थी। बहुत अच्छा, मान लीजिये मैं नौकरी भी न करती होती तो क्या इस विकृत काम से मेरी मुक्ति की कोई सम्भावना नहीं थी? चिता पर जाने के पहले जलकर मैं भस्म हो जाती, फिर लोग कहते देखो इसका वैवाहिक जीवन तो अटूट बना रहा... इसी सन्तोष के साथ सभी लोग सरसों के तेल में तले हुए बेंगन के साथ इलिश मछली का झोल खाते?

प्रश्न रूपू ने ज़रूर किया था, बुतूई अगर नौकरी न करती होती तो वह किस रास्ते में जाकर बैठती? क्या उसके माँ-बाप नहीं हैं? भाई-बहनें भी नहीं हैं?

सुना था बाबा की इच्छा नहीं थी कि मैं दूसरा विवाह करूँ। उसका कारण यह नहीं था कि मैं फिर से किसी उत्पीड़न के चंगुल में पड़ूँ। असल में बाबा को यह सोचकर परेशानी होती थी कि उनकी सन्तान ने दो बार अपने पति का चुनाव किया। इसको लेकर माँ के साथ बाबा का थोड़ा वाद-विवाद भी हो जाता था, कारण उनके लिए यह एक विरल घटना थी।

माँ का कहना था, यह बात तुम कैसे कह रहे हो। लड़की की अभी आखिर उम्र ही क्या है। सुख क्या चीज़ है, यह तो उसने जाना ही नहीं है। हमारे ज़ोर देने के कारण ही अब तक वह विवाह को बरकरार रखे रही थी। इससे क्या वह सुख से रही?

बाबा इस पर कहने लगे... सुख क्या अकेला वही है? बाबा के उच्चस्तरीय दार्शनिक जवाब के बदले में माँ ने उन पर एक जलती हुई निगाह डाली थी, जिसने रूपू के दिल को कँपा दिया था और इसके बाद रूपू की उपस्थिति में ही अपनी सहज शालीनता और सुरुचि का बन्धन काट कर माँ ने कहा था, इस उम्र में भी तुम्हारी जो हरकतें हैं... यह बात कहने के पहले खुद अपनी ओर देखो।

वही माँ मेरे साथी चुनने के विरुद्ध है, कारण तापस सन्दीपन के बराबर नहीं है, और मैं बिना विवाह किये ही उसके साथ रहवास कर रही हूँ, यह उसकी शालीन रुचि के विरुद्ध है और परिवार के लिए असम्मान जनक है।

किन्तु धीरे-धीरे ये उत्तेजनाएँ भी शान्त हो गयीं। हर व्यक्ति अपने एतराज के कारण अपने निजी जीवन के कार्य कलापों में मग्न हो गया। रूपू ने तापस के बारे में मुझसे एक बात भी नहीं की। भाल दी आदि लोग फिर मेरे फ्लैट में आये ही नहीं। फिर मैं भी उनके बच्चो की वर्षगाँठ के निमंत्रण में नहीं गयी, सिर्फ़ कूरियर के द्वारा उपहार में पुस्तकें ज़रूर भेज दीं। मैं और तापस दोनो ठीक-ठाक ही रह रहे थे। रोज़ महसूस करती थी हम लोग नज़दीक-से-नज़दीक आते जा रहे हैं। दो व्यक्तियों के बीच की दूरी जिस तरह से सीमाहीन रूप में बढ़ती है, ठीक वैसे ही सीमाहीन रूप में यह पास भी आती हैं जैसे आज लगता पास आने का यह चरम बिन्दु है, दूसरे दिन भी लगता आज तो उससे भी अधिक है और भी गम्भीर है।

चार

दिन बीत रहे थे। अभी हाल में उसकी कुछ तस्वीरें बम्बई में प्रदर्शित होने गयी थीं। खूब विख्यात एक बहुराष्ट्रीय कम्पनी का यह प्रयास था। सुनकर मैं तो बेहद खुश हो गयी थी। वह बोला इतना खुश होने की कोई बात नहीं हैं इसके पहले भी अन्य लोग मेरी तस्वीरें दिल्ली ले गये थे। बहुत थोड़े दामों में बिकी थीं। इन दिनों तापस ने शुरू कर दिया था पूरी दीवाल भर में लगने वाली विशाल तस्वीरों का अपना काम। छह भागों में विभाजित बड़े-बड़े कैनवास। प्रदर्शित होने के समय उन्हें जोड़ दिया जाएगा किन्तु तस्वीर पर धब्बा लगे यह न चल पाएगा। तापस को पता नहीं है, यह काम करने में उसे कितना समय लग जाएगा। हो सकता है, एक वर्ष लगे अथवा उससे भी अधिक। कारण एक ही काम लेकर पड़े रहना भी चलता नहीं है। हमारा गैराज भी उसकी तस्वीरें रखने की जगह हो गयी है आजकल। उसके सीलन भरे मेसवाले कमरे में अनेक तस्वीरों के रंगों में फफूँदी लगी जा रही है। बीच-बीच में तिलचट्टे भी रंग को चटकर जाते हैं। गैराज में रखने की बात मैंने ही कही थी। नारायण सस्ते में एक तख़्त लाया था तस्वीरें रखने के लिए। इस मोहल्ले में एक वकील बाबू आए हैं, आजकल वह उन्हीं की गाड़ी चलाता है। फिर भी हम लोगों के साथ उसका सम्बन्ध बरकरार है। एक दिन कहने लगा, तापसदा गैराज में चित्र बनाने का एक स्कूल खोल लीजिये। यहाँ कितने बच्चे हैं। स्कूल खूब चलेगा। यह प्रस्ताव हम लोगों को पसन्द आया था। तापस आजकल हर रविवार की सुबह छवि आँकना सिखाता है। छात्रों की संख्या कुछ कम नहीं है। फिर भी उसको कोई निश्चित मेहनताना नहीं मिलता है। अधिकतर निचले तबके के बच्चे हैं। जिसकी जैसी सामर्थ्य है देते हैं। कुछ नहीं भी देते हैं। एक डिब्बा रख दिया है नारायण ने। सब उसी में रुपया डालते रहते हैं। नारायण ने ही तापस की तस्वीरों को साफ-सफाई से रखने की ज़िम्मेदारी ली है। जो कुछ आमदनी हो, उसमें आधा हिस्सा उसका है। बड़ी मज़ेदार व्यवस्था है, मैं भी उसी समय बस्ती की चार लड़कियों को पढ़ना सिखा देती हूँ, उनमें दो कमला की हैं।

इन सब कामों को लेकर हम लोग बड़े मज़े में हैं। सिर्फ अतिरिक्त मेहनत के कारण तापस और दुबला हो गया है। मेरी इच्छा है वह कव्हर बनाना छोड़ दे। यह काम उसे आनन्द नहीं देता है, यह मैं जानती हूँ। उसका कहना है, इससे

तुम्हारे ऊपर ज़्यादा बोझ पड़ेगा, इसलिये कुछ दिन और देख लूँ।

उस दिन रात में उरहान पामुक लेकर पढ़ने बैठी थी, तापस बगल के कमरे में काम कर रहा था, उसी समय माँ का फ़ोन आया। बाबा को काफी शारीरिक परेशानियाँ हो रही हैं। छोटे दादा उन्हें शिलीगुड़ी ले गये थे, डॉक्टर का कहना है, प्रोस्ट्रेट ग्रन्थि का तुरन्त आपरेशन होना चाहिए। इसके अलावा आँखों में मोतियाबिन्द शुरू हो गया है। दिल की भी समस्या है। कुल मिलाकर बाबा ज़रा भी ठीक नहीं हैं। छोटे दादा शिलीगुड़ी में ही उनकी चिकित्सा कराना चाहते थे, किन्तु बाबा चाहते हैं कि कलकत्ते में ही सब कुछ हो। मैंने कहा, 'यह तो बहुत अच्छा रहेगा। यहाँ आ जाने पर तुम दोनों की ही पूरी जाँच करा दी जाएगी। यह बहुत ज़रुरी है।'

माँ बोलीं, हाँ उत्पल बाबुई वे लोग भी यही कह रहे थे। किन्तु एक समस्या हो रही है। बच्चों की तो इस समय वार्षिक परीक्षाएँ होनी है, ऐसा ही कुछ वे लोग कह रहे थे। इस पर जातुई ने कहा था, कहा जाए तो बुतूई तो अकेली रहती है माँ, फिर आजकल कलकत्ते में अच्छे-अच्छे अस्पताल बन गये है। वे सभी दक्षिणी कलकत्ते में हैं। तुम लोगों को भी सुविधा हो जाएगी, तेरा क्या कहना है?

मैंने कहा... माँ तुम ज़रूर आ जाओ। छोटे दादा से कहो, वे तुम लोगों को यहाँ लेते आएँ।

बाबुई ने तो प्लेन का टिकिट बनवाकर भेज दिया है।

पाँच

बड़े दादा, टूसी और भाल दी एअरपोर्ट से माँ-बाबा को लेकर सीधे मेरे ही यहाँ आ गये। पचमंज़िला इमारत में मैंने चौथी मंज़िल पर फ्लैट लिया था। लिफ़्ट नहीं थी। यह देखकर बाबा का मुँह सूख गया था। पेट की तरेट में उन्हें दर्द रहता है। उन्हें चलने में तकलीफ़ होती है। भालदीदी कहने लगीं तो फिर मैं अपने घर ही लिये जाती हूँ। टूसी कितने दिन मेरे दोनों बच्चों को रखेगी। नहीं तो सब फेल हो जाएँगे।

तापस एक तरफ चुपचाप खड़ा था। प्रारम्भिक परिचय और प्रणाम आदि औपचारिकताएँ पूरी हो चुकी थीं। सिर्फ माँ कहने लगीं, 'रहने दे, रहने दे।' बाबा ने एक बात तक नहीं की। हम लोग ऐसे व्यवहार के लिए पहले से तैयार ही थे। मैं चाहती थी वह यहीं रुके। किन्तु वही राजी नहीं हुआ। कहने लगा, 'यह उनके ऊपर जबरदस्ती कोई चीज़ थोप देनी होगी, बुतूई। वे लोग तो यहाँ पक्की तौर पर सदा रहेंगे नहीं, बीमार होकर आये हैं। लड़की बिना विवाह के एक पुरुष के साथ रह रही है, पूरे समय आँखों के सामने देखकर उन्हें कष्ट होगा। हम लोगों के लिए जो सहज है, उनके लिए वह सहज नहीं है। बद्धमूल आस्थाओं और संस्कारों की पीड़ा जान लेवा होती है। मैंने जवाब दिया, 'वे लोग तो सब कुछ जानते हैं। मैंने तो कुछ छुपाया नहीं है।'

'तुमने ठीक ही किया है। तुम जिसे अन्याय नहीं मानती हो, उसे छुपाओगी क्यों? किन्तु उन लोगों की मनःस्थिति भी तो सोचकर देखो। वे लोग लाचार होकर तुम्हारे यहाँ रहने को आये हैं। बड़दा या भाल दी अगर चाहते तो क्या उन्हें अपने यहाँ रख नहीं सकते थे?यही तो है कि उनके सबके बच्चे हैं, उनकी परीक्षा के कारण ही क्या सारी समस्याएँ हैं? मान लो अगर तुम अब भी हॉस्टल में ही रह रही होती तब? यह तो सरासर अपनी ज़िम्मेदारी से बचना है। मौसी जी और मौसा जी क्या इसे समझ नहीं रहे हैं? इसके बाद भी तुमने हठ करके जो किया है, वह ठीक ही किया है। इस दिखावे को थोड़ा दबाओ, इससे उन्हें और भी कष्ट होगा।

तापस ने स्थिति को सही-सही समझा था। यह मेरी सिर्फ़ ज़िद थी। किसी की परवाह न करने वाला विद्रोह। अगर ऐसा नहीं है तो तापस तो रोज़ यहाँ रहता नहीं है। उसकी बात मान ली, फिर भी सख़्त लहजे में बोली, 'फिर तुम वह बड़ी तस्वीर कैसे बनाओगे? वह तो अधूरी पड़ी रहेगी?'

वह बोला... मैं तो आता ही रहूँगा बुतूई। तुम्हारे ऊपर इतनी ज़िम्मेदारी आ गयी है, मैं तो यहाँ रहूँगा ही। रात में चला जाया करूँगा। उसी बीच समय निकालकर उस तस्वीर को बनाऊँगा।

अब भाल दी की बातें सुनकर तापस कहने लगा... 'रुको मैं देखता हूँ कि क्या किया जा सकता है!'

थोड़ी देर बाद ही देखती हूँ कि वह और नारायण, साथ में लतीफ़ नाम का और एक व्यक्ति, जो रिक्शा चलाता था, वहाँ आ गये हैं। कुर्सी नीचे लायी गयी। उस पर बाबा को बैठाल पाल्की की तरह उठाये-उठाये उन्हें ऊपर ले गये। भाल दीदी आदि यह सब देखकर चुप बने रहे। ऊपर हमारे फ्लैट पर जाकर बड़े दादा कहने लगे, टूसी, यहाँ तो बहुत असुविधा होगी। रोज़-रोज़ उन्हें कुर्सी पर बैठाल इस तरह कौन लाएगा?

टूसी ने हाँ-में-हाँ मिलाते हुए कहा, 'हाँ यह तो ज़रूर है, सचमुच बाबा को रोज़ कौन लाएगा। चलो बाबा को हम लोग ले चलें।

मुझे खूब क्रोध आया। क्या इन लोगों को पता नहीं है? एअरपोर्ट से इतनी दूर उल्टे आकर ये लोग अब नाकाम हो रहे हैं। तापस ने मेरा चेहरा देखकर कुछ अन्दाज़ा लगाया।

इसके साथ ही उसने कहा,.... नहीं-नहीं, मैं इन्तज़ाम कर रहा हूँ। नारायण, लतीफ़ थोड़ा सुनो तो...।' यह कहकर ये लोग थोड़ी आड़ में चले गये। थोड़ी देर में आकर तापस ने कहा... बुतूई, लतीफ़ का सेल नम्बर ले लो। उसे जैसे ही बुलाओगी वह लोगों को लेकर आ जाएगा।'

आज रविवार है। गैराज में तापस के छात्र हैं। वह नीचे चला गया। हम लोग आपस में चर्चा करने बैठ गये। कौन डॉक्टर से इलाज कराया जाए और वहाँ कौन ले जाएगा।

माँ-बाबा को मैंने अपना लेटने का कमरा दे दिया। रात में तापस खा-पीकर निकल पड़ा। माँ कहने लगीं, 'वह कहाँ जाएगा' मैंने जवाब दिया, 'अपने मैस में।' रात में मैं तापस की तस्वीरों के साथ सोने चली गयी।

छह

बाबा को आपरेशन के लिए ले जाया गया। प्रतीक्षा करने की कुर्सियों पर सभी लोग बैठे हुए हैं। छोटे दादा नहीं आ पाए। माँ चिन्तित हैं, किन्तु एक तरफ की दुश्चिन्ता समाप्त हो गयी है। बाबा के दिल को लेकर जो चिन्ता थी, वैसा कुछ नहीं निकला। मोतियाबिन्द भी अभी पका नहीं है और भी छह मास लगेंगे तब फेको प्रणाली से आपरेशन कर दिया जाएगा। प्रोस्ट्रेट ग्रन्थि के आपरेशन की ज़रूरत नहीं पड़ी। माइक्रो सर्जरी के द्वारा उसे ठीक कर दिया जाएगा। कुल मिलाकर बाबा की बीमारी को लेकर जितना प्रचार किया जा रहा था, बाबा उसकी तुलना में प्रायः स्वस्थ ही थे।

सबेरे माँ ने पूछा, 'तापस क्या जाएगा?अस्पताल में?' मुझे लगा, माँ नहीं चाहती हैं। इसलिए मैं बोली- 'अगर आप लोग नहीं चाहते हैं तो नहीं जाएगा। फिर उसकी ज़रूरत ही क्या है। अन्य सभी लोग तो हैं ही।'

'और कोई बात नहीं है।' माँ कहने लगीं, 'तेरे बाबा के सहकर्मी हैं सुधांशु दत्त। वे लोग आएँगे।'

इस पर मैं बोली, 'कुछ चिन्ता मत करो। मैं उसे मना किये दे रही हूँ।'

इसलिये तापस अस्पताल में नहीं आया। मैं प्रतीक्षा करने वाली कुर्सी पर बैठी हुई थी। स्थान खुले बरांडे की तरह था। दोनों तरफ से कोरीडोर था। बगल से ही ऊपर सीढ़ी चली गयी थी। कुछ देर बाद विचार आया कॉफी पी कर आती हूँ। उन लोगों को बुलाया पर उनमें से कोई भी नहीं आया। अकेली ही कॉफी शाप चली गयी। घड़ी देख रही थी। फिर धीरे-धीरे लौट आयी। मेरे साथ उनका सहज बातचीत और बैठने का विचार खत्म हो चुका था। मन-ही-मन मैं एक तरह के विच्छेद का अनुभव कर रही थी। माँ-बाबा में अपने प्रति दूरी नहीं देख रही थी किन्तु ज्वलंत आतंक भरे क्रोध का आभास पा रही थी। माँ थोड़ी सभ्य और शालीन थीं। बाबा कड़वी टिप्पणियाँ करते जा रहे थे। इसी बीच बाबा ने मुझसे पूछा था, तापस का तलाक क्यों हुआ? मैं बोली, जहाँ तक मुझे पता है, तापस का इसके पहले विवाह नहीं हुआ है।

नहीं हुआ?विवाह नहीं हुआ?

मैं बाबा के प्रश्न को समझ गयी थी, अगर ऐसा है तो तापस बुतूई जैसी विवाह-विच्छिन्न लड़की के साथ क्यों है! उस दिन तापस खा रहा था, माँ आकर उसके पास बैठ गयीं। खाने के लिए मैं लकड़ी से बनी मेज़ों का इन्तज़ाम नहीं कर सकी थी। वेकेलाइट की बड़ी-चौड़ी मेज़ तापस के भात का कौर बनाने के साथ-साथ थोड़ी हिलती जा रही थी। माँ पूछने लगीं, तुम्हारे घर में कौन-कौन हैं?

'ओ?' मुँह में भात का कौर था इसलिये तापस ने अन्यमनस्क आँखों से माँ की ओर देखा। सम्भवतः माँ के उसके पास आकर बैठने की उसे आशा नहीं थी। उसने जवाब दिया, दादा हैं, उनका परिवार है। बाबा की उम्र हो चुकी है।

क्या माँ नहीं है?

माँ? पता नहीं?

क्यों?

तापस की बात सुनकर मैं भी अवाक् रह गयी। उसने बताया, माँ पागल-सी थीं। गर्मी में उसका पागलपन अधिक बढ़ जाता था। एक बार वह कहीं चली गयीं। फिर वह लोट कर नहीं आयीं।

ढूँढ़ा नहीं है ?

बाबा ने ढूँढ़ा था। तापस मछली के काँटे अलग कर रहा था। नाक सरूँट रहा था। सिर नीचा कर खा रहा था। मेरे दिल में दर्द टीसने लगा। तुम्हे इतना कष्ट है तापस? फिर मैं उसकी तरफ देख नहीं सकी। माँ ने पूछा, तुम्हारे बाबा क्या करते थे? घर कहाँ है?

घटाले का नाम सुना है?

मेदिनीपुर में ?

हाँ। मेरे बाबा राशन और किरोसिन के डीलर थे। अब वह काम दादा देख रहे हैं।

ओ! तो तुम छवि आँकने का ही काम करते हो। यही तुम्हारी आमदनी का ज़रिया है?

तापस हँसकर कहने लगा... और तो मैं कुछ कर नहीं पाता हूँ मासी माँ।

माँ कहने लगी, सुना है, बड़े-बड़े चित्रकारों की तो तस्वीरें भारी मूल्य में बिकती हैं। तुम तो बहुत अच्छे चित्र बनाते हो। मैं भी बचपन में चित्रकारी किया करती थी। विवाह के बाद फिर कुछ नहीं कर सकी। तुम्हारे रंग और यह तूलिका देखकर मन जाने कैसा होने लगता है।

तापस थोड़ा चुप रहकर कहने लगा... 'अगर आपकी चित्र बनाने की इच्छा हो तो रंग आदि आप वहाँ से ले लेंगी।'

'ना, ना। ओ माँ। अब क्या चित्र बना सकूँगी? माँ जैसे सावधान हो उठी हों। कहने लगीं, 'वे जो बड़े-बड़े कैनवास हैं, उन पर क्या आँकोगे?'

'जिनका आर्डर मिला है वे चीजें आँकूगा... युद्ध और शान्ति'।

माँ उदास दृष्टि से बाहर की ओर देख रही थीं।

चाय बागान की विचित्र लताएँ और डालपत्तों तथा सूखे मशरूम के द्वारा माँ पुरखों के चित्र बनाया करती थीं। वेलाकोव वाले घर की दीवालों पर वे आज भी शोभित हो रहे हैं। किन्तु माँ चित्रांकन करती हैं यह जग-ज़ाहिर बात नहीं थी। कितना अचरज है कि माँ और तापस दोनों अपरिचित व्यक्ति हैं, यहाँ तक कि एक-दूसरे को पसन्द करें ऐसे सम्बन्ध का भी सूत्रपात नहीं हुआ है उनमें, उन लोगों ने एक मात्र मुझे माध्यम बनाकर, कितनी सहजता से एक-दूसरे के समक्ष अपनी गुप्त व्यथा व्यक्त कर दी। आवेग के कारण कण्ठ में व्यथा बज उठी। तो क्या माँ-बाबा ने उसे स्वीकार कर लिया?

तापस के चले जाने के बाद मेरी भूल भंग हो गयी। बाबा ने माँ से कहा, ऐसी बेकार की बातें क्यों कर रही थीं? मैं उठकर आड़ में चली गयी। छोटा फ्लैट है सबकुछ सुनायी देता था। माँ ने जवाब दिया, बेकार की बातें क्यों, खोज-खबर ले रही थी। 'खोज-खबर', बाबा ने उपहास के साथ कहा, कोयला बेचने वाले बाप का लड़का कहीं शिल्पी होता है!

माँ ने जवाब दिया, अहा! इस तरह क्यों कह रहे हो?लड़का बहुत अच्छे चित्र बनाता है। मैनें भी तो कुछ सीखा था। मै समझ सकती हूँ।

अरे, रहने दो। वैसे शिल्पी तो वर्ष में सैकड़ों निकल रहे हैं। दर-असल उसकी नीयत अच्छी नहीं है। खुद का घर-बार नहीं है, चेहरा देखते ही समझ में आ जाता, रोज़गार-वगैरह अच्छा नहीं है। बुतूई को असहाय समझकर उस पर अधिकार जमा लिया है। कोई ज़िम्मेदारी ही नहीं निभानी पड़ रही है। सब कुछ उसे मिल रहा है।

'बुतूई असहाय क्यों होगी? वह क्या हमारी तरह है। अच्छी तरह से अपने पैरों पर खड़ी हुई है। फिर वह क्या कोई खुले में पड़ी ज़मीन है जो उस पर कोई कब्ज़ कर लेगा? तुम्हारी खुद की दो लड़कियाँ हैं, घर में दो बहुएँ आ गयी हैं, फिर भी तुम ने लड़कियों को इन्सान मानना नहीं सीखा है। फिर तुम चाहे जो कहो, मैं देख रही हूँ, तापस लड़का

ज़िम्मेदारी से बचकर चलने वाला नहीं है।'

'सन्दीपन के बाद तापस? दोनों में कोई तुलना भी है?' 'हाँ, वह तो नहीं की जा सकती है किन्तु किया क्या जाए?'

'मतलब,' 'मतलब। तुम मिलाकर देख लेना।'

अस्पताल में कॉफ़ी पीने के बाद लौटते समय सीढ़ियाँ चढ़ रही थी, उन लोगों ने मुझे नहीं देखा। सुनायी दिया कि उनकी चर्चा का विषय भी तापस और मैं थी। एक ही कथा। एक ही धारणा। वही छिःछिः और स्वार्थ साधने का भय। सहसा मुझे खूब रुलाई आने लगी। अगर तापस की तस्वीरें लाखों रुपयों में बिकने लगतीं तो क्या उसकी सत्ता और उसका जाना-पहचाना सामान्यत्व संदीपन को लाँघ न जाता? फिर सिर्फ संदीपन को ही क्यो?वह एक सृजनशील गुणी व्यक्ति है। हम सभी से उसका महत्व अधिक है। किन्तु लोग तो कमाई देखते हैं... आमदनी कितनी है यह। उसके साथ-साथ चेहरा देखने में सुन्दर लगता है या नहीं। पारिवारिक अभिजात्य। इन सब चीजों की कसौटी पर तापस एक खाली हाथ, पराजित व्यक्ति है। मेरे अलावा पूरा संसार ही उसका विरोधी, प्रतिपक्ष है। मैं अगर कहीं सम्पत्ति शाली हो पाती तो उसे सबसे आगे रखती।

अस्पताल से लौटने के बाद भी अनेक काम शेष रह जाते हैं। दवाई लाना, डॉक्टर के पास जाँच के लिए जाना। मैं जब कॉलेज चली जाती, उसके बाद माँ-बाबा की देखभाल करना। कमला से जितना बन पड़ता, करती रहती। किन्तु अपनी घर-गृहस्थी छोड़कर वह कितनी देर यहाँ रह सकती थी? इसलिए सारे काम तापस को ही करने पड़ रहे थे। माँ के घुटनों में दर्द रहता था, उन्हें ले गया हड्डी विशेषज्ञ के पास। बाबा के दो दाँत सर्दी में बड़ी तकलीफ़ देते हैं, उन्हें दन्त चिकित्सक के पास ले गया। मेरे यहाँ से अस्पताल पास ही है। एक टैक्सी बुलाओ तो पच्चीस रुपया लगता है। बड़े दादा के पास गाड़ी है, किन्तु छोटी-मोटी समस्याओं के कारण अपना काम छोड़कर वे कितनी बार आएँगे?

मैं और तापस भी कितने दिन मिल ही नहीं पाए। जितनी भी बातें होती थीं हम लोग रात में फ़ोन से निपटा लेते थे। तापस की तस्वीरों के साथ ही मैं सोने जाती थी। रोज सूक्ष्मता से देखती कि उसकी तस्वीर कितनी आगे बढ़ी।

रविवार को लगभग पूरा दिन ही, उसका हमारे यहाँ बीतता था। उस दिन सुना माँ उससे कह रही थीं, 'तुम्हारा नाम तो तापस है और दादा का नाम क्या है?'

उसने जवाब दिया, 'श्यामल।' 'तुम दोनों के नाम में कोई मेल ही नहीं है।' माँ कहने लगीं, 'कितने अच्छे-अच्छे नाम हैं, उन्हें रखा जा सकता था। काम के साथ नाम भी आकर्षक होना चाहिए।'

इससे माँ उसे क्या समझाना चाहती थीं, पता नहीं। पता था माँ को बड़े-बड़े आडम्बर पूर्ण नाम अच्छे लगते थे। किन्तु तापस अपने नाम के लिए ज़िम्मेदार नहीं है। मैं दोपहर में पड़े-पड़े जितने प्रसिद्ध शिल्पी हैं, उन्हें याद करने लगी। विकास, श्यामल, जोगेन, प्रकाश... उनके ऐसे ही तो नाम हैं सब। वे क्या लम्बे-लम्बे और सन्तोषजनक हैं। बिस्तर पर बाबा गर्मी से छटपटा रहे थे, थोड़ी देर पहले बिजली चली गयी थी। भर दोपहर में पानी को छूकर ठण्डी हवा भी नहीं आ रही थी। उस कमरे में तापस अपनी तस्वीरें बना रहा था, इस तरफ के कमरे में, फ़र्श पर चादर बिछाकर माँ और मैं लेटी हुई थी। कहने लगीं, 'सन्दीपन ने सम्पर्क करने का कोई प्रयास भी नहीं किया।'

'सुना है, उसने फिर से विवाह कर लिया है। उत्पल, जातुई, उससे अच्छी तरह सम्बन्ध बनाए हुए हैं, ऐसा लगता है।'

माँ की बात सुनकर मैं एकदम चुप बनी रही। माँ कहती जा रही थीं, उस दिन टूसी कह रही थी, बुतूई ने गलती की है। सन्दीपन को एक बार सेक्सोलॉजिस्ट के पास ले जाना चाहिए था।

मुझे उससे कोई मोह नहीं है। ये सब चीजें मुझे अच्छी नहीं लगती हैं, न मैं इन पर ध्यान देती हूँ। माँ की बात का मैंने यह उत्तर दिया।

माँ बोली, 'मान जाने के लिए मैंने भी तो तुम्हारे ऊपर जोर डाला था। मैंने जैसे दामाद की कल्पना की थी... रूप गुण, स्वास्थ्य तथा नौकरी... कुल मिलाकर उत्पल और सन्दीपन सर्वांग सुन्दर थे। मेरी सुन्दर विदुषी कन्याओं के लिए सुन्दर, सफल दामाद।' मुझसे सहन नहीं हुआ, कष्ट हो रहा है।

बाबा गर्मी के कारण आह, ऊह कर रहे थे।

'हाथ वाला एक पंखा तो तू रख ही सकती थी।'

माँ कहने लगीं।

मैं सोच रही थी। एक इन्वर्टर खरीद लूँ! अप्रैल का महीना हैं। कलकत्ता की गर्मी अब माँ-बाबा को सहन नहीं होती है। उत्तरी बंगाल में रहते हुए यह सोचा भी नहीं जा सकता है कि यहाँ पर गर्मी में कितना कष्ट होता है। एकाएक माँ कहने लगीं... बाबुई, जातुई... उन दोनो के यहाँ एअर कण्डीशनर हैं। तेरे बाबा को लेकर वहाँ अभी ही चली जाती। उनकी तबीयत ठीक नहीं है, थोड़ा आराम से रहते। मैं न हो यहीं बनी रहती। तेरे यहाँ कितनी पुस्तकें हैं, पढ़ते-पढ़ते इच्छा पूरी ही नहीं होती है।

'क्या कह रही हो।' बिछौने पर से बाबा ने अपना मत प्रकट किया, 'तुम यहाँ बनी रहोगी, और मैं वहाँ? अगर हाथ बाला एक पंखा हो तो एअर कण्डीशनर की क्या ज़रूरत? यहाँ पर रात में कितनी हवा चलती है।'

माँ बोली, तुम कुछ भी कहो, बुतूई अभी भी अच्छी तरह अपनी घर-गृहस्थी ठीक से जमा नहीं पायी है। उसी को समझना चाहिए था। उसके पास गाड़ी नहीं है, कुछ भी नहीं है। तो भी तापस टैक्सी बुलाकर यहाँ-वहाँ ले जाता है। उसने एक बार भी भाड़ा नहीं लिया है।

बाबा व्यंग्य करते हुए बोले, 'वह तो पूरा पैसा बुतूई का ही है। टैक्सी का किराया देने की उसमें क्षमता भी है?'

यह सुनकर मै उठ खड़ी हुई। तापस के आत्मसम्मान बोध, व्यय करने की सामर्थ्य अथवा हम दोनों में एक-दूसरे के प्रति प्रश्नहीन समझदारी इन विषयों के बारे में किसी को कोई सफाई नहीं दूँगी। यह भी नहीं कहूँगी कि बाबा जो कुछ सोच रहे हैं, तापस वैसा नहीं है। उनके आँखें हैं, विवेकवान हृदय है, मेरा पालन-पोषण तो उसी के बीच हुआ है। उसी पालन-पोषण पर मुझे आस्था रखनी होगी। नहीं तो मेरी चेतना और विवेक ही मिथ्या हो जाएँगें।

तापस के कमरे में चली गयी। वह बड़े मनोयोग से चित्रांकन कर रहा था। उसने बाबा की बातें क्या सुन ली हैं?और अगर सुन भी ली हों तो क्या? हम दोनों का दुःख और अपमान एक-दूसरे में मिल गया है। उससे मैं कैसे छिपाऊँगी?पसीने से उसका कुर्ता पीठ से चिपक गया था। पजामा में रंग लगा हुआ था। दोनों आँखें थकी हुई थीं। केश भी बिखरे हुए थे। बाहर धूप ढ़लती जा रही थी। उसने कहा मेरे पास बैठो बुतूई। फ़र्श पर बैठ गयी। मेरी सफ़ेद टी-शर्ट की पीठ पर उसने एक लाल रेखा खींचते हुए कहा इसे कहते हैं, पीछे से खींचने वाला आकर्षण।

कमला ने आकर संझा-बत्ती कर दी। मैं और तापस थोड़ी खरीददारी करेंगे यह कहकर निकल पड़े। लौट रही थी, तब माँ का फ़ोन आया। दबा हुआ, चिंतित स्वर था। बोलीं, 'तुम लोग कहाँ हो?' डर गयी। बाबा को कुछ हो तो नहीं गया? माँ कहने लगी, 'सुधांशु बाबू लोग अचानक आ गये हैं।'

'क्या कुछ खरीद लाऊँ? मैंने पूछा।

माँ ने कहा, 'नहीं। कमला ने मैदा निकाल लिया है। लूची बना देगी। दरअसल मैं यह कह रही थी कि तापस अभी यहाँ न आये।

'माँ!' मैं यह कहते हुए चिल्ला उठी।

बगल से तापस बोला, 'धीरे बोलो बुतूई।'

इस बार मैंने धीमे स्वर में कहा, 'माँ, तापस रात में खाने-पीने के बाद अपने डेरे पर चला जाएगा। यही बात तय हुई थी। तुम उन लोगों से क्या इतना भी नहीं कह सकती कि तापस मेरा मित्र है?'

'वे लोग क्या सोचेंगे।'

इस पर मैंने फ़ोन काट दिया। क्रोध से मेरा माथा ठनठना रहा था। सारी बात तापस को बतायी। उसने कहा... यह तो हो ही सकता है। शान्त हो जाओ। चलो हम लोग थोड़ी मिठाई खरीद कर ले चलें।

घर लौटकर देखा सुधांशु दत्त पूरे परिवार सहित बड़ी शान से बैठे हुए हैं। बाबा खूब हँसते हुए उनसे गपशप कर रहे हैं। माँ एक बार कमला की तरफ जाती हैं, एक बार इस तरफ आ जाती हैं। पता नहीं, हम लोगों के आने के पहले ही सुधांशु बाबू लोगों को कुछ बता कर रखा गया है या नहीं। तापस का परिचय दिया जाए ऐसी परिस्थिति बनी ही नहीं। फिर हम लोग क्या करते? तापस अपने कमरे में चला गया। मैं एक पुस्तक लेकर छज्जे वाले बरामदे में कुर्सी डाल कर बैठ गयी। कब पुस्तक में डूब गयी ख़याल ही नहीं रहा। तापस ने पुकार कर कहा, बुतूई मैं जा रहा हूँ। थोड़ा नीचे चलोगी मेरे साथ?

वह कैसा तो शुष्क-सा दिखाई दे रहा था। पूछा 'कुछ खाया है?' 'हाँ, चलों।'

ऊपर गयी। सुधांशु बाबू लोग खाने की मेज़ पर थे। ज़ोरो से हँसी-मज़ाक चल रहा था। माँ-बाबा दोनों ही पुरानी यादों में मशगूल थे। नीचे आकर तापस मुझे लेकर गैराज में गया और उसने दरवाज़ा बन्द कर दिया। मुझसे लिपट कर वह बुरी तरह रोने लगा। भीतर भीषण गर्मी थी। मैं कुछ समझ नहीं पा रही थी। क्या उसका किसी ने बहुत अपमान किया? माँ? बाबा? हम दोनों ही पसीने से भीग गये। कुछ पल बाद नाक, मुँह रूमाल से पोंछकर उसने बताया.... 'मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है बुतूई।'

'क्यों?'

सुधांशु दत्त किसी सामन्त की चर्चा कर रहे थे, जिसने हालफिलहाल किसी विवाह-विच्छेद वाली महिला से विवाह किया है। उसे सुनकर बाबा कहने लगे 'ओह! अन्ततः सेकेण्ड हेण्ड हा हा हा।'

बात समाप्त कर तापस फिर मुझसे लिपट कर रोने लगा, 'बुतूई यह तो तुम्हारा अपमान है पिता होकर यह बात वे कैसे कह सके?'

मैं तापस को पकड़े थी। मेरा अन्तःकरण छिः छिः कर उठा। मैं आखिर क्या कहूँ? शिक्षा और संस्कृति की दबी हुई गुफ़ा से निकल पड़े अश्लील आचार। पुराना गन्दा दृष्टिकोण। मेरे श्रद्धेय पिता श्री कुछ उसके अपवाद तो हैं नहीं। इसका अनुभव कर मेरी कोई खुश होने की तो बात थी ही नहीं। तापस को ज़ोर से कई छींके आयीं। आज दोपहर भर उसकी देह पसीने से लथपथ रही है। शाम को हम लोग बाज़ार गये थे। तब एक बार फिर छींकें आयी थीं। कहीं से उसे संक्रमण भी हो सकता है। तापस को टोंसिल का भी बड़ी जल्दी संक्रमण होता है। मैं तुरन्त उसे लेकर गैरेज से निकल पड़ी। सड़क पर चुपचाप चली जा रही थी। सड़क के दोनों ओर झाड़ी-झुरमुट और जुगनू। सहसा याद आया कल पहला वैशाख है। बाबा का जन्म दिन। वैसे भी किसी का जन्मदिन मुझे याद ही नहीं रहता है। किन्तु बाबा का जन्म दिन पहला वैशाख होने की वजह से अपने आप याद आ जाता है। यह बात तापस को बतायी। उसने कहा तो फिर क्या कल केक लाऊँ।

इस पर मैं बोली, 'लाओ। पास में पैसा है?'

'हाँ! तुम दो ना। कल थोड़ी देर हो सकती है।'

वह चला गया। मैं भी लौट आयी। सुधांशु दत्त लोग तब घर से निकल ही रहे थे। रात में खाने बैठी तब माँ ने कहा- 'कल तेरे बाबा का जन्म दिन है!'

मैं बोली, 'हाँ याद है।'

'अधिक-से-अधिक पुलाव बना लूँगी। कमला आज ही पायस बनाकर रख गयी है। तेरी कल छुट्टी है ना?'

'हाँ छुट्टी है।'

'सबेरे अच्छी तरह देखकर भेड़े का माँस मँगा देना। बातुई, जातुई सभी लोग ज़रूर आएँगे।

'आने को उन लोगों ने कहा है?

'कहेंगी आखिर क्या? पहला वैसाख, उस पर बाबा का जन्म दिन, प्रणाम करने क्या नहीं आएँगी?'

'मैं तो भेड़े का माँस खरीद नहीं पाऊँगी। मुझे उसके अच्छे-बुरे की पहचान ही नहीं है।'

'तापस?'

'उसके आने मे थोड़ी देरी होगी। ठीक है, देखती हूँ नारायण से कहूँगी।'

सात

सवेरे से ही कई फ़ोन आए और किये गए। किससे क्या-क्या बातें हुईं इस पर ध्यान ही नहीं दिया। जन्म दिन पर बाबा को क्या दूँ। बाबा को कोल्हापुरी चप्पलें खूब पसन्द थीं। सोच रही थी पैरों का नाप लेकर शाम को जाकर खरीद लाऊँगी। पास में ही एक विशाल शापिंग मॉल आजकल खुल गया है, बस में बैठकर, तीसरे स्टाप पर है। माँ ने सवेरे

ही एक नयी बातिक प्रिण्ट का कुर्ता पहन लिया था। खूब याद करके लायी थीं। सबका जन्म दिन उन्हें याद रहता था।

प्रायः साढ़े दस बजे तापस आ गया। भुने हुए माँस की गन्ध से कमरा महमहा रहा था। माँ खुद ही तल रही थीं। तापस गुलाबी रिबन से बँधे हुए एक सुन्दर पैकेट को बाबा के हाथ में देकर प्रणाम करते हुए कहने लगा, 'खोल कर देखिए मौसा जी।' बाबा विस्मय भरे थोड़े लज्जित मुँह से कहने लगे, 'ये सब क्यों?'

तापस माँ को प्रणाम कर रहा था। अपने कन्धे के झोले से एक तस्वीर निकाल कर उनके हाथ में उसने रख दी। सफेद धरती पर काले रंग से बनायी गयी वर्षा ऋतु की प्रकृति की छवि थी। मानो एक शान्त, सिक्त-मेघ-मेदुर ग्राम माँ के हाथ में रख दिया गया हो। लक्षित किया कि माँ ने तापस के सिर पर हाथ नहीं रखा था। छवि को देखकर बोलीं, 'वाह! बहुत सुन्दर!'

बाबा ने तब तक पैकेट खोला नहीं था। इस बार मैं बोली, 'इसे खोलिये ना बाबा।' बाबा ने उसे खोला, 'गोल, चॉकलेट का केक था। गहरी बादामी धरती पर सफ़ेद क्रीम से लिखा हुआ था 'शुभ जन्म दिन मौसा महाशय।'

बाबा न तो खुश थे, न अप्रसन्न। माँ जैसे कुछ बुझी हुई-सी थीं। काफ़ी मान-मनौउल के बाद बाबा केक काटने को राज़ी हो गये। खाने में कितना स्वाद था! जितना उत्साह था मैंने ही दिखाया था। बड़े सवेरे पार्क स्ट्रीट जाकर केक पर नाम लिखा आया था तापस। बाबा-माँ क्या और भी अधिक खुशी प्रकट नहीं कर सकते थे। माँ एक प्लेट में थोड़ा माँस और झोल लाकर बोलीं, 'बुतूई थोड़ा चख कर देख ना!'

मैने कहा, 'माँ इच्छा नहीं है।'

सोच रही थी माँ तापस से कहेंगी चखकर देखने के लिए। किन्तु उसके बदले माँस कढ़ाई में डालकर झोल को खुद ही चाट कर देखने लगीं। तापस अपनी तस्वीरों के पास चला गया था। देखा, बाबा धीरे-धीरे उसी कमरे में चले गये। यह दृश्य इसके पहले कभी नहीं देखा था। थोड़ी देर बाद उस कमरे में मैं चक्कर लगा आयी। देखा तापस का काम तो खूब सराहा जा रहा है। बाबा खाट पर जमकर बैठे-बैठे चाय- बागान के अपने अनुभवों का बखान कर रहे हैं।

तो क्या इस बार तापस को स्वीकार कर लिया गया है? उसको सर्दी बुरी तरह लग गयी है। माँ क्या हमारे लिए थोड़ा काढ़ा बना देंगी? अदरख, तुलसी की पत्ती, दालचीनी इन सबको डालकर। सर्दी में इन सबसे हमें बड़ा आराम मिलता है क्योंकि ये सब बड़ी उपयोगी होती हैं। बोली, थोड़ा वह काढ़ा बना देगी?

किसके लिये, माँ जानते हुए भी बनाना नहीं चाहती थीं। तापस का जुकाम माँ की नज़र में तो आ ही गया था। बोली, कमला से कहे दे रही हूँ। वह बना देगी।

माँ स्नान करने चली गयीं। कमला अदरख, दालचीनी, काली मिर्च इनको बाँटते-बाँटते कहने लगी, अपने हाथ से नहीं बनाओगी? विवाह तो किया नहीं है इसीलिए तापस दा अभी तक आपके नहीं हुए हैं। मैं हँसने लगी। आखिर कह ही क्या सकती थी। कमला ही मेरी घर-गृहस्थी की देखभाल कर रही थी। उससे क्या छुपाना? उसका कहना है, लोग समझते थोड़ी ही हैं। विवाह से बढ़कर खसखसी, नाजुक वस्तु और क्या होती है! उसके ऊपर मौसी जी का मिजाज़ खराब है। उनके लड़के का फ़ोन आया था। कोई काम आ गया है, इसलिये आ नहीं पाएगा।

बड़दा नहीं आएँगे? टूसी बच्चे लोग कोई नहीं? माँ ने तो मुझे कुछ बताया नहीं! भालदीदी लोग ज़रूर आएँगी।

दोपहर का खाना खाकर तापस चला गया। शाम को अब नहीं आएगा। उसे कोई ज़रूरी काम है, मैं शाम को माँ को साथ लेकर शापिंग मॉल से बाबा के लिए कोल्हापुरी चप्पल और भी कुछ छोटी-मोटी चीज़ें खरीद लायी। माँ जल्दी मचा रही थीं, जातुई उत्पल कहीं आ न गये हों? किन्तु सात बज गए, आठ भी बज गये। वे लोग नहीं आये। उनके बदले फ़ोन आया। बाबा से उत्पलदा कह रहे थे, सोच रहा था आपके लिए केक लेकर आऊँगा किन्तु काम में अटक गया फिर भी आपकी लड़की ने आपके लिए यहाँ पूजा-अर्चना की है।

माँ सिर्फ़ यह कह सकीं, जातुई तो एक बार आ सकती थी? उसके पास गाड़ी हैं, सभी साधन है। क्या उसको भी काम था?

आठ

क्लास लेते समय मैं अपना फ़ोन निःशब्द रखती हूँ। उसी के बीच प्रकाश का उदय हुआ। देखा तापस का फ़ोन था। क्लास समाप्त कर मैंने फिर फ़ोन किया। उसने कहा मैं कॉलेज के बाहर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। एक बार आ जाओ ना।

कालेज में? तापस?क्यों क्या बात है? बड़े भय से डरते-डरते दौड़कर नीचे गयी। हाँफ रही थी। पर वह खूब हँस रहा था। आस-पास छात्र-छात्राओं की भीड़ थी। बड़ी सावधानी से बोली, 'आखिर क्या मामला है?क्या हो गया है?'

'तुमसे मिलने की बड़ी इच्छा हो रही थी।' चार बार छींक कर, दो बार खाँस कर, रूमाल से नाक-मुँह पोंछा।

मैंने डाँटते हुए कहा, 'तापस यहाँ छात्र लोग हैं।' पर मेरी बात सुनकर वह प्रतिक्रिया हीन रहा। कहने लगा, छात्र लोग हैं तो उससे क्या, ये दीदी मणि लोग शायद किसी से प्यार नहीं करती हैं?

इस बार मैंने बड़ी अनुनय के साथ कहा, 'बताओ ना! आखिर हुआ क्या?'

वह मेरी ओर देखता हुआ अचरज भरी हँसी हँसने लगा। बताने लगा, 'वेदवती मुम्बई में तुम्हारे तापस कुमार की तस्वीरों को दस लाख रुपये मिले हैं।'

'क्या?' जैसे मेरा गला फटा जा रहा हो। पैरों तले की ज़मीन काँपने लगी। दिमाग सन-सन करने लगा। क्या में गिर पड़ूँगी? किसी तरह सिर्फ़ यह कह सकी, 'कब?कैसे?क्यों?'

सुनकर वह तो हँसने लगा। कहने लगा, 'यहाँ से चलो।'

मैं तुरन्त कॉलेज से निकल आयी। दोनों लोग निकल पड़े। उसने एक टैक्सी ले ली। मेरा हाथ पकड़कर कहने लगा, 'कहाँ चलना है?'

कहा, 'तुम्हारे पटुआटोला वाले कमरे में।'

'ऐसी गर्मी में?'

'गर्मी बनी रहने दो।'

'आज मेरे दुलार करने का दिन है, है न बुतूई?'

'हाँ, तापस। काश! अगर पुरी जा पाते!'

'कैसा अचरज है बुतूई।'

'कैसा?'

'मैं तुम्हें यही उपहार देना चाहता था।'

'क्या?'

'तुमने एक बार कहा था, मौसा जी ने समुद्र नहीं देखा हैं। चलो हम लोग उन्हें समुद्र समर्पित करें।'

'तापस?'

'इससे तुम हक्की-बक्की क्यों हो रही हो? तुम्हारे माँ-बाबा क्या मेरे माँ-बाबा नहीं हैं? इस बार किन्तु सारा खर्चा मेरा रहेगा। तुम एक रुपया भी खर्च नहीं करोगी। कहते-कहते वह फिर खाँसने लगा। मैं उसका हाथ ज़ोर से पकड़े हुए थी। वह कहता जा रहा था, 'कुल मिलाकर कितना रुपया मिला है, पता है?'

'कितना?'

'उन लोगों ने मेरी पाँच छवियाँ ली थीं। एक बिकी है दस लाख में। बाकी छवियाँ एक, दो तथा अढ़ाई लाख में। बस इसी क्रम से। कुल मिलाकर साढ़े सत्रह लाख हुए हैं। तैंतीस परसेण्ट उन लोगों ने काट लिये हैं।'

'तापस मैं तो यह सोच भी नहीं सकती थी।'

तापस ने मेरा कन्धा पकड़ कर मुझे पास खींचकर टैक्सी वाले से कहा, 'भाई, कुछ ख़्याल मत करना, आज हम लोगों का बड़ी खुशी का दिन है।'

टैक्सीवाला मुँह फेरकर हँस रहा था। आँखों में क्यों इतने आँसू आ रहे थे।

नौ

कई वर्ष पहले मैं इस होटल में ठहरी थी। पुरी का सबसे मँहगा होटल। इसके कमरों से विस्तृत समुद्र देखा जा सकता है। यहीं पर पहली बार मेरी खुली पीठ पर हाथ फेरते-फेरते एकाएक जलती हुई सिगरेट संदीपन ने कूँच दी थी। वह यहीं पर ठहरेगा, यह तापस ने मुझे बताया नहीं था। सिर्फ़ उसने यही कहा था कि मुझे चौंका देगा। मेरे शरीर पर जितने चहँकाने के निशान हैं, उनके बारे में वह सब कुछ जानता है।

भुवनेश्वर एअरपोर्ट से हमें गाड़ी लेकर आ रही थी। सोच रही थी माँ-बाबा को राजी करने के लिए काफ़ी ज़हमत, उठानी पड़ेगी। किन्तु ज़हमत नहीं उठानी पड़ी। माँ ने सिर्फ़ यह पूछा, क्या तापस भी चलेगा? मैंने कहा था, वह तो जाएगा ही।

माँ बोली बाबुई लोगों को मैं नहीं बताऊँगी कि वह जा रहा है।

इस बात को लेकर मैंने उनसे बहस नहीं की। तापस ने पहले से ही फ़ोन कर होटल में बात पक्की कर रखी थी। इस ग्रीष्म में भी पुरी में खूब भीड़ होती है। फिर भी इस पूर्वी तट पर अभी भी साँस ली जा सकती है। स्वर्गद्वार की तरह यहाँ सघन भीड़ नहीं होती है। अगर मैं और तापस आते तो पास के ही एक छोटे-से होटल में रुक जाते। पुरानी फीके रंग वाली बाड़ी। जिसका भाड़ा भी कम होता।

तापस स्वागत करने वाली मेज़ पर बात कर रहा था। मैंने देखा कि बाबा कमरों का किराया कितना है, इसकी सूची देख रहे थे। उनके पास जाकर बोली, 'जाओ ना, उस सोफ़े पर जाकर बैठो।'

बाबा मेरी ओर ताक कर कहने लगे, बुतूई तेरी इतनी तो आमदनी है नहीं जो तू हमें हवाई जहाज़ से लेकर इतने मँहगे होटल में ठहराएगी। इतने खर्चे का अर्थ क्या है?

मैं एक तरह से बाबा को खींच कर ले ही गयी सोफ़े की तरफ। तापस बुलाए जा रहा था। किस तरह के कमरे लेना है इस सम्बन्ध में चर्चा करनी थी। माँ ने बुलाया, बुतूई, ठहरने का क्या इन्तज़ाम हो रहा है? अर्थात् मैं और तेरे बाबा कमरे में और .....' कहकर माँ रुक गयीं।

माँ के डर का मैंने अंदाज़ा लगाया। मैं बोली, 'एक कमरा है माँ। पूरा सूट। उसमें चारों लोग आराम से ठहर सकेंगे। बाबा और तापस एक कमरे में लेट सकते हैं। तुम्हें अगर तापस के साथ रहने मे कोई आपत्ति हो तो वह अलग से एक और कमरा ले लेगा।

माँ तुरन्त बोलीं ना, ना।। आपत्ति कैसी। एक साथ इतनी दूर की यात्रा में आये हैं।

विशाल कमरा। खूब सुन्दर। जैसे दो कमरों का फ्लैट हो। किन्तु बाबा का मन-मिजाज़ अत्यन्त खराब था। स्नान आदि सम्पन्न कर कहने लगे, ऐसे होटल में क्या पहले रुका नहीं हूँ? असम कितनी बार गया हूँ।'

मैंने जवाब दिया, 'ये सब बातें आप क्यों कर रहे हैं?'

'इतने खर्चे का क्या अर्थ होता है? सभी खर्च मिलाकर आखिर तुम्हारे ऊपर ही भार पड़ेगा?तू कितनी कमाई कर रही है, इससे तो तेरी गर्दन टूट जाएगी?तुझे अपनी सुरक्षा की ज़रा भी चिन्ता नहीं है। तेरा कोई भविष्य नहीं है? तू अपना हाथ उल्टा ही करे रहती है। कितना खर्च हो रहा है मुझे पूरा हिसाब देगी। मैं जितना हो सकेगा दे दूँगा। अपरिमित विलासिता मुझे ज़रा भी अच्छी नहीं लगती है।'

बाबा की बात सुनकर मैंने तापस की ओर देखा। वह लगातार खाँसता जा रहा था। उसे सर्दी लग गयी थी। और सिर नीचा कर वह मीनू कार्ड पढ़ता जा रहा था। जैसे उसने कुछ सुना ही न हो। मुझसे और रहा नहीं गया, मैं बोली, 'इस बार का टूर आपको तापस की ओर से समर्पित है।'

'माने?'

'उसकी एक तस्वीर के ही दस लाख रुपया मिले हैं कुल पाँच तस्वीरें थीं। साढ़े सत्रह लाख रुपये में बिकी हैं।'

'कितने रुपयों में?'

माँ-बाबा दोनों ही स्तम्भित रह गये। तापस जल्दी-जल्दी कहने लगा, 'यह सब हिसाब-किताब रहने भी दो ना! मौसा जी, आपने कभी समुद्र नहीं देखा था और उसी को अच्छी तरह नहीं दिखाया जा सका। रास्ता चलते हुए वहाँ से क्या कुछ समझा जा सकता है? आईए।'

तापस बाबा का कन्धा पकड़कर उन्हें विशाल जंगले के पास खींच लाया। उसने परदा हटा दिया। एक पल में ही पूरा समुद्र कमरे में घुस पड़ा। तापस कह रहा था,' देखिए मौसा जी यह रहा समुद्र।'

बाबा ने अपने माथे पर हाथ रख लिये, 'यह तो विस्तृत मैदान की तरह लग रहा है।'

'देख रहे हैं, वे जो लहरें हैं सफ़ेद फ़ेन लहरों के साथ उठकर गिर रही है? शाम को ठीक उसकी वेला भूमि पर ले जाऊँगा तब आप उसे अच्छी तरह देख सकेंगे।'

इसके बाद तो समुद्र में खूब स्नान हुए दो दिन तक। बाबा कहने लगे, मैं धोती पहनकर पूजा करूँगा। मैं अचम्भे में पड़ गयी। बाबा की इस ज़िद पर खूब आनन्द भी उठाया गया। बाबा को कभी धोती पहनते देखा ही नहीं था। पूजा-ऊजा वे, एक तरह से, करते भी नहीं थे। उनके मन में इस तरह की कामना थी, यहाँ आये बिना उसे जान भी नहीं पाती। उनके लिए धोती खरीदी गयी। ठसा-ठस भीड़ और कीच के कारण फिसलन भरे जगन्नाथ जी के गर्भगृह में एक हाथ से बाबा को और दूसरे हाथ से माँ को पकड़कर पंडा जी के पीछे-पीछे परिक्रमा कर आया ईश्वर में विश्वास न करने वाला तापस। उसे पता था मैं अकेले सम्हाल ही नहीं सकती थी। दूसरे दिन सवेरे उठकर देखती हूँ, तापस अकेला ही जंगले के पास बैठा हुआ था। उसने मुझे बुलाया। मैं उसके नज़दीक बैठ गयी। वह एक बार नाक साफ़ करता है तो एक बार खाँसता है, मुझे अपने पास खींचते हुए पकड़ कर बोला, 'वह देखो।' मैंने देखा समुद्र तट पर माँ सीपियाँ बटोर रही हैं और बाबा माँ के हाथ से उन्हें लेकर बड़े जतन से अपनी पॉकेट में डाल रहे हैं। उसने कहा, 'बूढ़े होने पर हम भी ऐसा ही करेंगे। बुतूई तुम्हें मानसिक सन्ताप तो नहीं है?इस होटल में मैं इसलिये ठहरा, जिससे तुम्हारी कटु स्मृतियाँ थोड़ी खत्म हो जाएँ। मैंने कोई भूल तो नहीं की?' मैं उसकी गोद में लेट कर बोली, 'मैं अच्छे से हूँ।'

शाम को तापस को तेज बुखार हो आया। दवा लाकर उसे खिलाती गयी। पानी की पट्टी उसके माथे पर रखी- यह सब करने के बाद बड़ी रात को लेट सकी। बड़े तड़के बातचीत की आवाज़ से मेरी नींद टूट गयी। देखा तापस घोर नींद में सो रहा है और बाबा अपना कम्बल उठाकर उसके कान, सिर अच्छी तरह ढँककर कह रहे हैं, ए.सी. की हवा से गले का दर्द बढ़ जाएगा। इसकी तबीयत तो ठीक नहीं हैं। मेस में रहता है, क्या खाता है अथवा नहीं भी खाता हो।'

माँ कह रही थीं, फिर भी हम लोगों को ले आया। दूसरे का लड़का होते हुए भी। बाबुई, जतुई आदि लोग कितनी जगह जाते रहते हैं। अराकान की घाटी, लक्ष्यद्वीप, अबू पहाड़, सिंगापुर, एक बार भी क्या हमसे चलने को कहा है?

बाबा कह रहे थे, उसके माथे पर हाथ रखकर तो देखो, कहीं बुखार बढ़ तो नहीं गया हैं। कल एक थर्मामीटर नहीं आ सका। बुतूई ही देखभाल कर खरीदेगी।

माँ तापस के माथे पर हाथ रखकर बोलीं, 'नहीं, ज्वर उतरने की ओर है। दरअसल बुतूई तो हमारे बच्चों में सबसे छोटी है, उसे थोड़े सहारे की ज़रूरत है। वह तो तापस पर ही निर्भर है। वही तापस बीमार है, इसलिये वह हतबुद्धि हो गयी है।'

'एक साथ रह सकते हैं। जाने के पहले उससे कह देना। मेस छोड़कर बुतूई के साथ रहने के लिए। आसपास बस्ती है। कितने असामाजिक लोगों के अड्डे हों क्या पता। लड़की अकेले ही रहती है। और यह भी रहता है कॉलेज स्ट्रीट में किसी अँधेरी, सीलन भरी जगह में। अगर ध्यान नहीं दिया गया तो इसके बाद उसे प्लूरसी हो जाएगी। अगर स्वास्थ्य अच्छा न रहा तो वह काम कैसे करेगा?'

मैं आँख बन्द किये लेटी रही। मेरे सभी घाव, सभी परिताप, सभी जलाने के चिह्न आज खत्म हो गये। आँखो में आँसू आ गये। सिर्फ़ एक सवाल ने भद्दा रूप धारण कर मेरी जीभ को काट लिया। इस स्वीकृति और अपनाने का मूल्य भी क्या सत्रह लाख रूपये है?अथवा समुद्र सचमुच में बहा ले जाता है, चिताभस्म, अँगार और अधजली लकड़ियाँ!

ज्ञानदीक्षा

क्षितिमोहन सेन

(यह व्याख्यान आचार्य क्षितिमोहन सेन ने २० अक्टूबर १९४० को बम्बई हिन्दी विद्यापीठ के दीक्षान्त समारोह के अवसर पर दिया था। क्षितिमोहन सेन शान्तिनिकेतन के प्रतिष्ठित अध्यापक थे और आमतौर से बांग्ला में ही लिखते थे। पर स्वतन्त्रता आन्दोलन के दिनों में उन्होंने भी हिन्दी के महत्त्व और सामर्थ्य को जाना-पहचाना था। यह व्याख्यान उनके हिन्दी-भाषा प्रेम को तो दर्शाता ही है, साथ ही बांग्लाभाषी लेखक और चिन्तक की अनोखी हिन्दी को भी प्रकट करता है। यह व्याख्यान १९४७ में मान कुमार जैन द्वारा सम्पादित 'ज्ञानदीक्षा' से साभार लिया गया है। क्षितिमोहन सेन के लेखन पर इसी अंक में रामशंकर द्विवेदी का लेख प्रकाशित है।)

आपने मुझे यहाँ बुलाया है वह मुझे ऐसा जान पड़ता है, मानो पश्चिम भारत ने प्रीतिपूर्वक पूर्व-भारत को निमन्त्रित किया है। मैं भी पूर्व-भारत की प्रणति को पश्चिम-भारत के इस देव मन्दिर में श्रद्धापूर्वक वहन कर लाया हूँ। हमारे इस देश में देवता के पूर्णाभिषेक का यह नियम है कि उक्त देवता के समस्त धाम और क्षेत्रों से तीर्थोदक ले आना पड़ता है। एक तीर्थ के जल से अभिषेक अधूरा रह जाता है, इसीलिए तीर्थयात्री नानाक्षेत्रों से तीर्थोदक ला कर देवता का पूर्णाभिषेक करते हैं। अन्तर और बाहर से विशुद्ध हुए बिना सर्व तीर्थोदक वहन कर सकना और भी कठिन कार्य है। मैं अपने को उसके योग्य नहीं समझता। फिर भी आप लोगों के स्नेह के जोर से मुझे यह दुःसाध्य भार ग्रहण करना पड़ा है। यद्यपि आपने भार मुझे दिया है, फिर भी मुझे नाम-मात्र का ही दायित्व स्वीकार करना है। क्योंकि सब कुछ तो आप ही करेंगे। मैं तो निमित्त-मात्र हूँ। देवता का रथ खींचने के लिए काठ का घोड़ा लगाया ज़रूर जाता है, यद्यपि खींचते उसे भक्त लोग ही हैं। मैं भी इस अनुष्ठान-रूपी रथ का काठ का घोड़ा हूँ। खींचना आपको ही पड़ेगा।

आपके विद्यापीठ का नाम है 'बम्बई हिन्दी विद्यापीठ'। अर्थात् हिन्दी भाषा और हिन्दी संस्कृति ही आपका प्रधान लक्ष्य है। हमारे देश में विद्या और संस्कृति की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती है। मुझे यह देखकर सन्तोष और हर्ष है कि आज के उत्सव में बहनों की संख्या काफ़ी अधिक है। विद्या और संस्कृति के इस पीठ-स्थान में बहनों का न होना बहुत ही खटकता पर यहाँ उन्हें देखकर मुझे परम आनन्द हो रहा है। आपके इस पश्चिम-भारत में पूर्व भारत की अपेक्षा स्त्रियों का सामाजिक स्थान अच्छा है। फिर भी सामाजिक दृष्टि से चाहे न हो किन्तु धर्म और साधना की दृष्टि से पूर्व-भारत स्त्री-जाति को आद्या-शक्ति के रूप में बराबर देखता आया है। वहाँ शक्ति का स्थान शिव से ऊपर ही है।

पूर्वीय वैष्णवों के अनुसार भी भगवान् की आह्लादिनी शक्ति के रूप में उनका स्थान बहुत ऊँचा है। वस्तुतः जैसा कि भगवान् शंकराचार्य ने कहा है, शक्ति बिना शिव कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं-

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितु
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।

अर्थात् शिव यदि शक्ति से युक्त हों तभी समर्थ होते हैं। ऐसा न हो तो शिव हिलने में भी समर्थ न हों।

यहाँ इस महत्साधना में पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों को भी समान भाव से उद्योगी देखकर मुझे पूरी आशा हो रही है कि यह साधना सार्थक होगी। मेरी इस आशा का कारण है- हमारे शास्त्र कहते हैं कि जब-जब पुरुष शक्ति परास्त हुई है तब-तब नारी-शक्ति की तपस्या ने ही उसकी रक्षा की है। दैत्यों ने जब देवताओं से स्वर्ग-राज्य छीन लिया था तब उन्हें नारी शक्ति की ही शरण लेनी पड़ी थी। गौरी ने अपनी कठिन तपस्या से देवत्व को नष्ट होने से बचा लिया था। शास्त्र बताते हैं कि जब-जब देवत्व खतरे में पड़ा है, संसार का जो कुछ श्रेष्ठ है, जो कुछ उत्तम है, वह लुप्त होने को आया है, जब-जब पुरुष का दर्प और कूटनीति असफल हुई है, तब-तब नारी की तपस्या ने ही उसका उद्धार किया है।

भारत वर्ष में स्त्री का अधिकार नाना क्षेत्रों में क्रमशः संकुचित होता आया है पर धर्म और साधना के क्षेत्र में वह कभी संकुचित नहीं हुआ। मेरा जन्म काशी में हुआ था। मेरे जीवन का बहुत उत्तम अंश काशी में ही बीता है। मैं इसीलिए जब कहता हूँ कि हमारे देश में साधना और धर्म के क्षेत्र में पुरुष की अपेक्षा स्त्री का प्रवेश ही अधिक है, मैं ऐसा कह सकने का अपने को अधिकारी मानता हूँ। मैंने अच्छी तरह देखा है कि जहाँ धार्मिक भाव और आध्यात्मिकता का लेश है वहाँ नारी की श्रद्धा का अभाव नहीं हैं। आपने अपने इस विद्या-क्षेत्र को यदि साधना-क्षेत्र बनाया तो मुझे कोई सन्देह नहीं कि हमारी बहनें अधिकाधिक संख्या में अपनी श्रद्धा लेकर यहाँ उपस्थित होंगी।

आज के इस अनुष्ठान को मैं संस्कृति का राजसूय-यज्ञ समझता हूँ। राजसूय-यज्ञ में नाना प्रदेश से नाना भाँति का उपहार आवश्यक होता है। इसके बिना राजसूय-यज्ञ नहीं हो सकता। आपके यहाँ कर्नाटक, महाराष्ट्र, कोंकण, गुजरात, मलबार, उत्तर-भारत आदि नाना प्रदेशों के सुधीजन अपना प्रेमोपहार लेकर उपस्थित हुए हैं। परन्तु इस उपहार को रख सकने का पात्र कहाँ हैं? सांस्कृतिक उपहार का पात्र है भाषा। आप उसी वाङ्मय पात्र की रचना में दत्तचित्त हैं। बिना इस वाङ्मय-पात्र के राजसूय सफल नहीं होगा। आदर्श और साधना की एकता मनुष्य को एकता ज़रूर देती है परन्तु भाषा की भिन्नता मनुष्य की इस एकता को जाग्रत नहीं होने देती। यूरोपीय प्राचीन कथा में सुना जाता है कि भाषा की विभिन्नता के कारण ही 'टॉवर ऑव बैवेल' टूट पड़ा था और वही मनुष्य जो इस महती साधना के लिए दिन-रात एक कर रहे थे भाषा की विभिन्नता के कारण आपस में ही लड़ने लगे थे और उन्होंने अपनी ही निर्माण की हुई वस्तु को स्वयं ही गिरा दिया था।

किन्तु भाषा यद्यपि एकता का प्रधान वाहन है परन्तु वही एकमात्र ऐक्य-विधायक उपादान नहीं है। और भी वस्तुएँ हैं जो एकता को बनाये रखने में या नष्ट कर देने में महत्त्वपूर्ण भाग लेती हैं। इतिहास में एक भाषा-भाषी लोगों का झगड़ना दुर्लभ घटना नहीं है। अमेरिका और इंग्लैण्ड में जो लड़ाई हुई थी, वह भी एक ही भाषा के होते हुए।

महाभारत की लड़ाई क्या भिन्न भाषा-भाषियों में हुई थी? हमें भाषा की साधना करते समय इन अन्य महत्त्वपूर्ण वस्तुओं को भूल नहीं जाना चाहिए। आज अगर आप खुली नज़रों से देखें तो आपको इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जायगा कि एक भाषा की आवाज़ उठाते हुए भी हम में प्रादेशिकता और साम्प्रदायिकता प्रवेश कर रही है और दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ भी रही है। क्योंकि भाषा ही एकमात्र एकता का हेतु नहीं है और भी बहुत-सी बातें हैं। उनकी उपेक्षा करने से हम 'एक भाषा' की प्रतिष्ठा करने में भी पद-पद पर बाधा अनुभव करेंगे। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि भाषा एक प्रधान और महत्त्वपूर्ण सेतु है। भाषा की सहायता के बिना हम अपने अत्यन्त निकटस्थ व्यक्ति को भी नहीं बुला सकते।

सभ्यताओं के इतिहास के अध्येताओं ने लक्ष्य किया है कि प्रायः प्रत्येक प्राचीन सभ्यता एक-एक नदी को आश्रय करके विकसित हुई है। ठीक भी है। नदी अपने प्रवाह से नाना प्रदेशों को युक्त करती है। किन्तु भाषा और भी ज़बर्दस्त योग-विधायक है। नदी तो केवल बाह्य-सभ्यता के विकास में सहायता पहुँचाती है परन्तु भाषा तो जीवन्त प्रवाह है जो अन्तर-अन्तर में योग-स्थापन करती है। यहाँ भाषा से मेरा उद्देश्य यह नहीं है कि जिस-किसी ज़माने की भाषा या जिस-किसी देश की भाषा योग-स्थापन का कार्य करती है, नहीं; योग-विधायिनी भाषा वही हो सकती है जो सर्वसाधारण की अपनी हो, अपने काल की और अपने देश की। कबीरदास ने भाषा अर्थात् बोली-जाने वाली भाषा की इसीलिए 'बहते नीर' से उपमा दी है और संस्कृत की 'कूप जल' से-

संस्कृत कूप जल कबीरा भाषा बहता नीर

आज हम केवल राजनीतिक दासता के बन्धन से ही जकड़े हों ऐसी बात नहीं है। इससे भी भयंकर बन्धन हमारे अपने तैयार किए हुए हैं जो भीतर के भी हैं, बाहर के भी। हमें उन सबसे मुक्त होना है। अपनी इस मुक्ति के लिए हमें उपयुक्त तीर्थ-स्थान खोज निकालना होगा। जहाँ दो नदियों का समागम होता है वह संगम-क्षेत्र इस देश में बहुत पवित्र माना जाता है; जहाँ और भी अधिक नदियों का संगम हो वह तीर्थ और भी श्रेष्ठ होता है। तीन नदियों के संगम से प्रयाग का माहात्म्य इतना अधिक है कि वह तीर्थराज कहलाता है। काशी में छोटे-छोटे नालों के संगम का भी जहाँ अधिक समावेश हुआ है उस पवित्र पंचगंगा घाट को अशेष पुण्यदाता माना गया है। अपनी मुक्ति के लिए भी हमें साधनाओं और संस्कृतियों का संगम ढूँढ़ निकालना होगा। भाषा को केवल भाषा मानकर हम चुप नहीं रह सकते। हमें उसे संस्कृतियों, विद्याओं और कलाओं का महान संगम-तीर्थ बना देना होगा। अंग्रेज़ी भाषा की महिमा इसलिए नहीं है कि वह हमारे मालिकों की भाषा है बल्कि इसलिए कि उसने संसार की समस्त विद्याओं को आत्मसात् किया है। अंग्रेज़ न भी रहेंगे तो भी उनकी भाषा का आदर ऐसा ही बना रहेगा। हिन्दी को भी यही होना है। उसे भी नाना संस्कृतियों, विद्याओं और कलाओं की त्रिवेणी बनना होगा। बिना ऐसा बने भाषा की साधना अधूरी रह जायेगी। आप लोग, जो आज इस साधना के लिए व्रती हुए हैं, यह बात न भूलें। भाषा हमारे लिए साधन है, साध्य नहीं; मार्ग है, गन्तव्य नहीं; आधार है, आधेय नहीं।

बुतपरस्ती को छोड़ना सहज नहीं है। कभी-कभी वह नाना छद्मवेष धारण करके हमारे बीच बनी रहती है। और यद्यपि हम हल्ला-गुल्ला करके औरों की बुतपरस्ती दूर करने का अभिमान करते हैं, फिर भी वह हमारे पीछे लगी ही रहती है। कभी-कभी हम देव की पूजा न करके देहर (मूर्ति के घर) की पूजा करने लगते हैं। आधेय को भूलकर आधार की पूजा करना कुछ ऐसी ही है। जितना बड़ा भी प्रेमी हो, वह यदि रोज़ एक लिफ़ाफ़ा ही भेजे, चिट्ठी नहीं तो प्रेमिका का धैर्य कब तक टिका रह सकता है? और फिर यदि यह लिफ़ाफ़ा बैरंग हो तब तो कहना ही क्या है? कब

तक कोई केवल इस बात से सन्तोष कर सकता है कि लिफ़ाफ़ा प्यारे के हाथ भेजा हुआ है! कुछ पत्र भी तो हो, कुछ समाचार, कुछ प्रेम-सम्भाषण, कुछ नई जानकारी। भाषा महज़ एक लिफ़ाफ़ा है सो भी बैरंग, क्योंकि इसे पाने के लिए परिश्रम खर्च करना पड़ता है। उसमें का पत्र और उसमें लिखा हुआ साहित्य विज्ञान-सम्बन्धी सत्य है। हमें लिफ़ाफ़े का भी ध्यान ज़रूर रखना चाहिए, क्योंकि वही प्रेम-पत्र को सुरक्षित रूप से पहुँचाता है पर पत्र की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। आपकी सबसे बड़ी आवश्यकता है कि हम हिन्दी-भाषा को नाना शास्त्रों और विद्याओं से भर दें।

एक तरह के लोग हैं जो उन्हीं बातों में सत्य का स्पर्श अनुभव करते हैं, जो सुदूर-काल में कही गयी थी-इन्हें सनातनी कहते हैं। एक और तरह के लोग हैं जो दूर देश में कही गयी बातों को ही प्रामाणिक मानते हैं-इन्हें क्या कहते हैं, मालूम नहीं। पर यह दोनों एक ही जाति के हैं। एक काल-गत सनातनी हैं, दूसरे देश-गत। परन्तु सत्य वस्तुतः सब काल का है और सब देश का। इसीलिए जो जिस श्रद्धा का पात्र है, वह स्वदेशी हो या विदेशी, आज का हो या प्राचीन काल का, हमें उसे वह श्रद्धा देनी ही चाहिए। हमारे इस अनुष्ठान में हमें प्राचीन और नवीन, इस देश की और अन्य देशों की समस्त विद्याओं को निःसंकोच स्वीकार करना होगा। तभी हम उसे महान् बना सकेंगे। यदि यहाँ हमने किसी प्रकार की स्थान-गत या काल-गत संकीर्णता को मन में आने दिया तो यद्यपि हम कुछ लोगों से वाहवाही पा सकेंगे, परन्तु वह सांस्कृतिक आत्मघात ही सिद्ध होगा। ऐसा देखा गया है कि पृथ्वी के नाना भाँति के आत्मघातों में वाहवाही भी मिलती है, परन्तु अन्ततोगत्वा आत्मघात-आत्मघात ही है।

आपको शायद आश्चर्य हो रहा है कि इस शुभ अनुष्ठान के अवसर पर मैं अशुभ बात क्यों कह रहा हूँ। मानसिक दुःख से कह रहा हूँ। हम मुँह से जितना भी 'स्वाधीनता' आदि नाम क्यों न लें, भीतर से हमारे अन्दर आदिम युग की तानाशाही-पूजा ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। इसीलिए हम विशेष काल या विशेष देश को अपना डिक्टेटर मान लेते हैं और उसकी पूजा करने लगते हैं। जब इस युग में मैं मनु की व्यवस्थाओं को शासन करते देखता हूँ या इस देश में यूरोप के आदर्शों की पूजा होते देखता हूँ तो बरबस मुझे यह बात याद आ जाती है। इसीलिए कहता हूँ कि हिन्दी-भाषा में जिस साहित्य का हम निर्माण करें उसमें इन विशेष पूजा के अभ्यासी न हो जाएँ। आप मुझे ग़लत न समझें। मैं न तो मनु का ही कम आदर करता हूँ और न योरोपीय आदर्शों का ही। मेरा विरोधी किसी बात को एकमात्र प्रमाण मान लेने से है।

बहुत से लोगों की भाँति मैं यह नहीं मानता कि समस्त काल और समस्त देश के साथ हम समान भाव से साम्य की रक्षा नहीं कर सकते। एक मामूली अशिक्षित बालिका भी एक ही साथ अपने पिता के प्रति आदर-भाव रख सकती है और साथ ही अपने पति के प्रति भी। पिता के प्रति आदर और प्रेम होना किसी प्रकार उसके पति-प्रेम में बाधक नहीं होता और न ये दोनों बातें उसके भावी पुत्र-प्रेम में विघ्न-रूप हो उठते हैं। एक सामान्य बालिका भी आसानी से अतीत, वर्तमान और भविष्य के प्रति अपना कर्तव्य निबाह ले जाती है। वनस्पति के बीज को देखिए। कितनी पीढ़ियों की परम्परा लेकर वह आया है और भविष्य में भी न जाने कितनी परम्पराओं को वह उत्पन्न करेगा। यह ग़लत बात है कि हम सर्व देश और सर्व काल के प्रति अपना कर्तव्य नहीं पालन कर सकते।

यह मानव का मानव के प्रति जो योग है वह इतनी बड़ी चीज़ है कि मनुष्य ने अपनी सर्वोत्तम साधना का नाम ही दिया है-साहित्य (सहित का भाव)। यह साहित्य ही मुख्य वस्तु है। भाषा तो उसका आधार-पात्र-भर ही है। इसी भाषा और साहित्य के बल पर मनुष्य ज्ञान, कर्म और संस्कृति में पशु को बहुत पीछे छोड़ गया है। क्योंकि इसी के द्वारा उसका योग समस्त काल और समस्त देश से स्थापित हो सका है। भाषा और साहित्य को अस्वीकार करना उस महान् योग

को ही अस्वीकार करना है। इतना बड़ा आत्मघाती विद्रोह और कुछ नहीं है।

हमारे वृहत्तर जीवन में भाषा योग-साधन का कार्य करती है भाषा, उसी प्रकार जिस तरह गृह-परिवार के जीवन में योग-स्थापन करती है माता। क्योंकि बच्चों में आपसी झगड़े कितने भी क्यों न हों, वे स्नेहमयी माँ की गोद में बैठकर सभी द्वन्द्व और झगड़े भूल जाते हैं। जिस प्रकार सच्ची माता सन्तानों के भेद-विभेद बिना दूर किये नहीं रह सकती, उसी प्रकार सच्ची भाषा और सच्चा साहित्य भी अपनी सन्तान का भेद-विभेद दूर किये बिना नहीं रह सकता। भाषा और साहित्य का स्थान भी माता का-सा ही है।

आप कहेंगे कि माता भी कभी मिथ्या होती है?माँ तो सदा सच्ची ही होती है। हमारे देश में जिस भाषा को माता कहा गया है, उस मातृभाषा की गोद में ही तो हम सबने जन्म लिया है। उसी माता ने हमारे चिन्मय स्वरूप की सृष्टि की है। वह माता मिथ्या कैसे हो सकती है?वस्तुतः जब वह माता हमारे चिन्मय स्वरूप की सृष्टि करती रहती है, तब सच्ची ही होती है; किन्तु जब हम उस माता की सृष्टि करने का ध्यान करने लगते हैं तो वह निश्चय ही मिथ्या हो उठती है। माता को सन्तान नानाविध अलंकारों और महनीय वस्त्रों से अलंकृत करे-यह तो उचित है; बल्कि सन्तान का यह कर्तव्य भी है कि वह माता को अधिकाधिक समृद्ध और तृप्त करता रहे पर स्वयं वह माता को ही बनाने लगे, यह एकदम समझ में आने वाली बात नहीं है। हम भाषारूपी माता को नाना भाव से- कला-साहित्य-विज्ञान से- समृद्ध और अलंकृत कर सकते हैं पर उसे काट-छाँट, गढ़-छोल कर नयी माता बनाने का प्रयत्न करना नितान्त दम्भमात्र है।

किन्तु हमने माता को मिथ्या बनाना शुरू कर दिया है। प्रमाण यह है कि हम मुँह से तो एक ही माता की बात कहते जा रहे हैं परन्तु वस्तुतः हमारे भीतर के नाना प्रकार के भेद-विभेद, साम्प्रदायिकता, प्रादेशिकता आदि बढ़ते ही जा रहे हैं। क्या हमें घूम कर देखने की ज़रूरत नहीं है कि हमने माता को काट-छाँट कर ग़लत और निर्जीव मूर्ति बनाने की कोशिश तो नहीं शुरू की है? अश्वत्थामा को दिये हुए चावल की धोवन को चाहे जितना भी दूध कह कर विज्ञापित किया गया हो, उससे उनका बल-वीर्य नहीं बढ़ सका; ठीक उसी प्रकार ग़लत वस्तु को जितने ज़ोर से भी सही कह कर क्यों न विज्ञापित किया जाय, उससे हमारी शक्ति में कोई वृद्धि नहीं होगी। सच्ची माता की सृष्टि तो नहीं की जा सकती पर उसे ध्वंस किया जा सकता है। कभी हमने इतिहास-पुराण में यह नहीं सुना कि किसी ने माता की सृष्टि की थी परन्तु परशुराम की मातृहत्या-प्रसिद्ध कथा है। हम भूल न जाएँ कि मातृहत्या के अपराध में परशुराम को कितना बड़ा दण्ड आजीवन भोगना पड़ा था। एक बार जो कुठार उनके हाथ में जम गया सो जमा ही रह गया, उसे कोई हटा न सका। पिता की आज्ञा की दुहाई देने पर भी उनकी इस दण्ड से- इस बिडम्बना से- मुक्ति नहीं हुई। कुठार वस्तुतः नाश का प्रतीक है। यदि हमने आज विनाश से ही आरम्भ किया तो निश्चित मानिए, यह अस्त्र हमारे हाथ से छूटेगा नहीं; हम कभी भी रचनात्मक कार्य नहीं कर सकेंगे। माता को यदि हम जीवित समझें तो क्या कभी भी उसके अंगच्छेद की बात हम सोच सकते हैं?दक्ष पुत्री भवानी ने जब दक्ष-यज्ञ में पति का अपमान देखकर यज्ञानल में प्राण दे दिए थे तब नारायण ने उनके शव को चक्र से ५१ टुकड़ों में विभक्त कर दिया। ये ही ५१ खण्ड इक्यावन स्थानों में गिरे थे और इसलिए तान्त्रिकों के ५१ पीठ हैं। तान्त्रिक योगियों का कहना है कि जो इन इक्यावन पीठों की साधना एकत्र कर सकता है, उसी की कुल-कुण्डलिनी-शक्ति जागृत होती है।

जोड़-जोड़ कर नारी की सृष्टि कथा हमारे पुराणों में एकदम नहीं हो, सो बात नहीं है। परन्तु इस प्रकार जोड़ी हुई प्रतिमा में मातृत्व की कल्पना ही नहीं की गयी। स्वर्ग की अप्सरा तिलोत्तमा ऐसी ही नारी है। उसका काम था सब का

चित्त हरण करना, मातृत्व नहीं। परन्तु पुराण साक्षी हैं कि वह वस्तुतः किसी का भी चित्त हरण नहीं कर सकी; बल्कि एक विनाशक शक्ति के रूप में ही प्रसिद्ध हो रही। भाषा को जोड़-जाड़कर गढ़ने के पक्षपाती लोग इस कथा को याद रखें तो अच्छा हो। मैं आशा करूँ कि आप माता के योगेश्वरी स्वरूप के ही आराधक हैं। मैं हृदय से चाहता हूँ कि यह विद्यापीठ इसी योगेश्वरी स्वरूप की साधना का क्षेत्र हो।

तन्त्र-शास्त्रों में दो प्रकार की दीक्षाओं की चर्चा है। स्पर्श-दीक्षा और दीप्त-दीप-दीक्षा। पारस पत्थर के स्पर्श से लोहा सोना हो जाता है किन्तु स्वयं पारस नहीं बन जाता। दूसरे को स्पर्श करके वह सोना नहीं बन सकता। यह बहुत ऊँची बात नहीं है। परन्तु दीप्त-दीप के स्पर्श से अदीप्त-दीप जल उठता है और उतना ही प्रकाश देने लगता है जितना पहला। साथ ही अन्य दीप को प्रदीप्त करने की शक्ति भी उसमें आ जाती है। यही दीप्त-दीप-दीक्षा है। पूर्णाभिषिक्त साधक को यही दीक्षा लेनी पड़ती है। मैं आशा करता हूँ कि आपके इस विद्यापीठ में आप यही दीप्त-दीप-दीक्षा लेने आये हैं। इस दीक्षा से जो दीक्षित हैं वे यह न भूलें कि भारतीय-ज्ञान की तपस्या कोई व्यक्तिगत सुख-समृद्धि की तपस्या नहीं है। वह सबके अभ्युदय के लिए है। इसीलिए प्राचीन काल में ब्रह्मचारी की तपस्या का आवश्यक आयोजन समाज को करना पड़ता था और ब्रह्मचारी भी स्नातक होने के बाद अपनी विद्या अपने स्वार्थ के लिए बेच नहीं सकता था। वह समस्त समाज की सम्पत्ति होती थी। इस विषय में पश्चिम ज्ञान-साधना से भारतीय ज्ञान-साधना एकदम भिन्न वस्तु है। वहाँ विद्या व्यक्तिगत सम्पत्ति होती है और उससे व्यवसाय किया जा सकता है। भारतवर्ष में ऐसा नहीं है।

यहाँ के गुरु यद्यपि दरिद्र होते थे तथापि समाज में उनके गौरव का अभाव नहीं था। मनुष्य को अधिकांश धन की आवश्यकता अपनी महिमा के प्रचार के लिए होती है। भारतवर्ष में यह महिमा अपने आप गुरुओं को मिल जाय करती थी। इसलिए वे धन की बहुत आकांक्षा भी नहीं करते थे। यूरोप और अमेरिका में गुरु का वह सम्मान नहीं था। इसीलिए क्षतिपूर्ति रुपयों से की जाती थी। इसीलिए यूरोप अपने सर्वोत्तम गुरु को रुपये के बल पर खोजता है जबकि भारतवर्ष सम्मान और भक्ति के द्वारा। हमारी भयंकर दुर्गति यह है कि आज न तो हम अपनी पूर्व परम्परा के अनुसार गुरुजनों को भक्ति और सम्मान ही दे सकते हैं और न यूरोप की भाँति प्रचुर धन ही। इसका नतीजा यह हुआ है कि हमारे समाज के जो लोग सर्वोत्तम हैं, वे सदा इस ज्ञान-दान के कार्य में नहीं आते। क्योंकि इस कार्य में न तो आज धन की आशा है और न मान का सन्तोष। इसीलिए आज हमारे देश में शिक्षण-कार्य में वे लोग आने लगे हैं, जिन्हें और किसी क्षेत्र में काम नहीं मिलता-

येषां क्वापि गतिर्नास्ति तेषां वाराणसी गतिः

अर्थात् जिसकी और कहीं भी गति नहीं होती उसकी गति वाराणसी होती है। परन्तु यह अवस्था असह्य है। हमारी उगती हुई पीढ़ी अधिकांश क्षेत्र में हमारे सर्वोत्तम मनुष्यों के प्रदर्शन से वंचित रह जाती है। इससे दिन-पर-दिन समाज का चिन्मय जीवन क्षीण होता रहा है। समाज को इधर बहुत पहले ध्यान देना चाहिए था। अपनी सन्तान के लिए दूध में गन्दला जल मिला देने के समान मूढ़ता और क्या हो सकती है?हम वही कर रहे हैं।

इस दुर्गति से रक्षा पाने के लिए समाज के निकट हमें यह कहना है कि तुम जब अर्थ नहीं दे सकते हो तो अपने हृदय की सर्वोत्तम भक्ति इस कार्य में व्रती लोगों को ज़रूर दो। नहीं तो अपनी सन्तान के लिए उत्तम पथ-प्रदर्शक पाने की आशा हमेशा के लिए छोड़ देनी पड़ेगी। जो लोग ज्ञान की दीक्षा प्राप्त कर चुके हैं उनके निकट हमें यह कहना है कि दुःसह दारिद्र्य वहन करके भी आप अपने देश के प्राचीन गुरुओं के महान् आदर्श को अविचलित चित्त से अपनाये

रहें। आपका कार्य तपस्या है। आपका रास्ता कष्ट-सहन का रास्ता है। आपका व्रत संसार का सबसे अधिक पवित्र और कठोर व्रत है।

हम एक तो दरिद्र हैं, दूसरे अधःपतित। समाज यदि हमारी प्रार्थना नहीं सुने और भावी गुरुगण भी यदि हमारी कातर प्रार्थना न सुनें तो हमारे देश और समाज का भगवान ही मालिक है।

दीप्त-दीप-दीक्षा की एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि दरिद्र देश के लिए इससे बड़ी बात और कुछ नहीं है। क्योंकि इस दीक्षा में जो दीक्षित हैं वे सभी एक-एक विश्वविद्यालय हैं। उनके चारों ओर सहयोगी-कर्मी दल रहे या न रहे, बड़े-बड़े मकान और इमारतें हों या न हों, वे स्वयं ही बिना किसी बाह्य साधन के ही सर्वसाधारण को प्रदीप्त करते रहेंगे। वे एक जगह हों तो घूम-फिर कर और विचरण कर रहे हों तो सर्वत्र एक विश्व-विद्यालय के रूप में वर्तमान रहेंगे। वैदिक युग के वशिष्ठ, जनक, याज्ञवल्क्य जैसे बड़े-बड़े गुरुगण क्या उपदेश के लिए लम्बी-चौड़ी आलीशान इमारतों की अपेक्षा रखते थे?श्रीकृष्ण का विश्वविद्यालय तो युद्ध क्षेत्र में चल पड़ा था! बाँस के झुरमुटों के नीचे बैठकर बुद्ध और महावीर ने कितने उपदेश दिये हैं। ज़रथुस्त्र, रत्वीष्ट और मुहम्मद साब के बारे में यह एक ही बात है! ग्रीस के सुकरात आदि आचार्यगण ऐसी-वैसी मामूली जगहों पर बैठकर ही कार्य आरम्भ कर देते थे! भारत के मध्य युग में शंक्कर, रामानुज, नागार्जुन आदि पण्डित या कबीर, रैदास, दादू आदि निरक्षर ज्ञानी सन्त किसी इमारत या विशाल भवन की परवाह नहीं करते थे! आप में से प्रत्येक को ऐसा ही चलता-फिरता विश्वविद्यालय बनना होगा। उड़ीसा में महात्मा लोगों को 'चलन्त विष्णु' कहते हैं। यह बात मुझे बहुत भावपूर्ण प्रतीत हुई। जिस प्रकार प्रत्येक जंगम शिव के वाहक होते हैं वैसे ही आप में से प्रत्येक व्यक्ति सम्पूर्ण विश्वविद्यालय के वाहक हों।

आप यह न समझें कि आपने जो ज्ञान की तपस्या आरम्भ की है वह केवल भारतवर्ष के लिए ही है। वह समस्त संसार के लिए है। एक समय ऐसा था कि भारतवर्ष ने अपनी विद्या और ज्ञान का आलोक संसार के सुदूरवर्ती कोनों तक पहुँचाया था। यह आलोक चीन, जापान, जावा, कम्बोडिया, मंगोलिया, अरब, ईरान आदि पृथ्वी के सभ्य देशों में गया है। वहाँ के लोगों को भी इसकी आवश्यकता थी। उन्होंने सादर इसे ग्रहण किया है। आज के जापान के युद्धवादी यह बात आज चाहें न स्वीकार करें; किन्तु जो लोग ज्ञानसाधक हैं, वे जानते हैं और स्वीकार करते हैं कि एक समय ऐसा था कि उनकी समस्त विद्या और शिक्षा के मूल में भारतीय ज्ञान था। आज से सोलह वर्ष पहले मैं जब कविवर रवीन्द्रनाथ के साथ वहाँ (जापान) गया था और वहाँ के ज्ञानी लोगों से हमारी जो बातचीत हुई थी, वह बहुत ही उत्साहवर्द्धक और मनोरंजक थी। यदि समय का अभाव न होता तो मैं उसकी कहानी आपको बताता।

यूरोप में भी आज जो सभ्यता-विध्वंसी महाप्रलयाग्नि जल उठी है वह स्वपक्ष और परपक्ष दोनों को जलाकर समस्त सभ्यता को निःशेष करके सारे देश को भस्मराशि से ढँक देगी। इसके बाद उसमें नये सिरे से सृष्टि आरम्भ करके लिए नवीन ज्ञान-बीज की ज़रूरत होगी। समस्त जगत् के ज्ञानी और तपस्वी लोग उसी प्रकार ज्ञान-बीज को प्राण की बाजी लगाकर रक्षा करेंगे जिस प्रकार नोआने प्रलय के समय समस्त जीव-बीज की रक्षा अपने जहाज़ में की थी। इस नवीन रचना के भावी कार्य में क्या भारतवर्ष कोई हिस्सा नहीं लेगा?वह दरिद्र है, संहार-कार्य में अयोग्य है- कोई बात नहीं, पर क्या वह सृष्टि-कार्य में भी अयोग्य ही बना रहेगा! इस समय सारी पृथ्वी में ऐश्वर्य और योग्यता का ताण्डव चल रहा है। उसकी सृष्टि कौन करता है? दीन-हीन कृषकों का दल?वे नहीं, जो उड़ा-पड़ा कर सब समाप्त कर देते हैं। उस पवित्र रचना का भार यदि विधाता ने भारत वर्ष के भाग्य में भी कुछ लिख रखा हो तो क्या उसका कुछ अंश आपके अपने जीवन को शुचि और सहज बनाना होगा, उन्नत और दीप्त करना होगा।

आपको उपदेश दे सकूँ ऐसी योग्यता मुझ में नहीं है। किन्तु हमारा जो दुःख है, जो अभाव है, वह हम आपसे न कहें तो कहने की जगह और कहाँ है?दरिद्र के परिवार में जो एक भी आदमी कुछ काम करने लायक हो जाता है तो उसके पास कितने लोग कितनी बातों की फ़रमाइश करते हैं, यह आपका जाना हुआ है। आप लोग इस दरिद्र देश की कर्मक्षम सन्तान हैं; आपको और भी बहुत-सी फ़रमाइशें सुननी पड़ेंगी। यह भी सुननी पड़ेंगी।

दीप्त-दीप के उदाहरण से मैंने आपको व्यक्तिगत साधना की बात कही है। किन्तु एक सामूहिक साधना भी है। पृथ्वी की दीपावली में एक दीप का दूसरे दीप के साथ योग हो या न हो, हमारे सिर के ऊपर के ऊपर जो ज्योतिष्मती दीपावली आकाश में जल रही है, उसमें परस्पर निबिड़ योग है।

हमारे इस देश के इतिहास में 'टीम-सेन्स' (मिल-जुलकर काम करने का भाव) का अभाव नहीं था। काशी का गंगाजल सेतुबन्ध तक ले जाया जाता था। उसे ले जाने का क्रम इस प्रकार था कि काशी से सेतुबन्ध तक आदमी नियुक्त रहते थे। वे एक-दूसरे के हाथ से लेकर उस पवित्र जल को सेतुबन्ध तक पहुँचाते थे। बंगाल के कूचबिहार के राजघराने का दीप और पुष्प भी इसी पद्धति से सैकड़ों मील दूर कामाख्या मन्दिर तक पहुँचता था। मानव के भगवान ने मानव जाति को रुक कर खड़े होने का आदेश नहीं दिया है। उसे चलते ही रहना होगा। अकेला न हो तो समूह करके। हम भारत माता और मानवता की सेवा भी इसी प्रकार संघबद्ध भाव से कर सकते हैं। यह पूजा गतिशील है। जो लोग इस पूजा-प्रदीप के वाहक हैं वे खड़े नहीं हो सकते। उन्हें निरन्तर चलते रहना होगा। आप भी खड़े नहीं रह सकते। आप ही के लिए प्रसिद्ध वैदिक-मन्त्र 'चरैवेति चरैवेति' उच्चरित हुआ था। आप एक युग से दूसरे युग तक और एक देश से दूसरे देश तक यह पूजा-प्रदीप वहन करेंगे। ऋषि के शब्दों में कहूँ तो-

चरन्वै मधु विन्दति, चरन्स्वादुमुदम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्।।

चरैवेति चरैवेति।

वे सभी देश जो समुद्र-तीर से सटे हुए नहीं हैं या कुछ दूर पड़ गये हैं, कोशिश करते रहते हैं कि उनका सम्बन्ध समुद्र से हो जाय। क्योंकि समुद्र के साथ योग न होने से समस्त पृथ्वी के साथ योगस्थापन सम्भव नहीं है। हिन्दी भाषा का क्षेत्र अब तक समुद्र से दूर था। आपकी साधना के बल पर इस बम्बई नगर में हिन्दी का सम्बन्ध समुद्र से हो जाय तो इस संयोग से वह समस्त विश्व की संस्कृति से युक्त होगी। इसीलिए बम्बई में हिन्दी का पीठ स्थान स्थापित होने का गम्भीर अर्थ है। विश्व की संस्कृति के साथ सम्बन्ध होने का एक दुःसह भार है। आप लोगों को उस भार के सहन के योग्य होना होगा।

आपसे बहुत दूर रहता हूँ। आपकी कठिनाइयाँ क्या हैं, असुविधाएँ क्या हैं, इनकी कुछ भी जानकारी मुझे नहीं है। अच्छी-बुरी बहुत-सी बातें कह गया। किन्तु इतना मैं मानता हूँ कि जिनकी आशा और आदर्श महान् होते हैं, जगत् में उन्हें दुःख भी बहुत उठाना पड़ता है। सबसे बड़ा दुःख तब होता है जब हमारी आशा हमारी शक्ति से बड़ी होती है। रवीन्द्रनाथ ने इसीलिए कहा है-

हे दीनवत्सल, मेरी शक्ति तो थोड़ी है पर आशा थोड़ी नहीं है

सम्भव है आपकी शक्ति सीमित होगी और सम्भव है घर और बाहर आपकी आन्तरिक वेदना अभी भी पहचानी नहीं

गयी है, सम्भव है ऊपर से और नीचे से आपकी उपेक्षा हो रही हो पर दुःख चाहे जितना भी क्यों न हो आपको तपस्या की अग्नि जलाये रखनी होगी।

मुझे और कुछ नहीं कहना है। अपना अन्तरतम नमस्कार यहाँ स्थापन करके मैं विदा होना चाहता हूँ। यहाँ के योग्य साधकों को नमस्कार करता हूँ। जो यहाँ के पुराने स्नातक हैं, उन्हें नमस्कार करता हूँ, जो नये स्नातक हैं, उन्हें नमस्कार करता हूँ, जो भावी स्नातक हैं, उन्हें नमस्कार करता हूँ। जो यहाँ ज्येष्ठ हैं, उन्हें नमस्कार करता हूँ और जो कनिष्ठ हैं, उन्हें नमस्कार करता हूँ।

वैदिक समाज, भाषा और बोलियाँ

भगवान सिंह

भारोपीय पुराण

भारोपीय भाषा, उसका परिवार, आर्यों की जाति, भारत पर आर्यों का आक्रमण, ये सभी, संस्कृत के भारत से लेकर यूरोप तक प्रसार को नकारने के लिए गढ़े गये नव्य पुराण हैं, जो भारतीय पुराणों से अधिक खयाली हैं। यूरोप के सन्दर्भ में ये वही काम करते रहे हैं जो भारतीय मूल्यों, सवर्ण हितों और वर्णवादी आग्रहों को उचित सिद्ध करने के लिए, अपने प्रसार क्षेत्र में, पुराण करते रहे हैं। पुराणों में युगों पुरानी अधविसरी घटनाओं के ज्ञान को हस्तान्तरित करने का कुछ प्रयत्न था, इतिहास की रक्षा का एक प्रतीकात्मक प्रयास था। पश्चिम के नये पुराणों में अपने वर्चस्व की रक्षा के लिए इतिहास को ही नहीं मानविकी की सभी शाखाओं को प्रदूषित और विकृत करने का प्रयत्न किया गया। यदि इसे ज्ञान कहते हैं तो ज्ञानाडम्बर किसे कहेंगे?

ये पुराण जिन पायों पर खड़े, थे वे सभी गिर गये। समस्या जहाँ से आरम्भ हुई थी फिर भी वहीं। अब पश्चिम की औपनिवेशिक जरूरतें समाप्त हो चुकी हैं। काली चमड़ी के प्रति जो जुगुप्सा गोरी चेतना में अठारहवी उन्नीसवी शताब्दी में पायी जाती थी, उसमें इस बोध से कमी आयी है कि आधुनिक मानव के पूर्वज उसी अफ्रीका के काले थे, जिनका रक्त गोरे-काले सभी में है, फिर भी वर्चस्व की चेतना और इसे कूटनीतिक प्रयोजनों से बनाये रखने की चिन्ता कम नहीं हुई है। आज भी ऐसे लोग हैं जो पश्चिमी तुलनात्मक भाषाविज्ञानियों के प्रभाव के कारण या अपनी मिटती हुई साख बचाये रखने के लिए यह दुहराते रहते हैं कि आर्य भले न आए हों पर संस्कृत भाषा तो पश्चिम से ही आयी। प्रमाण एक भी नहीं परन्तु विश्वास दृढ़ है।

इसकी संक्षिप्त पड़ताल में हम इसलिए जाना चाहेंगे कि यह सैद्धांतिक, व्यावहारिक और फलागम तीनों स्तरों पर एक गलत मान्यता थी फिर भी हमारे विद्वान इसी के कूड़ाघर को अपनी ज्ञानसम्पदा मानते हैं और इसी का प्रसार करते हैं।

मूल्यव्यवस्था और भौतिक उत्कर्ष

यूरोप का भारत से सामना इतिहास के जिस मोड़ पर हुआ, उस समय यहाँ दो तरह के समाज थे। एक की जड़ें सामी थी, जिनके जीवन मूल्य वंशवृद्धि करो और दुनिया पर छा जाओ - प्रोलिफरेट एण्ड डॉमिनेट में बुनियादी समानता थी। इसे उन्होंने अपने हथकण्डों से पराजित करके अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। मूल्य व्यवस्था एक थी इसलिए इनसे उन्हें न कोई सांस्कृतिक चुनौती मिली, न ग्रहण करने को कुछ था। दूसरा समाज छह सौ साल से दबा सिकुड़ा चला आ रहा था। यदि सोलहवीं सदी से लेकर बाद तक के ईसाई मिशनरियों की रपटों, पत्रों, लेखों और पुस्तकों को देखें तो इनमें भारत का चित्रण मिसेज मेयो के मदर इण्डिया जैसा ही था, जिसे देख कर गाँधी जी ने इसे सैनिटरी इन्स्पेक्टर की रिपोर्ट कहा था। इस दबे कुचले और विविध विकृतियों से भरे समाज का उद्धार करना उनके लिए हँसी खेल था। परन्तु यहाँ ऐसे प्रतिरोध का सामना करना पड़ा कि दण्ड, दमन आतंक और हत्या के तरीके तक कारगर सिद्ध न हुए। इसके बाद इसकी प्रतिरोध क्षमता को समझने के लिए उन कृतियों को पढ़ने की जरूरत अनुभव हुई जिसके लिए उन्हें बहुत प्रयास करने के बाद वह भाषा सीखने को मिली जिसमें ये कृतियाँ लिखी हुई थीं और फिर इस भाषा से परिचय के बाद उन्हें ऐसा लगा कि पहली बार एक ऐसे समाज से उनका पाला पड़ा है जिसने सांस्कृतिक स्तर पर उन्हें कुचल दिया है। इसकी तिलमिलाहट, व्यग्रता अनगिनत रूपों में व्यक्त हुई। पश्चिमी अहंकार को रौंदने वाले दो पक्ष थे। एक तो मूल्य व्यवस्था जिसमें अहंकार, दमन, अकारण प्राणिवध, मदिरा-मांस का भक्षण जैसे राक्षसी दुर्गुणों वाले समाज के सामने प्राण देने की कीमत पर भी राक्षस बनने से इन्कार का हठ था। दूसरी थी वह भाषा जो उस समय के विश्वास के अनुसार लाखों साल पुरानी थी और जिससे पता चलता था कि कभी यूनान, इटली ही नहीं पूरे यूरोप पर इनका अधिकार रह चुका है, क्योंकि संस्कृत से परिचय पाते ही इसकी यूरोपीय भाषाओं पर पड़ी छाप दिखाई देने लगती थी।[1] यह बोध एक मानसिक अन्तर्ध्वस्तता पैदा करता था और इसका कारण था कि आक्रमण अधिकार और दमन के अतिरिक्त किसी भिन्न समाज से इतनी गहराई तक प्रभावित होना सामी मानसिकता में अकल्पनीय-सा लगता था।

विलियम जोंस और संस्कृत

अतः इस आत्मग्लानि से बचने के जो तरीके सोचे जाते रहे उनमें कानाफूसी तो चलती रही परन्तु प्रकट स्वीकृति नहीं। जिस मोड़ पर इसे स्वीकार करना ज़रूरी लगा, उस पर कम्पनी के कारिन्दों के सम्पर्क में भारतीय भी अंग्रेज़ी सीखने लगे थे। कोई अन्य भाषा सीखने और उसका विवेचन करने की जैसी समझ भारतीय पण्डितों को थी, उसका अनुमान उन्हें बहुत पहले हो गया था। अब वह क्रान्तिरेखा आ गयी थी जिसके बाद इसे अधिक समय तक छिपा कर रखा नहीं जा सकता था। पुराणों की जो मोटी समझ पादरियों को हो चुकी थी उसमें तो हिन्दू पहले से मानते आये थे कि पूरी दुनिया पर उनके पूर्वजों की सन्तानें ही फैली हैं। संस्कृत की यह छाप उनके विश्वास का अटल प्रमाण बन जाती। जिस समय विलियम जोंस ने इस चुनौती को स्वीकार किया, वह यही निर्णायक मोड़ था। यह दुहराने की

[1] It is perfectly true that Sanskrit had been studied before by Italian, German, and French missionaries; it is likewise perfectly true that several of these missionaries were fully aware of the close relationship between Sanskrit, Greek, and Latin. A man must be blind who, after looking at a Sanskrit grammar, does not see at once the striking coincidences between the declensions and conjugations of the classical language of India and those of Greece and Italy. M.M. Chips from a German Workshop, PROJECT GUTENBERG EBOOK CHIPS Vol. IV.

आवश्यकता नहीं कि जोंस ने किसी नये सत्य का उद्घाटन नहीं किया था अपितु पूर्वज्ञात तथ्य को कूटनीतिक चतुराई से स्वीकार करते हुए उन्होंने एक ऐसा बहाना गढ़ने का प्रयत्न किया था जो किंचित विश्वसनीय लग सके। उन्हें संस्कृत के वर्चस्व को कम करना था, जिसके लिए उन्होंने एक लच्छेदार भाषा में संस्कृत को ग्रीक, लातिन आदि से प्रत्येक दृष्टि से श्रेष्ठ मानने के बाद भी यूरोपीय भाषाओं को इसकी सन्तान मानने की जगह उन्हें संस्कृत की समकक्षता पर लाते हुए इन सभी को एक अन्य पुरानी भाषा की सन्तान घोषित कर दिया। वह भाषा अन्यत्र कहीं मिल नहीं सकती थी इसलिए उसकी खोज से भी यह कह कर मुक्ति दिला दी कि सम्भवतः आज उसका अस्तित्व ही नहीं है। परन्तु वह लुप्त भाषा भी भारत की ही हो सकती थी क्योंकि उनकी ही स्वीकारोक्ति के अनुसार संस्कृत सबसे पुरानी थी और सभी दृष्टियों से श्रेष्ठतर थी। इस दूसरी समस्या का समाधान करते हुए उन्होंने उस कल्पित भाषा का भी उत्स क्षेत्र भारत से बाहर के किसी अन्य देश में तलाशने के क्रम में अरब मध्येशिया चीन सबकी पड़ताल करते हुए ईरान को इसका सबसे उपयुक्त क्षेत्र सिद्ध करने का प्रयत्न किया। उनके जिस तीसरे व्याख्यान के एक पैराग्राफ को सनद की तरह दिखाते हुए भारतीय विद्वान भी फूले नहीं समाते वह एक भुलावा था।[२] ज्ञात हो कि न तो जोंस को अरबी आती थी, न वेद का ज्ञान था, न जेंद की भाषा का उनको अता पता था[३] और जो कुछ पता था उससे उनके ही दावे का खण्डन होता था।[४] ऐसे व्यक्ति को इतनी गम्भीर समस्या का समाधान करने का दुस्साहस भी नहीं करना चाहिए, परन्तु वह प्रशासनिक और पाश्चात्य वर्चस्व की रक्षा का उपाय कर रहे थे, उन्हें उद्धारक पाकर यूरोप के विद्वानों ने उन्हें भाषाविज्ञान का जनक बना दिया तो उनका क्या कसूर।

जोंस अतिरंजित महिमा वाले विद्वान हैं, परन्तु यह बात अकेले उनके साथ नहीं है। इस ग्लानि से मुक्ति दिलाने में जिन लोगों ने तिनके का योगदान किया उन्हें भी अतिविज्ञापित करके युगांतरकारी बनाने के प्रयत्न हुए। संस्कृत और विशेषतः वैदिक संस्कृत से अनभिज्ञता के कारण इसी तरह, हाल के दिनों में, संकटग्रस्त भारतीय इतिहासकारों ने विट्ज़ेल को उद्धृत करना आरम्भ कर दिया जबकि वह अपने अमेरिकी एजेंडे के लिए इनकी शरण आया था या घुसपैठ का रास्ता तलाश कर रहा था। जो विद्वान उसकी प्रत्यक्ष या परोक्ष सेवा के लिए प्रस्तुत हुए वे मुझे जानने और समझने वाला इतिहासकार न मान कर कमाने-खाने वाला इतिहासकार मानते हैं। कोसम्बी को भी संस्कृत के

---

[2]The *Sanscrit* language whatever be its antiquity, is of a wonderful structure; more perfect than the Greek, more exquisitely refined than either, yet bearing with both of them a stronger affinity, both in roots of verbs and in the forms of grammar, than could possibly have been produced by accident; so strong indeed, that no philologer could examine them all three, without believing them to have sprung from some common source, which, perhaps, no longer exists; there is a familiar reason, though not quite forcible, for supposing that both the *Gothick* and the *Celtick*, though blended with a very different idiom, had the same origin with the *Sanscrit*; and the Old Persian might be added to the same family, if this were the place for discussing any question concerning the antiquities of *Persia*. Sir William Jones, Third Annual Discourse, del. 2nd Feb., 1786.

[3]"Sir William Jones, whose name has still, with many, a more familiar sound than the names of Colebrooke, Burnouf, and Lassen, should have known nothing of the Vedas; that he should never have read a line of the canonical books of the Buddhists, and that he actually expressed his belief that Buddha was the same as the Teutonic deity Wodan or Odin, and Śākya, another name of Buddha, the same as Shishac, king of Egypt. The same distinguished scholar never perceived the intimate relationship between the language of the Zend-Avesta and Sanskrit, and he declared the whole of the Zoroastrian writings to be modern forgeries. " Max Muller, *Chips From A German Workshop,* Vol. 1, p 185

[4]But when I perused the Zend Glossary, I was inexpressibly surprised to find that six or seven words in ten were pure Sanscrit, and even some of their inflexions fromed by rules of vyākaran… that the language of was al least a dialect of Sanscrit, approaching perhaps as nearly to it as Prācrit, or other popular idioms that we know to have been spoken in India two thousand years ago. From all these facts it is a necessary consequence that the oldest discoverable languages of Persia were Chāldaic and Sanscrit, and when they ceased to be vernacular, the Pahlavi and Zend were

अज्ञानियों द्वारा तूल दी गयी थी। कोसम्बी से मोहभंग होने के बाद उनकी बारीकी से पड़ताल करते हुए मुझे एक ग्रन्थ लिखना पड़ा।[५] विट्ज़ेल की योजना और ज्ञान पर एक लेख से ही काम चलाना पड़ा।[६] यदि किसी को लगे कि मैंने कोसम्बी और विट्ज़ेल को पूर्वाग्रहवश नगण्य मान लिया तो वे विट्ज़ेल की आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से २०१३ में प्रकाशित नयी पुस्तक दि ओरिजिन ऑफ वर्ल्ड माइथोलोजीज की साउथ कैलीफ़ोर्निया विश्वविद्यालय के प्रो. टोक थाम्सन की ५ दिसंबर २०१३ की समीक्षा की कुछ पंक्तियों का अवलोकन कर सकते हैं।[७] कोसम्बी की पुस्तक दि कल्चर एण्ड सिविलिज़ेशन ऑफ एंश्येंट इंडिया इन हिस्टॉरिकल आउटलाइन के प्रकाशन के बाद उसी साल इसकी जितनी कठोर समीक्षा कृष्ण चैतन्य ने लिखी थी उसका तो पुस्तक लिखते समय तक मुझे पता तक न था। इस लम्बी समीक्षा की आरम्भिक पंक्तियाँ ही पुस्तक और लेखक की असलियत बयान करती हैं।[८]

अहंकार की वेदी पर आत्मबलि

परन्तु इसमें अनेक ऐसे उद्भट विद्वान भी पैदा हुए जिनके पूर्वाग्रह को भुला दें तो उनके श्रम, स्तर, समर्पण भाव को देख कर उनके पांडित्य के समक्ष नतमस्तक होना पड़ता है। परन्तु उनका श्रम भी वहाँ जा कर रुक जाता था जहाँ संस्कृत समस्या पैदा करने लगती थी। हमारे लिए महत्वपूर्ण है कि संस्कृत की प्राचीनता और अग्रता के निषेध की दिशा में पहला सफल कदम विलियम जोंस ने उठाया था। इसका विस्तार तुलनात्मक और ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की महायात्रा में हुआ जिसमें लगातार किसी ऐसे प्रमाण की तलाश जारी रही जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि वह भाषा जिसका प्रसार पूरे भारोपीय जगत में हुआ वह यूरोप में पैदा हुई थी। इससे कुछ हाथ न आया फिर भी संस्कृत या उससे पहले की किसी भारतीय बोली पर विचार करने का रास्ता बन्द करने और भारतीय विद्वानों को भी बरगलाने में सफलता तो मिली ही। तुलनात्मक भाषाविज्ञान बरगलाने के इस प्रयत्न की ऐसी श्रृंखला है, जिसके निर्माण में अनगिनत पाश्चात्य विद्वानों ने अपना जीवन, अपनी प्रतिभा और साख उत्सर्ग करते हुए भी पश्चिमी वर्चस्व, नस्लवाद और रंगभेद को स्थापित करने का प्रयत्न किया। बलिदान का यह अनन्य नमूना है पर बलिवेदी के सही चुनाव का नहीं।

---

[5] कोसम्बीः कल्पना से यथार्थ तक, आर्यन बुक्स इंटरनेशनल, २०११; राजकमल पेपरबैक २०१४

[6] माइकेल विट्ज़ेल, प्राचीन भारत के इतिहासकार, सस्ता साहित्य मंडल, २०११

[7] "This is an astonishing book, but not for the reasons the author intended. *The Origin of the World's Mythology* utilizes completely out of date and highly questionable scholarship to claim a grand scientific discovery which relies on the author's "theory" of ultimate mythological reconstruction, dating back all the way to reconstructed stories (i.e., made up by the author) told some 100,0000 years ago. The "theory" (I would say hypothesis) is implausible (in terms of data, scholarship, logic, internal plausibility, etc.), even more so than quasi-academic concepts, like Nostratic, which it relies on as proven fact."\

[8] There must be a streak of masochism in this writer, for he has deliberately courted flagellation with an absurdly pretentious title. …Even if this book had mentioned only "Culture" in the title, the reader would have expected adequate coverage of the creative traditions: architecture, sculpture, painting, music, literature, thought. But a clever writer could confine himself to things like Paleolithic and Neolithic tools, slash-and-burn cultivation, totem and the fun and game the primitive went in a big way (for calling them fertility rites in order to fool anthropologists) and still have got away with it, for in a norrow, technical sense culture would mean only these…But the title includes culture and civilization. Nevertheless, what we get is just a paragraph on these cultural traditions towards the end of the book… "Sculpture and architecture have been badly served by the rather poor architectural record now available. The destructive climate, vandalism and negligence have wiped out most of the paintings… It would be difficult to treat of Indian music, which has an uninterrupted tradition from the oldest time, but no reliable history." The Barmecide's Feast is over. Krishna Chaitanya, *The Times of India*, August 1, 1965. शामलाल जैसे अदीब नाम से समीक्षाएँ लिखते थे उसी तरह के.के.

खेल का अन्तिम लक्ष्य विजय

नियम इस तरह बनाये गये कि यथा सम्भव सभी भाषाओं में होने वाले परिवर्तनों को समेटा जा सके, इसलिए ध्वनिमाला भी ऐसी तैयार की गई जिसके बारे में यह पता ही नहीं कि उसका उच्चारण किस तरह किया जाता रहा होगा। केण्टुम और सतेम में मुख्य विभाजन करते हुए यह स्थापित किया गया कि इनमें केण्टुम पश्चिमी यूरोप में पायी जाती है इसलिए प्राचीनतम भाषा वहीं की होनी चाहिए। फिर पता चला कि तुखारी जो चीनी तुर्किस्तान की भाषा थी, उसमें केण्टुम के लक्षण है, जबकि उसका साहित्य बौद्ध है और वह भी बहुत बाद का तो तर्क निष्प्रभाव हो गया। बताया गया कि व्यंजनों के मामले में संस्कृत अधिक प्राचीन है, परन्तु स्वरों के मामले में ग्रीक आदि अधिक प्राचीन हैं, जब कि स्वरों के मामले में यूरोप की भाषाएँ व्यंजनों से भी अधिक अविश्वसनीय हैं। यह स्वीकार करना पड़ा कि प्राचीनतम भाषा में घोष महाप्राण ध्वनियाँ थीं जो भारत में भी एक छोटे से क्षेत्र की विशेषता है। इस ओर ध्यान गया तो इसे बदल कर यह सुझाव रखा गया कि महाप्राणित घोष का उच्चारण कण्ठ्य रहा होगा। संक्षेप में कहें तो यूरोपीय अपेक्षाओं का खण्डन होने पर इसके नियम उसी तरह बदले जाते रहे जैसे खेल की विश्व प्रतियोगिताओं का नियन्त्रण अपने हाथ में रखते हुए, हारने के बाद, कारणों का विवेचन करते हुए, खेल के नियम बदले जाते रहे हैं।

तुलनात्मक भाषा- विज्ञान जालसाजी है

इसका सबसे गर्हित पक्ष है योजनाबद्ध रूप में भारत को विचारक्षेत्र से बाहर कर देना। इसके उदाहरण अपराधियों से मिले जाँच अधिकारियों में देखने में आता है जो सभी दिशाओं में ध्यान आकर्षित करते हैं परन्तु उस दिशा या कोने से लोगों का ध्यान हटाने के लिए अपने अधिकार का दुरुपयोग करते हैं। भारत पर विचार न करने का कोई औचित्य नहीं, तर्क इसके विपरीत है, तथ्य विपरीत है, फिर भी पाठकों और अगली पीढ़ियों को भटकाने और सत्य की खोज में बाधा डालने का प्रयत्न क्यों किया गया। भाषाविज्ञान के धुरीण विद्वानों द्वारा अनर्गल दिशाओं में पाठकों का ध्यान क्यों बटाया जाता रहा?[६] जिस मानदण्ड को निर्णय का आधार बना कर दिन की रोशनी में मोमबत्ती के सहारे समस्या का समाधान तलाशा जाता रहा उनकी कसौटी पर भारत को परखा तो गया होता। सच तो यह है कि भारत अकेला उनकी पूर्ति करता है। अब तो भारोपीय क्षेत्र हड़प्पा सभ्यता की व्यापक गतिविधियों से प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जुड़ा पूरा प्रसार क्षेत्र सिद्ध हो रहा है। कोशिश हड़प्पा सभ्यता को भी पश्चिम की ओर खिसकाने की कम नहीं हुई। कोसम्बी ने तो चुटकी बजाते इसका समाधान निकाल लिया था कि यहाँ पहले से बसे हैवानों (savages) के बूते का कुछ नहीं था इसलिए पश्चिम से एक छोटा-सा जत्था आया होगा और उसने स्थानीय लोगों का उपयोग करके हड़प्पा सभ्यता का आरम्भ कर दिया होगा।

भाषा की प्रकृति और प्रसार

कोई भाषा कहाँ से फैली, कब फैली इसका समाधान भी भाषा की प्रकृति की समझ से जुड़ी है। इसके विषय में एक बड़ी रोचक स्थापना रूसी विद्वानों ने की थी जिसे स्तालिन का भाषा सम्बन्धी विचार बना कर (Stalin on

---

[9]North central Germany] Lithuania] the Danube Valley, and Southern Russia (near the Black Sea) have been suggested in turn as the original homeland of the parent language. India, once regarded as the cradle of our general Indo-European speech, has been relinquished in favour of European Territories answering to the geographical clues of the joint vocabularies… Margaret Slaugh, *Gift of tongues*, Allen and Unwin. 1949, p.59-60.

Language) प्रचारित किया गया। इसके अनुसार भाषा को न तो मूलाधार से सम्बन्धित किया जा सकता है न अधिरचना से। यह दोनों का अतिक्रमण करती है। इसी तरह यह कहा जा सकता है कि यह न तो जैव नियमों से चलती है,[१०] जिसमें प्रजनन प्रक्रिया और उससे जुड़ा विकास का नियम काम करता है - जैसा का तैसा जनन करता है परन्तु सर्वथा वैसा नहीं (like begets like but not just like) और इसलिए एक से बहु उत्पन्न होता है, और बहुरूप होता जाता है। इसे पूरी तरह सामाजिक संस्था या मानव समूह की आवश्यताओं के अनुसार गठित और उसके नियन्त्रण में रहने वाली निर्मिति की कोटि में भी नहीं रखा जा सकता। संक्षेप में कहे तो भाषा एक समुदाय की होती है जो नितान्त एकाकी रहने की स्थिति में अपने ज्ञान, औजार, उत्पादन और उपयोग में उन्नति के साथ नयी वस्तुओं, क्रियाओं, उनकी विशिष्टताओं को नाम देने के क्रम में विकसित होती है। परन्तु जब अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वे इतर भाषा-परिवेश में जाते हैं तो उनके संख्याबल या भाषाप्रेम के कारण, वे जिनके सम्पर्क में आते हैं, उनकी भाषा भी बदलती है और इनकी अपनी भाषा में भी बदलाव आता है और उनके बीच सम्पर्क की एक सेतु भाषा पैदा होती है, जो आरम्भ में खासी लद्धड़ होती है। इसे ऐतिहासिक बदलाव नहीं माना जा सकता। साथ ही इस बदलाव पर हमारा उस तरह का नियन्त्रण नहीं होता, जिस तरह किसी संस्था पर, उसके नियमों और प्रतिबन्धों का नियन्त्रण अपने हाथ में लेने पर होता है। यहाँ तो वैयाकरण भी सिर पीटता है कि लोग हमसे पूछे बिना अपनी जरूरत के हिसाब से शब्द बना लेते हैं और भाषा की आधी अधूरी जानकारी होते ही उसमें बोलने और लिखने लगते हैं, जिससे बहुत सारे लोगों द्वारा एक ही तरह की गलती लगातार होती रहे तो उसे ही सही मान लिया जाता है। वैयाकरण चाहे तो भी कुछ कर नहीं सकता, सिवाय यह बताने के कि हम अपनी भाषा में अमुक अनियमितताएँ बरत रहे हैं जिनसे अर्थ का अनर्थ हो सकता है, इसलिए इन नियमों पर चलें। परन्तु उसका यह सुझाव भी उन तक ही पहुँच पाएगा जो शिक्षित हैं। जिस देश में शिक्षितों की संख्या किन्हीं भी कारणों से इतनी स्वल्प रही हो कि वे अपने ही समाज में अजनबी बन जाएँ, उसमें उनके विधानों से भाषा का भला हो ही नहीं सकता। उनका सुझाव जब तक अन्तिम शिक्षित व्यक्ति तक पहुँचेगा तब तक भाषा व्यावहारिक स्तर पर कई मंजिलें पार कर चुकी होगी।

आदि भाषा

आदि भाषा संस्कृत से भिन्न थी, खासी लद्धड़ थी और इतनी अधिक भिन्न थी कि बहुत प्रयत्न से उसे संस्कृत से जोड़ा जा सके परन्तु जिस भाषा का प्रसार भारोपीय भूभाग में हुआ था, वह न तो आदि भाषा थी, न हो सकती थी, न ही संस्कृत से प्रभावित सभी भाषाएँ ही संस्कृत की सन्तानें थी। भाषा के क्षेत्र में परिवारवाद की अवधारणा ही गलत है। आदि भाषा जिस क्षेत्र में तलाशी जा सकती थी, उसे सचेत रूप में वर्जित करके तलाशी अभियान जारी रहा इसलिए अटकलें लगाई जाती रहीं, उछल कूद की जाती रही, पर एक भी निर्णायक प्रमाण नहीं जुटाया जा सका, यहाँ तक कि आदिम भाषा की प्रकृति और दैन्य तक को नहीं समझा जा सका। सस्युर ने लैरिंजियल या काकल्य ध्वनियों के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसकी खोज अनातोलिया में कर भी ली गयी, परन्तु ये ध्वनियाँ आज किसी भाषा

[10] Languages are not organisms, and their "life" is not to be compared with that of animals or plants… Constant intercourse creates linguistic unity, even where it did not exist, and discontinuance of intercourse produces linguistic difference where there was once unity. *Selected Writings of Otto Jesperson, George Allen and Unwin*, p.735.

में पायी नहीं जातीं।[99] यह सामी क्षेत्र के स्वर की सीमाओं का वैदिक व्यवहार की भाषा पर पड़ा प्रभाव प्रतीत होता है। इसे जर्मनिक पर लागू किया जा सकता है, परन्तु यहाँ भी वही कठिनाई। किसी को पता नहीं कि इनका ठीक उच्चारण क्या था। जो बात समझ में आती है वह यह कि इसके पहले और बाद की स्वर ध्वनियाँ इससे प्रभावित होती थीं और इसलिए यह उस संक्रमण की व्याख्या कर सकती है जिसमें संस्कृत स्वरमाला का यूरोपीय भाषाओं में रूपान्तरण हुआ। सच कहें तो इससे उस सुझाव का खण्डन होता है जिसमें यूरोपीय स्वर ध्वनियों को अधिक स्थिर बताया गया। संस्कृत में वे सभी स्वर ध्वनियाँ थीं और आज तक इतनी स्थिर बनी हुई हैं कि स्वल्प अभ्यास से उनका वैसा उच्चारण किया जा सकता है, जैसा ऋग्वेद के समय में होता था, जबकि ग्रीक आदि में 'अ' जैसी ध्वनि तक का अभाव था और आज तक बना हुआ है। प्राचीन ग्रीक ध्वनियों के उच्चारण के विषय में यह दावा नहीं किया जा सकता। सत्य स्वरूप मिश्र ने अपने विवेचन में पाया कि रोमनी बचे हुए भारतीय शब्दों के स्वरों का उच्चारण अर्मीनिया तक बचा रहता है, परन्तु यूरोप की रोमनी में उनमें वे ही परिवर्तन हो जाते हैं जो प्राचीन संस्कृत स्वरों के यूरोपीय भाषाओं में पाये जाते हैं।[92] परिवारवाद और भारत से बाहर मूल भाषा की तलाश के क्रम में इतनी हास्यास्पद बातें पेश की जाती रहीं कि इनमें कोई तालमेल ही नहीं। इससे संस्कृत के बाहर से भारत में आने का प्रमाण न मिलना था न मिला उल्टे नौबत यह आ गई कि तुलनात्मक भाषाशास्त्र को भाषाविज्ञान से बाहर कर दिया गया। यह केवल इतिहासकारों, नृतत्वविदों और साहित्य के अध्येताओं की सीमित रुचि का विषय रह गया है।

प्रमाणों का न होना प्रमाण नहीं माना जाता पर प्रमाण न होने पर गढ़े हुए औचित्यों का स्वतः खंडित होते जाना इस बात का प्रमाण अवश्य है कि हमें इस ओर कुछ नहीं मिलेगा, इसलिए यदि आदि भारोपीय की तलाश करनी है तो हमें भारत की ओर ही मुड़ना होगा, जहाँ से विविध तरह के उच्चाटन विधानों से हमे उस अरण्य की ओर भटकाया गया था जहाँ लतर तो फैलती चली गई है पर जड़ें दो सौ साल तक तलाशते रहने पर भी नहीं मिलीं।

२

भाषा संकरण

भोजपुरी प्रथमपुरुष एकवचन में हम का प्रयोग होता है, हिन्दी में मैं का, संस्कृत में अहम् का, इसलिए हम को अहम् का तद्भव माना जा सकता है। परन्तु अहम् संस्कृत में नियमित नहीं रह पाता । अहम् की रूपावली निम्नप्रकार हैः

कारक	एक वचन	द्विवचन	बहुवचन
कर्ता	अहम्	आवाम्	वयम्
कर्म	माम्/*ना=मा	आवाम्/नौ	अस्मान/नः

[11]According to recent hypotheses, H_1 "colored" a contiguous vowel to /e/; H_2, to /a/; and H_3, to /o/. Before coloring, the sound sequences would have been /H_1e, H_2e, H_3e/ or /eH_1, eH_2, eH_3/; and after coloring, /H_1e, H_2a, H_3o/ or /eH_1, aH_2, oH_3/. As independent sounds, laryngeals are preserved only in Hittite; in other languages, which evolved from PIE following the Anatolian split, their disappearance left reflexes such as vowel lengthening when they followed the vowel.

[12]European Gypsy - kher `donkey' Arm. G. xari, Syr G. kar, Av. Xara. Skt- khara.
E.G. gelo- `went' S,g. gara, Skt gata, H. Gaya, b. gelo.
E.G. kher `house', Srm. g. khar, Pali `gharam' / H. Ghar
EG jeno `person' ; terno- `youth'; tele -`under'; dives `day'; des `ten'; syr. g. das; EG devel ``god'; therel `holds' Arm,

करण	मया	आवाभ्याम्	अस्माभिः
संप्रदान	मह्यम्/*ने=मे	आवाभ्याम्/*नौ	अस्मभ्यम्
अपादान	मत्	आवाभ्याम्	अस्मत्
सम्बन्ध	मम/*ने=मे	आवयोः/नौ	अस्माकम्/नः
अधिकरण	मयि	आवयोः	अस्मासु/अस्मे

यह मूलतः जिस बोली का था उसमें भी यह असम् या *अघम् रहा लगता है। ऋग्वेद में अघम् दिखायी नहीं देता परन्तु बोलचाल में प्रचलित रहा होगा। अघम् ला. इगो और अं. आइ में बना हुआ है। सं. का अ यूरोप में ए/इ बन जाता है (अन्त - एंड, अस्ति - एस्त,[93] अंग्रेजी इज; अन्दर - एंटर, सन्त - सेंट, मधु - मीड/मीट, स्वादु - स्वीट परन्तु स्वेद - स्वेट, सीद - सिट)। अघम् का पूर्व रूप या अवांतर रूप असम् रहा हो सकता है। राजवाडे के अनुसार बहुत पहले स का उच्चारण दन्त्य हो कर पश्चकंठ्य या ग्लटरल हुआ करता था इसलिए इसे ह्र, र्ह, सुना जाता था। घ इसका श्रुतिभ्रम हो सकता है। कर्म से ले अधिकरण बहुवचन रूप में अस्म- दिखाई देता है। ऋग्वेदिक में अस्माकं का एक अन्य रूप अस्माकास मिलता है और अस्मासु के कई रूप - अस्मा, अस्मे, अस्मासु - पाए जाते है।

१. जिस बोली से भोजपुरी में हम आया सम्भवतः उसका ही अनेक चरणों के बाद संस्कृत के रूप में विकास हुआ। जिन बोलियों के दबाव में असम् का अघम् और अहम् में परिवर्तन हुआ, संस्कृत के चरित्रनिर्धारण में उनकी प्रभावशाली भूमिका रही लगती है। इसी तरह जिनके प्रभाव से इसके आगे के रूप प्रभावित हुए, उनकी सामाजिक भूमिका की अनदेखी नहीं की जा सकती, चाहे यह संख्याबल के कारण हो, अथवा सांस्कृतिक-आर्थिक भूमिका के कारण। अहम् की रूपावली में चार प्रभाव देखने में आते है। ये प्रभाव केवल अहम् में नहीं दिखाई देते अपितु सभी व्यक्तिवाचक सर्वनामों की रूपावली में दिखाई देते हैं। कहें आपसी सम्बन्धों वाले सर्वनाम सामाजिक व्यवहार में सबसे अधिक प्रयोग में आते हैं, इसलिए ये दूसरी भाषाओं से सबसे अधिक प्रभावित हुए। शेष (सर्व, यद्, किम् आदि) पर ऐसा प्रभाव नहीं पड़ा। हमारा निवेदन है कि संस्कृत जैसी कोई भाषा पहले नहीं थी। जिस प्रधान बोली का विकास संस्कृत के रूप में हुआ उस पर अनेक बोलियों का गहरा प्रभाव पड़ा। एक बोली से अहम् आया, दूसरी से इसी का बहुवचन रूप वयम्, तीसरी से एक वचन के साधित रूप मम, मया, माम्, मयि, आदि और एक चौथी से *ना/ने, नौ, नः, जिनमें से एकवचन रूपों में म-कार के प्रभाव से ना /ने बदल कर मा/मे हो गए।

१.२ मैं के आशय में किन्हीं बोलियों में आप का प्रयोग होता था, जिसका मध्यम पुरुष आदरार्थक में प्रयोग होने लगा। आप से ही आप्त - अपने पास आया हुआ निकला है। आप्त के इस आशय को हम इसलिए भूल गए हैं कि यह अप् - जल, से निकले दूसरे आप्त - 'धुला, धवल, निर्दोष, प्रामाणिक, सत्य' से टकरा गया। फिर भी प्राप्त (प्र-आप्त) - मिला हुआ, और सं. आप्नोति -

[93]'ठ' से कुछ समस्याएँ पैदा होती हैं जैसे यह कि माना तो यह जाता है कि जेंदावेस्ता की भाषा संस्कृत के सर्वाधिक निकट है, परन्तु यह कुछ मामलों में यूरोप की बोलियों के अधिक निकट पहुँच जाती है। सं. अस्ति अवेस्ता और फ़ारसी में ही एस्त बन चुका था। अस्ति नास्ति के लिए फ़ारसी एस्त नेस्त। अवेस्ता - अशेम वोहू वहिस्तेम एस्त ।

अपनाता/पाता है वैदिक अप्न - अपना धन/कर्म; आपी - अपने लोग, स्वजन, में या हिं. अपना/अप्पन, अपनाना, तथा आपु आपु कर आरसी लखि रीझति रिझवारि में और अपना आपा खोना (अपने को नियंत्रण में न रख पाना) में बचा रहा। इससे हिंदीतर भाषियों को कुछ उलझन होती है। मैं अपने घर जा रहा हूँ के स्थान पर मैं मेरे घर जा रहा हूँ कहना उन्हें अधिक नियमित और निर्भ्रांत लगता है।

१.३ इसका अर्थ है हमारी बोलियाँ भी संकरित या मिश्र है और संस्कृत भी। संस्कृत अपने आदिम चरण से ही संपर्क भाषा बन चुकी थी, इसलिए यह बोलियों की तुलना में अधिक संकरित है। इनका विकास उन अनगिन बोलियों के साथ स्वल्प या गहन घात-प्रतिघात से हुआ है जिनमें से अनेक आज किसी परिवार में बची नहीं रह गई है, या वे इतने अल्पसंख्यक समूह की भाषा बन कर बची हुई हैं, जिनको भाषा सर्वेक्षणों या नृतत्व-सर्वेक्षणों में महत्व नहीं दिया गया। अहम् की रूपावली में ना, नौ, नः उस बोली के प्रभाव के कारण आए हैं, जिसकी सबसे गहरी छाप तेलुगु पर और कुछ हल्की छाप अन्य द्रविड़ बोलियों पर पड़ी है जिनमें अहम् के लिए नानु/नान्/ञान् का प्रयोग होता है। मल. ञान् का रहस्य और साधित रूप में नानु के एनक्कु बनने का रहस्य ओराँव में मैं के लिए प्रयुक्त एन् में तलाशा जा सकता है। ऐसी ही किन्हीं बोलियों के प्रभाव से न्/म् अन्त्य निपात (पितृन्, गुणिन्, धनम्, रामायणम्) जुड़े। तेलुगु का उकारांत प्रेम ऋग्वेदिक इदु, अदु, ऐदु, यदु, सेदु और उ के स्वतंत्र पादपूरक प्रयोग में देखने में आता है।[१४] न् और म् के लिए भी दक्षिण की बोलियों को प्रभावित करने वाली बोलियाँ ही रही हो सकती हैं जिनमें राम का रामन्, और रामानुज का रामानुजम् चलता है।

१.२.१ म से जुड़े रूप उस बोली के हैं, जो मराठी मी - मैं, और मीं - मैंने में बची हुई है। इसको हम हिंदी में मैं, मुझे, मेरे, मुझसे आदि में और बोलियों में मोर, म्हारो, मोकों, मोसे जैसे प्रयोगों में पाते हैं। पर सबसे उलझाने वाला बहुवचन का व है, जो वयम् में पाया जाता है और अं.वी में बचा हुआ है।

१.२.२ जैसे अहम् साधित रूपावली से गायब हो जाता है उसी तरह अन्य पु. एकव. सः द्विवचन में पहुँचते ही तौ हो जाता है और आगे वस्तुवाचक तत् ही हावी रहता है।

वह	पु.	सः	तौ	ते
	स्त्री.	सा	ते	ताः
	नपु.	तत	ते	तानि

[१४] सूर्याय पन्थामन्वेतवा ऊ; इमा उ षु श्रुधी गिरः ; अभूदु मा उ अंशवे, आदि।

आगे की रूपावली पर दोनों में तत् ही हावी रहता है। यदि अहं, सः, सा संस्कृत की आदिम बोली के हैं तो इस पर अन्य पुरुष के लिए तत का प्रयोग करने वाले भाषा-समूह का इतना दबाव है कि यह उसी के अनुसार ढल जाता है।

१.२.३ इस मिश्रण के दो उदाहरण दक्षिण भारतीय पदावली में अमहत् (नपुं.) सर्वनामों और स्थानवाचक अव्ययों से देना उचित होगा। यह के लिए सं. इदं, ते. इदि, त. कन्न. मल. इदु, बां. एइ/एइ टा/एटा, भो. ई/हई, हिं *इह- यह, अं. इट। सं. *इतत् - एतत्, ते., इतडु, त. मल. इवन्, कन्न. इवनु, बां. एइ, भो. ई/हई, हिं *इह- यह, अं. दिस इन सभी में एक साम्य है। निकटस्थ के लिए सभी में इ/ई- मूल है इनमें से कुछ में इ एइ अथवा य में बदल गया है। केवल अं. में तिस (this) जिसका मूल अर्थ उस था (जित-तित, जिस-तिस, जिन-तिन) का प्रयोग इस के लिए हुआ है क्योंकि सं. अस् धातु अँगेंज़ी में (अस्ति-एस्ति-इस/इज़) बन जाती है अतः इस दबाव में तिस का दिस हो गया लगता है। इसी तरह वह दूरस्थ के लिए अ- का प्रयोग होता है : अदस्, अदि/अदु, अतडु, अवन्, अवळ्। सं. अदस् के अतिरिक्त तत् है और पु. व स्त्री लिंग में सः और सा हैं।

१.२.४ आसन्न और दूरस्थ स्थानवाची अव्यय के लिए भी ते. इक्कडे/अक्कडे, त. इंगे/अंगे (इ/अ+अंके =स्थाने), मल. कन्न इविडे/ अविडे (इ/ अ+इले/ इडे जिसमें इल का अर्थ स्थान है जो सं. इला -भूमि और इरा-उर्वरा भूमि का सगोत है), भो. इ+हाँ/ उ+हाँ/ त+हाँ, बां. एइ+खाने/ ओइ+खाने/ सेखाने, पंजाबी. इ-त्थे/उ-त्थे। इस नियम से सं. में इ+त्र और अ+त्र/उ+त्र होना चाहिए पर हम पाते हैं कि किन्हीं कारणों से इत्र और अत्र ने अपना स्थान बदल लिया। इत्र ने अन्य का आशय ग्रहण किया जो इतर में दिखाई देता है, फिर अत्र इत्र के आशय में प्रयुक्त होने लगा। अकार के इकारार्थी हो जाने के बाद दूरस्थ सूचक अकार स्थान तकार ने ले लिया और इस तरह पुराना इत्र अत्र बदल कर अत्र तत्र हो गया।

१.४ संस्कृत में इत्र और अत्र को कुडुख ने बचा रखा है जो द्रविड़ ने बचा रखा है जिसमें यहाँ-वहाँ के लिए इतरं-अतरं चलता है। दो बातें, पहली यह कि जो संस्कृत में बचा नहीं रह गया वह बोलियों में बचा मिल सकता है। दूसरा यदि ऋग्वेदिक में अत्र और तत्र आ चुका है तो कुडुख और दूसरी बोलियों के नियमित रूप संस्कृत ही नहीं वैदिक से पुराने हैं। फिर बोलियों के रूप तत्सम हुए या उनका संस्कृतीकरण? किसकी जननी कौन है?तथाकथित अनार्य बोली में बचा पुराना रूप अतर अंग्रेज़ी अदर में दिखाई देता है जबकि संस्कृत में वह इतर हो गया था जो भी अंग्रेज़ी में स्वल्प अर्थविचलन के साथ ईदर/आइदर (either) के रूप में पहुँचा। तात का संस्कृत रूप नहीं, बोली का दादा डैड बन कर और बाप पापा बन कर और बाबा बेब बन कर पहुँचा लगता है। अतः केल्टिक में प्रसार पाने वाली भाषा किताबी नहीं, बोलचाल की सम्पर्क भाषा थी, जिसे वैदिक या संस्कृत कहने से अच्छा होगा इसे 'भारती' कहें, क्योंकि इसकी निर्माण

प्रक्रिया में सभी के तत्वों का समावेश हुआ था और इसके संवाहकों में विविध स्तरों के लोग थे।[१५] जब कि यही बात लघु एशिया से ग्रीक और लातिन को प्रभावित करने वाली भाषा के विषय में नहीं कही जा सकती जिसमें अभिजनों की प्रधानता थी।

१.५ इत्र के त्र का अर्थ भी बोली से खुलेगा और इसका पुरातन रूप भी। हम आगे देखेंगे मूल भाषा में हलंत शब्द नहीं होते थे और असवर्ण संयोग नहीं होता था। इस नियम से सं. त्र = स्थान, मूलतः तर था। तमिऴ तरै- को धरा का प्रतिरूप माना जाता है, पर त्र से पता चलता है धरा और त्र दोनों ही तरै या तर का तद्भव है। इसका अधिक पुराना अर्थ था नीचे, भूमि। हिं./भो. तराई - पहाड़ के नीचे की पट्टी, भो. तरई - नीचे बिछाने की चटाई, भो. तरे - नीचे (पेड़वा तरे - पेड़ के नीचे)। इसी से हिं. तले, तल,तालु, तलवा, कर-तल, ताली और ताल तक का अर्थविकास हो गया। संगीत के ताल की इतनी भोंड़ी व्युत्पत्ति की आशा मैं स्वयं से नहीं करता था, परन्तु शब्दयात्रा का क्या करें! अतः मूल तरा था जिसका अर्थ था यह जो नीचे है, और समूची धरा के लिए इसका अर्थविस्तार बाद में हुआ। पर यह टेरा बन कर अंग्रेज़ी में भी लातिन के रास्ते पहुँचा जिससे अंग्रेजी के टेरेस, टेरिटोरी आदि का जन्म हुआ।

१.६ तर और सं. त्र के कई अन्य अर्थविचलन देखने में आते हैं। मलयालम में यह मात्रा, और ते. तरमु - प्रकार, अ.फा. तरह/तर्ज/तरीका का इससे सम्बन्ध है या नहीं यह विचारणीय है।[१६] परन्तु सबसे रोचक है धरा/धरती/धरित्री का धारण करने वाला अर्थ जिससे धर्म का जन्म हुआ। मजेदार है कि धरती से धन पैदा होता है और धन से धर्म - धनात् धर्मं ततो सुखम् ।

१.७ हिं. *इतर - इधर, *उतर - उधर, *कितर - किधर में ऐसा लगेगा कि दिशा का द्योतक बन गया। परन्तु यह तर का घिसा हुआ रूप -अर/आर प्रतीत होता है जो इत, उत, कित, जित में जुड़ रहा है और इसका अर्थ है 'का' या 'से संबंधित'। हमार, हमारा, तुहार तुम्हारा, बां. आमार, तोमार, आपनार, राजार आदि में यही जुड़ा है। क्या यह मात्र आकस्मिक है कि अं. हिअर, हिदर, दिदर, योर, देअर (their/ there), आवर, आउटर, इनर आदि में यह आर ठीक इसी आशय में जुड़ा दिखाई देता है? दिदर/ तिधर, हिअर/इधर, ह्विदर/किधर जैसा ही है जिसमें संस्कृत का कु नहीं बोलियों का कि ह्वि में बदला है ।

१.८ अंग्रेज़ी का भारतीय भाषाओं से प्रायः सीधा सम्बन्ध दिखाई देता है[१७] जिसमें संस्कृतेतर प्रभाव भी बहुत गोचर हैः सं. दुर/द्वार, भो. दुआर, अं. डोर, सं. उपरि, भो. उप्पर, अ. उप्पर अर्थात्

---

[15] अश्व व्यापारी सिंधियों ने तो सिंतास्ता या सिंध देश ही बसा लिया था उसी कुर्गान क्षेत्र में और उन्होंने वोल्गा की एक सहायिका का नाम कुभा रख दिया था। उस क्षेत्र से लेकर लघुएशिया और ग्रीस तक सिंध की छाप वाले स्थान नाम बिखरे हुए हैं। घोड़े का पर्याय सैंधव अनायास ही नहीं पड़ गया।

[16] अरबी में संस्कृत के बहुत से शब्द उत्तरी ईराक और तुक्रिस्तान सीरिया आदि में बहुत प्राचीन काल से भारतीय अभिजात वर्ग की उपस्थिति के कारण पहुँचे हैं।।

[17] Many words still live in India and in England that have witnessed the first separation of the northern and southern Aryans, and these are witnesses not to be shaken by any cross-examination. MM. Chips., Vol. I, p. 83

अपर, परन्तु सु उपर अर्थात् सुपर में उकार लौट आता है। सं. तात, भो. आदि - दादा-अं. डैड, सं. उत्तर -ऊँचे से भी ऊँचा - अं. *उत्तर - अर्थात् अटर, सं. अंतर, हिं. अंदर - अं. इण्टर। इसका कारण यह है कि ट्यूटनिक का उस कुर्गान क्षेत्र से सन्बन्ध रहा है[१८] जहाँ भारतीय आर्यों की प्राचीररक्षित बस्तियाँ दुर्गम ऊँचाइयों पर बसी हुई थीं और जहाँ से वे अश्वव्यापार करते थे।[१९] और ग्रीक और लातिन का उस लघु एशिया से जहाँ इनका वर्चस्व था और वह भी राजसत्ता पर अधिकार के बिना भी।

संकरण के चरण

१.६ भाषा-संकरण के तीन प्रमुख चरण हैं। पहला, आहारसंग्रह के चरण पर एक ही अंचल में अनेकानेक बोलियाँ बोलने वालों के एक दूसरे के सटे विचरण क्षेत्र रहे हैं। जैसे दिल्ली संघराज्य क्षेत्र में मुंडा, खोंड, गोड, नाग, देव आदि के विचरण क्षेत्र रहे लगते हैं और कुछ का निवास ऐशूलियन (Acheulian) चरण से अरावली की शृंखला में पहचाना गया है। दूसरा संकरण नवपाषाण के चरण पर कृषिकर्मी समाज में इनके विलय या स्वयं कृषिजीवी बनने और स्थायी बस्ती बसाने के साथ हुआ। तीसरा नागर समाज और अर्थव्यवस्था की ओर बढ़ते हुए एक छोटे से क्षेत्र में विभिन्न बोलियाँ बोलने वाले, विभिन्न दक्षता वाले लोगों के पारस्परिक सम्पर्क के चरण पर जिसमें प्रधान भाषा अर्थतन्त्र पर नियन्त्रण रखने वाले समुदाय की बनी रही, परन्तु उसे बोलने वालों को इन पेशों के लोगों से सम्पर्क रखना होता था, इसलिए प्रधान भाषा एक साथ कई बोलियों से प्रभावित होती रही और यह क्रम अलक्ष्य रूप में आज भी जारी है। यदि हम आरम्भिक हिन्दी, आज से पचास साल पहले की हिन्दी और बिल्कुल आज की हिन्दी के नमूनों को सामने रख कर देखें तो भी यह बदलाव लक्ष्य किया जा सकता है। परन्तु इसे ऐतिहासिक बदलाव मानना सरलता होगी। इसके पीछे कारण सामाजिक है यद्यपि यह घटित ऐतिहासिक क्रम में हुआ है।

अर्थतन्त्र और भाषा

२. सामाजिक सम्पर्क आर्थिक क्रियाकलाप के साथ बढ़ता है न कि कलह, युद्ध या क्षेत्राधिकार से। जिस प्रधान भाषा का क्रमिक उत्थान संस्कृत के रूप में हुआ, उसने कृषि और कृत्रिम उत्पादन की दिशा में उस समय पहल की थी, जब दूसरे सभी समुदाय इसका उग्र विरोध कर रहे थे। ये जन या तो स्वयं अपने को देउ या बरम कहते थे, या यह नाम उन्हें आहार संग्रही जनों ने, इनके प्रति अपनी घृणा प्रकट करने के लिए दिया

---

[18] But whatever it was, the impulse was as irresistible as the spell which, in our own times, sends the Celtic tribes towards the prairies or the regions of gold across the Atlantic. It requires a strong will, or a great amount of inertness, to be able to withstand the impetus of such national, or rather ethnical, movements.ib. p.82

[19] 1970 'Proto Indo-European Culture : The Kurgan Culture during Fifth, Fourth and Third Millennia B.C.', IndoEuropean and IndoEuropeans, 155-98.

था। देउ (देव) और बरम[२०] (ब्रह्म) दोनों का प्राथमिक अर्थ था, आग और आग लगाने वाला। इनकी खेती की पद्धति अस्थायी या सचल थी। आज से कुछ समय पहले तक भी ऐसे समुदाय थे जो झाड़-जंगल काट कर जमीन तैयार करते थे, उर्वरता चुकने तक उसमें खेती करते थे और फिर उसी की आवृत्ति करने किसी दूसरे क्षेत्र में चले जाते थे। अपने को देउ या बरम कहने वालों का यही आदिम यज्ञ और धर्म था - 'यज्ञेन यज्ञं अयजन्त देवा तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्'। इसे स्थान बदलने के कारण झूम खेती या शिफ्ट एग्रीकल्चर कहते हैं और काटने जलाने के कारण स्लैश एंड बर्न पद्धति। जो जन अभी कुछ समय तक इसको अपनाए हुए थे, उनके कारण वन संपदा की कितनी हानि होती थी, इसे जानने वाले या उनसे वन संपदा को होने वाली भारी क्षति का विवरण पुस्तकों में पढ़ने वाले, उन असुरो को गलत नहीं कह सकते जो खेती का उग्र विरोध कर रहे थे और इसके लिए जान लेने और देने को तैयार रहते थे।

२.१. आहारसंग्रही जन इनका सामना करने से डरते थे क्योंकि इनके पास ब्रह्मास्त्र या दिव्यास्त्र था। इसकी स्मृति न रह जाने पर भी ब्रह्मदंड की मार ब्रह्मतेज की याद महाकाव्यों में धुंध की तरह बची रहती है।[२१] इस लुकाठे को क्षेप्यास्त्र के रूप में फेंका जाता था, जिससे जंगल में आग लगने और बचे हुए हिस्से पर भी देवों का अधिकार होने की नौबत आ सकती थी। इसलिए वे इन पर रात के अंधेरे में आक्रमण करके इनको क्षति पहुँचाने और दूसरे तरीकों से उपद्रव करके भगाने को उद्यत रहते थे। अतः रात के समय भी आग जला कर रखना और इसका आभास कराना कि वे जाग रहे हैं, इनकी अपनी सुरक्षा का तरीका था। इसकी याद साहित्य में और लोकविश्वास में कई रूपों में बनी रह गई है।[२२]

२.२. ध्यान रहे कि राक्षसों या असुरों की सारी दुश्मनी ब्राह्मणों से या देवों से है। सीता या हराई की देवी का जन्म कहते हैं, उस घट से हुआ था जो राक्षसों द्वारा मारे गए ब्राह्मणों के रक्त से भरा था। यह कृषिकर्म के आरंभिक संघर्ष का ही प्रतीकांकन है।

भूदेव और ब्राह्मण

२.२.१. वह प्राचीन चरण सामाजिक स्मृति में ब्राह्मणों को भी बिसर गया, जिसको मनुस्मृति में पढ़ने पर यह हास्यास्पद पाखंड जैसा लगता है कि धरती पर जो कुछ है वह सब ब्राह्मण का अपना है, इसलिए अपनी श्रेष्ठता के कारण इन सबको वह पाने का अधिकारी है। ब्राह्मण जो कुछ खाता, पहनता, देता है वह सब उसका ही है। उसकी कृपा से ही दूसरे सभी इनका भोग करते हैं - 'सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचित् जगती गतम्। श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वे वै ब्राह्मणोऽर्हति। स्वमेव ब्राह्मणो भुंक्ते स्वं वस्ते स्वं

---

[२०]तुलना करें भो. बरना हि. बलना, अं. burn, OHG brinnan आदि।

[२१]न बलं क्षत्रियस्याहुः ब्राह्मणा बलवत्तरा, ब्रह्मन् बलं दिव्यं क्षात्राच्च बलवत्तरम् । रा. १.५४.१४

[२२]कहा जाता है कि यदि पास में आग जल रही हो तो प्रेत-पिशाच निकट नहीं आते।
यह बात अनेक कृतियों के दुहराई गई है कि संध्या के समय प्रेत-पिशाच प्रबल हो जाते हैं, जैसे रामायण में, 'रक्षांसि संध्याकाले दुर्धर्षाणि भवन्ति हि' बाल.२६.२३। ऋग्वेद में रतजगे का और आग के रात भर जलते रहने का एक सुन्दर विवरण दो ऋचाओं मे आया हैः

ददाति च। आनृशंस्यात् ब्राह्मणस्य भुंक्ते हि इतरे जनाः। (मनु. १.१००-१)। कारण आदिम न्याय से धरती पर उसका अधिकार है, जिसने उसे खेती के योग्य बनाया, 'पृथोः अपि इमां पृथिवीं भार्यां पूर्वविदो विदुः। स्थाणुच्छेदस्य केदारं आहुः शल्यवतो मृगम्' (मनु. ९.४४) अर्थात् पृथ्वी को पृथु की भार्या इसलिए कहा जाता है कि उन्होंने ही इसे खेती योग्य बनाया था। अतः जो व्यक्ति जिस क्षेत्र को, झाड़-झंखाड़ साफ करके, कृषि योग्य बनाता है, उस खेत पर उसका उसी तरह अधिकार होता है। जैसे शिकार पर जिसका बाण लगा हो, शिकार उसका होगा, न कि जिसके पास आ गिरा हो।' एक क्षीण बुझती सी याद हजारों दसियों हजार सालों तक कैसे बनी रह जाती है, इसका यह एक उदाहरण है। ब्राह्मण या देव या कहें अग्नि का आर्थिक और सामरिक उपयोग करने वालों के इस विस्मृतप्राय तर्क के कारण विद्वान ब्राह्मणों को भी, अपनी पढ़ी पुस्तकों में अंकित होने के बाद भी[२३], यह समझ में न आया कि ब्राह्मण अपने को भूदेव या धरती का देव होने का दावा क्यों करता रहा। यह इतिहास इतना पुराना है कि ऋग्वेद के समय में भी यह भूल चुका था अतः वर्णव्यवस्था के औचित्य के लिए एक विचित्र जन्मकथा गढ़नी पड़ी।

वर्णविभाजन

२.२.२ जिस ब्रह्म के विभाजन से तीन वर्णों का जन्म हुआ था, उनके ऋग्वेद में दो पाठ मिलते हैं। एक तो परम पुरुष वाला बहुज्ञात और बहुचर्चित प्रसंग, जिसका ऊपर हवाला दिया गया है। दूसरा वह जिसमें यह बताया गया है कि अग्नि को प्रधानता देकर कृषि उत्पादन करने वाले तीन वर्ण दूसरों से श्रेष्ठ हैं - त्रयः कृण्वन्ति भुवनेषु रेतः तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः, (ऋ.७.३३.७)। परन्तु यह वर्ण आधारित समाज-विभाजन न था। एक ही परिवार के सदस्य अपनी क्षमता और योग्यता के अनुसार तीनों में से कोई काम कर सकते थे, या उन्हें इस काम पर लगाया जा सकता था। इसका इतिहास यह है कि एक ऐसे परिवेश में जिसमें आहारसंचयी वन्य गण, उन्हें अपना शत्रु समझते हों, चतुर्दिक जंगलों से भरे उस आदिम कृषि क्षेत्र को शाकाहारी जानवरों से,

---

यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति ।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्येनि ओकाः ।।
अग्निर्जागार तं ऋचः कामयन्तेऽग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ।। ऋ.५.४४.१४-१५

इसके शब्दार्थ से हट कर इसके भावार्थ पर जाएँ तो वह होगा, 'जो जागता है लोग उसका यश गाते हैं, जो जागता रहा उसे हर तरह का लाभ होता है और उसका घर संपन्न रहता है। इसलिए अग्नि जो रात भर जागते (प्रज्वलित रहते) हैं, उनकी वंदना होती है, लोग उनका यश गाते हैं, उनकी प्रशंसा में सामगान होता है और समस्त प्रिय भोग अग्नि को अर्पित होते हैं । इस जागरण का की ही महिमा विविध रूपों में पूरी भारतीय चेतना में बनी रही है, जैसे गीता में 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जाग्रति संयमी' में और किसानों के दिन उगने से एक पहर पहले -शुक, बुध या सप्तर्षि की स्थिति के अनुसार - जागने और काम में जुट जाने में।

[23] देवासुरा वा एषु लोकेषु संयेतिरे त एतस्यां प्राच्यां दिशि येतिरे तांस्ततोऽसुरा अजयंस्ते दक्षिणस्यां दिशि येतिरे तांस्ततोऽसुरा अजयंस्ते प्रतीच्यां दिशि येतिरे तांस्ततोऽसुरा अजयंस्त उदीच्यां दशि येतिरे तांस्ततोऽसुरा अजयंस्त एतस्मिन्नवान्तरदेशे येतिरे य एष प्राङुदङ्ते ततो जिग्युः, ऐतरेय ब्रा. ३७.६ आदि।

विशेषतः अरना भैंसों के दल से अपनी खड़ी खेती की रक्षा करना और हिंस्र जानवरों से अपने पशुओं और अपने समुदाय के अन्य जनों की रक्षा करना, कितनी बड़ी जरूरत और कितनी बड़ी चुनौती थी, यह समझने के लिए बहुत उर्वर कल्पनाशक्ति की जरूरत नहीं है। मोटी समझ से भी काम चल जाएगा। रात के समय उसी अग्रणी समाज के साहसी युवकों को कर्म आधारित क्षात्रकर्म सौंपा गया। क्षति से रक्षा करने वाले या रखवाली करने वाले को क्षत्रिय कहते हैं - क्षतात् किल त्रायत् इत्युदग्र क्षत्रस्य शब्दः भुवनेषु रूढ़ः । यह जातीय चेतना में टंगी रह गई बहुत पुरानी याद है न कि कालिदास का अविष्कार। रक्षा करने वाले ही उत्पादन को संभव और सुरक्षित बना सकते थे, परन्तु उन्हें इसे संभव बनाने के लिए दिन में विश्राम की, सबसे अच्छे खानपान की भी जरूरत थी। यह उनकी माँग नहीं थी। पहलवानी के लिए अपने बच्चों को तैयार करने वाले और स्वतः उसके लिए त्याग करने वाले गुरुजनों और परिजनों की तरह, वह देव समाज स्वयं उन्हें ये सुविधाएँ प्रदान करता था। इसके बिना उसका अस्तित्व भी खतरे में था। परन्तु जब वे यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः के तर्क से नींद ले रहे होते थे तो बस्ती में बचे बीमारों, बच्चों की देखभाल के लिए, बच्चों के मनोरंजन और शिक्षा के लिए, उन बूढ़ों को लगना होता था जो श्रमकार्य नहीं कर सकते थे। आयु की इस अग्रता के कारण ही जब वर्णविभाजन जन्मजात हो गया तब भी मूर्ख ब्राह्मण बालक को भी अन्य वर्णों के ज्ञानी और वयोवृद्ध भी बाबा या आर्य कह कर संबोधित करते थे, जिसके लिए बोलियों में आजा/आजी का प्रयोग होता है। दुनिया के किसी देश के पास इतनी पुरानी सूचनाएँ नहीं हैं जितनी हमारे पास हैं, परन्तु हम भी यह झिझकते हुए ही सुझाव दे सकते हैं कि संभवतः आर्य आदरार्थी का सर्वप्रथम प्रयोग इन वयोवृद्ध जनों के लिए ही हुआ होगा। हम जो इतिहास पढ़ते हैं वह थोपा हुआ है इसलिए इसमें सभी परिवर्तन धौंस से संभव हुए बताए जाते रहे हैं, जब कि धौंस से किसी व्यक्ति या दल को कोई काम करने को तो विवश किया जा सकता है परन्तु आदर नहीं पाया जा सकता। फिर ब्राह्मण के पास न तो सामरिक शक्ति थी, न अर्थबल। जिस सहजता से समाज ने ज्ञात आरंभिक चरण से उसकी श्रेष्ठता को स्वीकार किया, उसके पीछे क्या कारण रहे हो सकते हैं, इसकी पड़ताल कभी की ही नहीं गई। जिस कालफलक में यह पड़ताल संभव थी, वह हमसे छीन लिया गया था। यद्यपि देव या ब्राह्मण समाज आत्मप्रबंधन के लिए व्यवस्थित था, परन्तु कई हजार साल बाद में शिक्षा और ज्ञान को जिन लोगों ने अपना कार्यक्षेत्र बना लिया वे, अपने को उस समग्र समाज का एकमात्र प्रतिनिधि समझने लगे जबकि क्षत्रिय और वैश्य भी उस दौर में ब्राह्मण या बरम थे और बाद में भी ये ही तीन ब्रह्मचर्या या उपनयन और व्यवस्थित शिक्षा के अधिकारी बने रहे। यह अधिकार उन्हें कहाँ तक मिल पाता था या वे इसके प्रति कितने अनुरक्त थे, यह दूसरी बात है।

अनधिकारी श्रमजीवी या शूद्र

३ कृषि के विरोध ने एक विचारधारा और विश्वासधारा का रूप ले लिया था। देवयुगीन असुरों/राक्षसों को हम आज के पर्यावरणवादियों की कोटि में रख सकते हैं। पर विडंबना यह है कि जब कृषिभूमि के विस्तार के साथ जंगल सिकुड़ते चले गए और उन्हें क्रमशः अपने भरणक्षेत्र से वंचित होना पड़ा तब उन्हें विवश हो कर कृषिकर्मियों की शरण में आना पड़ा और उनके आदेश/निर्देश से वे सभी काम करने पड़े जिन्हें वे वर्जित मानते थे पर स्वतः अपनी वन्य भूमि में खेती आरंभ करके भूस्वामी बनना उन्हें स्वीकार न हुआ। जिन्होंने इसे समझा वे स्वयं देवों की नकल करने लगे और देर सवेर स्वामि वर्ग का अंग बन गए।[२४] पर्यावरण का विनाश सभ्यता और उद्योग-वाणिज्य के विकास के आरंभ से ही जुड़ा रहा है। अब खेत जोतने, बोने से ले कर अन्य सभी श्रमसाध्य व्यवसाय या धंधे, यहाँ तक कि श्रमसाध्य कला-साधना तक इस पृष्ठभूमि से आए लोगों के भरोसे चलती रही और जो पहले के उत्पादक थे, वे स्वयं श्रमकार्य से मुक्त होकर असुरों या अनुत्पादकों की कोटि में आ गये, पर अपने दावे का औचित्य स्थापित करने के लिए वे प्रतीकात्मक कृषि करते रहे। किसानी की नकल करते हुए वे बताते रहे कि यज्ञ की वेदी ही समस्त उर्वरा भूमि है[२५] और उस पर तो उनका अधिकार है ही। अतः समस्त उत्पादन पर उनका अधिकार बना हुआ है।

यज्ञ विस्तार

३.२ आहारसंग्रही समाज के अनेक गण कृषि की सफलता से आकृष्ट हो कर स्वतः भी कृषिकर्म अपनाते गए। यह कृषिकर्मियों के हित में भी था क्योंकि इससे उनकी शक्ति और संख्याबल तो बढ़ता ही था, उनसे आगे की भूमि में खेती का चलन होने पर उनकी अपनी खेती और पशुसंपदा को सुरक्षा का घेरा मिल जाता था। अतः वे स्वयं भी आहारसंग्रही समुदायों को कृषिकर्म अपनाने को प्रोत्साहित करते थे। इसे यज्ञ का तन्वन या विस्तार कहा गया है[२६] और इसी के बल पर वे पूरी दुनिया में आर्यव्रत या कृषि का प्रसार करने की महत्वाकांक्षा रखते थे जो आर्याव्रताः विसृजन्तः अधिक्षमि या कृण्वंतं विश्वमार्यम् के वैदिक उद्घोष में मुखरित है। साक्य, लिच्छवी/रिच्छवि/निच्छवि, कोलिय या कोल गणों के उत्कर्ष का बौद्धकालीन इतिहास भी इसी आर्यकरण से जुड़ा है। यह प्रक्रिया कभी पूरी तरह समाप्त नहीं हुई।

देववाणी का विस्तार

३.३. विविध बोलियाँ बोलने वाले अनेक जन कृषि के चरण पर ही निकट संपर्क में आ गए थे और आगे कृषिकर्म के विस्तार के साथ देवभाषा के प्रसार में सहायता तो मिली ही, इसे अपनाने वाले समुदायों की अपनी भाषा का प्रभाव भी बड़े विचित्र रूप में पड़ा और यह भाषा क्रमशः इतनी

---

[२४]देवा वै यदेव यज्ञेऽकुर्वंस्तदसुरा अकुर्वन् । ऐतरेय ब्रा.६.७

[२५]यावती वै वेदिः । तावती पृथिव्योषधयो बर्हि..., शतपथ ब्रा. १.३.३.६

[२६]आपथयो विपथयोऽन्तस्पथा अनुपथाः । एतेभिर्मह्यं नामभिर्यज्ञं विष्टार ओहते ।। ५.५२.१०

बदलती रही कि इसकी बाद की अवस्थाओं के रूप को कायांतरण कहना ही न्यायोचित हो सकता है। परन्तु इसमें सबसे भेदक अन्तर उस समय आया जब नयी उपत्यकाओं की तलाश में आगे बढ़ते हुए इनकी एक शाखा कुरुक्षेत्र या सरस्वती, दृषद्वती और आपया के क्षेत्र में पहुँची और इसे उन्होंने सर्वोत्तम मान कर अपना कर्मक्षेत्र बनाया।[२७]

३.३.१ इस क्षेत्र में पहुँचने वालों की पहचान के लिए हमें फिर उस चरण की ओर लौटना होगा जिसमें वनसंपदा का विनाश करने वाले इन नयी सूझ वाले लोगों को जगह-जगह से भगाया जाता रहा। भागते पलाते वे अंततः पूर्वोत्तर की दिशा में पहुँचे थे जहाँ पहुँच कर उन्हें पराजय का मुख नहीं देखना पड़ा, इसलिए इस दिशा का नाम अपराजिता है, या इसमें पहुँच कर उनकी स्थिति सुदृढ़ हुई इसलिए इसी का दूसरा नाम ईशानी दिशा है।[२८] उनके इस कथन की पुष्टि इस बात से भी होती है कि देव उपपद वाले स्थान नाम और व्यक्ति नाम उन क्षेत्रों में भी पाए जाते हैं जिन्हें वनांचल और पर्वतांचल कहा जाता है।

देउबानी

३.४ इस समय तक इस देवसमाज में कितने गणों और बोलियों के लोग सम्मिलित हो चुके थे इसे जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। अतः देवों की बोली, जिसे वे या दूसरे देउबानी कहते थे, स्वतः भी अमिश्र बोली न थी। देवों के इसी लोक में होने, यहीं अपनी खेती बारी करने के हवाले उपलब्ध होते हुए भी देववाणी का यह इतिहास पंडितों को याद न रहा और वे इसकी व्याख्या यह कह कर देते रहे कि इसमें देवों की स्तुति या वंदना की जाती थी, इसलिए इसे देववाणी नाम मिला और इस तरह इसे संस्कृत या वैदिक से अभिन्न मान लिया करते रहे है, या अटकलबाजी में देवलोक की वाणी या आकाशवाणी समझ बैठते थे, जिसका प्रयोग नाटकों में आकाशभाषित के रूप में किया जाता था।[२९] कुछ दूसरे इसे किसी भारतेतर देवलोक की भाषा सिद्ध करते हुए उसी को संस्कृतभाषियों का मूल क्षेत्र सिद्ध करते रहे हैं।[३०] पाश्चात्य पांडित्य के आतंक में हमारे मूर्धन्य विद्वान भी अपनी ही प्राचीन सामग्री का सही पाठ नहीं कर सके हैं। इस भाषा के लिए राजवाडे ने रानटी या भोंड़ी भाषा, अपरिष्कृत भाषा की संज्ञा दी परन्तु इस भ्रम के

---

[27] नि त्वा दधे वर आ पृथिव्यां इळायास्पदे सुदिनत्वे अह्नाम् ।
दृषद्वत्यां मानुष आपायां सरस्वत्यां रेवदग्ने दिदीहि ।। ऋ. ३.२३.४

[28] देवासुरा वा एषु लोकेषु समयतन्त त एतस्यां प्राच्यां दिश्ययतन्त तांस्ततोऽसुरा अजयंस्ते दक्षिणस्यां दिश्ययतन्त तांस्ततोऽसुरा अजयंस्ते प्रतीच्यां दिश्ययतन्त तांस्ततोऽसुरा अजयंस्त उदीच्यां प्राच्यां दिश्ययतन्त ते ततो न पराजयन्त । सैषा दिगपराजिता । ऐतरेय ब्रा.३.३

[29] देववाणी- a divine voice, a voice from heaven. V.S. Apte, *Sanskrit-English Distictionary*.

[30] … in spite of the traditional Hindu ignorance of any suh invasion, their doctrine that Sanskrit is "the language of the gods," and the somewhat chauvinistic clinging to the old tradition even today by some Indian scholars. Sanskrit, "the language of the gods," I shall therefore assume to have been a language brought from the Near-East or the western world by nomadic bands. *Language and linguistic Area* : Essays by Murray B. Emeneau, Selection and Introduction by Anwar S. Dill. Standard University press 1980, p.65

शिकार वह भी हुए कि पहले यह हिमालय के उत्तर में बोली जाती थी। देउबानी या संस्कृत नहीं है, उसकी परदादी की दादी है, और यदि किसी को सचमुच आदि भारोपीय की पुनर्सर्जना करनी हो तो उस अकिंचन भाषा तक वापस जाने के लिए नये ध्वनिनियम बनाने होंगे और सामग्री जुटानी होगी।

३.४.१ अपराजिता दिशा में जिस क्षेत्र में कृषियज्ञ की स्थापना हुई उसकी पहचान कतिपय लक्षणों से की जा सकती है।

३.४.२ संस्कृत में केदार का सामान्य अर्थ खेत है, परन्तु इसका विशेष अर्थ धान का खेत है और इसी का छोटा रूप *केदारी था, जिससे भोज. कियारी, हिं. क्यारी है। अतः खेती धान से आरंभ की गई और संभवत पहाड़ी ढलान पर सीढ़ीदार खेत बना कर आरंभ की गई।

३.४.३ आरंभ में भांडों का विकास नहीं हो पाया था अतः धान को भूनकर इसके खीले सिल पर रख कर इनको हल्की रगड़ से छिल्का अलग कर लिया जाता था और फिर उसका चूर्ण (शालिचूर्ण) बनाया जाता था। बाद में जव की खेती आरंभ होने पर इसके लिए सत्तू का प्रयोग होने लगा। आयुधों और उपकरणों की उपयोगिता समाप्त हो जाने के बाद उनका प्रतीकात्मक महत्व रह जाता था और इनकी पूजा होने लगती थी। पत्थर की कलौंही बटिका को, जो गंडकी की पेटी में मिलती है, शालिग्राम के रूप में पूजा जाता है। इससे लगता है कि यह क्षेत्र गंडकी के पहाड़ी क्षेत्र में रहा होगा, क्योंकि इसका तराई क्षेत्र बहुत बाद तक दलदल बना हुआ था और पहली बार दूसरी सहस्राब्दी ईस्वी सन् के मध्य बसाया गया।

देउबानी का उत्स क्षेत्र

३.४.४ राजवाडे ने जिसे रानटी या संस्कृत का प्राचीनतम क्षेत्र माना है, उसे उन्होंने मगध के उत्तर हिमालय से परे के क्षेत्र में रखा था। हम इसमें इतना ही परिवर्तन करना चाहते हैं कि इसे हिमालय से उत्तर रखने की जगह दक्षिणी ढलान क्षेत्र मान लें, जहाँ से ही इसका प्रवेश मगध क्षेत्र में हो सकता था। इन देवों का अवतरण नीचे के मैदानी भाग में ही नहीं हुआ, अपितु पर्वतीय अंचल में भी पश्चिम की ओर फैला और इनका निवास क्षेत्र होने के कारण बाद में हिमालय को देवभूमि या देवों का निवासक्षेत्र माना जाने लगा। फिर इसी का विस्तार हिमालय से उत्तर की ओर कर लिया गया। कहें, स्थिति राजवाडे के सुझाव से उल्टी थी।

३.४.५. सुनीतिकुमार चटर्जी की अपनी भाषा में 'पूर्वी हिंदी' का क्षेत्र घोष महाप्राण ध्वनियों के मामले में सबसे पुरातनवादी है। जो घोषमहाप्राण ध्वनियाँ यूरोप से लेकर पंजाब तक लुप्तप्राय थीं, एकाएक इस क्षेत्र में आ कर कैसे पैदा भी हो गईं और प्रबल भी हो गईं, इसका कोई समाधान उनके पास न था। घोषमहाप्राण ध्वनियाँ आदिम भारोपीय में थीं

इसका समर्थन सभी ध्वनिविज्ञानियों ने किया है। यहाँ तक कि वे संस्कृत की तुलना में अधिक सशक्त थीं, उनमें घोष महाप्राण के साथ घोष महाप्राण का प्रयोग होता था, जबकि ऐसी स्थितियों में बाद में इन दोनों में से पहले की महाप्राणता लुप्त हो गई। यह दावा भी वे करते हैं पर ऐसा क्यों हुआ इसका कारण वे नहीं बता पाते। घोष महाप्राण ध्वनियों की यह स्थिति केवल इस क्षेत्र में देखने में आती है, जिसमें घुघुची, छछाना, ढींढ़ा, धुँधुका, भभका, जैसे प्रयोग ही नहीं मिलते हैं, अपितु इसमें घोष अल्पप्राण ध्वनियों को भी घोषमहाप्राण बनाने की प्रवृत्ति है - हि. गहगहा, भो. घघाइल; सं. दहति, हिं. दहकना, भो. धधकल, धधाइल आदि।

३.४.६ रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भारतीय आर्यभाषा और हिंदी' में व्यापक पड़ताल करके दिखाया है कि भारत के भीतर भी इस क्षेत्र से किसी भी दिशा में आगे बढ़ें तो सघोष महाप्राणता क्षीण होती चली जाती है। प्राकृतों में सबसे प्राचीन मागधी मानी जाती है, उसी का विस्तार शौरसेनी और महाराष्ट्री या जैन प्राकृत की दिशा में ही नहीं हुआ, अपितु शूरसेन क्षेत्र में आ कर उसका प्राकृत चरित्र भी बदला और एक मानक रूप तैयार हुआ, परन्तु जैन साहित्य की रचना महाराष्ट्र में हुई इसलिए उसके व्याकरण पर अधिक काम हुआ। दूसरी प्राकृतों की कतिपय भिन्नताओं को दिखाने के बाद वैयाकरण 'शेषं महाराष्ट्रीवत्' कह कर छुट्टी पा जाते रहे हैं।

३.४.७ परन्तु प्राकृतों का पुस्तकीय रूप अपने क्षेत्र की बोलियों का प्रतिनिधित्व नहीं करता। उसमें संस्कृत का वैसा ही तद्भवीकरण है जैसा अवेस्ता की भाषा[39] और फारसी आदि में देखने में आता है, जिनके सभी नहीं तो अधिकांश वाक्यखंडों को ध्वनिपरिवर्तन मात्र से पुनः संस्कृत बनाया जा सकता है। फारसी में यह कुछ समस्याएँ अवश्य पैदा करेगा, क्योंकि वहाँ अर्थविस्तार और अर्थविचलन भी देखने में आता है। कौन सोच सकता है कि वै. अह्न फारसी में हन बन कर हनोज या अद्य-जनित का आशय ले सकता है या वैदिक ओक अर्थात् घर/मुख फारसी में चुल्लू बन सकता है। बोलचाल की रस्सी सं. में रश्मि बन कर एक ओर किरणों के लिए प्रयुक्त होगी और दूसरी ओर लगाम के लिए और पहले से रास और दूसरे से रेशा और रेशम बन जाएगा। कुछ मामलों में बीच की कड़ी गायब है। घर के लिए प्रयुक्त शब्द मुख के लिए प्रयोग में आने लगा था, जिसकी सनद नहीं है पर उसी से भोजपुरी का ओक्काई अर्थात् ओक या मुँह से उद्गीरित बना है।

---

[31] Zend, if compared with classical Sanskrit, exhibits in many points of grammar, features of a more primitive character than Sanskrit. But it can now be shown, and Burnouf himself admitted it, that when this is the case, the Vaidik differs on the very same points from the later Sanskrit, and has preserved the same primitive and irregular form as the Zend. I still hold, that the name of Zend was originally a corruption of the Sanskrit word kṣāndas (i. e. metrical language, cf. scandere), which is the name given to the language of the Veda by Pā ini and others. Friedrich Max Müller *Chips From A German Workshop* - Volume I, : February 26, 2008, p.110.

रानटी या आदिम भारोपीय

४. हम उस आदिम बोली को जिसे राजवाडे ने रानटी का नाम दिया, उनके बताए हुए लक्षणों और भोजपुरी की आज की कतिपय प्रवृत्तियों को समझते हुए उसका एक कामचलाऊ खाका तैयार कर सकते हैं। भोजपुरी का चुनाव इसलिए नहीं कि वह भाषा भोजपुरी का पूर्वरूप थी। सच तो यह कि वह वर्तमान भोजपुरी क्षेत्र की भाषा ही नहीं थी। उससे उत्तर की पहाड़ियों में व्यवस्थित या स्थिरता पाने वाली भाषा थी जिसके भारत में सबसे प्राचीन प्रमाण राजवाडे को मागधी में मिले। मागधी से उनका तात्पर्य मगध राज्य की सामान्य भाषा से था इसलिए हम इसे भोजपुरी मान कर चल सकते हैं और यह देख सकते हैं कि इसमें किसी परिवर्तन की आवश्यकता है भी या नहीं। यह मेरी सीमा है कि मैं उस मागधी को नहीं जानता, जो उस काल में बोली जाती रही होगी, मैं पटना या भोजपुर की भोजपुरी भी नहीं जानता, गोरखपुरी भोजपुरी ही जानता हूँ जिसे मल्लिका नाम दिया गया है। इसलिए हम इस भोजपुरी के हवाले देते रहेंगे। परन्तु यदि मुझे अवधी का भी ज्ञान होता तो उदाहरण कुछ और जुड़ जाते, सार वही रहता। भोजपुरी के सच्चे प्रतिनिधि लालू प्रसाद यादव हैं, जो हिंदी को सम्मान देते हुए भी, भोजपुरी हिंदी बोल कर अपनी मातृभाषा का गौरव, उपहास का पात्र बनते हुए भी, सँभालते हैं। इसे हम राजवाडे द्वारा पाणिनि की अष्टाध्यायी की व्याख्या के प्रसंग में लाए गए तथ्यों को सामने रख कर आज की भोजपुरी की दस एक हजार वर्ष पहले के उसके पूर्वरूपों को समझना चाहें तो एक धुँधली रूपरेखा तो तैयार हो जाएगी।

४.१. रामविलास जी ने ध्वनिमाला के विषय में दो बहुत महत्वपूर्ण बातें कही हैं। पहली यह कि संस्कृत की जिस वर्णमाला से हम परिचित हैं या वह जिसकी कल्पना आद्य भारोपीय के विषय में की जाती रही है, वे सभी किसी भी भाषा में नहीं रही हैं। यह वर्णमाला अनेकानेक बोलियों के प्रभाव से या रामविलास जी के शब्दों में अनेक ध्वनिकेंद्रों के निकट संपर्क में आने से निर्मित हुई है। दूसरी बात यह कि यदि यह पता चलता है कि अमुक ध्वनि अमुक बोली या भाषा समुदाय से आई है तो यह नहीं समझ लेना चाहिए कि पाणिनि द्वारा तैयार किए गए वर्ग की सभी पाँचों ध्वनियाँ उसी से आई हैं। इसकी कुछ ध्वनियाँ उस बोली में पहले से रही हो सकती हैं। इसे हम उदाहृत करें तो ड़, ढ़ ध्वनि भो. में अधिक दृढ़ता से जमी दिखाई देती है, जबकि ण/ ढ इसे स्वीकार नहीं। इसके विपरीत राजस्थानी और हरयाणवी आदि में न के लिए जगह नहीं पर ण की भरमार है।

४.२. रानटी या भदेस संस्कृत की ध्वनिमाला में अनुमानतः अ, इ, ई, उ, इनके दीर्घ रूप; द्विस्वर -अइ, अउ, ह्रस्व (ऍ/ॅ) और दीर्घ ए और ओ स्वर ध्वनियाँ थीं। क, ख, ग, घ, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, अंतस्थ र और ज का प्रचलन था। स और ह ऊष्म ध्वनियाँ थीं। इनके उच्चारण स्थान में किंचित भिन्नता थी। ऐ, औ, ऋ, ऌ, अः ङ, तालव्य ध्वनियाँ, मूर्धन्य ध्वनियाँ, य, ल, व, श, ष ध्वनियाँ नहीं थीं। सबसे बड़ी बात यह कि संस्कृत व्याकरण में वर्णित जिन बाह्य प्रयत्नों के कारण कंठ्य, तालव्य, मूर्धन्य, दन्त्य और ओष्ठ् जैसे वर्गीकरण किए गए हैं, इनके उच्चारण स्थान पहले कुछ भिन्न थे। राजवाडे की मानें तो दन्त्य स का उच्चारण कंठ्य होता था जो ह्र जैसा सुनाई पड़ता था। इसी का परिणाम है कि अन्त्य स् का स्थान विसर्ग और रेफ ले लेते हैं।

४.४.१ हम ऊपर जिन देवों और ब्राह्मणों के लिए देउ, बरम का प्रयोग कर आए है। कारण यह है कि वे अपने को देव या ब्राह्मण नहीं कह सकते थे। भोजपुरी में न तो व की अन्तस्थ ध्वनि थी न ही असवर्ण संयोग की प्रवृत्ति। मूलतः वे देउ और बरम ही रहे हो सकते हैं। आग का गुण बरना अं. बर्न है, ब्रना नहीं अतः पहले देववाणी भी देउबानी ही कही जाती रही होगी। दई बानी रही हो तो भी अचजरज नहीं। देव का अन्य बोलियों में देवा बनता है तो भो. दई।

४.४.२ इसमें बहुवचन के लिए संख्यावाचियों का प्रयोग होता था। द्विवचन संस्कृत में उन बोलियों में से किसी एक से आया जिसमें युगल (पति-पत्नी) के लिए अलग संज्ञाएँ थीं। व्याकरणिक लिंग का विधान नहीं था। आज भी लालू प्रसाद जिस भोजपुरी-हिंदी के कारण हास्यकार माने जाते हैं, उनके वाक्यों को भोजपुरी मूल में सुनने पर उनके कथन किसी को अस्वाभाविक या गलत नहीं लगेंगे। इसमें लड़कियाँ जाएँगी हिंदी के प्रभाव से बोला और समझा जा सकता है, परन्तु अपने खांटी रूप में उनकी संख्या या बहुत्व सूचक शब्द आएगा। इसलिए चार कनिआ जइहें, चार लइका जइहें प्रयोग अधिक प्रचलित मिलेगा।

४.४.३ लघुतासूचक, द्र. अमहत्, शब्द -इ/ई जोड़ कर बनाए जाते थे। लिंग व्यवस्था सं. में जिस भी बोली के प्रभाव से आई, इसकी प्रकृति को समझने में चूक हुई। उधार का माल सजा कर रखा नहीं जा सका। अमहत् के लिए नपुंसक लिंग का प्रयोग चल पड़ा, परन्तु अन्यत्र कही ध्वनि को लिंग का आधार बनाया गया कहीं जैव भेद को। अतः लिंग को लेकर संस्कृत में बहुत अराजकता पाई जाती है। वह अराजकता हिंदी में भी आई है जब कि भोजपुरी में यह अधिक व्यवस्थित है। रवीन्द्रनाथ का मजाक कि जिस हिंदी में स्तन पुलिंग होता है और मूछ स्त्रीलिंग उसे कोई कैसे सीख सकता है। दशा संस्कृत की भी भिन्न नहीं थी, उसे गुरुदेव ने मनोयोग से सीखा था। भोजपुरी में मूछ नहीं मोछि है, अकारांत नहीं इकारांत। इकारान्त स्त्रीलिंग अकारांत पुलिंग। बाँहि, पीठि स्त्रीलिंग रहेंगे ही पर हिं. में इकार को अकार से अपदस्थ करने पर लिंग भी बदला जाना चाहिए था। संस्कृत ने इतर भाषाओं को पचाने में चूक की, हिंदी ने अपनी उन बोलियों को पचाने में जिनका उसके निर्माण में योगदान है।[३२]

४.४.४ इसमें नये आशयों के लिए शब्दनिर्माण स्वरों और व्यंजनों के सहयोग से या दो शब्दों को जोड़ कर किया जाता था। पत, पात, पतुआ, पातर, पतरी, पतीली/पतीला, पतुकी, पतुहा, पतरा, पतारल या रस, लस, लसरा (चुगली), लसोरा, लासा, रसरी, रास, रसा, रसातल आदि की तरह।[३३]

---

[32]हिंदी की आधार भाषा भले कौरवी हो, इसकी जन्मस्थली बंगाल से बिहार उत्तर प्रदेश होते हुए अंततः कौरवी क्षेत्र में पहुँची है। इसके विकास में उन क्षेत्रों के लेखकों का हाथ कौरवी के लेखकों की तुलना में अधिक रहा है। यह तिर्यक सम्बन्ध इस तथ्य को समझने में भी सहायक हो सकती है कि ऋग्वेद के सबसे तेजस्वी चरित्र असुर परंपरा से आए हुए हैं जिन्हें बाद की पीढ़ियों में शैव परंपरा में दिखाया जाता रहा है, जबकि वे इंद्र की अपेक्षा वरुण की महिमा में विश्वास करते थे।

[33] हम निर्माण प्रक्रिया की बात कर रहे हैं न कि इस बात की कि ये सभी रूप आदिम स्तर पर आ चुके थे।

४.४.५ अपने छोटे से पर्वतीय अंचल से नीचे उतरने और नदियों के कछार में खेती करने के क्रम में इनका संपर्क एक ऐसी बोली से हुआ लगता है जिसकी कुछ विशेषताएँ तमिळ में पायी जाती हैं। इनमें प्रमुख था, सवर्ण संयोग, जो ध्वनि-अनुकार का ही एक रूप था। जब पानी में या हल्की कीचड़ वाली जमीन पर पाँव पड़ता है तो ध्वनि चप या छप की नहीं होती, चप्प, छप्प की होती है। संभव है यह गुण देववाणी में भी आरंभ से रहा हो। अब पत पत्त, सत सत्त, रस रस्स (रस्सा/रस्सी), चित चित्त, लग लग्ग, लग्गी, लग्गा, पट, पट्ट, सच सच्च आदि जैसे रूप बने।

४.४.६ इसमें सभी शब्द स्वरान्त होते थे, हलन्त कोई नहीं।

४.४.७ नये कृषिक्षेत्र या कर्मक्षेत्र की तलाश में कुरुक्षेत्र में पहुँचने पर यहाँ तक की यात्रा के पड़ाव क्षेत्रों में पहले से बसे या कितने समुदायों से उनका पाला पड़ा, इसका सही अनुमान लगा पाना कठिन है। परन्तु यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे लंबे समय तक उन क्षेत्रों में रहने के बाद वंशवृद्ध के कारण नये क्षेत्रों पर अधिकार करते हुए, बहुल लंबे अंतराल के बाद इस कुरु या कर्मक्षेत्र या खेती के लिए सबसे उपयुक्त क्षेत्र तक पहुँचे हो सकते हैं। संभव है इस बीच उन बोलियों में से कोई उन गुणों से संपन्न रही हो, जिसे तमिळ की विशेषता माना जाता है। संभव है इनके कारण कुरुक्षेत्र में पहुँचने से पहले ही इनमें से एक तो कुछ मामलों में तमिळ के निकट थी, हलन्त प्रधानता आ जाती है।

४.४.८ परन्तु एक दूसरी बोली थी जिसमें माधुर्य के लिए उकार का प्रयोग होता था। ऐसा लगता है कि इसका सबसे अधिक प्रभाव तेलुगू पर पड़ा। इनके प्रभाव से इद, अद, एत के वैदिक में इदु, अदु, कदु, एदु आदि रूप देखने में आते है। वहाँ संस्कृत में पश्चिमी प्रभाव से उकार को म्, स्, न् ने स्थानांतरित कर दिया और जिसके फलस्वरूप इदं, अदस्, कथं आदि रूप मिलते हैं। इस तरह पहले की भाषा में जहाँ स्वर प्रधानता या गेयता और माधुर्य था, अब इसमें वेग या ओज आ गया।

४.४.९ एक अन्य बोली में तालव्य ध्वनियों की प्रधानता थी जबकि संभवतः तमिळ से मिलती जुलती किसी बोली में मूर्धन्य की प्रवृत्ति प्रबल थी। इस बोली में णकार का प्रयोग होता था, जो तमिळ में नहीं होता जबकि जैन प्राकृत में णमो अरिहंताणं की तरह उस बोली में ण का आदि, अंत, मध्य कहीं भी प्रयोग हो सकता था, इसलिए इसे मूलतः तमिळ या द्रविड़ की ध्वनि नहीं माना जा सकता, न उससे ये ध्वनियाँ संस्कृत या वैदिक में आईं। इस बोली का अपेक्षाकृत गहरा प्रभाव पंजाब से लेकर महाराष्ट्र तक रहा लगता है। तालव्य के प्रभाव से पहले का दंत्य स प्रायः तालव्य में बदला और सत ने शत बन कर एक नया मूल्य पा लिया। वैदिक का वसिष्ठ बाद के संस्कृत में वशिष्ठ हो गया। दूसरी ओर ऋग्वेद में ही एक ओर तो सोम का प्राधान्य है पर समस्त रूपों में यह षोम, अग्नि और सोम, अग्नीषोमा बन जाता है। और दूसरे के प्रभाव से कुछ समय

के लिए स्तोभ ष्टोभ बन, सत जो पहले सबसे बड़ी संख्या था और जिसका मान छह था, अब षट् हो गया और सत उससे और सबसे बड़ी संख्या बना (तीन के बाद सभी संख्याएँ संख्या के विकासक्रम में सबसे बड़ी संख्याएँ रही हैं इसलिए अस्त भी सबसे बड़ी संख्या था, जो अष्ट और फिर सत उलट कर तस या दस और दश और फिर उलट कर अपना दशगुना मान शत)। तालब्य और मूर्धन्य का प्रतिस्पर्धी भाव-सा है, जो काफी दूर तक आज भी बना हुआ है। इसी की एक परिणति वह है जिसमें मूर्धन्य अंतस्थ ध्वनि र के स्थान पर दन्त्य ल का प्रयोग होने लगा और रलयोरभेदः का नियम बना अर्थात् र और ल में भेद नहीं है। इसके कारण पहले के बहुत से शब्दों में रकार का स्थान लकार ने ले लिया। फर- फल, राजा- लाजा, रघु - लघु, रोचन - लोचन आदि परिवर्तन इसी के प्रभाव से हुए।

४.४.१० एक अन्य बोली जिसकी प्रकृति तुर्की जैसी थी, हरियाणा में बोली जाती थी जिसमें स्वरलोप और वर्णलोप की प्रवृत्ति थी, जो आज भी बनी रह गई है। इसके कारण वैदिक में असवर्ण संयोग की प्रवृत्ति बढ़ी। इसमें सवर्ण संयोग लद्धड़ माना जाता था इसलिए र, ल, स, य, व आदि ध्वनियों के योग से इसने पहले के रूपों को बदल दिया। इस तरह सत - सत्त- सत्य, शून - शून्य, पिय -प्रिय, नेह-स्नेह आदि रूपों का चलन बढ़ा।

४.४.११ एक बोली ऐसी थी जिसमें सभी स्वरों का उच्चारण नासिक्य होता था। राजवाडे के अनुसार कोंकण और गुजरात के कुछ भागों में स्त्रियाँ आज भी सभी स्वरों का नासिक्य उच्चारण करती हैं। इससे वे अवान्तर रूप पैदा हुए जिनमें सत - संत, सुतर - सुंतर - सुंदर, सतत - संतत, तत - तंत - तंतु, मत - मंत, वत -वंत आदि और कुछ मामलों में इनका अर्थविच्छेदक प्रयोग भी हुआ।

इस तरह के सभी परिवर्तनों को हम एक ओर तो भाषा-संकरण कह सकते हैं, दूसरी ओर संस्कृतीकरण और मानकीकरण, क्योंकि ये एक झटके में नहीं हुए, न ही जिस क्रम में हमने रखा है उस क्रम में हुए। भाषा इन्हें आत्मसात करते हुए अपना चरित्र निर्धारण करती रही। यह प्रक्रिया हजारों साल तक चलती रही। इस बीच न जाने कितना साहित्य रचा गया और न जाने कितनी गुत्थियाँ सुलझाई गईं। कारण मौखिक साहित्य भी यदि हृदयग्राही हो तो दूर दूर तक, कई बार तो भाषा की दीवारें तोड़ कर दूसरे भाषाक्षेत्र में पहुँच, उसके मुहावरों में ढल जाता है (हिं. नाच न आवै आंगन टेढ़ा का त. नाट्टमाट्टाद तेवलियालुक्कु कूलम् कोणम् अर्थात् नाच न जानने वाली देवदासी के लिए आँगन टेढ़ा)। मनुष्य भाषा के आविर्भाव के बाद अपने हर्ष-विषाद दूसरों के बीच अपने गीतों, कथाओं के द्वारा बाँटता, पहेलियाँ बनाता और सुलझाता और महत्वपूर्ण तथ्यों को अतिरंजनाओं या विचित्रताओं से भर कर बाद की पीढ़ियों के लिए अविस्मरणीय बनाता रहा है। इसके जितने अवशेष भारत में उपलब्ध हैं, उतने अन्यत्र नहीं। इसका एक कारण तो यह है कि यहाँ आज से पाँच हजार साल पहले लिपि का ज्ञान ही नहीं हो गया था अपितु श्रुत परम्परा से उपलब्ध अपने इतिहास और संस्कृति के अंशों को संजोने के लिए इसका उपयोग भी होने लगा था और यह काम लगातार होता रहा। इस बात को दुहरा दें कि लेखन का प्रचलन ऋग्वेद के समय तक हो चुका था और बाद में

लगातार जारी रहा। दूसरे इसकी अपनी परिस्थितियों और बहुलता के कारण इसमें जो वैविध्य था वह अन्यत्र दुर्लभ था। हमारा अपना ज्ञान बहुत सीमित है। सच कहें तो उक्त रूपरेखा को तैयार करने के लिए उपलब्ध साधनों का भी जैसा उपयोग होना चाहिए था, वह बहुग्रस्तता के कारण नहीं हो पाया है। इसलिए इससे एक क्षीण आभास तो मिल सकता है, इसे व्यवस्थित और त्रुटिहीन बनाने के लिए जो योग्यता अपेक्षित है, वह भी मुझमें नहीं है।

इस दिशा में जो काम होना चाहिए वह इसलिए नहीं हुआ कि गुलाम बौद्धिक कार्यभार को अपने स्वामी के हिस्से का काम मान लेता है या उसके सुझाए या बताए की सीमा में अपनी-अपनी अक्ल से भी काम लेता है, जबकि आदिष्ट और निर्दिष्ट कार्यभार को अपना समझता है। हम मानसिक रूप में स्वतंत्र हुए ही नहीं, अतः हमारे बुद्धिजीवी यह सोच ही नहीं सकते कि जिस दिशा में या जिस स्तर तक जाकर पश्चिमी विद्वानों ने काम नहीं किया, उसमें उनके करने योग्य कुछ हो भी सकता है। वे सांस्कृतिक स्वतंत्रता और विकास के लिए अनगिनत दृष्टांतों के होते हुए यह तक नहीं समझ पाए हैं कि कोई भी राष्ट्र सोचना और निर्णय लेना, आविष्कार और सिद्धांत प्रतिपादन करना तब आरम्भ करता है, जब वह अपनी बोलचाल की भाषा को ज्ञान की भाषा मान कर उसमें काम करना आरंभ कर देता है। विपुल साहित्य होते हुए भी संस्कृत चिंतन को त्वरा नहीं दे सकती थी, क्योंकि वह कुछ लोगों की भाषा थी। ठीक यही बात लातिन पर लागू होती थी जिसके सम्मुख अपनी भाषाओं की दीनता और अशक्यताजन्य हीनता से उबरने के बाद यूरोप में नवचिंतन संभव हुआ। अंग्रेजी का साहित्य विपुल है, उससे हम केवल ले सकते हैं, उसके दबाव में कुछ पैदा नहीं कर सकते। ज्ञान का उत्पादन संभव हो इसके लिए अंग्रेजी, संस्कृत और अपनी सहज व्यवहार की भाषा से इतर भाषा जैसे भारत के अन्य भाषा क्षेत्रों के लिए हिंदी को अनिवार्य नहीं, ऐच्छिक भाषा बना कर ही बौद्धिक स्वराज्य पाया जा सकता है।

ऋग्वेद और जनमानस

वैदिक के नाम पर मेरा ध्यान केवल ऋग्वेद पर जाता है। दूसरे वेद बहुत बाद में रचे गए अथवा ऋग्वेद के विधान (यजुस्) या प्रभावकारी सस्वर पाठ (साम) तक सीमित हैं। उनकी व्याख्याएँ कई दूसरी समस्याएँ भी खड़ी करती हैं। ऋग्वेद तक सीमित रहने का एक कारण और भी है। मैं ऋग्वेद से अधिक गहरा जुड़ाव इसलिए रखता रहा हूँ क्योंकि मेरे सामने प्राथमिक चरण के इतिहास की चिंता प्रधान रही है। अतः मेरे लिए वेद का अर्थ है ऋग्वेद, वैदिक काल का अर्थ है आज से पाँच हजार साल पहले से चार हजार पहले के भीतर का एक हजार वर्षों का समय, वैदिक कवि का अर्थ है ऋग्वेद के कवि और वैदिक व्याकरण का अर्थ भाषा की समस्याओं के निराकरण का ऋग्वेद के समय में चल रहा प्रयास है, जिसके चलते भाषा को सत्तू की तरह छान कर अशुद्ध प्रयोगों से बचने-बचाने का प्रयास किया जाता था और गूढ़ोक्तियों का विवेचन किया जाता था।

अपनी मातृभाषा के लिए हमें व्याकरण जानने की जरूरत नहीं होती, परन्तु जब दूसरा कोई हमारी भाषा को समझना चाहता है या हम किसी दूसरी भाषा को सीखने चलते हैं तब, अथवा विविध भाषाभाषियों द्वारा किसी एक भाषा को अपनाने के कारण उनकी अपनी भाषा के दबाव में बहुत तरह के अटपटे और भ्रामक प्रयोग होने लगते हैं तो उसका मानक चरित्र निर्धारित करने के लिए व्याकरण या सही-गलत प्रयोग के निर्धारण की आवश्यकता पड़ती है। भारत में यह समस्या वैदिक काल में ही उपस्थित हो गई थी। परन्तु उस स्थिति में हमें यह भी मानना होगा कि भाषा का एक मानक रूप पहले से विद्यमान था और उसका इतर भाषाभाषियों द्वारा प्रयोग होने लगा था। इसके कारण ही बहुत

सारी अनियमितताएँ पैदा हुई थीं, जिनके समाधान के लिए उस व्याकरण की आवश्यकता उत्पन्न हुई, जिसकी स्मृति ऐंद्र व्याकरण के रूप में बनी रही थी। ऐंद्र व्याकरण की चर्चा और इसके विषय में बहुत स्थूल सूचना ही मिल पाती है। कहते हैं कि बहुत बाद में तोळ्कप्पियम् की रचना उसके आदर्श पर ही हुई, अर्थात् उसमें व्याकरण के साथ काव्यशास्त्र आदि का भी विवेचन था। ऋग्वेद की कविताओं में छन्दों और अलंकारों का सचेत वैविध्य इस बात का प्रमाण है कि इनका शास्त्र भी विकसित हो चुका था।

हम यहाँ तीन प्रस्ताव रख रहे हैं, जिनसे विद्वानों को, विशेषतः संस्कृत के पंडितों को आपत्ति होगीः

१. तत्सम-तद्भव का विचार करते समय संस्कृत में पाए जाने वाले रूप तत्सम मान लिए जाते हैं और तत्सम से हमारा अभिप्राय यह होता है कि वही शब्द का मूल प्रामाणिक रूप है, जिससे तद्भव रूप कतिपय विकारों के कारण निकला माना जाता है। इसके पीछे तीन तर्क हैंः पहला यह कि एक मूल प्रामाणिक भाषा थी, जिसमें आये विकारों के कारण उसके बहुत से रूप कालांतर या देशांतर में बन गये। यह संस्कृत के बाहर से आने की मान्यता को भी रास आती थी और उस भाषाविज्ञान को भी, जिसमें आद्यभाषाओं की कल्पना की गई और व्याकरण और शब्दभंडार में निकटता रखने वाली भाषाओं को उस आदि भाषा से उत्पन्न माना जाता रहा। यह भारतीय धातु-प्रत्यय-उपसर्ग-निपात पद्धति से शब्द के अर्थनिर्धारण की पद्धति से भी मेल खाता है। इस तरह इसके पक्ष में बहुत दृढ़ विचार विद्वानों में पाए जाते हैं।

२. हम इससे ठीक उल्टी यात्रा का प्रस्ताव रखते हैं। इसका एक कारण तो यह है कि बृहद समाज, संस्थाएँ और मानक भाषाएँ पहले नहीं आती हैं, इनका अपनी छोटी नगण्य इकाइयों से विकास होता है। महल के गिरने से झोंपड़े नहीं पैदा होते, महल तक की यात्रा झोपड़ों से आरंभ होती है। परन्तु एक बार महल के अस्तित्व में आ जाने के बाद वह झोपड़ों को भी प्रभावित करता है और उनसे प्रभावित भी होता है।

२.१ हम इसे एक उदाहरण से स्पष्ट करना चाहेंगे कन्/क्न = जल (कंज=जलज, भो. कनई-कीचड़), > प्रकाश, चमक, चमकने वाला (काँच, काँसा, कनक, कंचन), त. कण् - आँख, कन्नीर - आँसू, सं. कनीनिका - आँख की पुतली, हिं. कनखी - दृष्टिभंगी, कण्व -द्रष्टा, प्रस्कण्व - प्रखर ज्ञानी, काणा/काना - चक्षुविकल; *क्नु - जानने वाला> *वचक्नु - वाग्विद > वाचक्नवी - वचक्नु की पुत्री/वाग्विदा (गार्गी) । क्नु को ही हम अंग्रेजी के क्नो (know) में पाते हैं, जिसका क् अनुच्चरित रहता है। घोषप्रेमी समुदाय के बीच क्न > ग्न में बदल जाता है[३४] और ग्रीक के > ग्नो में दिखाई देता है, जिसके विसर्ग युक्त रूप का दर्शन ग्नोस् में होता है। इससे अं. क्नो का रिश्ता दिखाया जाता है जबकि क्नो मूल के अधिक निकट है। तालव्य प्रेमी समुदाय में क्न/ग्न > ज्ञ में बदलता है और दन्त्य न वर्णमैत्री से बदल कर ज के

[34] पोर वाली घासों जिनमें बाँस से लेकर सरकंडा तक आते हैं, इनके पोर की गाँठ को अक्षि या आँखा भी कहते है। इसके लिए भी कन् और गन् का प्रयोग होता था। इससे फूटने वाली टहनी को कंछा, कइन कहते हैं। गन्ना का अर्थ ही है गाँठ या आँख वाला, सरकंडे और नरकुल के पोरों या कांड कहते है जिससे कांड और कंडिका या पुस्तकों के आंतरिक विभाग के लिए भी होता है। परन्तु इन उपविभागों को सर्ग, उल्लास, प्रकाश आदि भी कहते हैं इसलिए संभव है कांड अक्षि या आँखा वाले भाव का द्योतक हो तो आश्चर्य नहीं। प्रकांड विद्वान में आए प्रकांड में तो यह भाव निश्चित रूप से है।

अनुकूल, तालव्य >ञ बन जाता है। इससे ही ज्ञप्ति, ज्ञापित, ज्ञान आदि बनते हैं। पर ज्न सर्वत्र ज्ञ में नहीं बदलता, अतः वह हिं. जानना, सं. जानाति, जानीतः जानन्ति में भी बना रहता है। फारसी में *जान -ज्ञान बना रहता है। इसी से जानकारी और संभवतः जुनून या बदहवाशी का भी सम्बन्ध है। इस ओर ध्यान न देने पर लगेगा हिंदी का जानना संस्कृत के ज्ञान के तद्भव से बना है, जबकि सच कहें तो कन्/क्न मूल से इन सभी का जनन और अर्थविस्तार और रूपभेद पैदा हो रहे हैं।

२.२ ध्यान रहे कि कन्/क्न धातु नहीं, अपितु पानी की ध्वनिविशेष का अनुकार है। इस दृष्टि से ऊपर के सभी शब्द तद्भव हैं, क्योंकि मूल तो क्न/कन् है, जिससे ये अस्तित्व में आते (तद्भूत) हैं। इस तर्क से काँसा का संस्कृतीकरण कांस्य है न कि काँसा कांस्य का तद्भव। हास और हास्य, सत और सत्य ये बाद के आलंकारिक संस्कृतीकरण हैं पर इन्होंने एक नई अर्थभंगी पा ली है। कह सकते हैं हास हँसी है और हास्य वह जिससे हँसी आए। पर इस नियम से कांस्य काँसे का अपत्यार्थी अर्थात् उसका उत्पाद हुआ। कांसा और कांस्य मेरे कोशों (आप्टे और मोनियर विलियम) में स्थान ही नहीं पा सका। त्रुटि हुई होगी। सौभाग्य से काँच तो नही है पर काच है। अपने सीमित ज्ञान में यह दावा नहीं कर सकता कि कांचन/कंचन से भेद के लिए काँच को निरनुनासिक बना दिया गया परन्तु इसे अनिरुक्त अर्थात् ऐसा शब्द जिसकी व्याख्या हो ही नहीं सकती, बना दिया गया।

२.३ अब ज्ञान के प्राकृतीकरण की प्रक्रिया पर ध्यान दें, जिसमें यह नाण बनता है और इसका अगला विकास अनाड़ी में होता है। अब ब्राह्मणों में आया नाड़पित ज्ञानपीठ का अपभ्रंश प्रतीत होने लगता है। इस नाड़ का उस नाड़ या नाड़ी से कोई सम्बन्ध नहीं है जिससे प्रणाली, नाली, परनाला, नाला, नली आदि निकले हैं।

२.४ ज्ञान के प्राकृतीकरण से अधिक रोचक है प्रज्ञा का प्राकृतीकरण > पण्णा > पंडा में होता है और इसका संस्कृतीकरण करने पर >पंडित, पांडित्य आदि जन्म लेते हैं। संस्कृत का प्राकृणीकरण और उसका दुबारा संस्कृतीकरण और फिर तद्भवीकरण पाँड़े, पँड़ाइन और पाँड़े का पुनः संस्कृतीकरण पांडेय। कौन तत्सम कौन तद्भव यह तय करना कठिन, क्योंकि पंडा को संस्कृत के विद्वानों ने एक नई परिभाषा दे दी - पंडा तु विवेकवती बुद्धिः । इसके साथ ही एक पंड् धातु की भी कल्पना कर ली गई, जिसका अर्थ संकलन, जोड़ना आदि है। अतः पंडित ज्ञानागार हुआ या न हुआ, घाट का पंडा जजमानी से वसूली करके मालामाल होने वाला तो हुआ ही। इससे यह समझने में आसानी होगी कि संस्कृत की धातुएँ कितनी विश्वसनीय हैं। वे निर्मितियाँ हैं, कांस्ट्रक्ट हैं, एक अज्ञात परिघटना को समझने के लिए कुछ बुनियादी प्रस्ताव हैं और संस्कृत के विद्वान इसे समझने में विफल रहे।

३. विद्वानों के बीच दूसरी मान्यता यह है कि वैदिक से संस्कृत उत्पन्न हुई। परन्तु किस वैदिक से?वैदिक के कई रूप हैं। इसके पक्ष में भी प्रबल तर्क मिल जाएँगे। भारतीय पंडितों के लिए तो जब सृष्टि के पहले से वेद थे तो वैदिक का प्राचीनतम भाषा होना स्वतः सिद्ध है। पाश्चात्य पंडितों के लिए भी वेद भारतीय

आर्यभाषा की प्राचीनतम कृति है, संस्कृत को इसका मानक रूप तो पाणिनि ने दिया। हम यह प्रस्ताव रखते हैं कि वैदिक से पहले संस्कृत अर्थात् भाषा का मानक रूप विकसित हो चुका था । हड़प्पा सभ्यता की संपर्क भाषा के रूप में इसके व्यवहार से इसकी निर्माण प्रक्रिया में सम्मिलित होने वाले जनों के अपने अटपटे प्रयोगों से इतनी गड़बड़ हो गई कि लगा सभी विधानों के वैकल्पिक रूप हैं - सर्वे विधयः छंदसि विकल्पयंते। इसे ही छांदसि बहुलम् में, अर्थात् वेद की भाषा में बहुत तरह की मिलावट देखने में आती है। इस मिलावट के मुख्य चार रूप है एक है कुछ प्रवृत्तियों का व्यवहार में आना, कुछ मामलों में उन प्रवृत्तियों का पालन न हो पाना, कुछ मामलों में वैभाषिक प्रयोगों का हस्तक्षेप और कुछ अन्य भाषाओं के तत्वों का समावेश (क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचित् विभाषा क्वचिदन्यदेव। विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधा बाहुलकं वदन्ति।)। अतः इसमें स्वतः निहित है कि पहले की किसी मानक भाषा में कई कारणों से इतनी अनियमितताएँ पैदा हुईं।

३.१ इस मिलावट के चरित्र को नागर अर्थव्यवस्था को सामने रख कर ही समझा जा सकता है। नगर का एक स्वामिवर्ग होता है जिसके हाथ में संपदा, उसके विस्तार की योजना, उसकी रक्षा के उपाय और उसकी उपलब्धियों को आकार देने की प्रेरक और नियंत्रक शक्ति होती है। दूसरे उसके सेवक होते हैं, जो उसके सुख-सुविधाओं के लिए उपयोग में आते हैं। तीसरा श्रमिकों का वह बड़ा हिस्सा होता है, जो विविध उत्पादन कार्यों से जुड़ा होता है। तकनीकी ज्ञान, उद्योग, कला के जनक ये होते हैं। इनके औजार और उपस्कर जुटाने वाला, उसके निर्वाह का प्रबंध करने वाला और इनको नियंत्रित करने और इनसे लाभान्वित होने वाला अर्थतंत्र पर हावी वर्ग ही होता था। राजशक्ति उसका ही उद्देश्य पूरा करती थी, नियम उसके लिए बनाए जाते थे, युद्ध उसकी सुरक्षा के लिए लड़े जाते थे और इसलिए अपने अर्थ और बुद्धि के बल पर आरंभ से आज तक वही राज करता रहा है। प्रबंध राजा का, राज पैसे वाले का। कोष ही राजा को भी शक्ति देता है। किसी देश या समाज की प्रगति उसकी आर्थिक प्रगति के अनुरूप होती है और भाषा से लेकर भगवान उसी के सर्वोपरि होते हैं। अतः सांस्कृतिक आर्थिक गतिविधियों मे सम्मिलित होने वालों की संख्या अधिक होने के बाद भी संपर्क के लिए सभी को भाषा उसी की सीखनी पड़ती है और सबसे अधिक मिलावट भी उसी में होता है। यदि यह भागीदारी एक छोटी कालावधि में गहन हुई हो जैसा कि नगरीकरण के विकास के साथ हुआ तो इस मिलावट को मानक भाषा पचा नहीं पाएगी और उसके उच्चारण से लेकर व्याकरण तक की चिंता पैदा होगी। इसलिए शिक्षा का अर्थ ही था सही उच्चारण करना। इसके प्रमाण उपनिषद् काल से तो मिलने ही लगते हैं, पहले भी इस पर ध्यान दिया जाता था अन्यथा अशुद्ध उच्चारण करने वालों की वैसी भर्त्सना देखने में नहीं आती जो म्लेच्छ, मृध्रवाच, वध्रिवाच आदि में मिलती है।

३.२. ऋग्वेद की भाषा उस मानक भाषा के दूषण या विविध भाषाई पृष्ठभूमियों से आए, लोगों द्वारा संपर्क भाषा को अपने प्रयत्न से सीखने और व्यवहार करने से पैदा हुई अनियमित भाषा है। संस्कृत का वैदिक से पहले एक मानक रूप तैयार हो गया था। केवल भाषा का व्याकरण ही नहीं, भाषाई आचार का भी एक व्याकरण तैयार हो चुका था, जो अगस्त्य के इस कथन में ध्वनित है कि सभा और विद्वत्जनों के बीच कथन वैसे अर्थगर्भित होना चाहिए जैसे सभ्य स्त्री अपने को

वस्त्रावृत रखती है - गुहा चरन्ती मनुषः न योषा सभावती विदथ्येव सं वाक, १.१६७.३। ऋग्वेदिक रचनाकाल में भी सभी कवि एक ही भाषा में रचना नहीं कर रहे थे। अपनी समझ से वे सभी मानक भाषा में ही रचना कर रहे थे और अपनी सीमाओं से अनभिज्ञ थे जबकि दूसरा कोई इसे लक्ष्य कर सकता था।

४. पाणिनि ने वैदिक भाषा, अर्थात् ऋग्वेद की भाषा की अनियमितताओं को कम किया था और उस मानक भाषा को आधार बनाया था जो ऋग्वेद के अनेकानेक सूक्तों और उपनिषदों में मिलती है। वह पश्चिमोत्तर की कोई बोली नहीं थी, जिसका सुझाव कुछ पश्चिमी विद्वानों ने दिया था। परिनिष्ठित भाषा का अस्तित्व पहले से था और बीच के काल में भी बना रहा जब प्राकृतिक विपर्यय के कारण कुरुपांचाल उजड़-सा गया था और इसमें पहले बसे लोग उत्तर पूर्व दक्षिण के तटीय क्षेत्र की ओर पलायन करने को विवश हुए थे। पूरब के लोग जिस मानक संस्कृत की शिक्षा के लिए उदीच्य की यात्रा करते थे, वह अनुमानतः वही टकसाली संस्कृत थी। ऋग्वेदिक भाषा आर्थिक कार्यकलाप में शामिल इतर भाषाई समूहों की अपनी सीमाओं और उनसे उत्पन्न विचलनों को प्रतिबिंबित करती है। उस काल की बोलचाल या गद्य की भाषा में अटपटापन और भी अधिक रहा होगा। पाणिनि वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के जनक थे और वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की पहली अपेक्षा है, वर्णित भाषा का पहले से अस्तित्व। वह केवल उन विचलनों से पाठकों को सावधान रहने का आग्रह करते हुए उसके मानक रूप की पुनः प्रतिष्ठा करते हैं और आगे के लिए इसे व्यवहार्य बनाते हैं। इस आग्रह के कारण कुछ लोगों को इसके आदर्शपरक या नार्मेटिव होने का आभास होता है।[३५]

अब हम ऋग्वेद और उपनिषद के दो-दो उदाहरणों से इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगेः

ऋग्वेद

१ सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका ।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्यु अजरं मरायु ।।
पज्रेव चर्चरं जारं मरायु क्षद्मेवार्थेषु तर्तरीथ उग्रा ।
ऋभू नापत् खरमज्रा खरज्रुः वायुः न पर्फरत् क्षयत् रयीणाम् ।।

२ यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम् ।
तस्मिन् मां धेहि पवमान अमृते लोके अक्षित इन्द्राय इन्दो परि स्रव ।।
यत्र राजा वैवस्वतः यत्रावरोधनं दिवः ।
यत्र अमूः यह्वतीः आपः तत्र मां अमृतं कृधि इन्द्राय इन्दो परि स्रव ।।
यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः ।
लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र मां अमृतं कृधि इन्द्राय इन्दो परि स्रव ।।
यत्र कामा निकामाश्च यत्र बध्नस्य विष्टप ।

[35]But Panini possibly had some other normative object in mind – the description of what was regarded as the standard dialect so that all who desired to talk and compose could follow an established norm. This really is a vexed question for lack of statement of purpose by Panini himself, as reverse may well have been true, i.e. the language described by Panini became India's literary language because of his description. *Language and linguistic Area* : Essays by Murray B. Emeneau, Selection and Introduction by Anwar S. Dill. Standard University press 1980 P. 21

स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र मां अमृतं कृधि इन्द्राय इन्दो परि स्रव ।।
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र मां अमृतं कृधि इन्द्राय इन्दो परि स्रव ।।

उपनिषद्

१. स होवाच अजातशत्रुः प्रतिलामं च एतत् यद् ब्राह्मणः क्षत्रियं उपेयाद् ब्रह्म मे वक्ष्यतीति व्येव त्वा ज्ञापयिष्यामीति... **बृहदारण्यक**

२. ईशावास्यं इदं सर्वं यत् किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्वित् धनम् । ... **ईशावास्य**

४. भाषा के ये रूप पाणिनि से पहले से विद्यमान थे। इनमें दोनों के क्रमांक १ में हम वह दबंग ठाठ देखते हैं जिसे कबीरदास का प्रेरणास्रोत कहा जा सकता है। भाषा में बोलचाल का प्रभाव स्पष्ट है यद्यपि संस्कृत या मानक संपर्क भाषा का ही किंचित मौजी रूप यह भी है, क्योंकि यह भाषा अपने समय की किसी अन्य बोली का प्रतिनिधित्व नहीं करती, न ही यह आम बोलचाल की भाषा है, यह संस्कृत सीखने और अपनाने वालों की भाषा है। जमीनी स्तर पर लोग अपनी बोलियाँ ही बोलते रहे होंगे, जैसे संस्कृत के विद्वान शिक्षितों के बीच संस्कृत में परन्तु राह-बाजार में स्थानीय बोली बोलते थे।

४.१ इस विकासयात्रा को संक्षेप में रखें तो संस्कृत अपने आदिम चरण पर कृषि कर्म की सफलता से प्रभावित लोगों और कृषि-औद्योगिकी[३६] अपनाने को उत्सुक जनों की संपर्क भाषा के रूप में प्रसार पाती रही। आर्थिक गतिविधियों में तेजी, विवधता और परिवहन आदि की अपरिहार्यता के कारण संपर्क भाषा के रूप में इसका क्षेत्र बढ़ता गया परन्तु सामान्य बोलचाल की भाषा यह अपने उद्भव क्षेत्र में भी नहीं बन पाई, क्योंकि यह अपनी बोलचाल के रूप से कायान्तरित हो चुकी थी। इसके माध्यम से संपर्क में आने वाले सभी लोग इसे समझ लेते थे और अपनी ओर से संस्कृत में ही जवाब भी देते थे, जिसे नाटकों आदि में प्राकृत की संज्ञा दी गई।

४.२. इसी तरह क्रमांक २ में जिस संस्कृत का परिचय हमें मिलता है, वह पाणिनीय व्याकारण के बाद की संस्कृत से भिन्न नहीं है। इसका अर्थ है, संस्कृत वैदिक से नहीं निकली, पहले ही अपना मानक रूप पा चुकी थी। व्याकरण की आवश्यकता भाषा गढ़ने के लिए नहीं पड़ती, अनियमितताओं को दूर करने के लिए पड़ती है। ऋग्वेदिक काल में आर्थिक गतिविधियों - खनन, धातुशोधन, औज़ार और हथियार के निर्माण, रथ निर्माण, नौनिर्माण, भवन निर्माण, नगर व्यवस्था, परिवहन, विपणन आदि- में तेजी आने के कारण संस्कृत सीख कर लाभान्वित

प्राथमिक चरण से कृषि-प्रौद्योगिकी की बात कुछ अटपटी लगेगी, आज भी निरे शहरी आदमी से पूछिए तो वह यह तक नहीं बता सकेगा कि कौन-सी फसल किस समय बोई जानी चाहिए, जुताई के लिए भूमि की आर्द्रता कितनी होनी चाहिए। खाद कितनी और कब डाली जानी चाहिए। किस मात्रा से अधिक खाद से पौधे गहगहा जाते हैं, कि उनमें फूल और फल तक नहीं आते आदि। आरंभ में तो सही मौसम का चुनाव, कटाई, दवाई, अनाज को भूसे से अलग करना, बीजों को सड़ने घुनने से बचाना, अनाज को उपयोग के लिए साधित करना आदि अनगिनत बातें थीं, जो किसानों से ऐसे लोगों को सीखनी थीं, जो स्वतः भी खेती करना चाहते थे।

होने वालों की संख्या बढ़ गई थी। इसी अनुपात में भाषा में ऐसे धड़ल्ले से प्रयोग होने लगे थे जो न तो पहले हुए न आगे चल सके जैसे - धैथे - धारयथः, अभिष्टुवतो, हुवन्यति - आह्वयति, हूमहे - आह्वयामः, इमस्य[३७] - अस्य, एवथा - ईदृक्/ईदृश, इदा - इदानीं, विश्वथा - सर्वथा, एवेदेषा -एव-इत-एष-आ, एतायामोप - आ-इत-आ-याम-उप, स्पूर्धन् - स्पर्धमानाः, चिश्चा -चींचां की आवाज करती हुई, कयस्य - कस्य, आगासि - आगच्छसि। इनमें सभी रूप अनियमित भी नहीं थे, कुछ तो संक्रमणकालीन थे, जैसे एवथा, एवया, इदा। यह रोचक है कि इदा के साथ -नीम् लगाना जरूरी समझा गया पर कदा, यदा और सदा के साथ नहीं। सदा के लिए सदैव अधिक प्रचलित हुआ, पर कदैव, यदैव चलन में न आए। पाणिनि ने ऐसे प्रयोगों में एकरूपता लाने का अपनी ओर से कोई प्रयत्न नहीं किया। पाणिनि ने केवल ऐसे अनगढ़ और अप्रचलित वैकल्पिक रूपों को बाद के लिए अव्यवहार्य माना जो पुस्तकों में मिलते थे, परन्तु जिनका चलन नहीं रह गया था अथवा जो अपने ही आशय में व्यवहृत दूसरे वैकल्पिक सुकर रूपों की तुलना में अनगढ़ थे।

४.३. पाणिनि ने जो व्यापक भाषा सर्वेक्षण अपने शिष्यों, सहकर्मियों आदि के सहयोग से कराया था, उसमें उनके इतने विविध रूप मिले कि उनके विवेचन से वह यह सुझा सके कि आज जिस रूप में उसका प्रयोग हो रहा है, उसका इतिहास क्या है। अपने मूल से किन-किन प्रभावों के बाद कितने रूप बदल कर वे रूप वर्तमान अवस्था तक पहुँचे हैं। इस आशय में ही ध्वनिवैज्ञानिक विकास रेखा को रेखांकित करने वाले वह पहले ध्वनिवैज्ञानिक हैं। अजीब बात यह कि उनकी ऊँचाई तक पश्चिम के समस्त ध्वनिवैज्ञानिक जिनमें नववैयाकरण भी सम्मिलित हैं, नहीं पहुँच पाए। इसके बाद भी जिसे संस्कृत वैयाकरणों ने प्रवृत्ति या 'अधिकांश मामलों में ऐसा पाया जाता है' कह कर इसको लचीला बना रखा था, उसे उन्होंने उत्साह में आकर नियम बना कर थोप दिया। तुलनात्मक भाषाविज्ञान की अन्तिम विभूतियों में कूपर और इमेनो हैं। इनमें कूपर की पाश्चात्य सीमाओं को अलग कर दें तो उनकी यह मान्यता ध्यान देने योग्य है कि ऋग्वेद की भाषा में एक साथ अनेकानेक भाषाई समूह सक्रिय थे[३८] और इमेनो यह स्वीकार करते हैं कि पश्चिम बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक ध्वनि विज्ञान में पाणिनि को पूरी तरह आत्मसात् तक नहीं कर पाया था।[३९]

---

[३७]वास्तव में इमस्य एक संक्रांतिकालीन प्रयोग है जिसका पूर्व रूप इस्य होना चाहिए जिसमें इ का स्थान दूरस्थ सूचक अ ने ले लिया तो यह अस्य हो गया और पूर्ववर्ती अस्य के आशय में तस्य का प्रयोग आरंभ हुआ। इस्य कुछ अटपटा लगा इसलिए कवि ने ईम् को ई वाचक मानकर इमस्य बना लिया।

[३८]On the basis of the lexical and syntactic evideñce found in the language of the Rigveda, historians and the linguists believe that 'the Rigvedic society consisted of several different ethnic components, who (sic) all participated in the same cultural life' (Kuiper 1991:8). Cited by Krishnamurti, Bhadriraju *The Dravidian Languages* , Cambridge Language Surveys, 2003, p. 35

[३९]The Hindu achievments in morphological description of a kind that we have only just begun to rival in modern western descriptive linguistics and that we have not yet bettered. Allomorphic statement, the use of zeo as an allomorphs (lopa, etc.), the identification of systematic similarities between sets of allomorphs, which we label as morphophonemics (the Skt. term is sandhi), the setting up of morphophonemes to ease the description in some complex cases (e.g.r̥), thr identification of meanings of classes (a part both of morphology and syntax) – all this most

४.४ हम ऋग्वेद की भाषा पर इतना और जोड़ कर इसे समाप्त करना चाहेंगे कि हमारी तकनीकी शब्दावली की सबसे ग्राह्य और सटीक शब्दावली सीधे या संस्कृत के माध्यम से ऋग्वेद से ली गई है - संसद, सदन, परिषद, सभा, निविदा, संविदा, विधान, अधिवक्ता, निर्वाचन, वास, प्रवास, विवास, आवास, निवास, प्रवक्ता, निधान, वर्त, वृत, वर्तन, निवर्तन, वर्तमान, निवृत्ति, प्रवृत्ति, आवृत्ति, निस्तारण, निर्मोचन, नियम, नियमन, नियंत्रण, ग्रहण, परिणय, परिगमन, परिताप, परिधि, परिपालन, परियात, परिवाद, परिवेश, परिस्कार, परिस्थिति आदि।

लोक और वेद

५. ऋग्वेद से बहुत पहले विशाल साहित्य रचा गया था। उसके अंतिम दौर की प्रधान भाषा अनुमानतः वह मानक भाषा ही रही होगी जिसका क्रमिक विकास हजारों साल के दौरान हुआ था परन्तु जिसने अपना चरित्र कुरुभूमि में आकर ग्रहण किया था। इस साहित्य की और इसके कवियों की और इनकी रचनाओं की याद तो ऋग्वेद के कवियों में बनी हुई है परन्तु रचनाएँ नहीं बचाई जा सकीं। कारण, उस समय तक लिपि का इस स्तर का विकास नहीं हुआ था कि वाणी को पूरी तरह रैखिक संकेतों में प्रस्तुत किया जा सके। अतः ऋग्वेद के कवियों को अपने ज्ञान के लिए पहले का लिखा साहित्य उपलब्ध न था।

वैश्वामित्री सृष्टि

५.१. ऐसा पहली बार संभव हुआ कि भौतिक जगत के समानान्तर कवि स्वयं एक सृष्टि कर सके जिसको कुछ भोंड़े रूप में वैश्वामित्री सृष्टि के रूप में कल्पित कर लिया गया। सृष्टि के समानांतर एक सृष्टि तो भाषा के साथ, वस्तु के नामकरण के साथ ही आरंभ हो जाती है - सहस्रधा महिमानं सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्, ऋ.१०.११४.८ । परन्तु इसका श्रेय विश्वामित्र को नहीं दिया जा सकता। यदि उन्हें कोई श्रेय प्राप्त हो सकता था तो वह था, वाच्य को रेख्य या लेख्य बनाना। किसी न किसी रूप में यह काम भी बहुत पहले से चला आ रहा था। इसलिए हमारा अनुमान है कि अवाह्य या दुर्वाह्य सामग्री - दीवार, पत्थर, इष्टिका, हाथीदाँत, धातु, हड्डी या भांड - नुकीले यंत्र (आरा -यां पूषन् ब्रह्मचोदनीमारां बिभर्ष्यघृणे । तया समस्य हृदयमारिख किकिरा कृणु ।। ६.५३.८) से खरोंच कर या उत्खचन से भिन्न, सुवाह्य लेखन सामग्री पर, सर्वसुलभ लेखनी से सीधे हाथ से लिखने को उनका आविष्कार या योगदान माना जा सकता है, जिसे उन्होंने ससर्परी वाक् कहा था। बचपन में हम इसे घसीट लिखावट कहते थे। ससर्परी का घसीट से अच्छा अनुवाद संभव है क्या! सायण ने इसे सर्पणशीला कहा है, पर घिसटने की इस व्यंजना के सामने वह भी फीका है। अंग्रेजी में इसी को कर्सिव रायटिंग कहा जाता है:

ससर्परीरमतिं बाधमाना बृहन्मिमाय जमदग्निदत्ता ।
आ सूर्यस्य दुहिता ततान श्रवो देवेष्वमृतमजुर्यम् ।।
ससर्परीः अभरत् तूयं एभ्यः अऽधि श्रवः पांचजन्यासु कृष्टिषु ।
सा पक्ष्या नव्यं आयुः दधाना यां मे पलस्ति जमदग्नयो ददुः ।। ऋ. ३.५३.१५-१६

जमदग्नि ने मुझे जो ससर्परी वाक् सिखायी, वह नादानी को दूर करती है, इसका निनाद बहुत दूर तक जाता है। सूर्य की इस दुहिता ने हमारी कीर्ति को अजर और अमर बना कर, देवों के समकक्ष बनाकर, दूर-दूर तक पहुँचा दिया है। इसका प्रसार सभी लोगों में हो गया है। पंख से लिखी जाने वाली यह वाणी नये नये जन्म लेकर अमर रहती है। इसे पलस्ति और जमदग्नि ने मुझे सिखाया था।

इसमें विश्वामित्र ने अपनी ओर से क्या सुधार किया था, इसका पता हमें नहीं परन्तु विश्वामित्र ने स्वयं यह कला पलस्ति और जमदग्नि से सीखी थी। इसके दो आशय हुए। पहला यह कि लेखन का या, कम से कम, इस विकसित लेखन का जिसे क्षयिष्णु सामग्री पर चिड़िया के पंख के दंडमूल से लिखा जाता था, कम लोगों को ही अभ्यास था। दूसरा यह कि हमें उपलब्ध ऋग्वेद उन कवियों की रचना है, जो विश्वामित्र के बाद के हैं। दूसरे को लेकर कई तरह के संशय पैदा किए जा सकते हैं और हम स्वयं दुविधा में पड़ जाते हैं। परन्तु विश्वामित्र के पिता कुशिक गाथा परंपरा के कवि थे और विश्वामित्र, जिनको कौशिक भी कहते हैं, उस संक्रमण के द्योतक हैं, जिसमें चिह्नों का विकास इस स्तर का हो गया कि उनके माध्यम से वाणी को अचूक रूप में प्रस्तुत किया जा सके।

वैदिक कवि स्वयं अपने को बहुश्रुत कहते थे और समस्त ज्ञान के लिए श्रुत परम्परा पर ही निर्भर थे। उनकी रचनाओं के प्रसार का माध्यम भी काव्य श्रवण ही था, जिसके लिए सभाएँ और स्पर्धाएँ आयोजित की जाती थीं। अतः उनकी कविता का जितना गहरा असर लोक पर पड़ा उतना बाद के संस्कृत साहित्य पर भी नहीं पड़ा। लोक की स्मृति में अतीत का वह विशाल अंश भी बचा रहा, जिसे ऋग्वेद की कविताओं में समेटा नहीं जा सका और जिनको पुराणों, संहिताओं, कथाओं के माध्यम से जीवित रखा गया और बहुत बाद तक लिपिबद्ध किया जाता रहा। लिखित ग्रंथों से वंचित वैदिक कवि लोककवि ही थे, यदि अंतर था तो यह कि वे जन-जन के लिए नहीं, बहुश्रुतों या ज्ञानियों, तत्वविदों को अपना भावक समझते थे, जबकि ऋग्वेद में ऐसी रचनाएँ भी हैं जिनकी जनसाधारण तक पहुँच थी और संवाद सूक्तों से तो ऐसा लगता है कि इनको अभिनीत भी किया जाता था। अतः बहुज्ञों और तत्वज्ञों को लक्ष्य करके लिखी गई गूढ़ोक्तियाँ और उनकी विविध प्रकार की विवेचनाएँ लोक में और विशेषतः ज्ञान और साधना के केंद्रो में जीवित भी रहीं और उनके अनुरूप रचनाएँ भी होती रहीं।

संस्कृत कवियों को छंद, अलंकार, विदग्धोक्तियाँ आकर्षित करती रहीं तो लोक कवियों को गूढ़ोक्तियाँ, ऋचाओं और सूक्तों के टेक जिनसे पदरचना और गीत रचना का विकास हुआ। इसको लिपिबद्ध नहीं किया जाता रहा और जो आज के लोकसाहित्य पर भी लागू होता है, जो हमें अंशतः ही उपलब्ध है। इसलिए हम इस विकास रेखा को बहुत स्पष्टता से नहीं समझ सकते।

हमारी आधुनिक भाषाओं में ऋग्वेद के मुहावरे और पद जिस स्वाभाविकता से आये हैं उतनी स्वाभाविकता से संस्कृत में भी नहीं। इससे भी बड़ी बात यह कि जिस तरह के दाय संस्कृत में ग्रहण किये गये उससे सर्वथा भिन्न हिन्दी और इसकी बोलियों में मिलते हैं। यहाँ तक कि संस्कृत की पहेलियों और बोलियों की पहेलियों तक में अन्तर है। भारतीय चेतना के निर्माण में जितनी गहन भूमिका हमारी आदिम अवस्था की है, उससे कुछ ही कम ऋग्वेद की है। महाभारत जन-मन में उतरा ही नहीं। पूरा समाज तो बेदपुरान को लगभग अतर्क्य भाव से आत्मसात् करता रहा बिना यह जाने कि उनमें लिखा क्या है? पुराणों में कौन-सा पुराण, वह जो ऋग्वेद के कवियों को मालूम था या वह जिसे पहली सहस्राब्दी में रचा गया। संस्कृत साहित्य का लोकजीवन पर असर दिखाई ही नहीं देता।

हम गाढ़े दिनों के बीतने या उनसे पार पाने या पार कराने वाले भगवान या व्यक्ति की बात करते समय शायद ही इस

विषय में सचेत होते हों कि यह मुहावरा ऋग्वेद का है और यह नौवहन के अनुभवों पर आधारित है। गाढ़ का अर्थ वही है जो गड्ढे का है, जिसे संस्कृतवाले गर्त बना देते हैं। नदी में यह गड्ढा जमकातर का रूप ले लेता है और इसके चक्कर की समझ न हुई, एक बार इसके बाहरी आवर्त में भी खिंच गए तो चक्कर खाते उस बिंदु पर पहुँच जाएँगे जिसमें नौका और हाथी, सीधे रसातल को चले जाते हैं और दूर कहीं ऊपर आते हैं। ऋग्वेद में इंद्र गाढ़ों से पार लगाते हैं - इन्द्रः गाधानि अकृणोत्सुपारा । संकट से पार पाने, शत्रु से पार पाने, दुख से पार पाने, बुरे दिनों से पार पाने, भवसागर से पार पाने के मुहावरे में तो एक क्षीण चेतना जलधारा या समुद्र पार करने की बनी रहती है, पर यह संस्कृत साहित्य से नहीं, सीधे ऋग्वेद से आ रहे मुहावरे हैं। संस्कृत के विद्वान तो समुद्र लांघने से डरते थे।

यो रायोऽवनिर्महान्त् सुपारः सुन्वतः सखा ।
आ नो नावा मतीनां यातं पाराय गन्तवे
भवा सुपारो अतिपारयो नो भवा सुनीतिरुत वामनीति ।।
सुपारः सुश्रवस्तमः समप्सुजित् ।
स नः पप्रिः पारयाति स्वस्ति नावा पुरुहूतः ।
प्र ण आयूंषि तारिषत् ।
विश्वेत् स धीभिः सुभगो जनाँ अति द्युम्नैः उद्ग इव तारिषत् ।

कौए जैसा परुष ध्वनि करने वाला और कुभक्षी पक्षी पिंडदान खा कर पितरों तक पहुँचाता है, उसके मुंडेर पर बैठ कर बोलने से दूर गए स्वजनों के आने की सूचना और शकुनविचार में उसकी भूमिका का सम्बन्ध भी नौचालन के ऋग्वेद कालीन अनुभवों से है जिसमें कौए या शकुन के पक्षी के दक्षिणी मुंडेर पर बैठ कर बोलने की तीखी आवाज़ इतनी मधुर लगती है मानो कोई सामगान कर रहा हो। इस पर गृत्समद् के दो सूक्त हैं, पहला नौका से स्थल की दिशा का पता लगाने के लिए कौए के छोड़े जाने का है। इसमें कामना की गई है कि रास्ते में कोई बाज या दूसरा पक्षी या किसी शिकारी का बाण उसे क्षति न पहुँचाए और वह स्वजनों को आगमन की सूचना दे। दूसरा उसके स्वजनों के पास पहुँच कर मुंडेर से बोलने काः

कनिक्रदन् जनुषं प्रब्रुवाण इयर्ति वाचमरितेव नावम् ।
सुमंगलश्च शकुने भवासि मा त्वा काचिद् अभिभा विश्व्या विदत् ।।
मा त्वा श्येन उद् वधीत् मा सुपर्णो मा त्वा विददिषुमान् वीरो अस्ता ।
पित्र्यामनु प्रदिशं कनिक्रदत् सुमङ्गलो भद्रवादी वदेह ।
अव क्रन्द दक्षिणतो गृहाणां सुमंगलो भद्रवादी शकुन्ते ।
मा नः स्तेन ईशत माघशंसो बृहद्वेम विदथे सुवीराः ।। २.४२.१-३

प्रदक्षिणित् अभि गृणन्ति कारवो वयो वदन्त ऋतुथा शकुन्तयः ।
उभे वाचौ वदति सामगा इव गायत्रं च त्रैष्टुभं चानु राजति ।।
उद्गातेव शकुने साम गायसि ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु शंससि ।
वृषेव वाजी शिशुमतीः अपीत्या सर्वतो नः शकुने भद्रमा वद ।
विश्वतो नः शकुने पुण्यमा वद ।

आवदन्स्त्वं शकुने भद्रमा वद तूष्णीमासीनः सुमतिं चिकिद्धि नः ।
यत् उत्पतन् वदसि कर्करिः यथा बृहद्वदेम विदथे सुवीरा ।। २.४३.१-३

ईश्वर की कृपा से 'मूक होइ बाचाल पंगु चढ़े गिरिवर गहन', 'रंक चढ़ै सिर छत्र धराई', 'अन्धे को सब कुछ दरसाई', जैसे मुहावरे संस्कृत साहित्य से नहीं ऋग्वेद से सीधे उतर कर आए हैं, यहाँ तक कि वह कहानी भी जिसमें अंधा अपने कंधे पर लंगड़े को चढ़ा लेता है, एक रास्ता बताता है दूसरा चल कर रास्ता पार करता हैः

केतुं कृण्वन् अकेतवे पेशो मर्या अपेशसे ।
(बुद्धिहीन को बुद्धिमान बना देते हैं, कुरूप को रूपवान)
प्रान्धं श्रोणं च तारिषद्विवक्षसे ।
(कहते हैं तुमने अंधे और लंगड़े को पार लगा दिया था।)
मूरा अमूर न वयं चिकित्वो महित्वमग्ने त्वमंग वित्से ।
(ऐ अग्निदेव, हम मूढ़ जन तुझ ज्ञानी के महत्व को नहीं समझ सकते)

महाभारत के युद्ध में कहते हैं कि युद्ध क्षेत्र में एक पक्षी ने अण्डा दे रखा था । उसकी आर्त पुकार का परिणाम यह हुआ कि उधर से गुजरते हुए हाथी का घण्टा ठीक उसके ऊपर गिर गया। युद्ध चलता रहा अण्डा बच गया। यह ऋग्वेद की अश्विनीकुमारों के एक महिमागान से प्रेरित हो सकता है

वृकस्य चित् वर्तिकां अन्तरासिस्यात् युवं शचीभिः ग्रसितां अमुञ्चतम् ।

(अश्विनी कुमारों, वर्तिका पक्षी को भेड़िये ने दबोच लिया था और तुमने अपनी शक्ति से उसे उसके मुँह से छुड़ा लिया।) । महाभारत की घटना यदि कपोल कल्पना है तो यह एक वास्तविक अपवाद। आज दृश्य श्रव्य माध्यमों के विस्तार के कारण हम ऐसी असंभव प्रतीत होने वाली सत्य घटनाओं के अविश्वसनीय अपवाद देख पाते हैं। अंतर इतना ही है कि यहाँ छायाकार को ऐसा एक दृश्य मिल गया, उसने उसे छायांकित कर लिया और हमें सुलभ बना दिया। वैदिक कवि को यह आपदा में रक्षा करने वाले किसी देव की अनुकंपा का परिणाम लगा, पर उसका अवेक्षण सही था और देवत्व को बीच में लाने के अतिरिक्त यह यथार्थवादी चित्रण था और तत्कालीन मनोरचना में देवत्व के हस्तक्षेप के अतिरिक्त इसकी कोई अन्य व्याख्या नहीं हो सकती थी। ऐसी घटनाओं पर तो आज के अविश्वासी युग में भी कई लोगों का विश्वास जाग उठता है।

आरती गायन में मातु-पिता तुम मेरे और गीता के त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुः च सखा त्वमेव, त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देव देव को सीधे ऋग्वेद से उठाया गया है जिसमें अनेक स्थलों पर इसे विविध रूपों में दुहराया गया है। ऋग्वेद की पहली ऋचा में ही अग्नि को होता, यज्ञ का देवता, रत्नधा आदि बताने के बाद कहा गया है कि जैसे पिता पुत्र के लिए सहज सहायक होता है, उसी तरह अग्नि हमारे लिए हितकारी हों। अन्यत्र अग्नि को पिता, स्वजन, भाई, सखा आदि माना गया है : अग्निं मन्ये पितरं अग्निं आपिं अग्निं भ्रातरं सदमित् सखायम् । इसकी कुछ जाँच इसलिए की जानी चाहिए कि अवतारवाद का रहस्य इसी में छुपा हैः

त्वमग्ने प्रमतिस्त्वं पितासि नः त्वं वयस्कृत् तव जामयो वयम् ।
त्वमग्ने प्रयतदक्षिणं नरं वर्मेव स्यूतं परि पासि विश्वतः ।
स्वादुक्षद्मा यो वसतौ स्योनकृज् जीवयाजं यजते सोपमा दिवः ।। १.३१.१५

इमामग्ने शरणिं मीमृषो न इममध्वानं यमगाम दूरात् ।
आपिः पिता प्रमतिः सोम्यानां भृमिरस्यृषिकृन् मर्त्यानाम्।१.३१.१६

गंगा स्नान से पाप धुल जाते हैं इसकी अवधारणा ऋग्वेद से आई हैः

इदं आपः प्र वहत यत् किंच दुरितं मयि ।
यत् वा अहं अभिदुद्रोह यत् वा शेप उत अनृतम् । १०.९.८

(मैंने यदि किसी का अमंगल चाहा हो या झूठ बोला हो यह जल हमारे उन सभी पापों को बहा ले जाए)।

'उल्टी गंगा बहाने' का मुहावरा भी नौवहन के अनुभव पर आधारित है जिसमें समुद्र के निकट ज्वार के समय नदियों का प्रवाह उलट जाता है। ऋग्वेद में यह प्रतीपं शापं नद्यो वहन्ति के रूप मे अंकित है।

ईश्वर की कृपा हो तो मेमना भी सिंह को मार सकता है, यह भाव दो ऋचाओं में देखने में आता है सिंह्यं चित् पेत्वेन आ जघान और हिरन सिंह के सामने तन कर खड़ा हो जाता है और गीदड़ वनशूकर को खदेड़ देता है : लोपाशः सिंहं प्रत्यंचमत्साः क्रोष्टा वराहं निरतक्त कक्षात् ।

पहेलियाँ बुझाने की सनक, घुमाकर बात कहना और श्रोता को कुछ समय के लिए उलझन में डाल देना कि कहा क्या गया है, उस समय की प्रिय शैली थी। बिना चक्के के ही दूर-दूर तक पहुँच जाना, ययुर् निचक्रया नरः मैंने ऐसा ग्राम देखा जो बिना चक्के के अपने ही बल बूते घूम रहा थाा - अपश्यं ग्रामं वहमानमारात् अचक्रया स्वधया वर्तमानम् । उसने उस शत्रु के कंधो का तोड़ दिया जिसके न हाथ था न पाँव। अपादहस्तो अपृतन्यत् इन्द्रं आस्य वज्रमधि सानौ जघान । एक ऐसा रथ जिसमें हाँकने वाले के तीन आसन है, तीन तरह से ढँका हैं, तीन पहिये हैं और उससे वह सजा धजा-हमारी ओर आ रहा है - त्रिवन्धुरेण त्रिवृता रथेन त्रिचक्रेण सुवृता यातमर्वाक् । इसे एकाधिक रूपों में दुहराया गया है। अर्वाङ् त्रिचक्रो मधुवाहनो रथो... त्रिवन्धुरो मघवा विश्वसौभगः। ऐसा पहिया जिसमें तीन नाभि हैं और वह न घिसता है न टूटता है -त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं । रथ पर साज सवार है, इसके सात पहिये हैं और सात घोड़े हैं- इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्ति अश्वाः । उलट बाँसियाँ पैदा होते ही माता-पिता को खा जाता है - जायमानो मातरा गर्भो अत्ति।

इन पहेलियों का जितना प्रचार जन साधारण में रहा उतना संस्कृत में भी नहीं जहाँ काव्यशास्त्र के विनोद से बुद्धिमान लोग अपना समय काटते थे। उलटबाँसियाँ संस्कृत में लगभग गायब हैं पर सिद्धों आदि की विचित्र उक्तियों में उनका बाहुल्य है। ऋग्वेद को समझना तो दूर यह तक नहीं समझा जा सका कि इसकी प्रकृति क्या है। यह कर्मकाण्डीय विधान से जुड़ा है, धर्मग्रन्थ है या अपने समय का साहित्य? इस साहित्य का स्तर क्या है, यह तो बाद की बात है।

मेरी भाषा

कमलेश

मेरा जन्म पूर्वी उत्तरप्रदेश के गोरखपुर जिले के एक गाँव में हुआ था। इस क्षेत्र को मोटे तौर पर भोजपुरी भाषा-भाषी क्षेत्र माना जाता है। लेकिन मेरे गाँव की भोजपुरी और मिर्जापुर या बनारस की भोजपुरी में पहचाने जा सकने वाले अन्तर होते हैं। इस प्रकार यदि शाहाबाद, आरा (बिहार) और मिर्जापुर, बनारस की बोली को भोजपुरी की मान्यता दी जाए तो मेरे गाँव की बोली को भोजपुरी की एक 'उपबोली' कहा जा सकता है। लेकिन इस एक गाँव में ही आप को अनेक उपबोलियाँ मिल जाएँगी। इनमें जातिगत उपबोलियाँ होंगी, व्यवसायगत उपबोलियाँ होंगी, देस-देसावर में व्यापार करने के लिए आने-जाने वालों की अलग उपबोली होगी और शहर जाकर अँग्रेज़ी पढ़-लिख कर फिर गाँव वापस आ जाने वालों की अलग 'उपबोली' होगी। उपबोली इसलिए भी कहा जा रहा है क्योंकि 'हर दस कोस (लगभग २० किलोमीटर) पर बोली बदल जाती है' इस नियम के अनुसार दूरी से भी नयी उपबोलियाँ बनती रहती हैं।

मैं १८-१९ वर्ष की आयु तक स्कूल-कॉलेज और लिखने-पढ़ने को छोड़ कर परिवार-गाँव में बोलने आदि में अपनी पारिवारिक उपबोली का उपयोग करता था। हमें किसी सम्बन्धी के यहाँ मिलने जाने पर या किसी कस्बे में पढ़ने के लिए या खरीददारी करने के लिए जाने पर एक अन्य 'उपबोली' सुनने का अवसर मिलता था। प्रत्येक 'उपबोली' में उच्चारण की भंगिमा में थोड़ा हेर-फेर हो जाता था। यह हेर-फेर दृष्टि में आता था लेकिन इसे कोई अलग नाम दिया जा सकता हो, ऐसा नहीं सम्भव लगता था। सारी उपबोलियाँ भोजपुरी के अन्तरतम से निःसृत उपबोलियाँ थीं। इन उपबोलियों को अलग-अलग नाम नहीं दिया जा सकता था इन सबके लिए सामूहिक नाम 'भोजपुरी' ही चलता था।

भोजपुरी की उपबोलियों का शब्द भण्डार तीर्थ स्थानों की यात्रा के बाद वहाँ से लाये गये शब्दों, व्यापार के लिए देस-देसावर जा कर वहाँ से लाये गये शब्दों/शब्द प्रयोगों, निकटवर्ती भाषा-क्षेत्रों की बोलियों, पूर्ववर्ती कालों में समय-समय पर राजभाषा रही फारसी, उर्दू, अँग्रेज़ी आदि भाषाओं, स्कूलों में पढ़ी जानी वाली और मालगुजारी के महकमें में काम आने वाली भाषाओं के शब्दों और शताब्दियों से अनगिनत स्रोतों से प्राप्त होने वाली संस्कृत की शब्दावली से समृद्ध होता रहा था। यही बात भोजपुरी की भगिनी भाषाओं मगही, मैथिली, अवधी, कौरवी, पहाड़ी

और ब्रज आदि बोलियों के लिए भी सही थी। इन बोलियों का भी हमारी भोजपुरी जैसा ही एक इतिहास रहा था। इन सभी बोलियों में साहित्य रचना होती रही थी। ये रचनाएँ सार्वदेशिकता प्राप्त करने की आकांक्षा में कभी-कभी अधिक संस्कृतमय हो जाती थीं। इन बोलियों में लिखी जाने वाली वैचारिक और दार्शनिक कृतियाँ संस्कृत शब्दावली पर ही निर्भर होती थीं।

भाषाविज्ञान के शोधकर्ताओं के अनुसार बोलियों में थोड़े बहुत जात्यानुसार भेद भी पैदा हो जाते हैं। सम्भव है कि हमारे परिवार के लोगों की 'उपबोली' गाँव के अन्य लोगों को संस्कृतनिष्ठ लगती रही हो। संयुक्त परिवार के बीच बात-चीत में पूजा-पाठ में प्रयुक्त होने वाले, स्तुतियों-स्तोत्रों के माध्यम से आये कुछ ब्राह्मणोचित संस्कृत शब्द ज़रूर जुड़ जाते रहे होंगे जो हमारी 'उपबोली' में किसी भी तरह अस्वाभाविक नहीं लगते थे। गाँव में रहने वाले सभी जातियों के समवयस्क और वयस्क लोगों से मेरा सम्पर्क होता था। इनमें गाँव में रहने वाले अहीर और नाई, कहार और तेली, चमार और पासी, मुसलमान और दर्जी, सभी जातियों और व्यवसायों के लोग थे। इनके साथ सम्बन्ध में या बातचीत करने में मुझे ऐसा कभी नहीं लगा कि हमारी 'उपबोली' के शब्द उनको कभी खटकते रहे हों। ऐसा सम्भव है कि उनकी बोली भी किसी सीमा तक संस्कृतनिष्ठ थी।

हम लोग बचपन से ही खड़ी बोली भी सुनते रहे थे। पढ़ना सीखने के कई वर्ष पहले से ही खड़ी बोली सुनायी पड़ती थी। तभी भोजपुरी के जरिये ही खड़ी बोली की भी समझ हो गयी थी। उसे समझा भी जा सकता था और उसमें बोला भी जा सकता था। कभी-कभी खड़ी बोली में भोजपुरी प्रभाव वाली त्रुटियाँ भी हो जाया करती थीं। पाँच-छः वर्ष की आयु से पाठ्य पुस्तकें पढ़ने को मिलने लगीं। वे खड़ी बोली हिन्दी में हुआ करती थीं। हालाँकि १२-१३ वर्ष की आयु तक जो अध्यापक हमें मिले थे वे हमसे हमारी 'उपबोली' में ही बोलते थे। ऊपरी कक्षाओं में जाने पर भी ज़्यादातर अध्यापक कक्षा के भीतर भी हमारी उपबोली में ही पाठ्य सामग्री बोलते समझाते थे। कक्षा के बाहर भी हमसे हमारी 'उपबोली' में ही बातचीत करते थे। मैं १९४६ ई. में मिडिल स्कूल में कक्षा पाँच में पढ़ने के लिए गया। वहाँ सारी शिक्षा उर्दू के माध्यम से होती थी। इसलिए हमारी उपबोली में और हमारे मास्टर साहब की उपबोली में कुछ उर्दू शब्द भी आ जाते थे, जो मूलतः फारसी के शब्द थे। उसी वर्ष हमारे प्रदेश (उस समय उसे 'युक्त प्रान्त' कहा जाता था।) में कॉंग्रेस सरकार के शिक्षा मन्त्री की कृपा से आदेश जारी हुआ कि जहाँ भी शिक्षा का माध्यम उर्दू है वहाँ हिन्दी को भी वैकल्पिक माध्यम के रूप में स्थान दिया जाए। इस प्रकार उसी वर्ष लागू हुई शिक्षा नीति के कारण हम उर्दू पढ़ने से बच गये और हिन्दी माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने लगे।

मेरे पिता जी ने बीसवीं शताब्दी के शुरू में 'मिडिल स्कूल' में शिक्षा ग्रहण की थी। उनकी सारी पढ़ाई उर्दू माध्यम में हुई थी और उन्होंने छठी-सातवीं कक्षा से ही फारसी भी पढ़ी थी। मिडिल स्कूल में उन दिनों कक्षा ४ से ६ तक की पढ़ाई होती थी। उसके बाद उन्हें शहर में हाईस्कूल में पढ़ने के लिए भेजा गया। उसे ईसाई 'मिशनरी' लोगों ने खोला था। इसलिए उसे मिशन हाईस्कूल कहते थे। (बाद में उसका नाम सेण्ट एण्ड्रूज़ हाईस्कूल हो गया।) उन दिनों यह जिले भर में अँग्रेज़ी शिक्षा का एकमात्र केन्द्र, बल्कि जिले का एकमात्र हाईस्कूल था। जिला बहुत बड़ा था, बाद में इसमें तीन जिले बने, अब तो पुराने गोरखपुर जिले में आठ-नौ जिले बन चुके हैं।

मिशन हाईस्कूल में कक्षा ३ से १० तक की पढ़ाई होती थी। मिडिल स्कूल की कक्षा छः उत्तीर्ण हो चुके लड़के जब यहाँ अँग्रेज़ी पढ़ने के लिए आते थे तो उन्हें कक्षा चार में ही प्रवेश मिलता था। अँग्रेजी पढ़ने के लिए इस तरह दो वर्ष पहले ही गँवाने पड़ते थे। उस समय 'युक्त प्रान्त' (यूनाइटेड प्राविंसेज, आज के उत्तरप्रदेश) के विद्यालयों में हिन्दी जैसा

कोई विषय नहीं होता था। पिता जी की भाषा-सम्बन्धी सारी शिक्षा उर्दू-फारसी और थोड़ी बहुत अँग्रेज़ी की थी। पिता जी को अपने कार्य के सिलसिले में दीवानी और फौजदारी कचेहरी में चलने वाले मुकदमों की निगरानी भी करनी पड़ती थी। यह सारा कार्य भी उर्दू में ही था। उन्हें अँग्रेज़ी की आवश्यकता कभी-कभी 'हाईकोर्ट' में चलने वाले मुकदमों में ही पड़ती थी। उनका सारा जीवन उर्दू-फारसी में ही कार्य करते हुए बीता। अपनी मातृभाषा, अपनी 'उपबोली' उनकी घर की बोली थी। हिन्दी अर्थात खड़ी बोली भोजपुरी के साथ ही उनकी स्वाभाविक भाषा हो गयी। साहित्यिक पुस्तकें पढ़ने की भी यही बोली थी, जो पत्रिकाएँ घर में पढ़ने के लिए आती थीं, 'कल्याण, सरस्वती, माधुरी और तब प्रकाशित होने लगे साप्ताहिक और दैनिक पत्रों की भी यही भाषा थी। वे तुलसी, सूरदास और विद्यापति को पढ़ते हुए अवधी, ब्रज, मैथिली जैसी बोलियों (या भाषाओं) को समझते थे। कभी कोई अड़चन नहीं हुई। जब हिन्दी का साहित्य मुद्रित और प्रचारित होने लगा तो वे उसे रुचि से पढ़ने लगे। शीघ्र ही घर में एक पुस्तकालय बन गया। मानक हिन्दी या खड़ी बोली को वे अपनी ही बोली समझते थे। उनके मन में कभी खड़ी बोली अपनी भोजपुरी मातृभाषा से विलग नहीं लगी। मुझे बचपन में वकीलों-मुख्तारों के साथ उनकी बातचीत सुनने को मिलती थी। वह भोजपुरी में शुरू होती थी लेकिन फिर उर्दू में बदल जाती थी जिसमें 'अदालती' फारसी के पारिभाषिक शब्द बहुतायत होते थे।

मैंने आठ वर्ष की आयु में मिडिल स्कूल में प्रवेश लिया था। भारतवर्ष का स्वाधीनता दिवस मनाने के समय मिडिल स्कूल में मेरा दूसरा वर्ष था। तब तक मिडिल स्कूल में कक्षा पाँच से कक्षा सात तक की पढ़ाई होने लगी थी। यह जिला बोर्ड का स्कूल था, यहाँ सारी पढ़ाई उर्दू में होती थी, दो वर्ष पूर्व प्रान्त में काँग्रेस की सरकार बनी थी। उसमें श्री सम्पूर्णानन्द शिक्षामन्त्री थे। उन्होंने पूरे प्रान्त के लिए निर्देश निकाला कि स्कूलों में उर्दू के साथ-साथ हिन्दी को भी वैकल्पिक माध्यम के रूप में स्वीकृत किया जाए। जो विद्यार्थी हिन्दी माध्यम से पढ़ना चाहें उन्हें हिन्दी में ही पढ़ाया जाये।

हमारे मिडिल स्कूल में अलग से किसी हिन्दी अध्यापक की नियुक्ति की व्यवस्था नहीं हो सकती थी। स्कूल के भवन की छत खपरैल की थी। उसमें तीन बड़े कमरे बने हुए थे। पाँचवी-छठी-सातवीं, हर कक्षा के लिए एक कमरा नियत था। उर्दू और हिन्दी दो माध्यम हो जाने के कारण हर एक कमरा दो भागों में विभाजित कर दिया गया। कक्षा के आधे हिस्से में बिछी दरियों पर उर्दू माध्यम से पढ़ने वाले विद्यार्थी बैठते थे, हिन्दी माध्यम का विकल्प चुनने वाले विद्यार्थियों को शेष आधे में बिछी दरियों पर बिठलाया जाता था। अध्यापक की मेज़ एक ही थी। एक ही अध्यापक दोनों माध्यमों वाले विद्यार्थियों को साथ-साथ ही पढ़ाते थे। कुछ मिनट तक उर्दू माध्यम वालों को, फिर कुछ मिनट हिन्दी माध्यम वालों को। इसलिए जो उर्दू माध्यम वालों को पढ़ाया जाता था, वह हम हिन्दी माध्यम वाले भी सुनते थे। उदाहरण के लिए उर्दू माध्यम वालों को उर्दू साहित्य पढ़ाया जाता था, साथ में अरब और ईरान की पौराणिक कथाएँ भी बतायी जाती थीं। हम हिन्दी माध्यम वालों को भी ये कथाएँ सुन-सुन कर हस्तामलक हो गयीं। हमारे प्रधानाध्यापक एक मौलवी साहब थे। वे हमें सातवीं कक्षा में हिन्दी पढ़ाते थे। उनके व्याख्यान में फारसी के शब्द बहुतायत होते थे। कभी-कभी अरबी-फारसी के ऐसे शब्द भी आ जाते थे, जो हमें खटकते और तुरन्त समझ में नहीं आते थे। मिडिल स्कूल में हमारे अध्यापक कक्षा के भीतर ज़्यादातर भोजपुरी ही बोलते थे, अचानक खड़ी बोली के कुछ वाक्य कभी-कभी आने लगते थे। भोजपुरी से खड़ी बोली पर चले जाना और खड़ी बोली से भोजपुरी पर उतर आना कभी अस्वाभाविक नहीं लगता था।

कॉलेज-विश्वविद्यालय में पहुँचने पर खड़ी बोली का प्रयोग सामान्य हो गया, उसमें अँग्रेज़ी भाषा के शब्द भी जुड़ने लगे। मैं तब तक हिन्दी की ही पुस्तकें पढ़ता रहा था। हिन्दी मायने खड़ी बोली। अब अधिकांश पाठ्य पुस्तकें अँग्रेज़ी में थीं। पहले भी अँग्रेज़ी समझने के लिए शब्दों की वर्तनी और अर्थ याद करने पड़े थे, व्याकरण सीखना पड़ा था, अन्य कई अभ्यास करने पड़े थे। अब उच्चतर अँग्रेज़ी के ज्ञान के लिए ऐसे अभ्यासों की पुनः आवश्यकता होने लगी। अब विश्वविद्यालय में अँग्रेज़ी पुस्तकें ही अधिकांशतः निर्धारित थीं। कुछ ही वर्षों में अँग्रेज़ी पुस्तकें पढ़ने का अभ्यास हो गया। ज्ञान-पिपासा शान्त करने के लिए अब अँग्रेज़ी पुस्तकें खोजनी पड़ती थीं।

मैं पहले से ही हिन्दी साहित्य की पुस्तकें खरीदता रहा था। इतिहास आदि विषयों पर हिन्दी में कुछ मौलिक पुस्तकें भी छपी थीं, उन्हें भी पढ़ने की कोशिश करता था। लेकिन बाद में अँग्रेज़ी की पुस्तकें खरीदना सामान्य होता गया। पुस्तकें खरीद कर उन पर हस्ताक्षर करके और उसके नीचे तिथि लिख कर अपना स्वामित्व बनाता था। पहले यह हस्ताक्षर हिन्दी में करता था। कॉलेज में जाने के बाद अँग्रेज़ी में हस्ताक्षर करने लगा। यह १९५५-५६ की बात है। कुछ विद्यार्थी हिन्दी में हस्ताक्षर करने का अभियान चला रहे थे। हिन्दी भाषी क्षेत्र में कुछ लोगों को मातृभाषा पर आये खतरों का सामना करने के लिए कुछ करना था। उन विद्यार्थियों को यही सुझाया गया कि लोगों से कम से कम हस्ताक्षर हिन्दी में करने का वचन लिया जाये। स्कूल में दो-चार ऐसे विद्यार्थी थे जो हिन्दी के उपयोग पर बल देने लगे। ऐसा करने में पारिवारिक संस्कार भी कारण रहे होंगे। अपने अँग्रेज़ी ज्ञान पर अभिमान करने वाले विद्यार्थी उन्हें 'हिन्दी वाला' कह कर नीचा दिखाया करते थे।

मेरे पिता जी ने बचपन से ही मुझे कई बार उर्दू सिखलाने की कोशिश की। अरबी-फारसी की वर्णमाला सीखना आसान था, पर जैसे ही संयुक्ताक्षरों पर पहुँचता था, वे समस्या बन जाते थे। देवनागरी की सरलता की तुलना में उर्दू में संयुक्ताक्षर बनने के नियमों की बहुलता के कारण सीखना वहीं रुक जाता था। उर्दू में अपना हस्ताक्षर करने के अलावा मैं वर्णमाला के आगे उर्दू लिपि कभी नहीं सीख पाया। मीर, गालिब, इकबाल और फिराक को देवनागरी अक्षरों में ही पढ़ा। इन महान शायरों के कुछ 'अशआर' चित्त के एक स्तर पर जितने भी आकर्षक लगते रहे हों उनसे एकप्राणता कभी नहीं बन पायी।

मेरी साहित्य में रुचि बढ़ती ही गयी। अँग्रेज़ी में छपा हुआ विश्व साहित्य पढ़ना मेरी आदत बन गयी। मैं हिन्दी में कहानियाँ, कविताएँ और लेख भी लिखने लगा। पढ़ने और लिखने से भी ज़्यादा महत्त्व सपने देखने और अन्तर्लोक में भ्रमण करने का था। अब मेरे अन्तर्लोक की परिभाषा खड़ी बोली हिन्दी से ही होती थी। मेरा अन्तर्लोक स्वाभाविक रूप से खड़ी बोली से ही सम्पृक्त था और उसी में अभिव्यक्त होता था। इसमें मेरे माता-पिता की बोली अर्थात भोजपुरी कभी बाधक नहीं बनी। उसने मेरी खड़ी बोली को समृद्ध किया, ऐसा मेरे लिखे के आलोचक भी कहते हैं। यह भी लगता है कि भोजपुरी के व्याकरण ने मेरी खड़ी बोली को कुछ दूषित भी किया। बाद में मेरे भावलोक में संस्कृत भी आयी वह भी कोई अलग भाषा नहीं लगी। उसने भी हर दृष्टि से भोजपुरी और खड़ी बोली को समृद्ध ही किया।

दो

इस आत्मकथ्य से यही पता लगता है कि हिन्दी क्षेत्र की बोलियाँ, उस क्षेत्र की मानक भाषा और संस्कृत एक-दूसरे में घुली मिली भाषाएँ हैं। उनके इस घालमेल से इनमें से हर बोली और भाषा समृद्ध हुई है। भाषा की समृद्धि से सूक्ष्मतर अर्थ छवियों की अभिव्यक्ति सम्भव होती है। हमारे विशेष अनुभव को प्रकट करने की बाध्यता हो जाने पर इन

अर्थच्छवियों की खोज होती है और उस समय हम अपनी सभी बोलियों, खड़ी बोली और संस्कृत का सहारा लेते हैं। बोलियों की समृद्धि से हमारा भावजगत और बौद्धिक जगत समृद्ध होता है। कहना कठिन है कि भाषा भाव को प्रदान करती है या भाव भाषा को ढूँढता है, यह दुनियाभर के भाषामनोविज्ञानविदों के बीच विवाद का विषय है। मेरे अनुभव में दोनों एक ही थैली के चट्टे-बट्टे होते हैं।

हमारी भाषा कभी-कभी, और हमारे इतिहास में तो अनेक बार, इतर भाषाओं के दबाव में आ जाती है। जैसे ईस्वी १२वीं शताब्दी के कोई सात सौ वर्ष बाद तक फारसी भारतवर्ष की राजभाषा बनी रही। हमारा शिष्ट वर्ग अपनी भाषा को गौण स्थान देकर राज्याश्रय पाने या राज्य में नौकरियाँ लेने के लिए, फारसी भाषा सीखने लगा। उसके नाते सामान्य भाषा बोली में भी फारसी के शब्द आ गये। भारत पर अँग्रेज़ी शासन आने के बाद भी कोई डेढ़ शताब्दी तक फारसी और उर्दू अपने स्थान पर बनी रहीं। अदालतों में देवनागरी के प्रवेश को लेकर बड़े आन्दोलन चले। तब कहीं देवनागरी को थोड़ी बहुत स्वीकृति मिली। स्वीकृति मिल जाने के बाद भी अदालतों में उर्दू का वर्चस्व बना रहा। यह आज भी बहुत कम नहीं हुआ है। उत्तरप्रदेश की अदालतों में वकील लोग अधिकांश 'मजमून' देवनागरी लिपि में लिखते हैं। लेकिन वह फारसी-बहुल उर्दू में होता है।

एक व्यक्ति के जीवन में अनुभव किये गये भाषाओं के इस विवरण से यह समझा जा सकता है कि स्वतन्त्रता के बाद लगने वाला यह आरोप की हिन्दी ने उर्दू को दबा रखा है, कितना ग़लत है। लगभग तीन शताब्दियों तक होता यह रहा था कि प्रशासन और अदालतों में हिन्दी का स्थान नगण्य था। हर जगह वह अपने अधिकार के लिए संघर्ष किया करती थी और इसमें कभी-कभी ही सफल होती थी।

मानक भाषा में अरबी फारसी के शब्द आ कर वे हमारे भाषा व्यवहार को कृत्रिम और 'एक्ज़ोटिक' बनाते हैं। इसका स्पष्टीकरण आगे यह विषय आने पर होगा। अभी हम भाषा के लिए आन्तरिकता, चित्त की विभिन्न भूमियों में भाषा के अवतरण की नैसर्गिकता, अपने भावलोक और स्वप्नलोक में उसके प्रवेश की समझ पाने का प्रयत्न करें। यहाँ महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के दो वचन उद्धृत हैं:

''अन्तर्लोक भावराज्य है। इसे हृद भी कहते हैं। वस्तुतः भावराज्य का विकास अन्तर्लोक में प्रवेश और अन्तरतम के केन्द्र में प्रवेश- ये सारी अवस्थाएँ भिन्न अवस्थाएँ नहीं हैं। केवल समझने के लिए एक ही अवस्था को कई चरणों में कहा जा रहा है। यहाँ जिस अन्तर्लोक में प्रवेश हुआ है, उसे भावराज्य भी कह सकते हैं, भावलोक भी कह सकते हैं और भावदेव भी कह सकते हैं। रचना के पूर्ण अवतरण के लिए कब तक साधना करनी पड़ती है, तब तक लक्ष्य का उन्मीलन करते रहने का और करते रहने में लगा रहना पड़ता है जब तक ये भावदेह को प्राप्त न हो जाएँ। भावलोक को कुछ दार्शनिक सम्प्रदायों में चिदाकाश भी कहा जाता है। चिदाकाश की प्राप्ति अविद्या या माया का व्यवधान कट जाने पर ही होती है।''

''भाव में प्रवेश के साथ-साथ एक लक्ष्य प्रतिष्ठित होता है। किसी वृत्ताकार गोलक के बहिर्देश से उसके केन्द्र की ओर आवर्त क्रम से चलने पर भाव लोक के केन्द्र में पहुँचने वाली गति प्राप्त होती है। वह गति जब केन्द्र में अवस्थित हो जाती है, तो भावलोक सम्पूर्ण हो जाता है, और वहाँ से वह उस महालोक में भी सम्पृक्त हो जाता है। यह भावलोक ही कवि की स्वभूमि है।''

-गोपीनाथ कविराज

जिन लोगों ने इस भाव लोक का अनुभव किया है उनके अनुसार यही ज्योतिर्लोक भी है। वह चारों ओर एक अनन्त प्रकाश से वेष्ठित है क्योंकि भाव लोक आनन्द की पूर्ण अभिव्यक्ति का लोक है। भक्त कवियों ने इस लोक का अनेक रूपों में वर्णन किया है। वे भाव लोक को बाह्य जगत और अन्तर्जगत के गुणों से अतीत, सृष्टि से अतीत, मोह-माया और महामाया से भी अतीत अनन्त परम सत्ता मानते हैं, जो असंख्य रूपों में, वह भी एक साथ सत् एवं असत् है, साथ ही उभयातीत भी है। यह अचिन्त्य, अनन्त, अस्फूर्त आनन्द का लोक है।

''बहिर्लोक और अन्तर्लोक में एक ही गति है। लेकिन दोनों अलग-अलग दिशाओं में गतिमान हैं। जब तक बहिर्लोक का भेदन नहीं होता तब तक अन्तर्लोक में प्रवेश नहीं होता। जब तक अन्तर्लोक का भेदन नहीं होता तब तक उस महालोक में प्रवेश नहीं मिलता, जो महाज्योति का लोक भी हैं।''

-गोपीनाथ कविराज

अन्तर्लोक और बहिर्लोक भिन्न लोक नहीं है। तार्किक दृष्टि में यह कथन दोनों लोकों में अभिन्नता की स्थापना नहीं करता। लेकिन तात्विक अर्थ में अन्तर्लोक और बहिर्लोक एक ही है।

यदि हम हृत्लोक के केन्द्र में स्थित बिन्दु की वाग्लोक के रूप में कल्पना करें या उसे शब्दलोक कहें तो हम वहाँ से प्रसूत और प्रेरित शब्द की वृत्तियों की भी कल्पना कर सकते हैं। ये वृत्तियाँ सर्वत्र और सारे लोकों में व्याप्त हैं। इन वृत्तियों की चर्चा साहित्य शास्त्रों और अर्थ विज्ञान में की जाती है। इन्हें शब्द शक्ति भी कहा जाता है। इनमें से किन्हीं शास्त्रों में तीन और किन्हीं शास्त्रों में चार वृत्तियों की बात कही गयी हैं। ये वृत्तियाँ शब्द में शक्ति के स्फुरण से लेकर उसके व्यक्तीकरण तक की अवस्थाएँ हैं।

''लोक की तरह ही इनको आकाश भी कहा जा सकता है क्योंकि वहाँ वायु का प्रभाव होता है। मनुष्य के भीतर होने पर इस वायु को प्राण भी कहते हैं। वाणी बनने के लिए यह वायु कण्ठ में रहती है और वैखरी शक्ति को पाकर यह व्यक्त भाव में आ जाती है जिसे दूसरे व्यक्ति सुन सकते हैं।'' वैखरी अवस्था में शब्द को सुना और समझा जाता है। ध्वनि निकलने के लिए कण्ठ में स्थित वायु विकृत होकर वर्ण का आकार धारण करती है। यह भी कहा जा सकता है कि इस प्रक्रिया में चिदाकाश से भाषा आकार ग्रहण कर रही है। लेकिन बोलने और सुने जाने के पहले की अवस्था में मध्यमा शक्ति कार्य कर रही होती है। मध्यमा शक्ति परामर्श ज्ञान स्वरूप है। यह केवल बुद्धि का परिणाम है। जो विशिष्ट और स्फूर्त शब्द का कारण होती है।

शब्द की इससे भी पहले की अवस्था पश्यन्ती शक्ति के रूप में समझी जाती है। इसमें या इस अवस्था में ध्वनि वर्णों में बँटी नहीं होती। इस अवस्था की उपमा पक्षी के अण्डे से दी गयी है। जिससे फूट करके जीव निकलने वाला है। यह अर्थरूपी जीव मध्यमा रूप में बुद्धिभूत होगा और वैखरी वृत्ति में व्यक्त होकर श्रुतिगम्य हो जाएगा। शब्द की पराशक्ति बुद्धि की अविधेयात्मक अवस्था में जन्म ले रही होती है। यह सुषुप्ति अवस्था में भी उपलब्ध होती है। लेकिन इसका प्रत्यक्ष ज्ञान विवेक से ही हो सकता है। जब तक विवेक का उदय न हो, मनुष्य के शब्दानुविद्ध ज्ञान से परे होने पर ही इसका निर्विकल्प ज्ञान सम्भव होता है।

मनुष्य की वाणी अनेक प्रकार के अर्थों की वाहक हो सकती है। इसी प्रकार काव्यलोक से अवतरित कविताएँ भी अनेक अर्थों की वाहक होती हैं। इसमें एक प्रधान अर्थ लौकिक जीवन के व्यवहार से जुड़ा होता है। भौतिक ज्ञान से लेकर गणितीय ज्ञान तक का वहन भाषा की इस रीति में आ जाता है। यहाँ पर भाषा तर्क बुद्धि का आश्रय ले रही होती है। शब्दों की अनेक शक्तियाँ हैं। ये शक्तियाँ तब प्रकट होती हैं जब मनुष्य का अपने भावलोक से संवाद होता है।

तीन

यहाँ शब्द, ज्ञान, भाव लोक, शब्द लोक जैसे शब्दों का उल्लेख सामान्य रूप में हुआ है। लेकिन हमारे जीवन में हमारी चेतना और हमारे भावलोक में वस्तुतः एक भाषाकुल, यथा भोजपुरी, खड़ी बोली, हिन्दी और संस्कृत का आवास होता है। उसी भाषाकुल से उसकी चेतना परिभाषित होती है। उसके अन्तर्लोक और बहिर्लोक दोनों में वही भाषाकुल वर्तमान होता है। इस भाषाकुल में कुछ बातें स्वीकार्य हैं और अनेक बातें अस्वीकार्य हैं। इसकी शुद्धता और स्वाभाविकता बनाये रखने के लिए इतर स्रोतों से प्राप्त होने वाली अनेक शब्दावलियाँ यहाँ वर्जनीय हो जाती हैं।

कहा जाता है कि शैशवकाल से ही अनेक भाषाएँ सुनने और उनका प्रयोग करने से शिशु के लिए वे भाषाएँ स्वाभाविक हो जाती हैं और एक का प्रयोग करते हुए दूसरी भाषा में पहुँच जाना सहज हो जाता है। बहुभाषा-भाषी शैशव सम्भव है लेकिन यह सम्भव नहीं लगता कि भावलोक का निर्माण एक साथ अनेक 'विषम' भाषाओं से हो सकता है। भावलोक के निर्माण में ऐसी विषमता बाधक होती है।

यहाँ पर हम भाषाओं में, अन्तर्लोक में और बहिर्लोक में संवाद की स्थिति पर कुछ ध्यान दें। संवाद अपने भाव लोक में पहुँच जाने पर ही सम्भव हो सकता है। जिस तरह मनुष्य के हृदय में हमेशा स्पन्दन होता रहता है उसी तरह भावलोक भी निरन्तर स्पन्दनशील है। संवाद कायम होने पर भावलोक और बहिर्लोक एक साथ स्पन्दन करने लगते हैं। भावलोक से बहिर्लोक में अवतरण शुरू हो जाता है। इस स्पन्दन और अवतरण को संवाद कहा जा सकता है।

माना यह जाता है कि संवाद दो या अनेक लोगों के बीच होता है। प्रचलित भाषा में यह परम पारिभाषिक-सा हो गया है, रूढ़-सा हो गया है कि संवाद अर्थात अनेक लोग। लेकिन कभी आप अपने अन्तर्लोक में प्रवेश करें। आप पायेंगे कि वहाँ निरन्तर संवाद चल रहा है। इस संवाद में आप स्वयं हैं और आपने स्वयं अपना एक प्रतिरूप बना रखा है या कोई अन्य प्रतिवादी कल्पित कर रखा है, जिसके साथ आप संवाद कर रहे हैं। अगर आप के अन्तर्लोक में प्रश्नोत्तर चल रहा है तो आप ही पूर्व पक्ष भी हैं और उत्तर पक्ष भी। बहुत सारे प्राचीन ग्रन्थ जिनमें आगम ग्रन्थ भी परिगणित हैं, शिव-पार्वती अथवा उमा-माहेश्वर के संवाद के रूप में हैं। लेकिन माना यह जाता है कि शिव-पार्वती दोनों एक ही हैं, एक ही पात्र प्रश्न पूछ भी रहा है और उसका उत्तर भी दे रहा है। यह संवाद अन्तर्लोक में एक ही पात्र कर रहा है। श्री अभिनवगुप्ताचार्य ने अपने गीता भाष्य में लिखा है कि गीता को बोलने वाले, सारी शंकाओं का समाधान करने वाले श्री कृष्ण और शंका व्यक्त करने वाले और उत्तर सुनने वाले अर्जुन ये दोनों एक ही पात्र हैं और ये हमारे अन्तर्लोक के वासी हैं। उनका यह संवाद हमारे अन्तर्लोक में सतत चल रहा संवाद है। हमारे-आपके अन्तर्लोक में ही यह सतत द्वन्द्व चल रहा है। कभी हम अनिर्णय में पड़ जाते हैं, कभी हमको कोई सरल-सा समाधान मिल जाता है, अन्यथा यह द्वन्द्व-भरा संवाद हमारे अन्तर्लोक में सतत चलता ही रहता है।

यह स्पष्ट होने के बाद कि संवाद वस्तुतः अन्तर्लोक में होता है और अपने ही बीच होता है तो यह भी प्रकट हो जाता है कि आपकी अवस्थिति भी जितनी अन्तर्लोक में है उतनी ही बहिर्लोक में और आपके भीतर ही इनका संवाद चलता है।

अब जब यह संवाद आपके भीतर ही चल रहा है तो आवश्यक है कि वह संवाद स्वयं आप ही करें। आप ही इसके उत्तरदायी हों। आपके आन्तरिक संवाद में कौन-सी भाषा उपयोग में आ रही है यह भी सोचें। आपको लगेगा कि भाषा तो सतह के नीचे चली गयी है। यह संवाद तो अवचेतन की भाषा में हो रहा है। ऐसा सोचना पूरी तरह सही

नहीं होगा। क्योंकि संवाद हमेशा आपकी अपनी बोली में चल रहा है। मेरे भीतर जो संवाद चल रहा है वह मेरी भोजपुरी, खड़ी बोली, अन्य बोलियों, संस्कृत आदि सभी का जो मिश्रण मेरी बोली में है, उसी में संवाद चल रहा है। वही मेरे अन्तर्लोक की बोली है, वही मेरे बहिर्लोक में विराजमान है।

इस संवादलोक में प्रवेश पाने के लिए इसके अपने अन्तर्लोक में होने के बावजूद असंख्य सीढ़ियों पर चढ़ने का संकल्प करना पड़ेगा और अगली सीढ़ी पर पहुँचने के बाद आगे की सीढ़ियों की संख्या प्रत्येक पूर्वानुमान से बढ़ती हुई लगेगी। हर सीढ़ी पर एक द्वारपाल होगा। नालन्दा महाविहार के द्वारपालों की तरह ही हर द्वार पर पूर्वसूरियाँ कुछ प्रश्न पूछ रही होंगी। उन प्रश्नों का उत्तर पाने के बाद ही आगे जाने की, अगली सीढ़ी पर पाँव रखने की अनुमति मिलेगी। यह अनुमति मिलने पर ही अन्तर्लोक और बहिर्लोक के बीच संवाद का अगला चरण आयेगा। प्रकट है कि यह संवाद सरल कार्य नहीं है। इस कार्य में अकेले ही लगना पड़ता है और अकेले ही एक-एक सीढ़ी पर चढ़ना होता है, परन्तु परम्परा हमारा सहारा होती है। वही हमें सहस्रशः पीढ़ियों के माध्यम से हमारे जातीय ज्ञान को हम तक पहुँचाती है। इसके लिए भी वह भाषा का सहारा लेती है। भाषा वही होती है जो हमारी बोली है। उसी के माध्यम से हम अपना ज्ञान पाते हैं, अपनी परम्परा पाते हैं।

हमने कभी काव्यलोक में चल रहे संवाद का विवेचन करते हुए उद्धृत किया थाः ''इस अनवरत संवाद में अनेक वाणियाँ संलग्न हैं। इस संवाद में संलग्न प्रत्येक वाणी मनुष्य की किसी न किसी गतिविधि की द्योतक है। संवाद जब भी आरम्भ हुआ तब यह भी नहीं पता रहा होगा कि कहाँ तक जाएगा, क्या किसी निष्कर्ष पर पहुँचेगा? यह अवश्य हुआ कि संवाद चलते रहने की प्रक्रिया में उसका विशेष चरित्र निर्धारित हो गया। संवाद की रीति बन गयी, और संवाद में नयी-नयी उद्भावनाएँ प्रकट होने लगीं।''

इस संवाद की भाषा क्या है? हमारा यह सुनिश्चित अनुभव है कि हमारे लिए भाषा हमारी बोलियों और संस्कृत से सम्पृक्त हिन्दी ही है। हिन्दी संस्कृत के अंक में बैठ कर ही अर्थगाम्भीर्य पाती है। हमारी बोली का पालन पोषण संस्कृत द्वारा ही हो रहा है। ऐसा ही होना भी चाहिए क्योंकि संस्कृत की वर्णमाला ही हिन्दी की वर्णमाला है। हमारे प्राचीन मनीषियों ने पाया है कि इस जगत की सृष्टि इस वर्णमाला से हुई है। जगत ही वर्णमय है, यह वर्णों से ही बना है।

हमारी वर्णमाला में निखिल ब्रह्माण्ड सम्पृक्त है। वर्णमाला के पूर्णत्व के कारण ही यह ब्रह्माण्ड सम्पूर्ण है। बल्कि इस वर्णमाला से बना हुआ हर लोक सम्पूर्ण है। हर वर्ण में निःसीम शक्ति होती है और वह ज्योतिपुंज होता है। वर्णमाला चित्त रूप भी है इसीलिए इन वर्णों के मिलने से ही हमारा चित्त बना हुआ है। चित्त की गति हमारे कण्ठ, तालु, जिह्व और ओष्ठ को गतिमान करती है। शैव दर्शन और अनेक तन्त्रों के अनुसार 'अ' से लेकर 'अः' तक सोलह (१६) स्वर भगवान शिव के द्योतक हैं। शिव में ही ३६ तत्त्व विराजते हैं। इसके अतिरिक्त शिव में ही चित्त, आनन्द, संकल्प, ज्ञान और कर्म-ये पाँच शक्तियाँ भी हैं। ये सब मिल कर शिव को सम्पूर्ण तत्त्व बनाती हैं। यह तो प्रसिद्ध ही है कि भगवान पाणिनि ने अष्टाध्यायी के शुरू में वर्णमाला दी है और प्रसिद्ध है कि वर्णमाला भगवान शिव के डमरू से निकली हुई ध्वनियाँ हैं।

वर्णमाला के प्रथम दो स्वराक्षरों 'अ' और 'आ' से ही ककार के व्यंजन वर्ण बनते हैं। 'क, ख, ग, घ, ङ' में चित् और आनन्द की शक्ति अन्तर्निहित है। ये पाँच व्यंजन पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश का द्योतन करते हैं। 'इ' और 'ई' संकल्प शक्ति से प्रसूत हैं और इनसे 'च, छ, ज, झ, ञ' की उत्पत्ति होती है। ये पाँच व्यंजन पाँच सूक्ष्म इन्द्रिय

संवेदों-घ्राण शक्ति, स्वाद, रूप, स्पर्श, ध्वनि- इन पाँच शक्तियों के द्योतक हैं। 'द्द' और 'ट्ट' पाँच शक्तियों से मिल कर- 'त, थ, द, ध, न'- इन व्यंजनों की रचना करते हैं जो पाँच कर्मेन्द्रियों को कर्मरत करते हैं। पाँच शक्तियों से ही स्वर 'उ' और 'ऊ' से मिल कर 'प, फ, ब, भ, म' - इन व्यंजनों की उत्पत्ति होती है। ये व्यंजन मन, बुद्धि, अहंकार, प्रकृति के तत्त्व हैं जिनका अधिष्ठान पुरुष में है। 'य, र, ल, व'- ये अर्धस्वर उन छः तत्त्वों के द्योतक हैं जो सब तत्त्वों का आवरण है। 'स, श, ष, ह' से पुरुष तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। इसमें से 'ह' शिव की स्वतःस्फूर्त शक्ति- शिव शक्ति को व्यक्त करता है अर्थात 'ह' बहिर्लोक का भी द्योतक है इस प्रकार पृथ्वी से लेकर पुरुष तक २५ तत्त्व हैं। शिव की प्रत्येक शक्ति में ऊपर उल्लिखित पाँचों शक्तियाँ भी रहती हैं। इस तरह चित्, आनन्द, संकल्प, ज्ञान और कर्म एक दूसरे में और शक्तियों में सर्प की कुण्डली की तरह लिपटे रहते हैं।

यहाँ जो कुछ कहा जा रहा है वह हमारी वर्णमाला का विवरण मात्र है। इस वर्णमाला में किस तरह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आवेष्ठित होता है और किस तरह मनुष्य की क्रियाएँ वर्णमाला से परिचालित होती हैं, इसको केवल निर्दिष्ट किया गया है। इसी को अर्थात अक्षरों को मातृका चक्र कहते हैं। जैसा देखा गया, इस चक्र में अन्तर्लोक भी है, बहिर्लोक भी है, और ज्ञानलोक भी है। हम स्वयं बहिर्लोक में क्रियमाण हैं और हमें प्रायः ज्ञानलोक और अन्तर्लोक का संज्ञान नहीं होता लेकिन जैसे ही हम मातृका चक्र को अपने अन्तर्लोक में अन्तर्निहित करते हैं तो बहिर्लोक और अन्तर्लोक एक हो जाते हैं। यह आत्मज्ञान की अवस्था है। 'अ' में अन्तर्लोक है, 'ह' में बहिर्लोक है। ये दोनों शिव-शक्ति के द्योतक हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी का प्रथम सूत्र 'अ, इ, उ' है। 'अ, इ, उ' से ही अन्य सभी वर्ण उत्पन्न होते हैं जैसे 'अ' से 'आ'। और विसर्ग ':' आने के बाद 'क' से 'स' तक के वर्ण उत्पन्न होते हैं। इन्हीं पचास वर्णों से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है।

ब्रह्माण्ड के ३६ तत्त्व-

स्थूल तत्त्व- पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु, आकाश,
सूक्ष्म तत्त्व- गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द,
कर्मेन्द्रिय- वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ,
ज्ञानेन्द्रिय- घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र,
अन्तरांग- मनस्, बुद्धि, अहंकार,
प्रकृति- प्रकृति, पुरुष,
बन्ध- कला, विद्या, राग, काल, नियति, माया,
शुद्ध तत्त्व- शुद्ध विद्या, ईश्वर, सदाशिव-शक्ति, परमशिव

इनमें से अन्तिम परम शिव न केवल शिव तत्त्व में नहीं है, न केवल शक्ति तत्त्व में नहीं है, न केवल यहाँ नहीं है, न केवल वहाँ नहीं है। लेकिन यह सर्वत्र है, यह उच्चतम तत्त्व में भी है, न्यूनतम तत्त्व में भी उपस्थित है इसीलिए यह कहीं भी नहीं है।

भावलोक में यही वर्णमाला है। इसीलिए भावलोक में हमारी बोलियों और संस्कृत से मिली हुई हिन्दी भाषा ही चलती है। यह हिन्दी भाषा संस्कृत के अंक में बैठी हुई है। हिन्दी क्षेत्र की सभी लोक भाषाओं ने इसको अपना सम्पूर्ण समर्पण किया है। हिन्दी अपने व्यवहारकार्य में उन्हें जितना ही अपना पाती है उतनी ही तेजस्वी हो जाती है। हमारे भावलोक की इस भाषा में ब्रह्माण्ड के सारे ३६ तत्त्व आ जाते हैं। किन्हीं विजातीय तत्त्वों से इस भाषा के संस्कारित

होने से भावलोक की क्षति होती है। उसमें हमारे हृदय के स्पन्दन के साथ होने वाले स्पन्दन में रोध आने लगते हैं। इस बात को समझने वाले चाहें तो समझ सकते हैं। इस समझ के साथ ही संवाद चल सकता है।

हम देख चुके हैं कि संवादशीलता मनुष्य की महानतम उपलब्धि है। संवादशीलता ने ही उसकी प्रकृति का निर्धारण किया है। लेकिन यह बात भी सच है कि मनुष्य दीर्घ काल तक एक ही कार्य में नहीं लगा रह सकता। इस तरह अनवरत संवाद चलते हुए भी वह उसमें सदैव संलग्न नहीं रह सकता। अन्तर्लोक और काव्यलोक के बीच चल रहा संवाद अचानक रुक जाया करता है और उस संवाद के पुनः शुरू होने के बारे में कुछ भी निश्चित नहीं कहा जा सकता। फिर भी गतिरोध के कारणों पर विचार किया जा सकता है।

कहा गया है कि संवाद में जो दो होते हैं वह मूलतः एक ही होता है। अन्तर्लोक में चल रहा संवाद जो दो के बीच में हो रहा होता है वह एक ही का दो हो जाना है। इस तरह इन दोनों की एक ही जाति है। इनमें किसी विजातीय का प्रवेश निषिद्ध है। अगर संवाद में तीन हो जायेंगे तो संवाद नहीं रहेगा। संवाद में तीसरे व्यक्ति का प्रवेश इसलिए भी कठिन है क्योंकि संवाद में भाग लेने वालों का मानसिक धरातल एक जैसा होना चाहिए, उनकी सोच एक जैसी होनी चाहिए, उनका शब्दकोष समान होना चाहिए, उनकी एक जैसी भाषा होनी चाहिए, वे एक जैसे अनुशासन के लोग होने चाहिए और उन्हें तत्त्वतः एक ही होना चाहिए। किसी भी तीसरे व्यक्ति का प्रवेश अलग मानसिक धरातल, अलग सोच, अलग शब्दकोश, अलग भाषा और अलग अनुशासन के कारण संवाद को भंग कर देगा।

जब भी राज्य की भाषा हमारी भाषा से अलग हो जाती है तो कोई अन्य भाषा हमारी भाषा का दमन करने लगती है। वह तीसरी ताकत बन कर बल प्रयोग के जरिए हमारे अन्तर्लोक/भावलोक में चल रहे संवाद को भंग करती है। इतर भाषा के शब्द हमारे संवाद में प्रवेश करके उसकी अर्थवत्ता को क्षीण करते हैं। इतर भाषा फारसी है, इतर भाषा अँग्रेज़ी है, इतर भाषा कोई अन्य ऐसी भाषा है, जो हमारी वर्णमाला से बाहर है।

अन्तर्लोक, बहिर्लोक, भावलोक में चल रहे संवाद हमारी बोली में चल रहे हैं। इस बोली में हमारी वर्णमाला से ही बनी खड़ी बोली और संस्कृत भी सम्मिलित है। अन्तर्लोक-बहिर्लोक-भावलोक- काव्यलोक में चल रहा संवाद एक ही व्यक्ति का और उसकी अपनी बोली में चल रहा संवाद है। यह संवाद चलता रहे इसके लिए यह भी आवश्यक है कि उसका कुछ फल निकलता रहे और उस संवाद में कुछ आनन्द मिलता रहे। इसका अर्थ यह है कि संवाद में लोक वैविध्य का विसर्जन भी हो जाता है। सारे लोक विलीन होकर एक लोक हो जाते हैं। एक साथ उपस्थिति फिर साथ ही अनुपस्थिति-इसकी समझ ही मनुष्य को समझने वाला बनाती है। संवाद चल ही रहा है तो जिनके भी बीच चल रहा है अर्थात अन्तर्लोक और बहिर्लोक के बीच वह उन्हीं के बीच हो सकता है जो एक-दूसरे की बात पर सिर हिला सकते हों, धन्य-धन्य, साधु-साधु कहते रहें, यह आत्म प्रशंसा विविध लोकों के बीच बनी रहे, यह उनके बीच सद्भाव की द्योतक है जो संवाद को सम्भव बनाती है।

चार

हमारे सार्वजनिक जीवन की यह बड़ी विडम्बना है कि खड़ी बोली के विकास के साथ-साथ शब्दों की अर्थवत्ता पर से ध्यान शिथिल होता गया है। आज हमारी भाषा की ऐसी स्थिति हो गयी है, इसमें विजातीय तत्त्वों का आडम्बर बढ़ता जा रहा है कि हमारी खड़ी बोली के आगे के विकास की कल्पना भी नहीं की जा सकती। शिक्षा में लगातार गिरावट और हमारे हर वर्ग में अधकचरी फारसी, अँग्रेज़ी के भयंकर प्रभाव के कारण खड़ी बोली एक संकर कुभाषा का रूप ग्रहण कर रही है। हमारे आचरण में यह अनिवार्य नहीं रह गया है कि हम अपने द्वारा व्यवहृत शब्दों का प्रयोग

गम्भीरतापूर्वक करें। ऐसी स्थिति आ रही है कि अनन्तकाल से चल रहा बहिर्लोक और भावलोक का संवाद कहीं समाप्त न हो जाए। यह स्थिति चिन्तन, विचार और सृजन के लिए विनाशकारी है। शब्दों का प्रयोग जिन निश्चित अर्थों, व्यंजनाओं में किया गया है, वे समादृत होने चाहिए। परिभाषिक शब्दों के जो अर्थ भिन्न प्रस्थानों में मान्य हैं उनको समझने के लिए विशेष प्रयत्न आवश्यक हैं। हम भाषा लोक में प्रवेश करें और उस प्रवेश के लिए अपेक्षित प्रयत्न भी पूरा करें।

हमारे प्रयत्न का एक भाग हमारी चेतना को आच्छादित करने के लिए प्रयत्नशील विजातीय शब्दावली से, बचाव से सम्बन्धित है। हमारे देश के बड़े भू-भाग में, उत्तर भारत में तो अवश्य ही, अँग्रेज़ी आने से पहले पाँच-छः सौ वर्षों तक फारसी राजभाषा रही थी। अरबी-फारसी की शब्दावली हमको पराभूत करने का प्रयत्न कर रही थी। विद्यापति, सूर और तुलसी द्वारा क्रमशः मैथिली, ब्रज और अवधी में महान साहित्य की रचना करके इन बोलियों को लोकप्रिय बनाया गया। विद्यापति और सूर के पदों और तुलसी की दोहा चौपाई की असीम लोकप्रियता हमारी भाषा को फारसीबहुल होने से बचा गयी। परन्तु हमारी भाषा पर आघात होने अभी बाकी थे। अँग्रेज़ी तथा छापे के मशीनों के प्रचलन से भाषा का रूप कुछ परिवर्तित हुआ। परन्तु उसमें विजातीय तत्त्वों की प्रधानता नहीं हुई। हमारी भाषा को अन्तिम रूप से पराभूत करने का आखिरी मोर्चा हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के महानायक महात्मा गाँधी ने सँभाला था। उनकी यह दृढ़ राय थी कि उत्तर भारत की भाषा उर्दू है। सम्भवतः उनको लगता था कि 'हिन्दुस्तानी' (उर्दू) भाषा के राष्ट्रभाषा हो जाने से हिन्दू- मुस्लिम समस्या का समाधान पाने में सहायता मिलेगी। उन्होंने यह विचार १९०९ में 'हिन्द स्वराज' में भी अभिव्यक्त किया और अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक वे यही बात कहते रहे। यहाँ हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर में १९१८ में हुए उनके अध्यक्षीय भाषण के कुछ अंश पढ़िए :

''हिन्दी भाषा वह भाषा है, जिसको उत्तर में हिन्दू व मुसलमान बोलते हैं, और जो नागरी अथवा फारसी लिपि में लिखी जाती है। यह हिन्दी एकदम संस्कृतमय नहीं है, न यह एकदम फारसी शब्दों से लदी हुई है।... भाषा वही श्रेष्ठ है, जिसको जनसमूह सहज में समझ ले। देहाती बोली सब समझते हैं। भाषा का मूल करोड़ों मनुष्यरूपी हिमालय में मिलेगा, और उसमें ही रहेगा। हिमालय में से निकली हुई गंगाजी अनन्त काल तक बहती रहेंगी। ऐसा ही देहाती हिन्दी का गौरव रहेगा और जैसे छोटी-सी पहाड़ी से निकला हुआ झरना सूख जाता है, वैसे ही संस्कृतमयी तथा फारसीमयी हिन्दी की दशा होगी।''

''हिन्दू-मुसलमानों के बीच जो भेद किया जाता है, वह कृत्रिम है। ऐसा ही कृत्रिम हिन्दी व उर्दू भाषा के भेद में है। हिन्दुओं की बोली से फारसी शब्दों का सर्वथा त्याग और मुसलमानों की बोली से संस्कृत का सर्वथा त्याग अनावश्यक है। दोनों का स्वाभाविक संगम गंगा-यमुना के संगम-सा शोभित और अचल रहेगा। मुझे उम्मीद है कि हम हिन्दी उर्दू के झगड़े में हिन्दुस्तानी को अरबी लिपि में ही लिखें, हिन्दू बहुत करके नागरी लिपि में लिखेंगे। राष्ट्र में दोनों को स्थान मिलना चाहिए।'' हिन्दुस्तानी के प्रति गाँधी जी का आत्मभाव ऐसा बन गया था कि वे उसके प्रचार के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए जमा किये गये कोष से करोड़ों रूपये खर्च करवाते थे। अनुदान देकर अनेक पत्रिकाएँ निकालते थे। हिन्दुस्तानी प्रचार सभा जैसी संस्थाएँ चलवाते थे। जब १९३७ में प्रान्तीय सरकारें बनीं तो उनमें से हिन्दीभाषी प्रान्तों में कार्य हिन्दुस्तानी में चले इसकी पूरी कोशिश की। ऑल इण्डिया रेडियो के जो स्टेशन प्रान्तीय सरकारों के अन्तर्गत थे वे हिन्दुस्तानी में प्रसार करने लगे और एक हास्यास्पद कृत्रिम बोली लोगों पर थोपी जाने लगी। इनमें से कुछ संस्थाएँ अभी भी चलती हैं पर हिन्दुस्तानी जैसी कृत्रिम बोली पर जोर देने का काम नेहरू जी के जाने के साथ-साथ नगण्य हो गया।

पाँच

भारत की नौकरशाही के कारण यहाँ के राजकाज में अँग्रेज़ी का चलन कभी कम नहीं हुआ। हम कभी-कभी अपने नेताओं को दोष देते हैं। पर सबसे बड़े दोषी वे तमिल ब्राह्मण थे, जो अँग्रेज़ी पढ़ कर सचिवालय में भर्ती होकर धीरे-धीरे बड़े पदों पर पहुँच गये थे। इन लोगों ने उन राजनीतिक नेताओं को जो मन्त्रिपदों पर विराज रहे थे, उनको अँग्रेज़ी का पक्षधर बनाने की भरपूर कोशिश की। राजकाज में अँग्रेज़ी के अलावा और कोई भाषा आने नहीं दी। मध्यप्रदेश जैसे राज्य बहुत पहले से अपना राजकाज हिन्दी में सफलतापूर्वक करके उसकी राज-काज में अपर्याप्तता के सारे तर्कों को निरस्त कर चुके थे। फिर भी जब केन्द्र में अँग्रेज़ी बनी रही तो वहाँ अँग्रेज़ी का प्रयोग करने वाले अधिकारी राज्य में भी जाने पर वहाँ अँग्रेज़ी चलवाने की कोशिश करते रहे, कुछ हद तक सफल भी हुए।

हिन्दी के लिए इससे भी बड़ा संकट समाचार पत्रों, मीडिया और विज्ञापन एजेंसियों ने प्रस्तुत कर दिया। भारत की सभी प्रमुख विज्ञापन एजेंसियाँ किसी न किसी अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसी की शाखा या संयुक्त उपक्रम होती हैं। ज़्यादा धनराशि के आवंटन का अधिकार बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की एजेंसियों के पास होता है। इनके द्वारा जारी किये गये विज्ञापन प्रायः बहुराष्ट्रीय एजेंसियों के प्रधान कार्यालयों में डिज़ाइन होते हैं। स्थानीय एजेंसी उनका अनुवाद करके उन्हें भारतीय समाचार पत्रों और मीडिया को जारी करती है। इस अनुवाद कार्य में मक्षिका-स्थाने-मक्षिका की तरह मूल 'पाठ' की चुस्ती बनाये रखने के लिए अनुवाद करने के बजाए मूल पाठ को ही रख दिया जाता है। एक संकीर्ण सीमा में कार्य करने और अपनी सृजनात्मकता को दमित रखने के कारण विज्ञापन के क्षेत्र में एक संकर भाषा विकसित हो गयी है। पत्र-पत्रिकाएँ और मीडिया विज्ञापन निर्भर होते हैं, उनके लिए बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के विज्ञापन अतीव लाभदायक होते हैं इसलिए उन्होंने न केवल इन विज्ञापनों की संकर भाषा (और संकर चित्र बिम्बों) को स्वीकार ही नहीं किया, अपने पूरे पत्र और कार्य की भाषा को ही विज्ञापनों की भाषा में ही ढाल लिया।

हिन्दी समाचार पत्र और मीडिया को वैसे भी विज्ञापन कम मिलते हैं। उनको ऐसा करने की ज़रूरत नहीं थी। हिन्दी के महान पत्रकारों ने अपने पत्रों में कभी ऐसा होने नहीं दिया था। उन्होंने हिन्दी के एक मानक रूप को अपनी भाषा बनाया था और उसकी शुद्धता का अनवरत संवर्धन करते रहे थे। इन महान सम्पादकों ने ही वर्तनी के नियम निर्धारित किये थे। हिन्दी समाचार पत्रों के नये मालिकों ने अपने पत्रों में उपयोग के लिए नये फ़ॉण्ट भी डिज़ाइन करवाने की आवश्यकता नहीं समझी। नतीजा है कि नागरी लिपि में महाराष्ट्र में ही कुछ नये फ़ॉण्ट विकसित हुए और मराठी के पत्रों और पुस्तकों के लिए वहाँ के मुद्रकों द्वारा प्रयुक्त होते हैं। लेकिन मुख्य समस्या हिन्दी के महान पत्रकारों ने अपने समाचार पत्रों के लिए हिन्दी भाषा के लिए जिस सशक्त रूप का विकास किया था, यह कार्य बनारस, पटना, इलाहाबाद, आगरा, इन्दौर, जयपुर से निकलने वाले पत्रों में हुआ था। जैसे ही स्वतन्त्रता के बाद दिल्ली हिन्दी समाचार पत्रों का केन्द्र बना, यहाँ के समाचार पत्रों की भाषा में धीरे-धीरे शिथिलता आती गयी। दिल्ली से निकलने वाले लगभग सभी समाचार पत्र या तो अँग्रेज़ी दैनिकों के हिन्दी संस्करण होते थे या लाहौर से स्थानान्तरित हुए वीर अर्जुन, मिलाप, जैसे दैनिक उर्दू अखबारों के हिन्दी संस्करण थे। इन सबकी भाषा पर क्रमशः विज्ञापनों की भाषा का प्रभाव बढ़ता गया। भाषा की भ्रष्टता का अगला चरण दूरदर्शन और टीवी चैनलों के विकास से जुड़ा है। बम्बई के फिल्म निर्माता पहले से ही यह मानते थे कि भाषा उर्दू मिश्रित हो जाने से आम फहम हो जाती है। हालाँकि कभी किसी ने इसका सर्वेक्षण नहीं किया था। बम्बई की फिल्मी दुनिया में उर्दू शायरों और साहित्यकारों (कुछ हद तक कम्युनिस्ट पार्टी) के वर्चस्व के कारण आम फहम भाषा के नाम पर उर्दू का प्रयोग होने लगा। लोकप्रियता

बढ़ाने के लिए हिन्दी समाचार पत्र और मीडिया बम्बई की फिल्मों के प्रभाव में आने लगे। इस असर ने भी हिन्दी समाचार पत्रों की भाषा को दूषित किया।

२१वीं शताब्दी के आरम्भ से कुछ पहले हिन्दी समाचार पत्रों का इस दिशा में दुस्साहस ऐसा बढ़ गया कि वे धड़ल्ले से हिन्दी के भीतर अँग्रेज़ी का प्रयोग करने लगे। उनको अनुशासन में रखने वाली कोई संस्था, कोई मार्गदर्शक मण्डल न तो था न उन्हें उसकी ज़रूरत थी। हिन्दी का लेखक परिवार तो अपनी भाषा की दुर्दशा पर उदासीन बना हुआ है। कभी-कभी तो वह इसमें सहायक भी हो जाता है। हिन्दी पत्रों का भाषागति स्वेच्छाचार आज अपनी चरम सीमा पर है। अपनी दुर्दशा पर मेरी भाषा की आँखों से आँसू भी नहीं निकल रहे हैं। मेरी भाषा, खड़ी बोली हिन्दी आज अपने विकास की सबसे खतरनाक मंज़िल पर पहुँच चुकी है। इस समय कौन-सी शक्तियाँ इसको सुराह पर ले जाने के लिए प्रतिबद्ध होंगी, कटिबद्ध होंगी और मेरी भाषा को फिर से अपने पुराने पवित्र रूप की ओर ले जाने में सफल होंगी। कहीं कुछ सूझ नहीं रहा है।

हिन्दी का परिसर और क्षितिमोहन सेन

रामशंकर द्विवेदी

वेदों में एक मन्त्र आया है-

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम्।
ऊँ क्रतोस्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर।। ईशा. १७।।

ये प्राण और इन्द्रियाँ अविनाशी समष्टि वायु में प्रविष्ट हो जाएँ;
यह हृदय स्थूल शरीर अग्नि में जलकर भस्म हो जाए,
हे यज्ञमय भगवान् आप मुझे स्मरण करें, मेरे कृतकर्मों को स्मरण करें।

-ईशादि नौ उपनिषद, गीता प्रेस, पृष्ठ १०-११

इसका अर्थ है- हमें निरन्तर अपने कार्यों का स्मरण करते रहना चाहिए। हमने अपने जीवन में जो कार्य किये हैं उनका हमें निरन्तर स्मरण कर उन्हें पुनरुज्जीवित करते रहना चाहिए। इन कर्मों में वे कर्म भी आ जाते हैं जो हमारे पूर्वजों ने किये हों। जिसके लिए उन्होंने कहा है हमारे जो अच्छे काम हैं, तुम उन्हीं की उपासना करना, हमारे इतर कर्मों की नहीं। यह सूत्र हमें परम्परा से जोड़ता है और उसमें कुछ नया जोड़ने की प्रेरणा देता भी है। आज इस सूत्र के प्रकाश में यदि हम 'हिन्दी' पर विचार करें तो दो बातें याद आती हैं। एक, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके पहले हमारे पूर्वजों ने हिन्दी के विकास के लिए क्या किया, दूसरी बात यह कि वह कौन-सी शक्ति थी जिसके बल पर हिन्दी स्वतः पूरे देश में फैलती गयी और उसने एक सार्वभौम सम्पर्क भाषा का रूप ग्रहण कर लिया। वह हिमालय से कन्याकुमारी तक और कामरूप (असम) से कच्छ तक समान भाव से विचार और भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम बनती गयी। अतः सलिला की तरह वह जन-मानस में अपना स्थान बनाती गयी। यह सन्तों के द्वारा, कवियों

के द्वारा, तीर्थों में समवेत जन-समुदाय के द्वारा, कुम्भ जैसे मेलों के द्वारा, आर्य समाज जैसी संस्थाओं के द्वारा, १८५७ जैसे आन्दोलनों के द्वारा, सशस्त्र क्रान्ति और महात्मा गाँधी, मदनमोहन मालवीय, तिलक, सुभाष जैसे महामानवों के द्वारा फैलायी जाती रही। आज वह ब्रह्मपुत्र जैसा नद बन गयी है, जिसके प्रवाह को रोकना असम्भव है।

इस लेख का विषय हिन्दी का परिसर और आचार्य क्षितिमोहन सेन हैं। 'परिसर' संज्ञा का प्रयोग क्षितिमोहन सेन के पहले बिना किसी औपचारिक प्रयास के हिन्दी का परिसर कितना व्यापक था, इस पर दृष्टि-केन्द्रित करता है। इसके लिए उन रचनाओं को थहाने का प्रायस किया गया है जिनमें हिन्दी का प्रयोग किया गया है, यद्यपि वे रचनाएँ हैं दूसरी भाषाओं की अथवा भारतीय भाषाओं के ऐसे कवि हैं जिनकी अभिव्यक्ति की भाषा अपनी थी किन्तु जिन्होंने या तो हिन्दी में भी रचनाएँ कीं या हिन्दी के लिए काम किया ऐसा उन्होंने हिन्दी को सर्वमान्य सम्पर्क भाषा मानकर किया। 'राष्ट्रभाषा' हिन्दी बने, तब यह प्रश्न भी नहीं उठा था। जैसे कई अक्षय-स्त्रोता पयस्विनी तमाम बन-जंगल, ग्राम-जनपद को उर्वरा बनाती हुई बहती जाती है, हिन्दी भी उसी तरह लोक हृदय को सींचती हुई बहती जा रही थी।

भारतीय भाषाओं में हिन्दी का प्रयोग कब किया गया इसका स्मृतिचारण करने के पूर्व गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की इस उक्ति पर विचार करना आवश्यक है जो उन्होंने शान्तिनिकेतन में हिन्दी भवन की स्थापना के पहले पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी से कहे थे- 'तुम्हारी भाषा परम् शक्तिशाली है। बड़े-बड़े पदाधिकारी तुमसे कहेंगे कि हिन्दी में कौन-सा रिसर्च होगा भला! तुम उनकी बातों में कभी न आना। मुझे भी बँग्ला में न लिखने का उपदेश दिया था। मैंने बहुत दुनिया देखी है। ऐसी भाषाएँ भी हैं, जो हमारी भाषाओं से कमज़ोर हैं, परन्तु उनके बोलने वाले अँगरेजी के विश्वविद्यालय नहीं चलाते। हमारे ही देश में लोग परमुखापेक्षी हैं। तुम कभी अपना मन छोटा मत करना।... हिन्दी के माध्यम से तुम्हें ऊँचे-से-ऊँचे विचारों को प्रकट करने का प्रयत्न करना होगा। क्यों नहीं होगा? मैं कहता हूँ ज़रूर होगा। ठूँठ प्रवीणों से आशा नहीं है। नवीन युवक असाध्य साधन कर सकते हैं।' हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आगे लिखा है : मुझे उनकी शब्दावली याद नहीं है पर भाव यही हैं। ये मेरे चित्त पर वज्रलेख की तरह अंकित हो गये हैं (मृत्युजंय, रवीन्द्रनाथ, पृष्ठ २१७-२१८)।

इसके आगे के विवरण के अनुसार जिस दिन शान्तिनिकेतन में दीनबन्धु एण्ड्रज ने हिन्दी भवन का शिलान्यास किया था उस दिन वे अस्वस्थ थे। सोचा गया था कि उन्हें उत्सव स्थान पर नहीं लिवाया जायगा परन्तु वे माने नहीं। बोले, 'देखो, मैं ज़रूर चलूँगा और वैदिक मन्त्र मैं ही पढ़ूँगा। तुम लोग मुझे रोक नहीं सकते।' उन्होंने ही शिलान्यास के अवसर पर इस शुभ अनुष्ठान का पौरोहित्य किया था। वे मनुष्य की शक्ति में पूर्ण विश्वास रखते थे। कभी उन्होंने मनुष्य को छोटा नहीं समझा। इसीलिए वे उस भाषा की महिमा को जानते थे, जिसे करोड़ों मनुष्यों के सुख-दुःख को प्रकट करने का अवसर मिला है। वे मनुष्य की अजेय शक्ति में विश्वास रखते थे। हिन्दी को वे एक ऐसी लोकभाषा मानते थे, जिसकी अद्‌भुत और अक्षयशक्ति अभी प्रकट नहीं हुई है (मृत्युंजय, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ २१८)।

हिन्दी भवन की स्थापना करके स्व. कविगुरु रवीन्द्रनाथ ने हिन्दी की जो सेवा की है, वह साधारण नहीं है। उन्होंने किसी सद्यः प्राप्य फल की आशा से यह काम नहीं किया। वे भारतवर्ष की आत्मा को सबल और सतेज बनाने के लिए दीर्घ तपस्या की आवश्यकता में विश्वास करते थे। हिन्दी-भवन को वे साहित्य और संस्कृति की साधना के पीठ के रूप में देखना चाहते थे। यह हिन्दी-प्रेमियों का पावन कर्त्तव्य है कि वे देखें कि उनका संकल्प सत्य हो, उनकी इच्छा पूर्ण हो और हिन्दी इस योग्य बने कि विश्व के दरबार में उस महान् भारतीय सन्देश को पहुँचा सके जिसे कबीर, सूर,

तुलसी और मीराबाई ने इस भाषा में रक्खा था (वही पृष्ठ २१६-२२०)।

शान्तिनिकेतन में हिन्दी भवन की स्थापना बहुत बाद में हुई थी किन्तु क्षितिमोहन सेन कविगुरु के आह्वान पर १६०८ में ही वहाँ पहुँच गये थे। रवीन्द्रनाथ ने ही उनका आह्वान करते हुए १६०७ में एक पत्र लिखा था जिसका आशय यह है :

शिलादूदह
नदिया

ऊँ

सविनय नमस्कारपूर्वक निवेदन

बोलपुर में मैंने कुछ दिन हुए तब से एक ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना की है और उसमें मैं बच्चों को शिक्षा दे रहा हूँ। आपके बारे में मुझे जिस तरह के समाचार मिले हैं, तभी से मैं यहाँ के कार्यों के साथ आपको जोड़ने के लिए विशेष उत्सुक हो गया हूँ। अनुग्रह करके अगर आप यहाँ के कार्यों में योगदान करते हैं तो मुझे इससे बड़ी सहायता मिलेगी और जिससे आपको कोई आर्थिक क्षति न हो वैसी ही मैं यहाँ व्यवस्था कर दूँगा। मेरा विश्वास है कि आश्रम के इस कार्य में आपको आनन्द आएगा। इति पहला फाल्गुन १३१४ बंगाब्द

भवदीय
श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

'रवीन्द्रनाथ और उनका आश्रम' शीर्षक निबन्ध में क्षितिमोहन सेन ने लिखा है : १६०८ ईस्वी का आषाढ़ मास। शान्तिनिकेतन आश्रम में योग देने के उद्देश्य से रात्रि में बोलपुर स्टेशन पर उतरा था। भयंकर वर्षा हो रही थी; उस समय बैलगाड़ी के अलावा वहाँ दिन में और कोई सवारी नहीं मिलती थी। इसलिए दूसरे दिन सवेरे पैदल ही आश्रम के लिए रवाना हो गया था। बोलपुर में उस समय इतनी बस्ती थी ही नहीं। स्टेशन से मार्ग में चलते ही सुनायी पड़ा कि कवि गा रहे हैं, तुम अपने आप मुझे जगाओ (तुमि आपनि जागाओ मोरे)। उस समय उनके गले में कितनी शक्ति थी। 'शान्तिनिकेतन' में अपने 'देहली' नामक आवास की दुमंज़िला छत पर खड़े होकर वे गा रहे थे और बोलपुर में वह सुनायी दे रहा था। हाँ, यह ज़रूर है कि बोलपुर का मार्ग उस समय बहुत निर्जन और शान्त था (रवीन्द्रनाथ और शान्तिनिकेतन, क्षितिमोहन सेन, सम्पादक प्रणति बन्धोपाध्याय, पुनश्च कलकत्ता, पृष्ठ १५)।

क्षितिमोहन सेन के बारे में द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है :

ऐका नवरतन क्षितिमोहन
भकति रसेर - रसिक ।
कबीर - कामधेनु करि दोहन
तोषेन तृषित पथिक ।।

स्पष्ट है कि क्षितिमोहन सेन ने सन्त साहित्य के परिशीलन के साथ कबीर पर जो काम किया था, उसका द्विजेन्द्रनाथ और रवीन्द्रनाथ पर गहरा प्रभाव पड़ा था और इस कारण कबीर के माध्यम से हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रति बांग्ला साहित्यकारों में अनुराग जागा था। सच बात यह है कि बंगालियों की हिन्दी सेवा पर हिन्दी में कोई शोधपूर्ण

ग्रन्थ मेरे देखने में नहीं आया है लेकिन शान्तिनिकेतन में हिन्दी-भवन की स्थापना और हिन्दी विश्वभारती पत्रिका का प्रकाशन इस बात को द्योतित करता है कि शान्तिनिकेतन के परिवेश ने बंग समाज में हिन्दी को बढ़ावा दिया और उसके अनुकूल स्थिति बनी। इसका सबसे बड़ा प्रमाण विश्वभारती में हिन्दी का पठन-पाठन है। आज भी वहाँ का हिन्दी विभाग, हिन्दी शोध, समालोचना और साहित्य रचना के लिए प्रसिद्ध है। क्षितिमोहन सेन को ऐसा वातावरण मिला तभी वे हिन्दी क्षेत्र के मध्यकालीन सन्तों की वाणी का संग्रह कर बांग्ला भाषा के माध्यम से उसे बंगाल के घर-घर में पहुँचा सके।

पीछे कहा जा चुका है कि हिन्दी अपनी सर्वजन ग्राह्यता के कारण पूरे भारत में फैली। इस दृष्टि से क्षितिमोहन सेन के जीवन और कार्य पर विचार करने के पहले यह जानना ज़रूरी है कि अहिन्दीभाषी रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में हिन्दी का प्रयोग क्यों किया और इसके प्रति उनके क्या विचार थे। इस विवेचन से वह पृष्ठभूमि निर्मित होगी जिससे आचार्य क्षितिमोहन सेन की हिन्दी सेवा का विवेचन सही फलक पर किया जा सकेगा।

असम में एक सन्त हुए हैं श्रीमन्त शंकर देव। इनका कार्यकाल १४४९ से १५६८ ईस्वी तक फैला हुआ है। अपने ११९ वर्षीय जीवन में इन्होंने पूरे असम में जागृति की लहर उत्पन्न कर दी। वे एक गीतकार, कवि, नाटककार, नर्त्तक, चित्रकार, अभिनेता, समाज सुधारक, संस्कृति पुरुष और आध्यात्मिक अनुभूति-सम्पन्न सन्त थे। श्रीमन्त शंकर देव का महत्त्व कई दृष्टियों से है किन्तु हिन्दी के परिसर की व्यापकता की दृष्टि से उनका महत्त्व ऐतिहासिक है। इस सन्दर्भ में 'लोहित के मानस पुत्रः शंकर देव' जैसे ग्रन्थ के लेखक सांवर मल सांगानोरिया ने ठीक ही लिखा है : 'अपनी मातृभाषा कामरूपी को सर्वोपरि मानते हुए भी शंकर देव ने यह अनुभव किया कि समस्त भारत को एकसूत्र में बाँधने के लिए सर्वग्राही एक सम्पर्क भाषा होनी चाहिए। आज से पाँच सौ वर्ष पहले और वह भी असम जैसे सुदूर प्रदेश में रहने वाले अहिन्दीभाषी द्वारा ऐसा सोचना उनकी दूरदर्शिता और राष्ट्रीयता का ही तो प्रमाण है। उस समय असमिया भाषा प्रौढ़ हो चुकी थी और उसमें 'सप्तकाण्डी रामायण', 'प्रह्लाद चरित', 'हरगौरी संवाद', 'लव-कुश युद्ध', 'बभ्रुवाहन युद्ध' और 'अश्वमेध पर्व साहित्यिक प्रवेश' तथा 'द्रोण पर्व' जैसे महाकाव्य लिखे जा चुके थे।'

इसके उपरान्त भी श्रीमन्त शंकरदेव ने अपने चिन्तन को कार्यान्वित करते हुए 'सम्पर्क भाषा' के रूप में 'ब्रजावली' नामक नयी भाषा बनायी। 'ब्रजावली' जो तत्कालीन हिन्दी ही है, में उन्होंने अपना पहला गीत लगभग सन् १४८९ ई० में 'मन मोरि राम चरणहि लागि' बदरीनाथ यात्रा में रचा। इस गीत का पूरा रूप इस प्रकार है :

ध्रुपद- मन मोरि राम चरणहि लागु।
तइ देखो ना अन्तक आगु।।

पद- मन आयु क्षणे क्षणे टूटे।
देखो प्राण कोन दिने छूटे।।
मन काल अजगरे गिले।
जान तिलेके मरण मिले।।
मन निश्चय पतन काया।
तइ रामभज तेजि आया।

रे मन इ सब विषय धांधा।
केने देखि ने देखेस आंधा।।
मन सुखे पार कै छे निन्द।
तइ चेतिया चिन्त गोविन्द।।
मन जानिया शंकरे कहे।
देखो नाम बिने गतिं नहे।।

यही नहीं, इस भाषा में उन्होंने अनेक गीतों तथा नौ नाटकों की रचना की। शंकरदेव ब्रजावली के जनक होने के नाते इसके प्रथम साहित्यकार ही नहीं बल्कि प्रथम गद्यकार भी हैं। श्री सांगानेरिया का इस सम्बन्ध में यह कथन युक्ति-युक्त है कि उनके सामने हालाँकि ऐसी कोई विवशता नहीं थी कि तथाकथित कृत्रिम भाषा 'ब्रजावली' का प्रयोग करते। वस्तुतः इसके पीछे उनका निहितार्थ भारत को 'बृहत्तर भाषायी' आधार प्रदान करना ही था। उस समय नेपाल, बिहार, बंगाल, उड़ीसा समेत देश के लगभग पूरे पूर्वी भाग में ब्रज-मैथिली-मिश्रित या इनसे मिलती-जुलती भाषाओं का ही प्रचलन था। यह भाषा असमिया लोगों के लिए भी कठिन न थी (लोहित के मानसपुत्र : शंकरदेव, साँवरमल साँगानेरिया, आत्मकथा, पृष्ठ-१३)। उनके नाटकों की एक विशेषता और है, और वह है पूरे नाटकों में सूत्रधार और अभिनेता द्वारा ब्रजावली गद्य में लिखे कथोपकथनों का लयात्मक रूप में प्रयोग।

भारतचन्द्र राय (१७१२-१७६०) बांग्ला के प्रथम नागर कवि माने जाते हैं। इनकी कीर्ति का आधार इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ अन्नदामंगल है। दर-असल इनके ग्रन्थ का मूल नाम नूतन मंगल है। इसके तीन खण्ड हैं। पहला खण्ड है अन्नदामंगल, पूरा काव्य आजकल इसी नाम से विख्यात है। दूसरा खण्ड है कालिका मंगल अथवा विद्यासुन्दर और तीसरे खण्ड का नाम है अन्नपूर्णामंगल या मानसिंह।

१७७२ ईस्वी में ईस्ट इण्डिया कम्पनी में 'राइटर' अथवा मुहर्रर की नौकरी लेकर भारत की भूमि पर पैर रखा अँग्रेज़ सिविलियन नाथा नियेल ब्रासि हालहेड ने। ये कलकत्ता में रहते थे। ये कई भाषाएँ जानते थे। इन्होंने १७७८ में अँग्रेज़ी में बांग्ला भाषा का व्याकरण प्रकाशित किया- ए ग्रामर ऑफ द बेंगाल लेंग्वेज। बंगाल में आते ही इन्होंने बांग्ला भाषा सीखनी प्रारम्भ की। इनके सामने पन्द्रहवीं, सोलहवीं, सत्रहवीं शताब्दी की प्राचीन पोथियाँ थीं। जिनमें से इन्होंने तीन पुस्तकें चुनीं। एक वृत्तिवास की रामायण। दूसरी काशीदासी महाभारत, तीसरी भारतचन्द्र की कालिका मंगल या विद्या सुन्दर। रामायण और महाभारत दोनों की लोकप्रियता के साथ विद्यासुन्दर की लोकप्रियता भी बंगाली समाज में बरकरार बनी रही। अमित्र सूदन भट्टाचार्य ने 'बांग्ला के प्रथम नागरिक कवि भारतचन्द्र राय' लेख में कहा है : 'भारतचन्द्र अपने काल में ही नहीं अट्ठारवीं शताब्दी पार कर उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में भी बंगालियों के लिए लोकप्रिय बने रहे। उन्नीसवीं शताब्दी में उनकी लोकप्रियता का प्रमाण उनके काव्य के कई संस्करणों का प्रकाशित होना है। स्वयं ईश्वरचन्द्र गुप्त (१८१२-१८५९) और विद्यासागर (१८२०-१८९१) भारतचन्द्र के काव्य के अत्यन्त अनुरागी थे। उन्होंने अपने छापाखाने से दो खण्डों में भारतचन्द्र के अन्नदामंगल को प्रकाशित किया था। यह १८४७ ईस्वी की बात है। किन्तु विद्या सागर आदि के पहले गंगाकिशोर भट्टाचार्य ने जो सचित्र पुस्तक १८१६ ईस्वी में प्रकाशित की थी वह भारतचन्द्र द्वारा लिखी गयी अन्नदामंगल पुस्तक ही थी। विद्यासागर जब फोर्टविलियम कॉलेज में सिविलियनों को बांग्ला पढ़ाते थे तब उन्हें भारतचन्द्र का विद्या सुन्दर पढ़ाना बहुत पसन्द था।

भारतचन्द्र राय का जो प्रामाणिक जीवन वृत्तान्त मिलता है वह ईश्वरचन्द्र गुप्त का ही लिखा हुआ है। ईश्वरचन्द्र गुप्त बांग्ला पत्रिका 'संवाद प्रभाकर' के सम्पादक थे। इन्होंने अपने पत्र में बांग्ला के अनेक प्राचीन कवियों के जीवन वृत्तान्त प्रकाशित किये थे किन्तु पुस्तकाकार उन्होंने भारतचन्द्र का ही जीवन वृत्तान्त प्रकाशित किया था। इसकी भूमिका में ईश्वरचन्द्र ने लिखा था :

'पूर्व में मैंने कई कवियों के जीवनवृत्तान्त को प्रकाशित किया था, गत मास के पहले दिन के प्रभाकर में विश्वविख्यात महाकवि भारतचन्द्र राय गुणाकर के जीवन चरित को प्रकाशित किया था और आज उसी को स्वतन्त्र रूप में एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित कर रहा हूँ। इस पुस्तक में उपर्युक्त कवि के कई उत्कृष्ट पदों को उद्धृत किया गया है, जिनके बारे में अभी तक किसी को पता नहीं था। इसके बाद ईश्वरचन्द्र गुप्त ने जो कुछ लिखा है, उसी को यहाँ उद्धृत करने के लिए इतनी लम्बी भूमिका बाँधी गयी है, क्योंकि आज से तीन सौ वर्ष पहले बांग्ला के इतने लोकप्रिय और विख्यात कवि ने अपने ग्रन्थ में हिन्दी में भी पद-रचना की है। आखिर उसका कारण क्या रहा होगा। इसका स्पष्ट उत्तर है कि भारतचन्द्र राय गुणाकर हिन्दी जानते थे और ईश्वरचन्द्र गुप्त को उनकी हिन्दी-पद रचना इतनी अच्छी लगी कि उन्होंने आज से १००-१५० वर्ष पहले इस बात को रेखांकित किया कि भारतचन्द्र ने हिन्दी में भी रचना की। उन्होंने उल्लेख करते हुए यह कहा कि इस कविता पर आज तक किसी की नजर नहीं पड़ी, न किसी को सुनने को मिली कि उन्होंने अपने काव्य में संस्कृत, बांग्ला, हिन्दी और फ़ारसी भाषा में चमत्कृत करने वाली कविता लिखी है।

भारतचन्द्र पर अमित्र सूदन भट्टाचार्य ने जो लेख (देश, २ फरवरी २०१३ बोई संख्या, पृष्ठ-२६) लिखा है, उसमें मुझे इसी बात ने आकर्षित किया। कोई कवि अपनी मातृभाषा में कविता लिखते समय अगर किसी अन्य भाषा में भी रचना करता है, इसका अर्थ है, उस भाषा का प्रसार उस काल में था और इतना गहरा था कि एक कवि उस भाषा में लिखने के लिए बाध्य हो गया।

बंगाल में पहले से ही व्यापार, तीर्थ यात्राओं, सन्तों की वाणियों आदि के द्वारा हिन्दी का प्रचार-प्रसार था और हिन्दी को सर्वजनसुलभ अखिल भारत व्यापी सम्पर्क का साधन माना जाता था। १७-वीं, १८-वीं शताब्दी में समाज सुधार, शिक्षा प्रसार या धार्मिक जो भी आन्दोलन हुए उनके पुरोधी पुरुषों ने अपनी विचारधारा के प्रसार के लिए हिन्दी को अवश्य माध्यम बनाया। इसका बहुत बड़ा उदाहरण राजा राममोहन राय (१७७२-१८३३) का जीवन और कार्य है। राजा राममोहन राय बहुभाषाविद् थे। वे अँग्रेज़ी के अतिरिक्त बांग्ला, संस्कृत, फ़ारसी, हिन्दी, अरबी, हिब्रू तथा ग्रीक आदि भाषाओं के ज्ञाता थे। उन्हें बांग्ला गद्य का आदि प्रवर्त्तक माना जाता है। उन्होंने हिन्दी के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण काम किया है। 'राजा राममोहन राय' ग्रन्थ के लेखक कार्तिकचन्द्र दत्त ने लिखा है : 'बाँग्ला गद्य के साथ-साथ हिन्दी गद्य के विकास में भी राममोहन की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। हिन्दी भाषा राममोहन के प्रयासों की सदैव ऋणी रहेगी। बहुभाषाविद् राम मोहन बांग्ला के अलावा जिस भाषा में विशेष रुचि ले रहे थे वह हिन्दी या हिन्दुस्तानी भाषा थी। इस भाषा से उनका स्वाभाविक और अन्तरंग परिचय उनके वाराणसी और भागलपुर प्रवासकाल में हुआ। इस भाषा पर भी उनका अच्छा-खासा अधिकार था और वे इस भाषा के महत्त्व को समझते थे, वह इसी तथ्य से स्पष्ट होता है कि उन्होंने जब बांग्ला भाषा में वेदान्त का अनुवाद किया तो साथ-ही-साथ हिन्दी या हिन्दुस्तानी भाषा में भी वेदान्त का अनुवाद प्रकाशित किया। हिन्दी या हिन्दुस्तानी में लिखे उनके प्रमुख ग्रन्थों की तालिका इस प्रकार है :

(१) वेदान्त ग्रन्थ (मूल बांग्ला का अनुवाद) १८१५।

(२) वेदान्त सार (मूल बांग्ला ग्रन्थ का अनुवाद) १८१५।

(३) सुब्रह्मण्यम शास्त्रीर : सहित विचार (हिन्दी संस्करण) १८२०।

इसके अतिरिक्त उन्होंने और भी कई लेख और पुस्तिकाओं का प्रणयन एवं प्रकाशन हिन्दी भाषा में किया था। 'वेदान्त सार' और 'वेदान्त ग्रन्थ' की प्रतियाँ दुर्भाग्य से आज उपलब्ध नहीं हैं। पण्डित क्षितिमोहन सेन ने 'वेदान्त ग्रन्थ' की एक प्रति अपने बचपन में मिर्ज़ापुर के अभयचरण भट्टाचार्य के घर पर देखी थी। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एक लेख में राममोहन की हिन्दी शैली का विशद विवेचन किया था। उनके अनुसार राममोहन ने ही पहले पहल धर्म और दर्शन जैसे गूढ़ विषयों को हिन्दी भाषा में प्रकाशित किया था। जबकि फोर्ट विलियम कॉलेज के शिक्षकों और पण्डितों द्वारा रचित पुस्तकें केवल क़िस्सा, कहानी और ऐतिहासिक रेखाचित्र मात्र थे (वही पृष्ठ- २०४-३०५)।

हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में भी राममोहन की विशिष्ट देन है। उन्होंने 'बंगाल हेराल्ड' के साथ ही इसके बांग्ला, हिन्दी और फ़ारसी संस्करण निकाले। बांग्ला के साथ हिन्दी बंगदूत का प्रकाशन भी १८२९ ईस्वी में हुआ था। बंगदूत के द्वारा राममोहन ने अपने विचारों को हिन्दी भाषी जनता तक पहुँचाया था। उस समय हिन्दी जानने और समझने वालों की बहुत बड़ी संख्या कलकत्ते में निवास करती थी। बंगदूत की हिन्दी का एक नमूना देखिए-

'जो सब ब्राह्मण साँगवेद अध्ययन नहीं करते सो सब व्रात्य हैं, यह प्रमाण करने की इच्छा करके, ब्राह्मण धर्मपरायण श्री सुब्रह्मण्यम शास्त्री जी ने जो पत्र साँगवेदाध्ययन-हीन अनेक इसके ब्राह्मणों के समीप पढ़ाया (भेजा) है, उसमें देखा जो उन्होंने लिखा है- वेदाध्ययनहीन मनुष्यों को स्वर्ग और मोक्ष होने शक्ता नहीं (डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र, हिन्दी पत्रकारिता, भारतीय ज्ञानपीठ, पृष्ठ ५५, संस्करण द्वितीय, १९८५)।

इस सन्दर्भ में कार्तिकचन्द्र दत्त ने ठीक ही लिखा है, 'यह सोचकर आश्चर्य होता है कि आधुनिक भारत के इस संक्रान्ति काल में एक व्यक्ति भारत की दो प्रमुख भाषाओं के निर्माण में समान रूप से अपना योगदान दे रहा था। राममोहन की दूरदर्शिता का परिचय इसी बात से मिलता है कि उन्होंने बांग्ला के साथ हिन्दी भाषा के महत्त्व और सार्वभौम भूमिका को समझा। अपने हिन्दी अनुवादों, लेखों और पत्रकारिता के माध्यम से उन्होंने हिन्दी गद्य के निर्माण, आधुनिकीकरण और उसके स्वरूप को सँवारने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। हिन्दी गद्य के प्रारम्भिक निर्मताओं में राममोहन का नाम सदैव स्मरण किया जायगा (राजा राममोहन राय, जीवन और दर्शन, कार्तिकचन्द्र दत्त पृष्ठ ३०६, लोक भारती, इलाहाबाद, संस्करण (साहित्य अकादमी), १९९१)।

दयानन्द सरस्वती और आर्य समाज का भी हिन्दी के प्रचार-प्रसार में बहुत बड़ा योगदान है। स्वामी जी गुजराती थे और इनका जन्म १८२४ ईस्वी में गुजरात (काठियावाड़) के टंकारा गाँव में हुआ था। आपका कुल औदीच्य वंशीय ब्राह्मण था। आपकी शिक्षा-दीक्षा वंश परम्परा के अनुसार संस्कृत में हुई थी। आपके मन में सच्चे वैदिक धर्म के सिद्धान्तों के प्रचार की इच्छा जाग्रत हुई। इससे आपने देश की सभी धार्मिक संस्थाओं के अध्ययन के लिए पूरे देश का भ्रमण किया। वे बंगाल भी गये और वहाँ के ब्राह्मण समाज से प्रेरित होकर १८७५ ईस्वी में बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की।

अपने विचारों को सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिए उन्होंने हिन्दी सीखी और उसे 'आर्य भाषा' का नाम दिया। पहले

वे संस्कृत के माध्यम से ही अपने विचारों का प्रचार करते थे। कहते हैं प्रसिद्ध ब्राह्म समाज के नेता केशवचन्द्र सेन के कहने पर उन्होंने हिन्दी में भाषण देना प्रारम्भ किया। मुरादाबाद की यात्रा में उनका परिचय वहाँ के रईस राजा जय कृष्णदास से हुआ। इन्हीं की प्रेरणा से उन्होंने अपना प्रमुख 'सत्यार्थ प्रकाश' हिन्दी में लिखा और राजा जयकृष्णदास जी ने ही अपने व्यय से इसे छपवाया। उसके प्रथम संस्करण के मुख पृष्ठ पर लिखा था- 'श्रीयुत राजा जयकृष्ण दासजी की प्रेरणा से रचा गया। सब मनुष्यों के उपकार के वास्ते मनुष्यों का परमहित हृदय में विचार के बहुत प्रीति से स्वामीजी को रचने में प्रवृत्त किया।'

(आधुनिक हिन्दी का आदिलकाल (१८५७-१९०८) पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी, पृष्ठ २४, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद संस्करण, १९७३)।

आर्य समाज और महर्षि दयानन्द सरस्वती की हिन्दी सेवा की दृष्टि से यह कथन ध्यातव्य है : जिन सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों के द्वारा हिन्दी को प्रोत्साहन मिला तथा जिन प्रवृत्तियों का इस दिशा में योगदान रहा है, उनमें आर्य समाज सर्वप्रथम है। यही कारण है कि हिन्दी भाषा अथवा साहित्य का इतिहास लिखने वाले सभी विद्वानों ने हिन्दी भाषा के निर्माण में आर्यसमाज के योग को बहुत महत्त्वपूर्ण माना है। अपने विचारों के प्रचार के लिए उन्होंने पूरे देश का भ्रमण किया। वे एक व्यवहारिक पुरुष थे, उन्होंने अनुभव किया कि इसके लिए उन्हें एक ऐसी भाषा का आश्रय लेना चाहिए, जिसके द्वारा उत्तर, दक्षिण और पूर्व-पश्चिम सभी जगह काम चलाया जा सके और वह भाषा हिन्दी थी। स्वामी दयानन्द ने इस तथ्य को समझकर स्वयं हिन्दी सीखी और यह घोषणा की कि प्रत्येक आर्यसमाजी के लिए हिन्दी पढ़ना आवश्यक है और हिन्दी ही 'आर्यभाषा' अर्थात् समस्त देश की भाषा है। उन्होंने यह भी निर्णय किया कि आर्यसमाज का समस्त साहित्य हिन्दी में प्रकाशित हो और हिन्दी ही इसके प्रचार का प्रमुख माध्यम हो। उनकी मातृभाषा गुजराती थी और वे अँग्रेज़ी नहीं के बराबर जानते थे। हिन्दी के बल पर ही वे विभिन्न प्रान्तों की यात्रा कर सके और बड़ी सभाओं में भाषण दे सके (हिन्दी साहित्य कोश, भाग २, पृष्ठ २२६-२२७ पर डॉ. ज्ञानवती दरबार और डॉ. रामचन्द्र तिवारी की टिप्पणी, ज्ञान मण्डल, काशी, संस्करण १९६३)।

आर्य समाज जैसी संस्था ने पूरे देश में हिन्दी के अनुकूल वातावरण बनाया था। इस दृष्टि से बांग्ला भाषी भूदेव मुखोपाध्याय का अवदान अत्यन्त उल्लेखनीय है। उनका जन्म १८२७ ईस्वी में कलकत्ता में हुआ था और निधन १८९४ ईस्वी में। वे बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय से ग्यारह वर्ष बड़े थे और दयानन्द सरस्वती से तीन वर्ष छोटे। इनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रारम्भ १८३९ ईस्वी में हिन्दू कॉलेज में सप्तम श्रेणी में भर्ती होने से हुआ था। अत्यन्त मेधावी होने के कारण इन्हें शुरू से ही सरकारी वृत्ति मिलती थी। बांग्ला के विख्यात कवि माइकेल मधुसूदन दत्त इनके सहपाठी थे। सरकारी नौकर होते हुए भी ये स्वदेशी शिक्षा के समर्थक थे। इन्होंने बिहार प्रान्त के शिक्षा निरीक्षक के रूप में वहाँ हिन्दी का बहुत प्रचार किया था। इस सन्दर्भ में कहा जाता है कि हिन्दी भाषा की उन्नति और विकास के लिए इनकी देन रेखांकित करने योग्य है। बिहार प्रान्त के शिक्षा विभाग में काम करते समय वहाँ उन्होंने हिन्दी के अनेक स्कूलों को खोला था और हिन्दी पढ़ाने के लिए हिन्दी में कई पाठ्य पुस्तकों की रचना की थी। इन्होंने बांग्ला की कई पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद किया था। उनके ही प्रयास से बिहार की अदालतों में फ़ारसी के स्थान पर हिन्दी लागू हुई थी। यही नहीं संस्कृत भाषा के प्रसार के लिए उन्होंने अपने पिता के नाम से 'विश्वनाथ ट्रस्ट फण्ड' बनाया और उसके द्वारा वे चतुष्पाठी अध्यापकों को वृत्ति देते थे। इनके द्वारा लिखी हुई मौलिक पुस्तकें हिन्दी पाठ्यक्रम में बहुत समय तक पढ़ाई जाती रहीं।

सनातन धर्म से प्रभावित पंजाब के श्रद्धाराम पुल्लौरी (१८३७-१८८१) का हिन्दी के प्रचार-प्रसार और उसके अनुकूल वातावरण बनाने में ऐतिहासिक योगदान है। ये बड़े मेधावी और बहुभाषाविद् थे। इतिहास, पुराण, स्मृति, वेद, उपनिषद्, धर्मशास्त्र पर इनका पूरा अधिकार था। इन्हें पंजाबी, उर्दू, फ़ारसी, अरबी, संस्कृत, हिन्दी, अँग्रेज़ी भाषाओं का इस सीमा तक ज्ञान था कि वे इन भाषाओं की कृतियों का बड़े आराम से हिन्दी, उर्दू, पंजाबी, संस्कृतादि में अनुवाद कर सकते थे। इन्होंने पंजाब, हिमाचल, हरियाणा तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश में मुख्यतः अपने व्याख्यानों द्वारा खड़ी बोली का प्रचार किया। कविता करने की प्रतिभा इनमें जन्मजात थी। फिर भी ये मुख्य रूप से खड़ी बोली गद्य के लेखक हैं। इनकी पुस्तकें उस समय बड़ी लोकप्रिय हुईं और उनका बड़ा प्रचार हुआ।

बंकिमचन्द्र चटर्जी (१८३८-१८९४) एक ऐसे साहित्यकार हुए हैं जिन्होंने हिन्दी को ऐक्य साधन-सूत्र के रूप में स्वीकार ही नहीं किया बल्कि अपनी कविता, उपन्यासों और निबन्धों में हिन्दी शब्दों, वाक्यों, वाक्याशों का प्रयोग भी किया। बंकिमचन्द्र अपने गुरु ईश्वरचन्द्र गुप्त की तरह अच्छी हिन्दी जानते थे। इस सन्दर्भ में डॉ. रामबहाल तिवारी का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्या सागर, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय और रवीन्द्रनाथ केवल बंगाल के ही नहीं समग्र भारत वर्ष के शिक्षा-संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान, समाज-धर्म एवं मानवीय मूल्यबोध तथा नवजागरण के प्राण पुरुष थे। वे देश की समग्र चेतना और ऐक्यबोध के भी उद्गाता थे (बंकिम वीक्षा, रामबहाल तिवारी, पृष्ठ ५०, आनन्द पब्लिशर्स, कलकत्ता)। आगे उन्होंने लिखा है : इस दृष्टि से भाषा भी एक महत्त्वपूर्ण साधन है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्य मनीषीगणों की तरह राममोहन, विद्या सागर, बंकिमचन्द्र और रवीन्द्रनाथ भी यह सोचते थे कि पूरे भारतवर्ष को अगर एक भाषा के सूत्र में बाँधना हो तो इसका माध्यम हिन्दी को ही चुनना पड़ेगा। इसलिए इन सभी लोगों ने अपने-अपने प्रयास से हिन्दी सीखी, हिन्दी साहित्य के साथ यथासम्भव परिचित होने का प्रयास किया और किसी-किसी ने बांग्ला से हिन्दी में और हिन्दी से बांग्ला में अनुवाद भी किया। किसी-किसी ने हिन्दी में लिखने का भी प्रयास किया। उनके प्रयास को देखकर अन्य लोग भी उत्साहित होकर हिन्दी की ओर आकर्षित हुए। परिणाम यह हुआ बांग्ला में हिन्दी अनुशीलन ने नयी गति पकड़ ली और कलकत्ता हिन्दी का प्राण केन्द्र बन गया।

बंकिमचन्द्र अच्छी हिन्दी जानते थे इसका एक प्रमाण भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के प्रहसन, 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, की अपने 'बंगदर्शन' में समीक्षा है। उन्होंने १८३७ ईसवी के सातवें अंक में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५) के नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' के गुण-दोषों का उल्लेख करते हुए लिखा : इस नाटक का उद्देश्य 'हास्यरसिकों के आनन्दार्थ' है। फिर उन्होंने लिखा : हिन्दुस्तानी यदि अब भी लिखना-पढ़ना नहीं सीखेंगे तो और क्या करेंगे। स्थान-स्थान पर मुद्रण यन्त्र लग गये हैं और उन्होंने बंगालियों की तरह पुस्तकें लिखना भी सीख लिया है (बंगदर्शन, १२८०, कार्तिक, पृष्ठ ३२६)। इसके आगे उन्होंने लिखा : अब उनकी श्रीवृद्धि होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं।

किसी भाषा और साहित्य की श्रीवृद्धि का अर्थ उस भाषा-भाषी समाज की श्रीवृद्धि ही है बंकिम के उपर्युक्त कथन से यही बात व्यंजित होती है। राष्ट्रीय एकता के लिए हिन्दी और साहित्य की उन्नति परम काम्य है- इस बात में बंकिमचन्द्र बड़ी दृढ़ता से विश्वास करते थे। उनके अन्य सहयोगी भी इस बात में विश्वास करते थे। बंकिम के साथ इस भावना की अभिव्यक्ति उस समय के अन्य मनीषी भी बंगदर्शन में करते थे। उस समय के एक स्वदेश प्रेमी बंकिम के मित्र नगेन्द्रचन्द्र चट्टोपाध्याय थे, 'भारत की एकता' नामक निबन्ध में सम्भावित सभी तरह की प्रतिकूलताओं को

प्रस्तुत करते हुए अन्त में उन्होंने अनुकूलता की बात कही थी। उन्होंने कहा था एकमात्र हिन्दी भाषा ही इस विराट और विच्छिन्न देश को एकता के सूत्र में बाँध सकती है। डॉ. रामबहल तिवारी ने हिन्दी के प्रति श्रद्धा और उसके विकास में सहयोग देने वालों में भूदेव मुखोपाध्याय के अतिरिक्त केशवचन्द्र सेन, त्रैलोक्यनाथ मुखोपाध्याय एवं राजशेखर बसु का उल्लेख किया है।

हिन्दी सेवियों और राष्ट्रभाषा के प्रचार-प्रसार तथा भारत की विभिन्न भाषाओं के बीच एक सेतु का काम करने वालों में जस्टिस शारदा चरण मित्र का नाम (१८४८-१९१७) उल्लेखनीय है। ये न केवल हिन्दी जानते थे बल्कि इन्होंने देवनागरी अपनाने के लिए 'एक लिपि परिषद्' की स्थापना की और उसके द्वारा आपने 'देवनागर' मासिक पत्र को निकलवाया। 'देवनागर' के पहले अंक में लिखा :

।।श्री।।
देवनागर
श्रीमद्भारतवर्ष भूति भरिनैर्नाना विधे भीषणैः।
पूर्ण भारत भव्य मानव मनो बन्धाय सूत्रं दृढ़म्।।
श्री देवाक्षर दक्षमेक लिपि विस्तारैक वीर नवं।
पत्रं राजति देवनागर मही! गृह्णन्तु तत्कोविदः।।

प्रारम्भ में यह संस्कृत पद्य लिखने के बाद देवनागर मासिक के उद्देश्य और आवश्यकता को प्रतिपादत करते हुए जस्टिस शारदाचरण मित्र ने लिखा : 'मनुष्य स्वभाव से ही एकताप्रेमी है। अद्वितीय परमात्मा का अंश होने के कारण चित्र-विचित्र पटावलम्बित संसार को एकता की सूत्र में गूँथने की इच्छा उसे सदा बनी रहती है। मनुष्य की यही स्वभावजात अभिलाषा भाषाओं को एक करने के विषय में भी चरितार्थ होती है। जगद्विख्यात भारतवर्ष जैसे महाप्रदेश में जहाँ जाति-पाँति, रीति-नीति, मत आदि के अनेक भेद दृष्टिगोचर हो रहे हैं, भाव की एकता रहते भी भिन्न-भिन्न भाषाओं के कारण एक प्रान्तवासियों के विचारों से दूसरे प्रान्तवासियों का उपकार नहीं होगा। परन्तु इस अवस्था में भी जब यह देखा जाता है कि अधिकांश लोग कश्मीर से कुमारिका अन्तरीप और ब्रह्मदेश से गान्धार पर्यन्त हिन्दी या इसके रूपान्तर का व्यवहार करते हैं, तब आशा है कि सबकी चेष्टा अभिरुचि होने से कालान्तर में प्रान्तिक भाषाओं के सम्मिलन से एक सार्वजनिक नूतन भाषा का आविर्भाव हो जायगा। कारण यह कि भारत की सभी प्रान्तिक भाषाएँ एक ही जननी संस्कृत से उत्पन्न हैं। यह कार्य थोड़े समय में नहीं हो सकता इसके लिए प्रत्येक प्रान्त के निवासियों को तन-मन-धन से चेष्टा करनी होगी।'

इतना लिखने के बाद उन्होंने आगे लिखा : इन्हीं विचारों से उत्तेजित हो राजधानी कलकत्ते से कतिपय सुशिक्षित बुद्धिमानों ने 'एक लिपि विस्तार परिषद्' नाम की संस्था स्थापित की है जिसका उद्देश्य है भारत की भिन्न-भिन्न प्रान्तिक भाषाओं को यथासाध्य यत्नों द्वारा देवनागराक्षरों में लिखने और छापने का प्रचार बढ़ाना जिससे कुछ समय के अनन्तर भारतीय भाषाओं के लिए एक सामान्य लिपि प्रचलित हो जाय।

फिर उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा : इस पत्र का मुख्य उद्देश्य है भारत में एक लिपि का प्रचार बढ़ाना और वह एक लिपि देवनागराक्षर है (हिन्दी पत्रकारिता, डॉ. कृष्णबिहारी मिश्र, पृष्ठ ४८७-८८ तथा ८९ पर देवनागर के प्रथम अंक से उद्धृत)।

इसके बाद नलिनी मोहन सान्याल (१८६१-१९५१), अमृतलाल चक्रवर्ती (१८६३-१९३६), नगेन्द्रनाथ वसु (१८६६-१९३८) ऐसे हिन्दी सेवी हुए हैं जिन्होंने जीवन भर हिन्दी का काम किया और परिस्थितियों ने ऐसा अनुकूल वातावरण बनाया कि रामानन्द चटर्जी (१८६५-१९४३) ने चिन्तामणि घोष को हिन्दी में 'सरस्वती' जैसी पत्रिका निकालने की प्रेरणा दी और स्वयं १९२७ में 'विशाल भारत' जैसे हिन्दी मासिक की योजना बनायी जिसका पहला अंक १९२८ में पं. बनारसीदास जैसे सम्पादक की देख-रेख में निकला और आगे चलकर शान्तिनिकेतन में हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए हिन्दी भवन जैसी संस्था बनी जिसके मूल में रवीन्द्रनाथ स्वयं थे।

वक़्त की नब्ज़ को पहचानना कोई बंगाली से सीखे। उनके हिन्दी प्रेम को देखकर अचरज होता है। नलिनी मोहन सान्याल ने जीवन भर हिन्दी की सेवा की। वे वनस्पतिशास्त्र में एम.ए. (१९२१) थे। बाद में उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम.ए. किया और प्रथम श्रेणी में प्रथम रहे। इन्होंने ८२ वर्ष की उम्र में कलकत्ता विश्वविद्यालय से हिन्दी में पी-एच.डी. की। सारे विश्वविद्यालयों में हिन्दी में यही पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने डॉक्टरेट की। इनके शोध का विषय था 'बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति और विकास'। उन्होंने आगे चलकर 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान की उपक्रमणिका' शीर्षक से एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी थी। इलाहाबाद के रामनारायण लाल ने यह ग्रन्थ प्रकाशित किया था। हिन्दी और बांग्ला की अनेक पत्र-पत्रिकाओं में उनकी कहानियाँ और लेख प्रकाशित होते रहते थे। 'भक्तप्रवर महाकवि सूरदास' इनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इन्होंने मीराबाई की जीवनी अँग्रेज़ी में लिखी थी। 'भारतीय हिन्दी परिषद्' के ये मान्य सदस्य थे। 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' में इनकी चित्र प्रतिमा लगी हुई है।

रामानन्द चटर्जी ने किस प्रकार चिन्तामणि घोष को सरस्वती जैसी हिन्दी में पत्रिका निकालने की प्रेरणा दी और स्वयं 'विशाल भारत' निकाला इसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। यही नहीं हिन्दी की गतिविधि पर उनकी बराबर नज़र रहती थी, इसका प्रमाण है 'प्रवासी' (बांग्ला) में लिखे उनके हिन्दी-विषयक सम्पादकीय। १९१८ में हुए इन्दौर सम्मेलन (हिन्दी साहित्य सम्मेलन का आठवाँ अधिवेशन, जिसकी अध्यक्षता महात्मा गाँधी ने की थी) पर टिप्पणी करते हुए रामानन्द चट्टोपाध्याय ने १३२५ वैशाख के अंक में प्रवासी में लिखा था-

'बंगीय साहित्य सम्मेलन के जो सब उद्देश्य होते हैं, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के उनके अलावा दो मुख्य उद्देश्य और हैं- (१) नागरी लिपि को समस्त भारतीय भाषाओं की लिपि बनाना (२) हिन्दी को भारतवर्ष के जन सामान्य की भाषा बनाना। समग्र भारत में अगर एक ही लिपि और एक ही भाषा होती तो निश्चय ही अनेक सुविधाएँ हो जातीं, अगर भविष्य में सारे देश में एक ही लिपि और एक ही भाषा हो गयी तो काफ़ी सुविधाएँ हो जाएँगी। एक लिपि और एक भाषा का प्रसार, इन दोनों की चेष्टाएँ पृथक्-पृथक् रूप से की जानी चाहिए। क्योंकि सारे देश में एक ही भाषा का व्यवहार करने का यह अर्थ नहीं है कि भारतवर्ष में तमिल, तेलुगु, गुजराती, मराठी, उड़िया, बांग्ला आदि भाषाओं का प्रचलन, फिर बातचीत और लिखने-पढ़ने में नहीं रह जाएगा, लोग घरों में और बाहर बातचीत केवल हिन्दी में करेंगे और चिट्ठी-पत्री और पुस्तकें आदि हिन्दी में ही लिखेंगे; इस प्रयास का अर्थ यह है कि अन्यान्य भाषाओं का व्यवहार जिस प्रकार किया जा रहा है, वैसा ही रहे, केवल भिन्न-भिन्न प्रदेशों के लोगों में बातचीत, व्यापार, भाव और विचारों के विनियम आदि के लिए हिन्दी का प्रयोग किया जाएगा और सभी प्रदेशों के व्यक्ति मातृभाषा के अलावा यह भाषा भी सीखेंगे।' रामानन्द बाबू ने आगे लिखा है कि इसका अर्थ मैंने यही समझा है, इसलिए इसका समर्थन भी करते हैं। उन्होंने अन्त में एक महत्त्वपूर्ण सूचना यह भी दी कि इन्दौर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में पटियाला की प्रवासी बंगाली हेमन्त कुमारी चौधुरानी ने एक घण्टा लगातार अच्छी हिन्दी में भाषण देकर श्रोताओं का आदर और

सम्मान प्राप्त किया था। यह बांगलियों के लिए आह्लाद का विषय है (प्रवासी, इतिहास की धारा, खण्ड-१, सम्पादक-शंकरी प्रसाद वसु, सुदीप वसु, पश्चिम बंग बांग्ला अकादमी, कलकत्ता, पृष्ठ ४१३-१४, संस्करण, जनवरी २००६)।

'प्रवासी' के पन्ने उलटते-पुलटते हिन्दी से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी और मिली, जिससे विदित होता है कि रामानन्द बाबू की दृष्टि हिन्दी और उसके विकास में बंगालियों के योगदान पर अवश्य रहती थी। १३४६ कार्तिक बंगाब्द अर्थात् १६३६ में उन्होंने 'प्रयाग बंग साहित्य सम्मेलन में पारित कुछ प्रस्ताव' में लिखा : तीसरे जिस व्यक्ति का नाम मुझे लेना है, उसका नाम है चिन्तामणि घोष। उन्होंने उनके जनहितकारी कृतित्व का उल्लेख करते हुए कहाः उन्होंने पहली उच्चश्रेणी की हिन्दी मासिक पत्रिका सरस्वती का प्रारम्भ किया। विख्यात हिन्दी लेखक स्वर्गीय पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी को उन्होंने उसका सम्पादक नियुक्त किया। द्विवेदी जी के सम्पादन काल में वह सर्वश्रेष्ठ हिन्दी पत्रिका थी। चिन्तामणि बाबू ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा के साहित्यकारों द्वारा सम्पादित तुलसीकृत रामायण का पहला प्रामाणिक संस्करण कई हज़ार रुपया खर्च कर प्रकाशित किया था। काशी नरेश ने रामायण की इस पाण्डुलिपि को लक्षाधिक रुपया व्यय कर जिन सब चित्रों से अलंकृत किया था, चिन्तामणि बाबू ने उनमें से कई चित्रों की प्रतिलिपियाँ इस संस्करण में प्रयोग की थीं (वही पृष्ठ ४११)।

अभी तक जो विवेचन किया गया है, वह सब इसलिए कि हिन्दी का परिसर कितना व्यापक और सर्वजन स्वीकृत और व्यवहृत था। विशेष रूप से बंगाली साहित्यकारों द्वारा। इसका एक कारण हिन्दी की अधिकांश पत्र-पत्रिकाएँ या दैनिक कलकत्ते से ही निकले। हिन्दी पत्रकारिता की जन्मभूमि इसीलिए बंगाल को कहा जाता है। इसी ने वह पृष्ठभूमि निर्मित की जिससे रवीन्द्रनाथ ने शान्तिनिकेतन में हिन्दी भवन की स्थापना की। यद्यपि हिन्दी का पठन-पाठन यहाँ उसके बहुत पहले १६२०-२१ में ही हो गया था। पं. बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखा है : १६२०-२१ में चौदह महीने मैं शान्ति-निकेतन में रहा और महात्मा जी के आदेश पर बम्बई चला गया। वहाँ मुझे विधु शेखर भट्टाचार्य, क्षितिमोहन सेन, गुरुदेव ने ज्येष्ठ भ्राता, बड़े दादा द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर, काका साहेब कालेलकर, आचार्य किशोरीलाल मशरूवाला, आचार्य गिडवानी, धर्मानन्द कौशाम्बी के दर्शन हुए थे। उन्होंने क्षितिमोहन सेन वाले अपने संस्मरण में लिखा है : आचार्य क्षितिमोहन सेन के प्रथम दर्शन मुझे शान्तिनिकेतन में मई सन् १६१८ में तब हुए थे, जब मैंने शान्तिनिकेतन की प्रथम यात्रा की थी। चूँकि आचार्य क्षितिमोहन सेन का जन्म काशी में हुआ था, जहाँ उनके पिता जी एक सुप्रसिद्ध वैद्य थे, अतः वह हिन्दी खूब बोल लेते थे। हम दोनों की बातचीत भी हिन्दी में हुई। जब मुझे ज्ञात हुआ कि उन्होंने पिछले पच्चीस-तीस वर्ष हिन्दी के सन्त कवियों के विषय में अनुसन्धान करते और लिखते हुए बिताए हैं, तो मैंने धृष्टतापूर्वक कहा, 'अपनी सामग्री के कुछ अंश मुझे भी दीजिए ताकि मैं एक लेख लिख सकूँ।' आचार्य जी ने मुस्कराते हुए उत्तर दिशा, 'आप भी हमारे बंगाली लेखकों की नकल कर रहे हैं जो बिना परिश्रम किये दूसरों के द्वारा संग्रहीत सामग्री का उपयोग करके ही पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त करना चाहते हैं। आप तो हिन्दी भाषा-भाषी हैं, आपका कर्त्तव्य है कि आप सन्त कवियों पर कुछ खोज करके मेरी सहायता करें। आप उलटे मेरे द्वारा संग्रहीत सामग्री का उपयोग करना चाहते हैं।' महापुरुषों की खोज में, पं. बनारसीदास चतुर्वेदी, भारतीय ज्ञानपीठ, पृष्ठ ८१, संस्करण १६८३)।

बनारसीदास चतुर्वेदी और क्षितिमोहन सेन के बीच जो बातचीत हुई उससे दो बातें स्पष्ट हैं- एक है उनका हिन्दी ज्ञान और दूसरी है अनुसन्धान में उनकी मौलिक दृष्टि। उन्होंने अपने जीवन में ५२ वर्ष शान्तिनिकेतन में बिताये और इसमें भी ३२ वर्ष प्रत्यक्ष रूप से रवीन्द्र-सान्निध्य में। उनके जीवन के दो भाग हैं। एक है उनकी जन्मभूमि काशी का जीवन, दूसरा है काशी के बाद शान्तिनिकेतन का उनका जीवन। काशी में उनके पूर्वज कैसे पहुँचे इसकी कहानी

कहने के पहले यह जानना ज़रूरी है कि क्षितिमोहन सेन शान्तिनिकेतन में कैसे पहुँचे और वहाँ का वातावरण हिन्दी के अनुकूल कितना था और इस अनुकूलता के पीछे स्वयं रवीन्द्रनाथ का योगदान कितना था। इस लेख का विवेच्य वे दोनों परिसर हैं जिन्होंने क्षितिमोहन सेन को हिन्दी सन्त साहित्य और बाउलों पर अनुसन्धान करने की प्रेरणा दी उनमें एक है काशी का परिसर, दूसरा है शान्तिनिकेतन का, जिसका संकेत ऊपर किया गया।

१९२० में रवीन्द्रनाथ ने क्षितिमोहन सेन को एक पत्र में लिखा : मैं आजकल जिस विश्वविद्यालय का संकल्प लेकर काम कर रहा हूँ, वह संकल्प कहीं व्यर्थ न हो जाये, इसके लिये आप सबको उसमें सहयोग देना होगा। मैं एक बहुत बड़े यज्ञ का आयोजन कर रहा हूँ, इसमें हमारे देश के बन्धु अगर एकत्र होंगे, तभी मैं विदेशी अतिथियों का आह्वान कर पाऊँगा। मैं एक दूत की तरह उन्हें न्योता पहुँचा सकता हूँ, किन्तु आयोजन तो आप लोगों के द्वारा सम्पन्न होगा। भारतवर्ष में एक दिन दूर देश के अतिथियों का समागम होता था- उस युग में विश्व के साथ उसका योग था। उस अतिथिशाला के द्वार बहुत दिनों से अवरुद्ध हैं, उसकी दीवारें विदीर्ण हो गयी हैं। उस अतिथिशाला को हमें नये रूप में गढ़ना होगा- और अपनी माँ अन्नपूर्णा के भण्डार के द्वार खोलकर अन्न लाना होगा। मैं यहाँ यह कहता हुआ घूम रहा हूँ, कि हमारे घर में अन्न है, उसे प्रमाणित करने का भार आप लोगों पर है। दूसरे देशों के लोग मेरा निमन्त्रण स्वीकार कर लेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है- किन्तु, जब यज्ञशाला में सभी लोग उपस्थित होंगे, तब कोई भूखा न रहे, यह चिन्ता हम सब लोगों को करनी होगी। मैं तो कवि हूँ, द्वार पर बैठकर शहनाई भर बजा सकता हूँ, किन्तु परोसने की शक्ति क्या हमारे पास है? (रवीन्द्रनाथ का ३० नवम्बर १९२० का लिखा पत्र)

उनके इसी आह्वान से प्रेरित होकर क्षितिमोहन सेन ने गुरुदेव के ज्ञान यज्ञ में योग दिया था। क्षितिमोहन सेन ने मध्यकालीन सन्तों की वाणी की जो खोज की इसके पीछे गुरुदेव की प्रेरणा थी, शान्तिनिकेतन जाने के पहले क्षिति बाबू सन्तों के बारे में कुछ नहीं जानते थे, ऐसा नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गुरुदेव ने उन्हें इस ओर प्रोत्साहित किया था किन्तु, सन्तों की वाणी के संग्रह का काम उनका पहले से ही चल रहा था। शान्तिनिकेतन में गुरुदेव के दो पार्षद थे एक विधुशेखर भट्टाचार्य और दूसरे क्षितिमोहन सेन। विधुशेखर महाशय तो बीच में शान्तिनिकेतन छोड़कर चले गये थे पर, क्षितिमोहन सेन आजीवन, गुरुदेव के जाने के बाद भी शान्तिनिकेतन में बने रहे।

क्षितिमोहन सेन का परलोक गमन १२ मार्च १९६० में हुआ था। उस समय विभिन्न लोगों ने उनके प्रति जो श्रद्धांजलि अर्पित की उससे उनके व्यक्तित्व की एक झलक मिलती है। उनके व्यक्तित्व की गरिमा को जानने के लिए उन उद्‌गारों का अनुशीलन बहुत आवश्यक है। सुबोधचन्द्र गंगोपाध्याय ने २० मार्च के 'युगान्तर' में लिखा : 'भारत की प्राचीन शिक्षाधारा को जिन कुछ वरेण्य मनीषियों ने अपने ज्ञानैश्वर्य से बंगाल में समृद्ध और अपनी मनीषा से उज्ज्वल किया था, उनमें क्षितिमोहन सेन अप्रतिम थे, कई वर्ष पहले आचार्य योगेश्चन्द्र विद्यानिधि और आचार्य यदुनाथ सरकार का भी तिरोधान हो चुका था। इसी परिप्रेक्ष्य में साहित्यकार प्रकाशनाथ विशी ने लिखा था : ''बांग्ला देश का यह दुर्भाग्य है कि जो आलोक बुझ जाता है, उसकी जगह नया आलोक नहीं जलता है। आचार्य क्षितिमोहन सेन के जाने से उत्पन्न शून्यता भी कभी पूरी नहीं होगी, और जैसे-जैसे दिन बीतते जाएँगे इस शून्यता का परिणाम बढ़ता जाएगा। उस अथाह शून्यता के किनारे खड़े होकर लोगों को यह अनुभव होगा कि कितने बड़े इन्द्रोपम व्यक्तित्व का पतन घट गया है।

बहुभाषाविज्ञ और पण्डित मुजतर्वा अली विधुशेखर शास्त्री और क्षितिमोहन सेन दोनों के ही कृती छात्र थे। इन्होंने अपने एक संस्मरण में लिखा था : 'भारतीय संस्कृति, सभ्यता, धर्म, दर्शन, काव्य, अलंकार इन विषयों के बारे में

उन्होंने (रवीन्द्रनाथ ने) सर्वाधिक चर्चा की थी इन दोनों पण्डितों के साथ : अर्थात् स्वर्गीय विधुशेखर शास्त्री और क्षितिमोहन सेन से। इस विश्वभारती के निर्माण में रवीन्द्रनाथ के मुख्य उत्साहदाता और सचिव थे विधुशेखर शास्त्री और क्षितिमोहन सेन (संगीत में दिनेन्द्रनाथ, चित्रकला में नन्दलाल)। अपने इसी स्मृतिचारण में मुजतबा अली ने लिखा है : आज विश्वभारती केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रदत्त आर्थिक सहायकता पर निर्भर है, किन्तु उसका मूल्य चाहे जितना क्यों न हो, विधुशेखर, क्षितिमोहन ने जो मूल्यवान धन अपने गुरुदेव के चरणों में अर्पित किया था, उसी पर निर्भर होकर चिन्मय, मृण्मय ध्यान और कर्मकाण्ड में आज का ब्रह्मचर्याश्रिम और विश्वभारती उद्दीप्त है। इनके प्रति विश्वभारती चिरऋणी रहेगी (गुरुदेव और शान्तिनिकेतन, मित्र ओ घोष, पृष्ठ ६१-६२), सुनीति कुमार चटर्जी ने लिखा था : 'उनका स्नेह और उपदेश मेरे जीवन के पाथेय थे। अनेक विषयों में उनका पाण्डित्य और प्रतिभा मुझे आकर्षित करती थी।' आचार्य सत्येन्द्रनाथ वसु ने आश्रम जीवन में क्षितिमोहन सेन की क्या भूमिका थी, उसका उल्लेख करते हुए कहा है : उनकी उपस्थिति आश्रमवासियों को प्रेरणा देती थी, मन में बल का संचार करती थी, शान्तिनिकेतन के आश्रमिक जीवन के वे मुख्य अवलम्बन थे (आनन्द बाजार पत्रिका, १३ मार्च १९६०)।

उनकी मृत्यु के तुरन्त बाद लिखे अपने निबन्ध में सैयद मुजतबा अली ने कहा था,-'वस्तुतः ऐसे बहुमुखी प्रतिभाशाली व्यक्ति सभी देशों में बिरल होते हैं। कोई तो उन्हें संस्कृत के पण्डित के रूप में जानता था, कोई मध्ययुगीन सन्तों के प्रचारक के रूप में, कोई रवीन्द्र प्रतिभा के सम्यक् रसज्ञ और उसके भाष्यकार के रूप में, कोई बौद्ध धर्म के लुप्त चीनी रूप के उद्धारकर्त्ता के रूप में, कोई बाउल फकीरों के गूढ़ रहस्य से ढके तत्त्वज्ञान को उन्मुक्तकारक के रूप में, कोई शब्द तत्त्व की अपार परिधि को पार करने वाले तैराक के रूप में, कोई सुख-दुःख के अवसरों पर होने वाले वैदिक कर्मकाण्ड कराने वाले पुरोहित के रूप में, कोई इस आश्रम के अनुष्ठानों आदि को भारत के प्राचीन ऐतिह्य के अनुरूप आकार देने के लिए उपयुक्त वैदिक मन्त्रों को वैदिक साहित्य से चुनकर लाने में रत एक ऋषि के रूप में- किन्तु, हम लोग उन्हें एक गुरु के रूप पहचानते थे।' इन सब विचित्र गुणों से पूर्ण अपने गुरु का सम्यक परिचय देने में असमर्थ होकर मुस्तफा अली अन्त में कहते हैं : हम लोग जो बचपन से ही क्षितिमोहन सेन की स्नेहच्छाया में बड़े हुए हैं एवं सभी आश्रमवासी जो उस दिन तक यहाँ के सर्वजनपूज्य आचार्यश्रेष्ठ के रूप में (उन्हें) पाकर संकटों से उबारने वाले सर्वश्रेष्ठ कर्णधार और आनन्द के सर्वश्रेष्ठ अधिकारी के रूप में जानकर मन-ही-मन गहरी परितृप्ति का अनुभव किया करते थे, आज उनका शोक सबसे अधिक है (वही, पृष्ठ १०४)।

प्रणति मुखोपाध्याय ने उनके बारे में ठीक ही कहा है कि क्षितिमोहन सेन, रवीन्द्रनाथ के एक असामान्य अविष्कार थे। किस प्रत्याशा से उन्होंने हठपूर्वक १९०८ में उन्हें लाकर शान्तिनिकेतन में प्रतिष्ठित किया था, उसका वृत्तान्त कभी खो नहीं सकता है। दूसरी ओर प्रत्यक्ष परिचय के बहुत पहले से ही जिसे बड़े सम्मान के साथ अपने हृदय सिंहासन पर बैठाल रखा था, उन्हीं रवीन्द्रनाथ के प्रति क्षितिमोहन सेन की श्रद्धाभक्ति और प्रेम की कोई सीमा नहीं थी। एक शिष्य में गुरु के आज्ञापालन और उनके आनुगत्य का जो भाव होता है, उसी रूप में वे रवीन्द्रनाथ को मानते थे। एक बार अपने तरुण सहकर्मी अध्यापक हीरेन्द्रनाथ दत्त से उन्होंने कहा था, 'देखो, हम लोग मिट्टी के लोंदे थे, गुरुदेव ने हमें अपने हाथों में लेकर पीट-पीट कर गढ़ा है।' पर, हीरेन्द्रनाथ क्षितिमोहन सेन की यह बात नहीं मान सके। उनके मन में इसकी ठीक उल्टी बात आयी थी : क्षितिमोहन सेन मिट्टी के लोंदे नहीं थे, वे सोने के पिण्ड थे। रवीन्द्र प्रतिभा के बाहरी संस्पर्श से उस स्वर्ण की आभा और उज्ज्वल हो उठी। क्षितिमोहन सेन की प्रतिभा की खोज उन्होंने ही की थी एवं प्रतिभा को उद्दीपित करने के लिए जिस उत्साह और प्रेरणा की आवश्यकता होती है, उसे भी उन्होंने ही जगाया था। इस पर भी मैं कहूँगा, क्षितिमोहन सेन बाबू केवल पाण्डित्य में ही नहीं, अन्यान्य जिन सब असाधारण

गुणों के अधिकारी थे, उनके कारण उनकी प्रतिभा का स्फुरण किसी भी स्थान, काल और परिस्थिति में हो सकता था। प्रणति मुखोपाध्याय ने यथार्थ ही कहा है, पता नहीं विधाता के मन में क्या था, जिससे उनकी जीवन साधना का मुख्य आसन शान्तिनिकेतन में ही बिछाया गया, और कहीं नहीं। ऐसा लगता है जैसे और कुछ हो ही नहीं सकता था। क्षितिमोहन सेन के भाग्यनियन्ता ने उनकी जीवन-नौका को लाकर शान्तिनिकेतन के घाट पर ही लगाया था। तभी से वे शान्तिनिकेतन के बने रहे और शान्तिनिकेतन उनका बना रहा (क्षितिमोहन और अर्द्धशताब्दी शान्तिनिकेतन, पृष्ठ ४, पश्चिम बंग बांग्ला अकादमी, कलकत्ता, संस्करण १९९९)।

अब देखना यह है कि क्षितिमोहन सेन की ऊपर जो छबि उकेरी गयी है उसकी पृष्ठभूमि क्या थी, क्योंकि केनवस पर जो चित्र बनाया जाता है वह संगतिपूर्ण पृष्ठभूमि में ही उभरता है। अर्थात् शान्तिनिकेतन आने के पूर्व उनकी शिक्षा-दीक्षा कहाँ हुई, उनके पूर्वज, माता-पिता कौन थे, उनका संस्कार, रुचि, प्रवृत्तियाँ कैसी थीं।

वे अपने को काशी का मनुष्य कहते थे। आखिर वे कैसे आये काशी। इसके पीछे एक रोचक कहानी है।

क्षितिमोहन सेन के पूर्वज पूर्वी बंगाल में रहते थे। ढाका जिले में विक्रमपुर इलाके में एक सोनारंगा नाम का गाँव है। यह गाँव वैद्यों की बस्ती थी और बड़ा समृद्धशाली था। इसी गाँव के एक प्रसिद्ध अध्यापक के वंश में १८८० ईस्वी में क्षितिमोहन सेन का जन्म हुआ था। इस गाँव में संस्कृत अनुशीलन की प्राचीन परम्परा थी। उनके परिवार की निष्ठावान, आचारपरायण के रूप में ख्याति थी। इससे भी अधिक ख्याति थी पाण्डित्य के कारण पर अर्थ की प्रचुरता इनके यहाँ नहीं थी। पूर्वी बंगाल से उनके वंशधर काशी क्यों चले आए इसका एक रोचक वृत्तान्त है। उनके पितामह कविराज राममणि शिरोमणि बहुशास्त्रविद् थे। उनकी जन्म कुण्डली में बहत्तरवें वर्ष में मृत्युयोग है, इसलिए उसके पहले ही वे काशी इसलिए चले आए ताकि उन्हें यहीं गंगा लाभ हो। मज़ेदार बात यह है कि इसके बाद भी वे पच्चीस वर्ष जीवित रहे और यहाँ अध्यापन करते रहे। क्षितिमोहन के पिता भुवनमोहन अपने पिता राममणि के साथ काशी चले आये। क्षितिमोहन सेन ने लिखा है : मेरे पिता चिकित्सक थे। पितामह जब देश के निवास को समाप्त कर मृत्यु की प्रतीक्षा में आकर काशी में रहने लगे तो मेरे पिता भी उनके साथ रहने के लिए काशी चले आये। भुवन मोहन के चार पुत्र और एक कन्या थी- अवनी मोहन, धरणी मोहन, क्षितिमोहन, मेदिनी मोहन और प्रमोदिनी। क्षितिमोहन के पिता दीर्घ काल तक जीवित रहे थे किन्तु उन पर अपनी माँ दयामयी देवी का गहरा प्रभाव था। क्षितिमोहन का पितृवंश रुढ़िवादी था किन्तु दयामयी खुले दिमाग की थी। रवीन्द्रनाथ ने जब उन्हें शान्तिनिकेतन बुलाया तब पिता ने तो विरोध किया था, किन्तु माँ ने उन्हें प्रोत्साहित किया था। क्षितिमोहन सेन को काशी बहुत प्रिय थी। वे कहा करते थे, काशी मेरी जन्मभूमि है, शिक्षाभूमि है और गुरु स्थान है। यहाँ के लिए मैं सदा बालक ही बना रहता हूँ।

भारतीय संस्कृति का केन्द्र बिन्दु काशी है। इस सम्बन्ध में क्षितिमोहन सेन का कहना है : यह साधना का राज्य है। सभी देशों के समान अंश को लेकर काशी को तैयार किया गया है, यह ज्ञाननगरी है, तपोभूमि है। वैदिक काशी कहाँ थी, इसका तो मुझे पता नहीं है, फिर भी यह नगरी निश्चय ही बुद्ध, शंकर, रामानुज, रामानन्द, तुलसी और कबीर की है। अहिल्याबाई और रानी भवानी की यह काशी है। काशी के प्रति उनका प्रबल आकर्षण सदा बना रहा। वे कुछ भी लिखें, किसी-न-किसी व्याज से काशी का प्रसंग आ ही जाता था। बचपन से ही इस नगर में उनका अबाध विचरण था। काशी की गंगा, उसके तीर पर स्थित नये-पुराने सभी घाट, विश्वनाथ- अन्नपूर्णा के मन्दिर, दुर्गाबाड़ी, और भी असंख्य छोटे-बड़े सभी देवालय, कितने साधकों के साधना पीठ, कितने शत सम्प्रदायों के मठ- इस परिमण्डल में ही उनका बचपन कैशोर बीता था। काशी के सारे इलाके उनके जाने-पहचाने थे, सारे रास्ते घाट उनके जाने हुए थे।

काशी का उन पर क्या प्रभाव पड़ा इसका उल्लेख करते हुए प्रणति मुखोपाध्याय का कहना है : एक तेजस्वी वृक्ष की तरह काशी के परिमण्डल में उनका मन विकसित होने लगा। बड़े होने पर बड़ी श्रद्धा के साथ वे याद करते थे, काशी में उन्होंने ज्ञान उन्मेष के उन दिनों, ऐसे सब व्यक्तियों की कथा सुनी है, ऐसे सब मनुष्यों को अपनी आँखों से देखा है, जिनमें किसी तरह की संकीर्णता का अवरोध था ही नहीं। उस उदार दृष्टि का उन पर जो प्रभाव पड़ा, उसने उनकी दृष्टि को कभी अन्धा नहीं होने दिया, सब कुछ को वहीं उन्होंने मुक्तमन से देखना सीखा। सम्भवतः इसी कारण से धर्म तान्त्रिकता के मोह ने जैसे उनके जीवन को आच्छन्न नहीं किया, संस्कार मुक्त मन की अति पवित्रता की कट्टरता भी उनके मन की सहज गति में बाधा बनकर नहीं खड़ी हुई। तैलंग स्वामी जैसे सन्त की स्मृति भी क्षितिमोहन सेन को सदा बनी रही। वे शिशुवय में उनके कन्धे पर चढ़ जाते थे, उनके पैरों पर बैठते थे। वे बड़े स्नेह से मिठाई खिलाते थे। सम्भवतः इसी प्रभाव ने उन्हें साधु संग को प्रेरित किया और वे आजीवन साधुओं के साथ घुल-मिलकर उनकी वाणी का संग्रह करते रहे (वही पृष्ठ ६)।

क्षितिमोहन सेन ने काशी में रहते समय बचपन से ही पूरे भारतवर्ष को प्रत्यक्ष देख लिया था। सारे प्रदेशों के लोग यहाँ तीर्थ करने आते थे, अन्तिम दिनों में काशी में मृत्यु हो इस अभिलाषा से आकर यहाँ वास करते थे, फिर भिन्न प्रदेशों से आकर वंशानुक्रम से जो यहीं रहने लगे थे, वे लोग काशी के भी हो जाते थे और अपनी-अपनी देशज सामाजिक, धार्मिक प्रथाओं तथा आचार-विचारों को सुरक्षित रखते थे। इसलिए एक ही स्थान में क्षितिमोहन सेन को भारत के सभी तरह के लोगों को देखने का अवसर मिल गया था। भारत की अनेक भाषाओं के साथ यहीं उनका परिचय हो गया था। वे भारत की अनेक भाषाओं को जानते थे, इसका सूत्रपात भी यहीं हुआ था।

इस सम्बन्ध में क्षितिमोहन सेन ने स्वयं लिखा है : 'अपने बचपन में जब मुझमें भारत से बाहर जाने की सामर्थ्य नहीं थी, उस समय अनेक देशों के तीर्थयात्रियों के पास बैठकर उनकी कहानियाँ सुना करता था। 'सुनना' शब्द ठीक नहीं है, क्योंकि सुनता नहीं उन्हें निगलता जाता था। मेरा जन्म काशी में हुआ था। वहाँ पर भारत के सभी प्रदेशों के यात्री आते हैं। उनमें से बहुत से यात्री भारत से बाहर तिब्बत, मंगोलिया, चीन, रूस, तुर्की, फ़ारस, अरब, मिश्र आदि देशों की भी तीर्थयात्रा करते थे। सन्यासी, योगी, गुसाईं आदि साधु इन सब विषयों में बहुत आगे थे। जिन सब मठों, धर्मशालाओं में ये आ कर ठहरते थे, वहाँ मेरा आना-जाना सदा बना रहता था। अनेक देशों और तीर्थों के कुछ-कुछ चिह्न वे धारण करते थे और कुछ को वे लेकर चलते थे। इन्हीं के द्वारा वे यह जान लेते थे कि एक-दूसरे ने कितनी यात्राएँ की हैं और उनकी तीर्थ-यात्रा का फैलाव कहाँ तक है।' (चीन देशे बौद्धतीर्थ, क्षितिमोहन सेन, आनन्द बाज़ार पत्रिका, शारदीया संख्या, १३४६)।

क्षितिमोहन सेन जिस काल में काशी में रह रहे थे, उस समय के बारे में प्रौढ़ावस्था में कहा करते थे-

काशी का वह युग एकदम साधना और पाण्डित्य का महायुग था। वामनाचार्य, बाल शास्त्री, गंगाधर, दामोदर बापूदेव, सुधाकर, कैलाशचन्द्र, राम शास्त्री, शिव कुमार, राखाल दास जैसे पण्डित एकसाथ किस देश में, किस युग में उदित हुए होंगे (देवी पूजा के वैदिक मन्त्र, क्षितिमोहन सेन)। काशी के इसी परिमण्डल में उनकी प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर एम.ए. तक की शिक्षा हुई थी। ऊपर जिन पण्डितों का उल्लेख किया गया, उनमें से कई विद्वान उनके शिक्षा गुरु थे। इन सबके प्रति उनमें गम्भीर श्रद्धा थी। वे कहा करते थे; तो भी मेरा यह सौभाग्य है कि मेरा विद्यारम्भ संस्कृत को लेकर हुआ था। उस युग में काशी में जो सब महा महा पण्डित थे, उनमें से कुछ तो गृहस्थ थे, कुछ संन्यासी थे, कुछ तो उनमें से एक-एक दिक्पाल, बृहस्पति तुल्य थे। ऐसा संयोग शायद शत-शत वर्षों में भी घटित नहीं होता है। फिर

भी उनके एक लेख से यह भी पता चलता है कि बचपन और कैशोर में बांग्ला भाषा सीखने का उन्हें कोई सुअवसर नहीं मिला था। फिर भी बांग्ला अक्षरों से उनका परिचय हो गया था, अगर यह भी न होता तो अन्य प्रवासी बंगालियों के परिवारों के लड़कों की तरह वे भी सिर्फ़ हिन्दी सीखते। क्षितिमोहन ने भी हिन्दी सीखी थी और हिन्दी उनकी मातृभाषा में ही शामिल थी।

बाद में उन्होंने शान्तिनिकेतन के छात्रों को लक्ष्य कर कहा था- तुम लोग भाग्यशाली हो। बांग्ला देश में तुम्हारा जन्म हुआ है। बचपन से ही तुम लोग गुरुदेव का नाम जानते हो। मेरा जन्म बंगाल से बाहर हुआ है। वहाँ पर उस समय बांग्ला भाषा या साहित्य की कोई चर्चा नहीं होती थी। बंगाली लड़के लोग उर्दू-हिदी पढ़ा करते थे। मेरा तो भी शिशुबोध पढ़कर बांग्ला वर्ण-परिचय हो गया था और मेरी पोथियाँ थीं कृत्तिवास, काशीदास और कालिका विलास। ये सभी बटतला में छापी गयी थीं (आचार्य का प्रतिभाषण, क्षितिमोहन सेन, ७ पौष १३५६)।

काशी में क्षितिमोहन सेन का परिवार बंगाली टोला में पातालेश्वर में रहता था। यहीं पर गंगाधर शास्त्री नाम के एक दक्षिणी पण्डित की चतुष्पाठी में उनका विद्यारम्भ हुआ था। उनका परिवार रूढ़िवादी था। उनके दो बड़े भाई कलकत्ते पढ़ने जाकर आधुनिकता के प्रवाह में बह गये थे इसलिए क्षितिमोहन को काशी में रखकर ही संस्कृत की शिक्षा दिलायी गयी। उस समय शिक्षा की दो धाराएँ थीं- एक मक़तब में फ़ारसी और टोल चतुष्पाठी में संस्कृत। यों पढ़ने योग्य फ़ारसी वे जानते थे।

उन्होंने क्वीन्स कॉलेज से संस्कृत में एम.ए. किया था। उनके सहपाठी थे प्रथमनाथ तर्कभूषण, महामहोपाध्याय वामाचरण, भट्टाचार्य, गोपीनाथ कविराज जैसे स्वनाम धन्य पण्डित और दार्शनिक। निर्धारित पाठ्यक्रम में ही साहित्य, व्याकरण, ज्योतिष आदि विषयों के प्रभूत अध्ययन का सुअवसर क्षितिमोहन सेन को मिला था। अब यहाँ यह चर्चा की जाएगी कि सन्त मत के अनुशीलन और उनकी वाणी संग्रह करने की प्रेरणा उन्हें कैसे मिली।

बाल्यकाल से ही क्षितिमोहन सेन असमान्य मेधावी और स्मृतिधर थे। क्लास में वे सिर्फ़ सुनते थे, बाद में घर जा कर उसको हूबहू लिख डालते थे। शान्तिनिकेतन में रवीन्द्रनाथ भी उनकी असामान्य स्मृतिशक्ति की प्रशंसा किया करते थे। यह उनकी प्राच्य धारा की विद्याचर्चा का परिणाम था।

शास्त्रज्ञ, संस्कृत भाषा और शास्त्र के मर्मज्ञ के रूप में उनकी चर्चा की जाए तो तरुणावस्था से ही समादृत क्षितिमोहन अपने बृहस्पति सदृश शिक्षाचार्यों के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने में सदा अकुण्ठित रहते थे, फिर भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने स्वयं कभी पण्डित नहीं होना चाहा था। उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य क्या था, इसे जानने के लिए और दो महापण्डितों के प्रसंग की चर्चा करनी पड़ेगी, जिनके सम्पर्क में वे बचपन से ही आ गये थे, जिनकी मानसिकता, जीवन और आचरण ने ज्ञात अथवा अज्ञात भाव से बचपन से ही उन्हें गम्भीर रूप से प्रभावित किया था। इनमें से एक हैं महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी और दूसरे हैं ईशानचन्द्र विद्यारत्न। दूसरे उनके पितामह के सतीर्थ थे, यद्यपि उम्र में उनसे बड़े थे।

बचपन से ही क्षितिमोहन इन्हें अपने पितामह के मित्र के रूप में ही पहचानते थे, पर इनके वास्तविक रूप का बोध कराया महामहोपाध्याय पं. सुधाकर द्विवेदी ने। सुधाकर द्विवेदी इनके अध्यापक थे। सुधाकर द्विवेदी एक ओर तो विराट पण्डित थे, दूसरी ओर वे एक रसज्ञ साधक और महाज्ञानी थे। भारत के मध्ययुगीन सन्तों की वाणी में जो अचरज भरी आध्यात्मिक साधना और अनुभूति की बहुमुखी अभिव्यक्ति हुई है, इसका सबसे पहले सन्धान

क्षितिमोहन सेन को सुधाकर द्विवेदी ने ही दिया था। क्षितिमोहन तो बचपन से ही काशी के साधु-सन्तों के कण्ठ से कबीर-दादू के भजन सुनकर उनके प्रति आकर्षित थे ही, कैसे कौतूहल के साथ इन सब वाणियों को सुनने के लिए वे साधु-सन्तों के अखाड़ों और मठों में जाकर उपस्थित हो जाते थे। उन्होंने देखा कि जिन साधु-सन्तों को थोड़ा भी अक्षर ज्ञान है, वे फटे कागज़ों पर साधु-सन्तों की वाणियाँ लिखे हुए हैं। साधु-सन्तों की वाणियों के प्रति उनकी भारी उत्सुकता जानकर सुधाकर द्विवेदी ने इन सब वाणियों में छिपे गूढ़ अर्थ को समझने का मार्ग क्षितिमोहन सेन को बता दिया। देश के इन प्राचीन निरक्षर सन्तों की वाणी में छिपे बहुयुगों से परम्परावाहित एक अनोखे, ऐश्वर्यमय साधना जगत् का रहस्यमय द्वार जैसे ही धीरे-धीरे खुलने लगा वैसे ही उसके प्रति अधिकाधिक उत्सुक होते गये क्षितिमोहन सेन। थोड़े समय में ही इन सन्तों की वाणी का नशा उन पर छा गया।

इसके बाद सुधाकर द्विवेदी ने इनका परिचय दो विलक्षण साधकों से करा दिया। एक ऊपर उल्लिखित ईशानचन्द्र विद्यारत्न थे और दूसरे थे सुधाकर के अन्तरंग एक फकीर जिनका नाम था अब्दुल रसीद जो पान दरीबाँ मस्ज़िद में रहते थे। उनका साधना स्थल था गंगा के उस पार। क्षितिमोहन सेन ने सन्त मत की दीक्षा ली तब यही दोनों वहाँ उपस्थित थे और यही दोनों थे उनके दीक्षा गुरु। काशी में तीर्थयात्रा पर आए इन साधु-सन्तों के मुख से सुने भजनों के संग्रह का नशा भी उन्हें यहीं लगा और उनका एक ऐसे उदार, शास्त्रलीक से बाहर लोक धर्म से परिचय हुआ जिसके साधक, व्याख्याता, भाष्यकार वे आजीवन बने रहे। काशी में रहते समय ही बाउल साधकों और उनके गानों से उनका परिचय हुआ था।

बांग्ला साहित्य और रवीन्द्रनाथ के काव्य के साथ उनका परिचय कैसे हुआ, इसकी भी एक विलक्षण कहानी है। काशी में रहते समय अनेक उपलब्धियों के बीच एक अनुपलब्धि भी थी और वह भी बांग्ला अनुशीलन का वहाँ कोई सुअवसर नहीं था। उन्होंने लिखा है : काशी दुनिया से बाहर है और वह शंकर के त्रिशूल पर बसी हुई है। हम लोग उस समय संस्कृत पढ़ते थे और भाषा के रूप में पढ़ते थे हिन्दी। मैं अपने शौकवश गुप्त रूप से चर्चा किया करता था कबीर, रविदास, दादू आदि सन्तों की वाणियों और बाउलों के कुछ गानों की। एक दिन क्या घटना घटी कि हम लोग दशाश्वमेघ घाट पर बैठे हुए थे। उन दिनों काशी में कालीकृष्ण मजूमदार नाम के एक तरुण सज्जन आए हुए थे। उन्होंने क्षितिमोहन सेन और उनके साथ वहाँ बैठे उनके कई मित्रों को बांग्ला साहित्य की प्रगति के बारे में बताया और रवीन्द्रनाथ के कई गीत सुनाये। गीत सुनाकर उन मित्रों से पूछा कि क्या आप लोग इन गीतों का अर्थ समझ गये हैं। उनमें से क्षितिमोहन सेन ने कहा-हाँ, मैं समझ गया हूँ। बाद में क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि रवीन्द्रनाथ की उन कविताओं का सन्तवाणी के साथ काफी सादृश्य था, इसलिए मुझे उनकी वाणी समझने में कोई कठिनाई नहीं हुई। उन्होंने लिखा है : रवीन्द्र के गीत मुझे इतने अच्छे लगे कि उसे मैं आज भी व्यक्त नहीं कर सकता। मध्ययुगीन सन्तों की वाणी और बाउलगानों के साथ मेरा जो यत्किंचित् परिचय था उससे मुझे यही लगा कि ये सब बातें मेरे लिए अपरिचित नहीं हैं। यह तो मेरे अन्तर की वस्तु है। उन सब प्राचीन और नवीन वाणियों में युग-युगान्तर से चला आया रक्त का खिंचाव विद्यमान है (अप्रकाशित, आत्मस्मृति, क्षेमेन्द्र मोहन सेन का संग्रह, प्रणति मुखोपाध्याय द्वारा, अपने ग्रन्थ में पृष्ठ २३ पर उद्धृत)।

उन्होंने और भी लिखा है; मुझे (रवीन्द्रनाथ के उस) काव्य में चिरपरिचित उपनिषद् और सन्त कवियों का भाव देखने को मिला। तभी से रवीन्द्रनाथ मेरे परम आत्मीय हैं (आचार्य का अभिभाषण, क्षितिमोहन सेन, वही पृष्ठ २३)।

प्रणति मुखोपाध्याय ने क्षितिमोहन के विशाल भारत १९४२, जनवरी के अंक में प्रकाशित 'सार्वभौम रवीन्द्रनाथ' हिन्दी

लेख का सन्दर्भ देते हुए लिखा है : बंगाली होते हुए भी मेरा जन्म युक्त प्रान्त में हुआ है। बचपन से ही बांग्ला साहित्य के साथ मेरा कोई परिचय नहीं था। विशेष रूप से धुर बचपन से ही मैं साधु-सन्तों के पीछे-पीछे ही घूमता रहता था। उस समय कबीर, दादू आदि सन्तों की वाणी से ही मेरे मन-प्राण भरे हुए थे। उसके बाद उन्नीस-बीस वर्ष की उम्र में एक दिन एक रवीन्द्र भक्त के मुख से जब पहली बार एक कविता सुनी तभी लगा कि इस वाणी के साथ मेरा आन्तरिक परिचय है, यह कविता भी ठीक उसी जाति की है। इसलिए सुनने मात्र से ही उस कविता के साथ मेरा गहरा परिचय हो गया। वह कविता क्षण भर के लिए भी मुझे भिन्न जाति की नहीं लगी। बल्कि ऐसा लगा जो सब सन्तवाणी मेरे लिए अब तक अस्पष्ट थी, वह भी रवीन्द्र काव्य की सहायता से दिन-दिन और स्पष्ट होने लगी उसका मर्म व्यक्त होने लगा। अर्थात् मध्ययुगीन सन्तवाणी के प्रकाश में रवीन्द्रनाथ को मैंने पहचाना और रवीन्द्रनाथ के आलोक में मैंने उस 'अटपटी' वाणी और सन्तों को पहचाना।

अब यहाँ यह प्रश्न आता है कि काशीवासी क्षितिमोहन सेन शान्तिकितेन कैसे पहुँचे। विधुशेखर भट्टाचार्य क्षितिमोहन सेन के सहपाठी थे। वे काशी से १९०५ में ही शान्तिनिकेतन चले गये थे। ऐसा अनुमान है कि उन्होंने ही रवीन्द्रनाथ से क्षितिमोहन सेन की चर्चा की होगी। रवीन्द्रनाथ ने क्षितिमोहन सेन का आह्वान करते हुए उन्हें जो पहला पत्र लिखा था, उससे भी यह संकेत मिलता है कि उन्हें क्षितिमोहन सेन के कार्यकलापों की जानकारी पहले से थी और वे अपना ब्रह्मचर्याश्रम (शिक्षा संस्थान) चलाने के लिए क्षितिमोहन सेन जैसे युवकों को शान्तिनिकेतन में चाहते थे। रवीन्द्रनाथ के पत्र का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। उस पत्र में एक वाक्य इस प्रकार है : 'आपके बारे में मुझे जिस तरह के समाचार मिले हैं, तभी से मैं यहाँ के कार्यों के साथ आपको जोड़ने के लिए विशेष उत्सुक हो गया हूँ।' ऊपर विधुशेखर शास्त्री के हवाले से यह कहा गया है कि सम्भवतः क्षितिमोहन सेन के बारे में गुरुदेव की उन्हीं से चर्चा हुई हो। पर एक तथ्य और मिला है, जो काफी पुष्ट है। उन दिनों स्वदेशी का युग था और पूरे बंगाल में स्वदेशी आन्दोलन चल रहा था।

भवतोष दत्त ने अपने एक संस्मरण में लिखा है : १९०२ ईस्वी में शिक्षा समाप्त कर क्षितिमोहन अनेक कामों में लगे रहे थे। गाँव (सोनारंगा, पूर्वी बंगाल) के विद्यालय में उन्होंने दो-तीन वर्ष बिना वेतन के काम किया था। उसके बाद कलकत्ते के मेडीकल कॉलेज में कुछ दिनों डॉक्टरी भी पढ़ी थी।.... मेडीकल कॉलेज में विधानचन्द्र राय उनके सहपाठी थे (क्षितिमोहन सेन, डॉ. भवतोष दत्त)। प्रणति मुखर्जी द्वारा उद्धृत अपने ग्रन्थ, पृष्ठ ४० पर।

असल में उनके बड़े भाई अबनीमोहन की अकाल मृत्यु होने से उनके परिवार में आर्थिक संकट आ गया। इसी से कलकत्ता की अपनी पढ़ाई छोड़कर वे चम्बा राज्य में प्रधान शिक्षक होकर चले गये। इस घटना के चौदह-पन्द्रह मास पहले सोनारंग में कालीमोहन घोष के साथ उनका परिचय हो गया था। उसी घटना से शान्तिनिकेतन की भूमि में क्षितिमोहन के जीवन की प्रतिष्ठा होगी इसका बीज पड़ गया था, जो आगे चलकर फला-फूला और वटवृक्ष की तरह छायादार हुआ। यहाँ कालीमोहन घोष के बारे में इतना बताना आवश्यक है कि ये रवीन्द्र भक्त थे और इनका पूरा जीवन शान्तिनिकेतन में अनेक सामाजिक कार्य करते हुए बीता। रवीन्द्रनाथ के ग्राम संगठन और ग्रामोन्नयन योजना के यही प्रधान थे। रवीन्द्रनाथ की संगीत चिन्ता पर इनके पुत्र शान्तिदेव घोष ने गम्भीर काम किया है। इन्हीं के दूसरे पुत्र सागरमय घोष बांग्ला की श्रेष्ठ पत्रिका 'देश' के कहीं सम्पादक बने, जिन्होंने अपने अदम्य उत्साह और परिश्रम से 'देश' को एक संस्थान बना दिया है। क्षितिमोहन सेन के बारे में गुरुदेव को इन्हीं कालीमोहन घोष ने बताया था। स्वयं क्षितिमोहन ने अपने एक लेख में लिखा है : 'मेरे बारे में कवि को किससे पता चला? ऋदास्पदेषु रामानन्द बाबू

से (प्रवासी सम्पादक), बन्धुवर चारु वंद्योपाध्याय के माध्यम से? मेरे काशी के सन्तार्थ विधुशेखर भट्टाचार्य के माध्यम से? अथवा कालीमोहन घोष के माध्यम से? सम्भवतः सभी कुछ-न-कुछ गुरुदेव को बताते रहते थे किन्तु सबसे अधिक तो कालीमोहन घोष ने ही उन्हें बताया (साधु संधाने, क्षितिमोहन सेन, शारदीया देश, १३५५)।

शान्तिनिकेतन जाने के पूर्व रवीन्द्रनाथ और क्षितिमोहन सेन में लम्बा पत्र-व्यवहार हुआ था। अन्ततः १९०८ में वे शान्तिनिकेतन पहुँच गये और ब्रह्मचर्याश्रम में मुख्य शिक्षक के रूप में पढ़ाने लगे। हिन्दी सन्तों की उन्होंने जिस वाणी का संग्रह किया था, उसी को ग्रन्थाकार देने, उस पर गम्भीर अनुन्धान करने का सुयोग उन्हें शान्तिनिकेतन में मिला और इस प्रकार मध्यकालीन सन्तों के बारे में बांग्ला भाषा-भाषियों को जानने का मौका मिला। उनके अनुसन्धान का परिणाम और प्रभाव हिन्दी पर भी पड़ा। इसके बारे में उन्होंने स्वयं लिखा है : १९०७ ईस्वी में मैं काश्मीर के पास हिमालय प्रदेश में था। एक दिन अपरिचित हाथों का सुन्दर अक्षरों में लिखा एक पत्र पा कर विस्मित हो गया। खोलकर देखा, पत्र रवीन्द्रनाथ का लिखा हुआ था। शान्तिनिकेतन के काम में मुझे योग देने के लिए बुलाया गया था। इस सौभाग्य के लिए मैं तब तक तैयार नहीं था। फिर मेरे कई आत्मीयजनों ने वहाँ जाने की राय नहीं दी थी। मुझे स्वयं भी बड़ी द्विविधा थी किन्तु अन्त में रवीन्द्रनाथ के आह्वान की विजय हुई (भारतीय साधना धारा में रवीन्द्रनाथ, क्षितिमोहन सेन, रवीन्द्रनाथ ओ शान्तिनिकेतन सम्पादक, प्रणति मुखोपाध्याय, पृष्ठ ८८, पुनश्च कलकत्ता, संस्करण, २०१२)।

इसी लेख में उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण तथ्य का संकेत किया है ; उनकी (रवीन्द्रनाथ की) सान्ध्यकालीन चर्चा में कई बार उपनिषद और प्राचीन धर्मग्रन्थों की आलोचना भी चलती रहती थी। मध्ययुगीन सन्तों की वाणी के साथ उस समय उनका कोई परिचय नहीं था। हालाँकि, मैं इन सब वाणियों का भक्त था, फिर भी सार्वजनिक रूप से उनका प्रचार करना मैं उचित नहीं मानता था। फिर भी कभी-कभी अनवधानतावश चर्चा के उत्साह में मेरे मुँह से कबीर, रविदास, दादू, रज्जब, मीरा आदि की वाणी और बाउल गानों का कोई-कोई अंश निकल ही पड़ता था। कुछ समय तक ऐसे ही असावधान क्षणों में मेरे मुख से भावोच्छवास में निकली इन सब वाणियों को सुनकर मन-ही-मन वे इनका संग्रह करते रहे। बाद में एक दिन मुझे पर दबाव डालने लगे जिससे मैं इस वाणी को प्रकाशित कराऊँ। उनकी तागीद के कारण ही १९१०-११ ईस्वी में मैंने धीरे-धीरे चार खण्डों में कबीर की वाणी अनुवाद सहित प्रकाशित की। 'क्षितिमोहन सेन ने लिखा है : उन दिनों हिन्दी साहित्यकारों में भी कबीर के प्रति सच्ची श्रद्धा नहीं जागी थी। मेरी वाणी कबीर के बीजक आदि ग्रन्थों से नहीं ली गयी है। कारण, कबीर के अनेक ग्रन्थ उस समय खेमराज कृष्णदास द्वारा बम्बई से प्रकाशित किये गये थे। कबीर की वाणी जिस रूप में मुझे साधुओं के मुख से सुनकर मिली थी, उसी में से मैंने कुछ को प्रकाशित किया था (वही, पृष्ठ ८९)।

कबीर के इन्हीं पदों से एक सौ पद चुनकर रवीन्द्रनाथ ने अँग्रेज़ी में उनका अनुवाद कर प्रकाशित कराया। इसका परिणाम यह हुआ कि कबीर की वाणी पूरे यूरोप और अमेरिका में फैल गयी। इस प्रचार का फल हिन्दी साहित्यकारों पर भी पड़ा। हिन्दी में भी कबीर के महत्त्व को स्वीकार कर लिया गया। इसके पहले मिश्र बन्धुओं का जो हिन्दी नवरत्न निकला था, उसमें कबीर को शामिल नहीं किया गया था, पर रवीन्द्रनाथ का यह अनुवाद निकलने के बाद उन्होंने अपने 'नवरत्न' में कबीर को भी शामिल किया। यही नहीं कबीर ग्रन्थावली जिसका सम्पादन आचार्य सुन्दर दास ने किया था, उसका प्रकाशन भी इसके बाद हुआ।

क्षितिमोहन सेन ने कबीर की जिस वाणी का बांग्ला अनुवाद के साथ प्रकाशित कराया है उसी से प्रभावित होकर

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने कबीर ग्रन्थ की रचना की। इस पर क्षितिमोहन सेन के कबीर ग्रन्थ का गहरा असर है। यद्यपि क्षितिबाबू से उनके दृष्टिकोण में कुछ भिन्नता थी। उन्होंने अपने कबीर ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है : परन्तु, मैं यहाँ अत्यन्त कृतज्ञभाव से निवेदन करना चाहता हूँ कि यद्यपि आचार्य सेन की पुस्तक के पाठ इस पुस्तक में नहीं लिये गये हैं पर उनके उपदेशों का यथेच्छ उपयोग किया गया है। उनके साथ मेरा सम्बन्ध कुछ इतना गम्भीर है कि इस स्थान पर कृतज्ञता प्रकट करने में संकोच होता है। सच बात तो यह है कि यदि उनसे प्रेरणा न मिलती तो मैं यह पुस्तक लिख ही नहीं पाता। उनके दृष्टिकोण में और मेरी इस पुस्तक में व्यक्त दृष्टिकोण में थोड़ा मौलिक अन्तर है। वे सन्तों की बानियों को म्यूज़ियम के प्रदर्शन की वस्तु नहीं समझते और यह ठीक भी है (कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, भूमिका से)।

क्षितिमोहन सेन सिर्फ बांग्ला के ही लेखक नहीं थे, वे हिन्दी के भी एक निष्णात लेखक थे। काशीवास में ही उन्होंने हिन्दी पर अधिकार कर लिया था। शान्तिनिकेतन में आने पर उनके हिन्दी अनुशीलन का आरम्भ हुआ। स्वभावतः ही रवीन्द्रनाथ उनके सूत्र से ही हिन्दी साहित्य के प्रति आग्रही हुए थे। रवीन्द्रनाथ ने मालवीय जी से एक हिन्दी-संस्कृत जानने वाले विद्वान को शान्तिनिकेतन भेजने के लिए कहा था। उन्होंने हजारी प्रसाद द्विवेदी को १९२९ ईस्वी में भेजा था। दीर्घकाल के बाद अनेक स्रोतों से अर्थ संग्रह कर अन्त में १९३८ ईस्वी में शान्तिनिकेतन में हिन्दी भवन की स्थापना हुई और इसका अध्यक्ष बनाया गया हजारी प्रसाद द्विवेदी को। इस प्रसंग की विस्तार से चर्चा पीछे की जा चुकी है। क्षितिमोहन सेन ही वह व्यक्ति थे जिनके स्नेह के कारण द्विवेदी जी बड़ी निश्चिन्तता से शान्तिनिकेतन में विद्याचर्चा में मग्न बने रहे। अपने सुविख्यात कबीर ग्रन्थ को उन्होंने क्षितिमोहन सेन को ही समर्पित किया है।

क्षितिमोहन सेन की हिन्दी सेवा को देखते हुए अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें मुरारका पुरस्कार प्रदान किया। वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार सभा ने भी उन्हें सम्मानित किया था। उनके दादू और भारत की संस्कृति ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद हो चुका है। 'संस्कृति संगम' और 'भारत में जातिभेद' ये उनकी हिन्दी की मौलिक कृतियाँ हैं।

हिन्दी में अभी तक उनकी हिन्दी सेवा और जीवन पर कोई बड़ा काम मेरे देखने में नहीं आया है। सन्तों की वाणी और रवीन्द्रनाथ के काव्य में भावों की दृष्टि से गहरा सादृश्य मिलता है। इसे सबसे पहले क्षितिमोहन सेन ने प्रतिपादित किया। उनके इसी सूत्र को पकड़ कर शान्तिनिकेतन के विद्वान गवेषक डॉ. रामेश्वर मिश्र ने विश्वभारती के हिन्दी विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष डॉ. राम सिंह तोमर के निर्देशन में 'मध्ययुगीन हिन्दी सन्त साहित्य और रवीन्द्रनाथ' शीर्षक से महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। यद्यपि प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी को छोड़कर इसकी चर्चा हिन्दी में अधिक नहीं हुई है। डॉ. मिश्र ने हिन्दी की शब्दावली की छायावाली रवीन्द्रनाथ की बांग्ला कविताओं और भावनगर में महात्मा गाँधी की प्रेरणा से अपने सम्मान समारोह में दिये गये हिन्दी भाषण का भी हूबहू उल्लेख किया है। इससे रवीन्द्रनाथ की हिन्दी-प्रीति व्यक्त होती है। उनकी हिन्दी प्रीति के पीछे क्षितिमोहन सेन द्वारा संग्रहीत हिन्दी सन्तों की वाणियों का भी प्रभाव था।

क्षितिबाबू की सेवाओं का उल्लेख करते हुए आ.पं. बलदेव उपाध्याय ने लिखा है : शान्तिनिकेतन के शैक्षणिक विस्तार, शास्त्रीय अनुसन्धान एवं विपुल साहित्यिक समृद्धि में महनीय योगदान देने के लिए काशी के ही एक वरिष्ठ सरस्वती-पुत्र का साहाय्य नितान्त उल्लेखनीय है। इनका नाम था-क्षितिमोहन सेन काशी में ही क्षितिबाबू हिन्दी में निबद्ध सन्त साहित्य से भली-भाँति परिचित हो गये।... कबीर की आध्यात्मिक आलोचना एवं उनकी हिन्दी बानियों के अपने बांग्ला अनुवाद से क्षितिबाबू ने गुरुदेव रविबाबू को अत्यन्त मुग्ध कर लिया। फलस्वरूप रविबाबू ने

क्षितिबाबू के बांग्ला अनुवाद के आधार पर कबीर विषयक अपना अनुपम ग्रन्थ अँग्रेज़ी में लिखा और मध्ययुग के एक गम्भीरमर्मी सन्त की बानी का आस्वादन वे पाश्चात्य साहित्यिकों को पूरे वैभव के साथ इस प्रकार कराने में समर्थ हुए। फलतः कबीर तथा अन्य मध्ययुगीन सन्तों को हिन्दी की संकीर्ण चारदीवारी से निकाल कर विश्व के अन्तरराष्ट्रीय विशाल क्षितिज पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय काशी के इस सरस्वती पुत्र को निश्चयेन प्राप्त है- इस विषय में आलोचकों के दो मत नहीं हो सकते (काशी की पाण्डित्य परम्परा, आ. पं. बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ५३१-५३२, संस्करण, १९८३ विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी)।

क्षितिमोहन सेन और उनके कृतित्व-व्यक्तित्व पर हिन्दी में अलग से काम करने की अपेक्षा के साथ अपना निबन्ध मैं यहीं समाप्त करता हूँ।

इस लेख के अनेक तथ्य मैंने अनेक ग्रन्थों से लिए हैं, इसके लिए मैं उन लेखकों का आभारी हूँ-लेखक।

मेरे खून में एक और भाषा

नीलिम कुमार
असमिया से अनुवाद - किशोर कुमार जैन

किसी समय हमारे खास असमिया इलाके में, मैं सोचता हूँ कि, सुदूर राजस्थान से आये मारवाड़ी सम्प्रदाय के कुछ लोग अनजाने में ही हिन्दी के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे थे। हम छोटे थे, मारवाड़ी सम्प्रदाय के कुछ व्यापारियों के कारण ही हिन्दी भाषा से परिचित हुए थे। हम लोग जिस छोटे से नगर में रहते थे, वहाँ वे लोग कई तरह का व्यापार करते थे। आसमान को छूती चावल मिल की चिमनी से हमारे एक छोटे-से नगर का मान बढ़ाने वाले व्यापारी थे, मालचन्द अगरवाल जिनका सामने का एक दाँत सोने का था। लकड़ी मिल के व्यापारी थे- भँवरलाल अगरवाल, गल्लामाल की दुकान के मालिक थे- नाथिया अगरवाल, चौराहे पर काशीराम अगरवाल की चाय की दुकान थी जिन्होंने हमारे नगर को दूध से बने कलाकन्द नामक मिठाई के स्वाद से परिचित कराया था। इससे पहले हमारे नगर के लोगों ने कलाकन्द का स्वाद ही नहीं चखा था, दुकान का कोई नाम नहीं था। वह काशिया की दुकान के नाम से अघोषित तौर पर ही प्रसिद्ध थी। कपड़े का विख्यात व्यापारी भी मारवाड़ी था, नथमल अगरवाल। सुपारी का व्यापारी था-मंगलिया अगरवाल, सुबोध जालान और कपूरचन्द अगरवाल सीमेण्ट, ईंट, बालू, टीन, लोहा-लक्कड़ आदि बेचते थे।

लेकिन अगरवाल, जालान, जैन आदि उपाधि से उन्हें कोई नहीं पुकारता था। मालचन्द अगरवाल को पुकारते थे- मालचन्द केंया, नथिया केंया की दुकान बोला जाता था। इसी तरह मंगलिया केंया की दुकान, सुबोध की दुकान... मारवाड़ी सम्प्रदाय को इस 'केंया' शब्द से इसलिए समझा जाता था क्योंकि जब इन लोगों का पहली बार आगमन हुआ तब ये लोग असमिया भाषी लोगों से बात करते समय 'क्या' शब्द का प्रयोग बार-बार करते थे। जैसे- '....क्या हुआ?', '...क्या बोला ?', '...क्या है?' आदि। उन लोगों के मुँह से बार-बार 'क्या' सुनकर असमिया लोगों ने मारवाड़ी न बोलकर 'केंया' शब्द से पुकारना शुरू कर दिया। असम में 'केंया' एक समय बहुत ज़्यादा प्रचलित हुआ। आजकल यह शब्द इतिहास के गर्भ में खो गया है।

हमारे नगर में मारवाड़ियों ने सुन्दर-से एक मन्दिर का निर्माण कराया था और झूलन पूजा का एक आयोजन करके वे सबको मुग्ध कर देते थे। हम लोग दौड़-दौड़कर झूलन पूजा देखने जाया करते थे। इस पूजा को धार्मिक मारवाड़ी

दर्शनीय बना देते थे। पूजा में राधा-कृष्ण झिलमिलाती सुनहरी पोशाकें और आभूषण पहने हुए झूलन आसन में सट कर बैठे रहते थे जिसे एक लम्बी रस्सी से झुलाया जाता था। हर भक्त रस्सी खींचकर राधा-कृष्ण को एक बार झुलाते थे। झुलाए जाने पर राधा-कृष्ण हँसते थे। केसरिया तिलकधारी पुजारी हम लोगों के हाथों में बुँदिया का लड्डू दिया करते थे। हमारी लालची जीभ में काशिया की दुकान का बुँदिया का लड्डू घुल जाता था। इसी तरह मारवाड़ी सम्प्रदाय नगर की पुष्टि और समृद्धि में विशेष भूमिका निभाया करता था।

झूलन मन्दिर के सामने उन लोगों ने एक हिन्दी स्कूल भी बनवाया था लेकिन उस स्कूल में असमिया लड़के-लड़कियाँ नहीं पढ़ते थे और न ही मारवाड़ी लड़के-लड़कियाँ। उसमें मारवाड़ियों के बुलाये गये बिहारी कर्मचारी, मज़दूर, नौकर आदि के सन्तानें पढ़ा करती थी। किन्हीं अज्ञात कारणों से मारवाड़ी बच्चे हम लोगों के स्कूलों में ही पढ़ते थे।

मारवाड़ी सम्प्रदाय के लोगों से हम हिन्दी भाषा की ध्वनि और गहरायी और मधुरता प्रत्यक्षतः सुना करते थे। उन लोगों की दुकान में चावल-दाल खरीदने पर वे हमसे पूछा करते थे - 'क्या चाहिए?' हम भी जवाब में कहते थे- 'चावल, दाल, चीनी, हल्दी...' वे लोग दालि को दाल कहते थे, चाउल को चावल, हालथी को हल्दी, चैनी को चीनी। मामूली- सा अन्तर था उनकी और हमारी भाषा में। लेकिन उनकी भाषा की ध्वनि संस्कृत के अधिक निकट होने के कारण हमें अधिक आकर्षित करती थी। असमिया भाषा कोमल प्रकृति की थी, बहुत मीठी मानो छलनामयी नारी हो और हिन्दी भाषा सबल थी, मारवाड़ियों की तरह स्वस्थ्य।

हिन्दी भाषा के प्रति मेरी श्रृद्धा उपजने के कई कारण थे। उनमें मेरे दादा जी ही मुख्य थे। दादा जी धार्मिक, साहसी और परोपकारी व्यक्ति के रूप में उन दिनों लोगों के बीच प्रसिद्ध थे। चेचक की बीमारी को वे चीनी, पानी और कपड़ों से झाड़कर मन्त्र फूँका करते थे, बिना कुछ लिए। अगर कोई पैसा देना भी चाहता, वे लेते नहीं थे। साँप के डसने पर भी वे मन्त्र फूँककर साँप का जहर, अगर वह कालसर्प न हो तो, उतार देते थे। इसके अलावा और भी शारीरिक, मानसिक बीमारियाँ वे ठीक किया करते थे। इसी वजह से मारवाड़ियों में उनका बड़ा आदर था। मारवाड़ी परिवार की कोई महिला रात में चौंक जाने पर या बुरा सपना देखने पर, किसी बच्चे को कँपकँपी छूटकर बुखार होने पर या अनजाने में रोते रहने पर, किसी युवती के निरन्तर उदास रहने पर दादा जी को बुलाकर वे लोग ले जाते थे। उन्हें लेने एक रिक्शा आता था। दादाजी सलीके से पंजाबी धोती पहना करते थे और जूता पहनकर रिक्शा पर चढ़ते थे। आमतौर पर दादा जी जूता नहीं पहनते थे। जिस दिन हम लोग दादा जी को जूता पहने देखते (उन जूतों की धूल मैं ही साफ़ किया करता था।) उन दिन हम सभी लोग जान जाते थे वे किसी मारवाड़ी के यहाँ उसका संकट दूर करने जा रहे हैं।

वही रिक्शा दादा जी को वापस छोड़ जाया करता था। लौटने पर दादा जी में दो परिवर्तन दिखायी देते थे। एक उनके होठों में सिगरेट होती थी और चेहरे पर हँसी दिखायी देती थी। अमूमन बीड़ी पीने वाले दादा जी की मारवाड़ी घरों में चाय, मिठाई और सिगरेट से आवभगत की जाती थी। सामान्यतः दक्षिणा न लेने वाले दादा जी को मारवाड़ी ज़रूरत से ज़्यादा दक्षिणा देते थे। दादा जी उस दक्षिणा को दादी के हाथ में पकड़ा देते थे। दादी पूछा करती थी, किसके घर बीमारी हुई है। दादा जी बताते थे कि अमुक की पत्नी को गुप्त रोग है, इससे उनका आशय था मासिक ऋतुस्राव या सफ़ेद स्राव। दादाजी ये सब ठीक कर देते थे, इन्हीं कारणों से मारवाड़ी दादा जी को ठाकुर कहकर बुलाते थे। दादा जी सिर्फ़ हमारे छोटे-से नगर में ही नहीं, आस-पास के गाँवों में भी ठाकुर नाम से प्रसिद्ध हो गये थे : शिवेन्द्रनाथ ठाकुर।

दूसरी वजह थी : पिता जी उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के हिन्दी अध्यापक थे। वे केवल उसी विद्यालय के ही नहीं, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति द्वारा संचालित हिन्दी विद्यालय के भी संस्थापक अध्यक्ष थे। उस समय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति हिन्दी के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती थी। पिता जी और उस इलाके के कुछ हिन्दी अध्यापक सेवाभाव के चलते आज़ाद भवन नामक प्रेक्षागृह में स्कूल चलाते थे जो अच्छी तरह चल रहा था। उन लोगों का अपना स्कूल भवन नहीं था। सरदार वल्लभ भाई पटेल ने आज़ाद भवन स्वाधीनता संग्राम के शहीदों के नाम पर बनवाया था।

इस विद्यालय में पढ़ने मारवाड़ी परिवारों के लड़के-लड़कियाँ भी जाते थे लेकिन उसमें असमिया छात्रों की संख्या ही अधिक थी क्योंकि इस विद्यालय में पढ़कर विशारद की परीक्षा में उत्तीर्ण होने का प्रमाण पत्र मिल जाने पर हिन्दी अध्यापक की नौकरी मिल जाती थी।

इस विद्यालय के नाम पर 'धर्मयुग' नाम की एक रंगीन, सुन्दर पत्रिका पिता के अध्यक्ष होने के नाते डाकिया हम लोगों के घर पर दे जाता था। पिता के हाथों में पड़ने से पहले वो हमारे हाथ लग जाती थी। हालाँकि हम लोग हिन्दी अक्षर पढ़ना नहीं जानते थे तब भी सिर्फ़ तस्वीरें और पत्रिका का कलेवर ही हमें रसास्वादन कराता था। हम लोग समझ में न आने वाले अक्षरों और उनके आकर्षण से मोहित हो जाते थे।

चौथी कक्षा से ही हम हिन्दी अक्षर सीखने लगे थे। गिरजा शर्मा नाम के गाँधीवादी शिक्षक हमें हिन्दी सिखाते थे। अक्षरों के अलावा शब्द और अर्थ में काफ़ी मेल था, असमिया भाषा और हिन्दी में। गिरजा शर्मा बताते थे कि मूल संस्कृत भाषा से निकले होने के कारण शब्दों का एक जैसा होना स्वाभाविक है।

एक दिन 'नटखट तेरा लाल यशोदा/नटखट तेरा लाल/चुपके-चुपके मक्खन खाता/दही चुराता बजाता गाल' इस पद को मुखस्थ न कर पाने के कारण गिरजा शर्मा ने अपनी कक्षा में मुझे बैंच पर खड़ा रहने का दण्ड दिया था। यह दण्ड मुझे बुरा नहीं लगा था क्योंकि बैंच पर खड़े होकर आकाश को बहुत दूर तक देखा जा सकता था, बहुत दूर तक मैदान दिखता था, पेड़-पौधे और पंख फड़फड़ाकर उड़ते हुए पक्षियों का झुण्ड भी दिखायी देता था। उस दिन किसी कारण से स्कूल के बरामदे से गुजरते हुए मेरे पिता ने मुझे देख लिया, हिन्दी की कक्षा में बैंच पर खड़े होकर दण्ड भोगने का दृश्य। मेरी छाती धड़कने लगी ('दिल धक् धक् करने लगा था', ये भाषा तब तक सीखी नहीं थी।) यह सोचकर कि 'नटखट तेरा लाल' मुखस्थ न कर पाने के कारण जो सज़ा मिली है उसका दामन पकड़कर एक और सजा मिलने वाली है...' पिता जी ने घर पहुँचने पर हिन्दी की कक्षा में गिरजा शर्मा के मुझे बैंच पर खड़ा रखने का कारण जानना चाहा। बैंच पर खड़ा रहने की सज़ा की बात पिताजी के दिल में नहीं चुभी थी, उसकी वजह दूसरी थी। गिरजा शर्मा और पिताजी के बीच राष्ट्रभाषा हिन्दी स्कूल की स्थापना के दिन से ही एक अघोषित शीतयुद्ध चल रहा था। इसलिए अवसर मिलते ही गिरजा मास्टर मुझे ज़रूरत से ज़्यादा सजा देकर एक तरह से बदला लेते थे। गाँधीवादी होने के कारण गिरजा मास्टर बेंत नहीं मारते थे, वे मुझे घुटनों के बल बिठाकर या नाक पकड़कर खड़ा कर देते थे। उनकी अन्तिम सजा होती थी- बैंच पर खड़े रखना। जब मैंने पिता को बताया 'नटखट तेरा लाल' पद्य के मुखस्थ न होने के कारण यह सजा मिली थी, पिता ने मुझे एक ऐसी सजा दी जो मेरे लिए 'आ बैल मुझे मार' सरीखी थी। पिता जी ने कहा- 'तुम कल से राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के स्कूल में भी जाओगे!'

अगले दिन पिता ने मेरा नाम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के स्कूल की परिचय श्रेणी में लिखा दिया। सुबह ७.३० से ९.३० बजे तक स्कूल चलता था। उसके बाद दौड़ते-दौड़ते मैं घर पहुँचता और किसी तरह भात खाकर अपने स्कूल के

लिए दौड़ पड़ता। पढ़ने में सबसे खराब लगने के बावजूद इसी तरह स्कूल में 'नटखट तेरा लाल यशोदा' पढ़ने के अलावा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की परिचय कक्षा की किताबें भी पढ़नी पड़ी।

लेकिन जो भी हो, परिचय में भर्ती होने के बाद आशातीत फल निकला। फिर किसी दिन गिरजा मास्टर मुझे बैंच पर खड़ा नहीं कर पाये। दूसरी ओर, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के स्कूल में मेरा सहपाठी नाथिया केंया का बेटा बजरंग अगरवाल और मुझे हिन्दी विषय की परीक्षा में एक बराबर नम्बर मिलने लगे। इस तरह मैं हिन्दी पढ़ने और समझने लगा। लेकिन हिन्दी भाषा की एक पहेली मैं किसी तरह समझ नहीं पाया हूँ। वह है शब्दों का लिंग चयन। लिंग का चयन मेरे लिए परेशानी का सबब बन गया। असमिया भाषा में 'रोद' अगर पुर्लिंग है तो हिन्दी में इसका अर्थ 'धूप' स्त्रीलिंग बन जाता है। असमिया भाषा में 'जोन' अगर स्त्रीलिंग है तो इसका असमिया में अर्थ 'चाँद' पुर्लिंग बन जाता है। ऐसा क्यों होता है?असमिया भाषा में किताब, कागज़, क़लम, घड़ी, पानी, घर, द्वार, चोला, कपड़ा, बाल, कंघी आदि का कोई लिंग नहीं होता। मैं जब हिन्दी लिखता हूँ तो ऐसे शब्दों के मामले में कौन पुर्लिंग है, कौन स्त्रीलिंग है, बिना जाने अनुमान से ही 'का', 'की' का प्रयोग कर काम चला लेता हूँ। इसी तरह जाने अनजाने मैंने राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की हिन्दी विशारद की परीक्षा में उत्तीर्ण होने का प्रमाण पत्र लेकर दसवीं कक्षा में ही एक हिन्दी शिक्षक होने की योग्यता पा ली।

पिता जी का राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के हिन्दी स्कूल का अध्यक्ष होने के कारण हो या दादा जी का मारवाड़ी परिवार के लोगों में सम्मान के कारण, पता नहीं क्यों, पिता जी के भी मारवाड़ी परिवारों के साथ दोस्ताना सम्बन्ध बन गये थे। दूसरों को कभी एक अक्षर का ज्ञान न देने वाले पिता जी मारवाड़ी परिवार के लड़के-लड़कियों की ट्यूशन भी करते थे। इसी तरह हिन्दी भाषा या हिन्दी भाषी परिवारों के साथ हमारा आत्मीय सम्बन्ध प्रगाढ़ होने लगा। मैं भी प्रबोध और विशारद इन दो कक्षाओं में (नवम और दशम) में पढ़ते समय क्लास की सुनीता जैन नाम की लड़की से प्रेम करने लगा। यह प्रेम सिर्फ़ आँखों ही आँखों तक सीमित था। उस समय लाज प्रेम का आभूषण होने के कारण हम लोग कभी एक-दूसरे से बातचीत तक नहीं कर पाये। जो भी कहना होता आँखों ही आँखों में कह देते। इसी तरह न केवल हिन्दी भाषा ने बल्कि हिन्दी भाषिणी ने भी एक दिन आँखों के रास्ते से होकर मेरे मन के दरवाज़े पर पहले प्रेम की खट-खट की।

उसी स्कूल के कमरे में मिले थे, प्रेमचन्द जो मेरे कन्धे पर हाथ रखकर घूमते रहते थे, सफ़ेद कफ़न की चद्दर लिए। मुलाकात हुई थी जयशंकर प्रसाद की कामायनी से। उसी कक्षा से मुझे मैथिलीशरण गुप्त ले गये थे चुपचाप यशोधरा के आँगन में। महादेवी वर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, दिनकर, अज्ञेय आदि बहुत से कवि जो मेरे कैशोर्य यौवन के भाव जगत में हलचल मचा देते थे।

सच कहूँ तो हिन्दी साहित्य जगत के साथ परिचित होने के बाद ही असमिया साहित्य के प्रति मेरा आकर्षण उत्पन्न हुआ। हिन्दी साहित्य का दामन पकड़कर ही मैं ढूँढता रहा असमिया कविता, कहानी, उपन्यास। धर्मयुग में पढ़ा करता था हिन्दी सिनेमा की ख़बरें और राही मासूम रज़ा, अज्ञेय, लीलाधर जगूड़ी, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना आदि की कविताओं के साथ बहुत सारी विदेशी कविताओं का हिन्दी अनुवाद। इसी तरह हिन्दी मेरे खून में प्रवाहित होने लगी।

हमारे छोटे-से नगर का एकमात्र सिनेमाहॉल हमारे घर से सटा हुआ था। इस सिनेमाहॉल का निर्माण हमारी आँखों के सामने हुआ था। पिता जी ने आवासीय इलाके में सिनेमाहॉल के निर्माण का विरोध किया था और कचहरी में मुकदमा

भी दायर किया था। इस युद्ध में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के अध्यक्ष को शिकस्त मिली थी। सिनेमा पूर्णगति से चलने लगा। सिनेमाहॉल में काम करने वाले चौकीदार, टिकटकीपर, गेटमेन आदि हमारे पड़ोसी होने के कारण तथा सिनेमाहॉल के मालिक की मौन सहमति होने के कारण हॉल में हमें बेरोकटोक आने-जाने के अलावा बिना पैसा दिये सिनेमा देखने का मौका मिलने लगा। पिता जी को ये बात पसन्द नहीं थी। कभी-कभी घर के सारे लोग भी सज-धज कर टिकट कटाकर सिनेमा देखते थे।

लेकिन मैं घर के लोगों को बताये बिना हर शुक्रवार को नाइट शो बिना पैसे दिये देखा करता था। यह टिकटकीपर की सदाशयता के कारण ही सम्भव हो पता था। इस घटना के साथ भी जड़ित थी हिन्दी भाषा। कारण बचपन में प्रचुर हिन्दी सिनेमा देखने की आदत ने हिन्दी भाषा को सीखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। इसके अलावा भी हिन्दी सिनेमा के गीत, आकाशवाणी के विविध भारती द्वारा प्रसारित मुकेश, मोहम्मद रफ़ी, किशोर कुमार, लता मंगेशकर, आशा भोंसले आदि गायक कलाकारों के गीत सुनकर मुखस्त हो गये थे, उन्हें हमेशा अपने दिल और ओंठों से गुनगुनाया करता था। तब असमिया गीतों का इतना प्रसार नहीं था। हिन्दी गीतों की काव्यमयता और सुर तब से लेकर आज भी मुग्ध करते रहते हैं।

६० के दशक में जब पहली बार भारत भवन गया था, तब वहाँ मुलाकात हुई थी अशोक वाजपेयी के साथ मदन सोनी, उदयन वाजपेयी, ध्रुव शुक्ल आदि कवि साहित्यिकों के साथ। भारत भवन के परिसर में ही मुलाकात हुई थी, मेरे अति प्रिय कहानीकार निर्मल वर्मा और कृष्ण बलदेव वैद से।

मुलाकात हुई थी विनोद कुमार शुक्ल, कुँवर नारायण, मंगलेश डबराल, चन्द्रकान्त पाटिल, गगन गिल से। हिन्दी साहित्य जगत के बहुत-से प्रतिष्ठित गणमान्य व्यक्तियों के साथ किसी न किसी प्रकार से मधुर सम्पर्क बन गये थे। उनमें हैं केदारनाथ सिंह, अरुण कमल, अनामिका, राजेश जोशी, कुमार अम्बुज, बोधिसत्व, बद्रीनारायण आदि बहुत सारे लोग। प्रिय साहित्यिक उपन्यासकार अलका सरावगी के साथ भी दोस्ताना सम्पर्क बन गये थे। साहित्य अकादमी के सौजन्य से फ्रांस भ्रमण के दौरान उन्होंने मुझे रवीन्द्र संगीत भी गाकर सुनाया था। कई बार उनके कोलकाता के घर भी गया था। केदारनाथ सिंह, अशोक वाजपेयी, विनोद कुमार शुक्ल और कुँवर नारायण की कविता का असमिया में अनुवाद करने के लए फैलोशिप भी प्राप्त हुई थी। इसी तरह संयोग, सदिच्छा और आकर्षण के कारण बचपन से ही मेरे खून में मिश्रित हो गयीं थीं, हिन्दी भाषा की बरसात की बूँदें। बाद में जान पाया कि वह बरसात नहीं थी, था झरना, सागर, महासागर। उस भाषा महासागर के किनारे रुककर मैं उसकी लहरों को प्रत्यक्ष कर सकता था, उसकी आज भी गर्जना को सुनकर अनिद्रित हो सकता हूँ। लेकिन उसमें अवगाहन नहीं कर सकता। मैं केवल मुग्ध होता हूँ और मुग्ध होकर अनिद्रित हो जाता हूँ। इस मुग्धता के आनन्द को मैं कभी खोना नहीं चाहता।

हिन्दी संसार में मेरी यात्रा के कुछ पड़ाव

प्रवासिनी महाकुद
ओड़िया से अनुवाद : पूर्णचन्द्र रथ

आज की कविता जीवनबोध की 'कथा' है।

वह भक्तिकाल, रीतियुग, छायावाद के दौर से प्रगतिशील कविता की चेतना के वाहक के रूप में ही नहीं बल्कि गाँधीजी द्वारा प्रवर्तित अहिंसा, स्वाधीनता संग्राम की भावना के साथ हासिल हुई थी। इसी दौर में समकालीन हिन्दी काव्य-परिदृश्य में अनेक रोमाण्टिक चेतना से युक्त वीरोचित, यथास्थितिवादी और क्रान्ति-शान्ति समर्थक जनजागरण के प्रति बेचैन कवियों की रचनाएँ भी समादृत हुईं। युद्ध और शान्ति की चेतना से सहज उपलब्ध तथ्यों के बावजूद उस दौर की कविता बहुत सशक्त थी। स्वाधीनता के बाद की हिन्दी कविता में हम देखते हैं कि उसमें स्फीति, वाग्गविलास, आत्ममुग्धता, निस्संगता और स्वप्नभंग के स्पष्ट विवरण हैं। इसकी वजह हम प्रथम महायुद्ध के बाद सामाजिक तथा आर्थिक दुरावस्था के साथ आज़ादी के पहले के मूल्यबोध का तेज़ी से ह्रास होना मान सकते हैं। जबकि आज का कवि अपने स्वप्नों, बिम्बों की विसंगति, त्रासदी ही नहीं वरन् रोज़मर्रा की ज़िन्दगी के कठोर सच की 'सत्ता' से भी जूझता है। यानी यह कह कहते हैं कि आज की कविता सचेतन और अवचेन की मनोगत उपलब्धि है। विरह, मिलन, आनन्द, आँसू, प्यार पाने अथवा गवाँ देने की नियति के समानान्तर प्रकृति के प्रति कवि जितना चिन्तित है, उतना ही वह अपनी जीवन-यात्रा के प्रति भी जागरुक है। अपने चारों तरफ घट रही घटनाओं के फलाफल से अनभिज्ञ होने के बावजूद वह प्रारम्भ से ही इन घटनाओं को एक रचनाकार के रूप में पाठक से साझा करना चाहता है।

साहित्य मनुष्य को यही सुख देता है, उसका रचयिता कवि, कथाकार, उपन्यासकार, नाटककार अथवा समालोचक होता है। आज का कवि हँसी, खुशी, अवसाद, संघर्ष के बारे में लिखता है। मैंने जिन कवियों को क़रीब से देखा, जिनकी कविताएँ पढ़ीं, वे सभी स्वाधीन हैं। उनमें केदारनाथ सिंह, प्रयाग शुक्ल, अशोक वाजपेयी, ऋतुराज, गिरधर राठी, उदय प्रकाश, अरुण कमल, मदन सोनी, लीलाधर मण्डलोई, उदयन वाजपेयी, राजेश जोशी, अग्निशेखर, देवीप्रसाद मिश्र, विमल कुमार, ध्रुव शुक्ल, विनोद भारद्वाज, मंगलेश डबराल, प्रभात त्रिपाठी, पवन करण, बद्रीनारायण, यश मालवीय की रचनाएँ मुझे प्रभावित करती हैं। ये सभी जीवनबोध की कथाएँ सिरजते हैं। हिन्दी की

कवियित्रियों (जबकि नारी और पुरुष कवियों की सृजनशीलता में भेद, मेरे लिए बेमानी है) की कविताओं से भी मैं मुग्ध हूँ। इन्दु जैन, राजी सेठ, ममता कालिया, अनामिका, गगन गिल, सविता सिंह, कात्यायनी की कविताओं में 'वामावाद' की अपेक्षा नारी की आवाज़ साफ़ सुनायी देती है। इनकी कविताओं में खुद को नारी कहलाने की ज़िद है और जीवन की हर दिशा-मोड़ों से कविता के जरिए उतर आने, अभिव्यक्त हो जाने की सच्ची अभिलाष। नारी होने की विडम्बना, सांसारिक यातना, प्रत्येक पल घर, परिवार, समाज का सामना करने की हिम्मत- ये कहाँ से पा लेती हैं- मैं बार-बार खुद से पूछती रहती हूँ! आज भी फ़ोन करने पर राजी सेठ मुझे तपस्विनी सम्बोधित करती हैं। चित्रा मुद्गल, मृदुला गर्ग, गीतांजलिश्री इनका लेखन भी मुझे आकर्षित करता है। मैंने हिन्दी से कुछ कविताओं, कहानियों, उपन्यासों के ओड़िया में अनुवाद किये हैं। अज्ञेय से लेकर अब तक की पीढ़ी के १०० से अधिक कवियों की हिन्दी कविताओं के मेरे द्वारा किये गये ओड़िया अनुवाद का एक संकलन प्रकाशित होने वाला है। मैं चाहती हूँ कि ओड़िया पाठक-वृन्द हिन्दी कविता के रचना संसार को और भी करीब से जानने-समझने की कोशिश करें। कुछ अनुवाद मैंने स्वेच्छा से किये, कुछ लेखकों के आग्रह पर और कुछ 'मुद्रा' पाने की चाह में। हाल ही में मैं ओड़िया की एक मासिक पत्रिका 'कथा' का अंक पढ़ रही थी। एक कथा-लेखिका की कहानी में उदयन वाजपेयी की एक कविता की पंक्तियाँ उद्धृत हुई हैं -

थोड़ा-सा शरीर बचा रह जाता है
तुम्हारे मेरे आलिंगन में समाने के बाद भी
थोड़ी-सी मृत्यु हर बार बची रह जाती है
मरने के बाद भी...

कथा नायक बस की यात्रा में ये पंक्तियाँ गुन-गुना रहा है।

मैं चमत्कृत हुई!

दिल्ली में रहने के दौरान प्रायः सारे महत्त्वपूर्ण साहित्यकारों से मिलने का मुझे संयोग मिला था। कतिपय हिन्दी कवि-लेखकों से व्यक्तिगत परिचय बने। इसे मैं अपनी खुश-किस्मती मानती हूँ। हिन्दी साहित्य संसार का फलक बहुत बड़ा है। उसमें से बेहतर कविता, कहानी, उपन्यास का चुनाव करना चुनौती भरा है। प्रत्येक भाषा के साहित्य का एक ही मन्तव्य, स्वनिवेदन-सार्वजनीन निवेदन है। जो मुझे प्रमुदित करता है, कभी व्यथित।

निर्मल वर्मा से जुड़ा अनुभव साझा करना चाहती हूँ। एक ओड़िया पत्रिका के लिए साक्षात्कार के प्रसंग से, वर्षों पहले निर्मल जी के घर गयी थी। इतने बड़े साहित्यकार! मैं पूरी तरह से घबरायी हुई...किन्तु पाया कि शीर्ष-स्थानीय साहित्यकार होने के बावजूद उनमें अहंकार बिल्कुल नहीं था। बेहद विनम्रता से उन्होंने मेरे सवालों के उत्तर दिये, जिसे ओड़िया पाठकों ने भी सराहा। उनकी हस्तलिपि में लिखा एक पत्र मेरे पास है, जिसमें अपने सारे लेखन को ओड़िया में अनुवाद करने की मुझे अभिस्वीकृति देने का उल्लेख है। निर्मलजी के उपन्यास 'लाल टीन की छत' का ओड़िया में अनुवाद मैं कर चुकी हूँ। उनके निधन के दिन मैं उनके घर गयी थी, वहाँ से लोधी रोड स्थित श्मशान तक भी, अश्रु-शृद्धांजलि देकर घर लौटी थी। वहाँ बहुचर्चित उपन्यास 'आवारा मसीहा' के सर्जक विष्णु प्रभाकर से मिली। विष्णुजी के निधन के आठ दिन बाद ही उनके उपन्यास 'अर्द्ध नारीश्वर' का मेरे द्वारा किये गये ओड़िया अनुवाद का प्रकाशन केन्द्रीय साहित्य अकादमी ने किया। उनसे भी अन्तिम बार श्मशान घाट पर ही मिली थी। ऐसे भी मिलना होता है?

अमृता प्रीतम के उपन्यास 'सादा कागज़' का ओड़िया अनुवाद भी मैंने किया है। अमृता जी और इमरोज़ के साथ वर्षों तक सम्पर्क रहा। पहले यह प्रसंग... ओड़िशा की सहृदय कथा-लेखिका और पूर्व मुख्यमन्त्री स्वर्गीय नन्दिनी सत्पथी ने एक बार मुझे अमृताजी का फ़ोन देकर कहा कि जब कभी मैं दिल्ली जाऊँ तो अमृताजी से ज़रूर मिलूँ! संयोग से १९९१ में ओड़िया की नारी कवियों का एक संकलन अँग्रेज़ी में 'अण्डर द साइलेण्ट सन' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। ओड़िया कविताओं का चयन और अँग्रेज़ी अनुवाद जगन्नाथ प्रसाद दास और अमेरिकन कवियित्री आर्लिन जाइड ने किया था। इस कृति का लोकार्पण इण्डिया इण्टरनेशनल सेण्टर में होना था। मुख्य अतिथि थीं-अमृता प्रीतम। ओड़िया की अन्य कवियित्रियों के साथ मैं भी दिल्ली गयी थी। यहाँ पहली बार अमृताजी को देखा। मेरी खुशी का ठिकाना नहीं रहा जब अपने उद्‌बोधन में अमृताजी ने मेरी कविता की पंक्तियाँ सुनायीं। मैं हतप्रभ थी! इसके बाद मैं उनसे मिली फिर अपने दिल्ली प्रवास के दौरान कई बार उनसे मिलती रही। उनसे घण्टों बातें होती थीं। बातों-बातों में एक दिन इमरोज़ जी ने एक किस्सा सुनाया-'प्रवासिनी! कल एक खास समुदाय के लोग आये थे। उनके पास अमृताजी की कविताएँ, कहानी, उपन्यास की किताबें थीं। वे चाहते थे कि उन पर अमृताजी हस्ताक्षर कर दें। हस्ताक्षर के बाद अमृताजी जब सारी किताबें हाथों से उठाकर उन्हें देने लगीं तो उनमें से एक ने कहा- आप इन्हें टेबल पर रख दें, हम उठा लेंगे, असल में हम स्त्रियों के हाथों से कुछ नहीं लेते...। तब मैंने इस पर कहा... 'वे लोग कुँवारे थे या ब्रह्मचारी?' मम्मी! (अमृताजी को मैं इसी तरह से बुलाती रही) और इमरोज़ दोनों मौन रहे- हँसे भर थे।

इण्डिया इण्टरनेशनल सेण्टर में दिल्ली के अधिकांश लेखकों से मिलना होता। अनेक मौकों पर मैं वहाँ गयी। वहीं तीन-चार बार प्रख्यात चित्रकार एम.एफ. हुसैन को, जैसा सुना था, नंगे पाँव देखा। एक बार मैंने नमस्कार किया तो तपाक से आत्मीयता भरे अपने ख़ास अन्दाज उन्होंने मेरा अभिवादन स्वीकार किया था। उस दिन मैं खुद को गौरवान्वित महसूस कर रही थी।

केदारनाथ जी के संकलन 'अकाल में सारस' का मैंने ओड़िया में अनुवाद किया। उन्हें पाण्डुलिपि दिखा कर मशविरा लिया था। उनके सन्तुष्ट होने के बाद पाण्डुलिपि मैंने साहित्य अकादेमी को दी। प्रकाशन के बाद 'अकाल में सारस' की ओड़ियालिपि में छपी दो प्रतियाँ भी उन्हें दी थीं।

आलोचक नामवर सिंह के साथ कई साहित्यिक सेमीनार-संगोष्ठियों में भागीदारी का मुझे मौका मिला। मेरी कविताएँ बहुत अच्छी हैं- मिलने पर वे कहा करते। अशोक वाजपेयी की कुछ कविताओं के ओड़िया अनुवाद मैंने किये हैं। वे भी मुझे प्रेरित करते रहे। वागीश शुक्ल जैसे ज्ञानी लोग देश में बहुत कम हैं।

नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा ओड़िया में अनुवाद करने के लिए मुझे कृष्णबलदेव वैद की कृति 'उसका बचपन' सौंपी गयी थी। उसी सिलसिले में वैदजी से अक्सर मिलना होता रहा। यूँ तो उनसे भोपाल से परिचय था, जब वे निराला सृजनपीठ के अध्यक्ष थे और उन्होंने भाषायी-रचनाकारों का एक आयोजन कराया था : 'अन्तर भारती।' आयोजन में ओड़िया रचनाकारों के साथ मैंने भी हिस्सेदारी की थी। चम्पा वैद जी से भी मेरा तभी परिचय हुआ था। दिल्ली प्रवास के दिनों तथा पुस्तक अनुवाद कार्य की वजह से ही यह परिचय पारिवारिक-सा हो गया। वैद दम्पत्ति बेहद संवेदनशील और आत्मीय हैं। ऐसे सुहृदयों से सुख-दुःख साझा करना हर किसी को अच्छा लगता है। वैदजी के यहाँ एक घरेलू नौकर था- पीताम्बर! एक रोज़ जब मैं पहुँची तो पाया कि वह पेट की पीड़ा से परेशान है और वैद दम्पत्ति उसकी तीमारदारी-चिकित्सा-व्यवस्था को लेकर चिन्तित हैं। मैं अभिभूत हो गयी। पीताम्बर के इलाज का सारा इन्तज़ाम स्वयं वैदजी ने ही वहन किया।

जब मैं कथाकार विजयदान देथा की कृति 'वाता री फुलवारी' का अनुवाद कर रही थी तब देथा जी द्वारा व्यवहृत ठेठ राजस्थानी शब्दों का सटीक ओड़िया शब्द न ला पाने की समस्या से मैं तनाव में थी। साहित्य अकादमी के पुस्तकालय गयी, हिन्दी-राजस्थानी शब्दकोष में तलाशती रही- कतिपय शब्दों के अर्थ फिर भी नहीं मिले। बहुत परेशान! पुस्तकालय से बाहर निकल रही थी, देखा देथा जी उसी ओर आ रहे हैं। उनसे अपनी कठिनाई का ज़िक्र किया। उस दिन आग्रह करने पर वे साथ घर आये। रात तीन बजे तक वे मेरे लिए राजस्थानी शब्दों के सहज हिन्दी शब्द सुझाते रहे और मैं उनके आशयों के आधार पर समानार्थी ओड़िया शब्द गढ़ती रही। वैसे इतने बड़े और बुजुर्ग साहित्यकार को इस तरह परेशान करने की मेरी मंशा नहीं थी लेकिन मेरे लिए कोई दूसरा रास्ता भी नहीं था! उनके प्रति मैं कृतज्ञ हूँ। बिना उनके व्यक्तिगत सहयोग के ओड़िया में 'वाता री फुलवारी' का प्रकाशन सम्भव नहीं हो पाता।

प्रयाग शुक्ल का मैं बहुत सम्मान करती हूँ। विनम्रता, पारदर्शिता उनके व्यक्तित्व और रचनात्मकता के गुण हैं। एक बार मैं और ओड़िया की लेखिका यशोधरा मिश्र अकादमी दफ़्तर जा रहे थे- प्रयाग जी से मुलाकात हुई। कहने लगे-'प्रवासिनी, मैं कल मसूरी से लौटा हूँ। लालबहादुर शास्त्री प्रशासनिक अकादमी में सेमीनार था। जहाँ विभिन्न भाषा के साहित्यकारों ने कविता-कहानियों के पाठ किये। वहाँ मुझे आए.ए.एस. प्रशिक्षण ले रहे ओड़िशा के चार युवाओं ने बातचीत में कहा कि उन्हें प्रवासिनी महाकुद की कविताएँ बहुत अच्छी लगती हैं।' फिर प्रयाग जी ने कहा, 'उनसे यह सुनकर मुझे बेहद खुशी हुई और मैंने जब उन्हें बताया कि प्रवासिनी से मैं खूब परिचित हूँ-उनसे बन्धुता है।' सुनकर यशोधरा जी और मैं- एक तरह से विभोर हो गये।

एक बार मिराण्डा हॉउस में हिन्दी विभाग की ओर से अखिल भारतीय विश्वविद्यालयीन कविता प्रतियोगिता में डॉ. रामदरश मिश्र, इन्दू जैन, कीर्ति जैन के साथ मुझे भी निर्णायक के रूप में आमन्त्रित किया गया। विभिन्न महाविद्यालयों से आये प्रतिभागी छात्रों ने अपनी स्वरचित कविताएँ सुनायीं। भौतिकशास्त्र विभाग की एक छात्रा ने वैश्या के जीवन की मार्मिक कविता सुनायी तथा कानून की पढ़ाई कर रहे एक छात्र ने गाँधीजी पर लिखी कविता का पाठ किया था, दोनों संयुक्त रूप से प्रतियोगिता में प्रथम रहे। परिणाम घोषित होने पर कक्ष में उपस्थित एक दृष्टिहीन छात्र ने अचानक खड़े होकर नतीजे का विरोध किया। उसका कहना था कि गाँधीजी पर पढ़ी गयी कविता, एक प्रसिद्ध कवि की है और यह कविता लाल किला, आकाशवाणी, दूरदर्शन से प्रसारित भी हो चुकी है। इसलिए दूसरे की कविता को अपनी कविता बताकर पढ़ने के कारण उस छात्र को प्रतियोगिता से बाहर किया जाए! इस जानकारी से हम निर्णायकों को बहुत खराब लगा। हमने यह भी देखा कि पुरस्कार पाने योग्य वह विवादित अयोग्य छात्र लगभग भागते हुए हॉल से उठकर जा रहा था।

दिल्ली प्रवास के दिनों में अनामिका, गगन गिल, तरन्नुम, वनिता के साथ बहुत अच्छा वक़्त बिताया है। कभी दिल्ली के हाट-बाजार में, कभी इण्डिया इण्टरनेशनल सेण्टर, कभी देश के किसी शहर में, कभी लतीफ़ेबाजी तो कभी रात भर होटल के कमरे में गप्पेबाजी। एक-दूसरे को हम अपनी कविताएँ सुनातीं। एक बार हेम्बर्ग के एक होटल में रात को मैं और तेलुगु कवियित्री जयप्रभा अपने कमरे में इतना डर महसूस करने लगीं कि हम वनिता के कमरे में चली गयीं और पूरी रात जागती रहीं। अगली सुबह हमने अपना कमरा बदलवाया तब जाकर चैन मिला।

दिल्ली में सुदीर्घ प्रवास की असंख्य स्मृतियाँ हैं। सुख और दुःख की। अरुण प्रकाश के निधन से मैं अत्यन्त दुखी हुई थी। समकालीन भारतीय साहित्य के सम्पादक, कवि गिरधर राठी, प्रभाकर श्रोत्रिय, ब्रजेन्द्र त्रिपाठी और डॉ. रणजीत साहा- इनकी मदद और सहयोग को मैं कभी भुला नहीं पाऊँगी। जब भी मैंने हिन्दी भाषा- साहित्य के सन्दर्भ में

जानने की इच्छा ज़ाहिर की, इन्होंने बेहिचक मेरी मदद की। केदारनाथ सिंह और अशोक वाजपेयी जी के लिए विशेष कृतज्ञता महसूस करती हूँ, दूसरी भाषा की कवि के लिए भी उनमें ऐसी गहन संवेदना है।

साहित्य अकादमी की मुख्य पुस्तकालयाध्यक्षा एन. विजयलक्ष्मी से देश के प्रायः सभी लेखक-लेखिका ज़रूर मिलते। दुनिया का साहित्य वहाँ पढ़ने के लिए उपलब्ध जो है। यहीं मेरी भेंट देश के नामी साहित्यकारों से हुई है। अनेक साहित्यकारों से उनकी जीवन-कथाएँ सुनने का अवसर भी मिला है।

केन्द्रीय साहित्य अकादमी के सभी मान्य सदस्यों की सहृदयता की याद करके मैं आज भी उदास हो जाती हूँ। गर्मी, बरसात, जाड़ों में मैंने दिल्ली को सिर से पाँव तक तलाशा है। तलाशा है कहानी में, कविता में, उपन्यासों में, नृत्य में, संगीत में, छन्द में, संस्कृति में, जीवन को जीवन के बहाव में। एक सर्जक क्या जीवन की तलाश इसी तरह नहीं करता है!

एक प्रसंग और- दिल्ली से जर्मनी प्रवास का।

दिसम्बर का महीना। अकादमी जाने के लिए घर से निकल साकेत पी.व्ही.आर. के पास आटो रिक्शा के लिए खड़ी थी। एन.डी.टी.व्ही. के प्रोड्यूसर प्रशान्त सिसोदिया की गाड़ी रुकी, पूछा- 'दीदी, अकादमी जा रही हो?' मैंने 'हाँ' कहा और उनकी गाड़ी से अकादमी आ गयी। पुस्तकालय पहुँच किताबें जमा की उसके बाद 'इण्डियन लिटरेचर' के सम्पादक निर्मलकान्ति भट्टाचार्य के कक्ष में गयी। उन्होंने देखते ही कहा- प्रवासिनी! बधाई, तुम लाईपशिज़ जा रही हो। आश्चर्य हुआ। 'लाइपशिज़ कहाँ है, मुझे मालूम नहीं।' मैंने इनकार किया। वे थोड़ी देर के लिए चुप हो गये। साथ में चाय पी। दीगर बातें करते रहे। उनके कक्ष से निकल रही थी कि कॉरीडोर में अकादमी के सचिव के. सच्चिदानन्दन से मुलाकात हो गयी। उन्होंने भी मुझे वहीं बधाई दी। मैंने पूछा, 'ये लाईपशिज़ कहाँ है।' 'जर्मनी में'- सुनकर सोचने लगी- मैं और जर्मनी! याद आयी- माँ के उस बड़े सन्दूक की बात, जिसे वह अपनी शादी के समय लायी थी जिसमें जर्मनी की बनी काँच की चूड़ियाँ आदि थे। बचपन में गुड़ियों की शादी-खेल के दौरान हम बहिनों के हाथों जो टूट-फूट गये थे।

अगले दिन बीस दिनों के लिए जर्मनी जाने का मुझे आमन्त्रण मिला। कविता, एक दिन मुझे दिल्ली ले आयी थी। यहाँ से जर्मनी, प्रवासिनी की पहली प्रवास-यात्रा। कवि का कोई निश्चित ठिकाना है क्या?

तलाश ही जीवन है।

पाना तो मर जाना है।

प्रत्येक सर्जक ऐसे ही जीवन की तलाश करता है। जैसे प्रवासी तलाशते हैं। धरती की किसी भी जगह, किसी भी देश-काल में तलाश करने की मनुष्य की भूख कभी खत्म न हो!

प्रेमचन्द और समाजवाद

कमल किशोर गोयनका

प्रेमचन्द के मार्क्सवाद और रूसी क्रान्ति एवं प्रगतिशीलता के विचार-दर्शन को लेकर कई दशकों से हिन्दी आलोचना में चर्चा और विवेचन होता रहा है लेकिन यह विवेचन प्रायः हिन्दी के प्रगतिशील आलोचकों, लेखकों एवं कम्युनिस्ट नेताओं की ओर से ही हुआ है। स्वाभाविक था, प्रगतिशील लेखकों और कम्युनिस्ट नेताओं ने इस चर्चा-विवेचन का उपयोग उन्हें मार्क्सवादी लेखक सिद्ध करने में किया। इसके लिए उन्हें यह भी लिखना पड़ा कि अपने अन्तिम वर्षों में प्रेमचन्द का गाँधीवाद से मोह-भंग हो गया था और इसके बाद वे मार्क्सवाद की ओर उन्मुख हो गये थे। इस स्थापना से प्रेमचन्द का हित तो नहीं हुआ, लेकिन प्रगतिशील आलोचकों एवं लेखकों ने हिन्दी साहित्य में यह स्थापित कर दिया कि प्रेमचन्द मार्क्सवादी लेखक थे और वे खूनी क्रान्ति के द्वारा सर्वहारा के राज्य की स्थापना करना चाहते थे। इन प्रगतिशील लेखकों ने 'प्रगतिशील लेखक संघ' की प्रेमचन्द की अध्यक्षता को लेकर भी अपने पक्ष में वातावरण बनाया और अनेक क्षेत्रों में उसका विस्तार किया। इस स्थापना के साथ यह भी एक चमत्कारपूर्ण तथ्य है कि ये मार्क्सवादी आलोचक एवं लेखक यह भी मानते हैं कि प्रेमचन्द ने मार्क्सवाद का पूर्ण अध्ययन नहीं किया था और वे उससे पूर्णतः अवगत नहीं थे। डॉ. रामविलास शर्मा ने सन् १९४१ में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द' में लिखा है, 'उनकी कृतियों से यह नहीं जान पड़ता कि उन्होंने समाजवाद का शास्त्रवत् अध्ययन किया था या समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार रचे गये साहित्य के अनुसार साहित्य भी गढ़ने की चेष्टा की थी।'[१] यही बात लगभग ४० वर्ष के बाद मार्क्सवादी आलोचक डॉ. शिवकुमार मिश्र ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द : विरासत का सवाल' में लिखी है। वे लिखते हैं कि मार्क्स का नाम प्रेमचन्द ने कहीं नहीं लिया है, मार्क्सवादी दर्शन का ज़िक्र भी उन्होंने नहीं किया है, कदाचित मार्क्सवादी दर्शन को उसके सुसंगत रूप में जानने-पहचानने का सुयोग उस युग के दूसरे तमाम बुद्धिजीवियों की भाँति उन्हें भी नहीं मिला था।[२]

हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचकों के ये निष्कर्ष उपलब्ध तथ्यों के विपरीत हैं। प्रेमचन्द ने 'मार्क्स' का उल्लेख अपने लेख 'इस्लामी सभ्यता'[३] में करते हुए लिखा है कि कार्ल मार्क्स और रूसो को जिन सिद्धान्तों का श्रेय दिया जा रहा है, वास्तव में उनका जन्मदाता अरब के मरुस्थल का उम्मी मुहम्मद था जिसने इस्लाम धर्म को जन्म दिया। प्रेमचन्द

के इस कथन से हमारे कम्युनिस्ट लेखक सम्भवतः सहमत नहीं होंगे लेकिन इस प्रमाण को वे अस्वीकार नहीं कर सकते कि सन् १९२५ में वे 'कार्ल मार्क्स' का उल्लेख कर रहे थे और वे उसके सिद्धान्तों से परिचित थे। 'स्वदेश', १८ मार्च, १९२८ को अपने लेख 'राज्यवाद और साम्राज्यवाद में प्रेमचन्द' ने लिखा, 'साम्यवाद से ऐसी ही लम्बी-चौड़ी आशाएँ बाँधी गयी थीं, मगर अनुभव यह हो रहा है कि साम्यवाद केवल पूँजी-पंतियों पर मजूरों की विजय का आन्दोलन है। न्याय के अन्याय पर, सत्य के मिथ्या पर विजय पाने का नाम नहीं। वह सारी विषमता, सारा अन्याय, सारी स्वार्थपरता, जो पूँजीवाद के नाम से प्रसिद्ध है, साम्यवाद के रूप में आकर भरगुंमात्र भी कम नहीं होती, बल्कि उससे और भी भयंकर हो जाने की सम्भावना है।' वे ज़ार, मुसोलिनी, हिटलर, स्टालिन, लेनिन, चर्चिल आदि की चर्चा 'जागरण' और 'हंस' में लिखी अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों में बार-बार करते हैं तथा कुछ स्थानों पर तो वे मार्क्सवादी शब्दावली का प्रयोग करते रहे हैं। उनके पत्रों एवं लेखों में 'बोल्शेविस्ट उसूल' (पत्र, २१ दिसम्बर, १९१९), 'रक्तमय अशान्ति' ('मर्यादा', बैशाख, सम्वत् १९७९), 'क्रान्ति' ('हंस', जून,१९३१), 'रूस धर्म को अफ़ीम का नशा कहता है' ('हंस', अक्टूबर-नवम्बर, १९३२), 'शान्तिमय क्रान्ति' ('हंस', अक्टूबर-नवम्बर, १९३२), 'ज़ार-सत्ता' ('जागरण', २० फरवरी, १९३३), 'वर्गवाद' ('जागरण', १७ अप्रैल, १९३३), 'कम्युनिज़्म और फासिज़्म' ('जागरण', २१ अगस्त, १९३३), 'सोशलिज़्म' ('जागरण', ९ अक्टूबर, १९३३), 'वर्ग संग्राम का भीषण रूप' ('जागरण', १० अप्रैल, १९३३), 'समाजवादी डिक्टेटरशिप' ('जागरण', १५ जनवरी, १९३४), 'सर्वहारा वर्ग' (पत्र, इन्द्रनाथ मदान को, २६ दिसम्बर, १९३४) आदि शब्दों एवं वाक्यों का यत्र-तत्र प्रयोग मिलता है जिससे स्पष्ट है कि वे मार्क्सवाद तथा रूस में हुई बोल्शेविक क्रान्ति से पूर्णतः अवगत थे। प्रेमचन्द के कुछ लेख भी रूस की स्थिति, साम्यवाद और महाजनी सभ्यता आदि के युगीन सन्दर्भों पर आधारित है। ये लेख हैं-'पुराना ज़माना : नया ज़माना' ('ज़माना' उर्दू पत्रिका, फरवरी, १९१९), 'रूस और जर्मनी की सन्धि' ('मर्यादा', अप्रैल, १९२२), 'रूस का भाग्य-विधाता' ('जागरण', ३१ अक्टूबर, १९३२), 'सोवियत रूस की उन्नति' ('जागरण', २८ नवम्बर, १९३२), 'रूसी साहित्य और हिन्दी' ('हंस', मई, १९३३), 'भारत १९३८ में' ('जागरण', २१ अगस्त १९३३), 'भावी महासमर' ('जागरण', २२ मई, १९३३), 'रूस में समाचार-पत्रों की उन्नति' ('जागरण', २१ अगस्त, १९३३), 'काँग्रेस और सोशलिज़्म' ('जागरण', ९ अक्टूबर, १९३३), 'श्री जवाहरलाल नेहरू का व्याख्यान' ('जागरण', २० नवम्बर, १९३३), 'समाजवाद का आतंक' ('जागरण', १५ जनवरी, १९३४), 'रूस और जापान में तनाव' ('जागरण', १९ फरवरी, १९३४), 'रूस का नैतिक उत्थान' ('जागरण', २६ फरवरी, १९३४), 'रूस में धर्म विरोधी आन्दोलन' ('जागरण',१९ मार्च, १९३४), 'रूस में पूँजीवाद' ('जागरण', २३ अप्रैल, १९३४), 'रूसी कहानियाँ' ('हंस', मार्च, १९३५), 'साम्यवाद का बिगुल' ('हंस', जून, १९३६), 'महाजनी सभ्यता' ('हंस', सितम्बर, १९३६) आदि।

ये सभी सन्दर्भ, लेखादि इसके प्रमाण हैं कि प्रेमचन्द कार्ल मार्क्स, मार्क्सवाद, लेनिन की बेल्शेविक खूनी क्रान्ति, ज़ार की सत्ता और कम्युनिस्ट सत्ता तथा उसके क्रिया-कलापों एवं विचार-दर्शन से पूर्णतः परिचित थे। वे अपने समय के सबसे अधिक अध्ययनशील हिन्दी लेखक थे। उन्होंने अँग्रेज़ी भाषा के माध्यम से यूरोप, रूस आदि का साहित्य पढ़ा था और ज्ञान-विज्ञान तथा विश्व-राजनीति के सम्बन्ध में जो पुस्तकें भारत में आ रही थीं, वे उनसे सीधे सम्पर्क में थे। इसके भी प्रमाण उपलब्ध हैं कि उन्होंने समाजवाद पर कई पुस्तकें पढ़ी थीं तथा उस समय के प्रतिष्ठित समाजवादियों-सम्पूर्णानन्द, आचार्य नरेन्द्र देव आदि से उनके गहरे सम्बन्ध थे। वैसे भी, रूस की खूनी क्रान्ति (सन् १९१७) से काफी पहले 'समाजवाद' की चर्चा सारे विश्व में आरम्भ हो चुकी थी। यहाँ तक कि स्वामी विवेकानन्द भी

इससे अछूते नहीं रहे। विवेकानन्द जब इंग्लैण्ड में थे, उनसे अनेक समाजवादी और प्रजातन्त्रवादी नेता मिलने आये थे[४] और उन्होंने 'समाजवाद' की आवश्यकता पर लन्दन में सन् १८९६ में कहा था, 'यहाँ इंग्लैण्ड में यही प्रकट हो रहा है कि समाजवाद अथवा जनता द्वारा शासन का कोई स्वरूप, उसे आप चाहे जिस नाम से पुकारें, उभरता आ रहा है। लोग निश्चय ही यह चाहेंगे कि उनकी पार्थिव आवश्यकताओं की पूर्ति हो, वे कम काम करें, उनका शोषण न हो, युद्ध न हो और भोजन आदि मिले।'[५] विवेकानन्द ने समाजवाद की परिभाषा देते हुए कहा कि जो समाज के आधिपत्य के लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का त्याग चाहता है, वह सिद्धान्त समाजवाद कहलाता है और जो व्यक्ति के पक्ष का समर्थन करता है, वह व्यक्तिवाद कहलाता है।[६] वे अपने व्याख्यानों में भारत के 'सामाजिक साम्यवाद'की चर्चा करते हैं और 'सार्वभौम साम्यवाद' की भी, परन्तु उनका दृढ़ मत है कि साम्यवादी सिद्धान्तों का आधार आध्यात्मिक ही होना चाहिए।[७] उनका मत था कि कोई भी समाजवादी सभ्यता, जो धर्म पर अथवा मनुष्य के भीतर के शुभ पर आधारित न हो, स्थायी नहीं हो सकती, लेकिन धर्म इस समस्या की जड़ तक पहुँच सकता है।[८]

महात्मा गाँधी भी अपने समय में समाजवाद और साम्यवाद पर विचार करने से बच नहीं पाये। समाजवाद उस काल-खण्ड में स्वराज्य और स्वाधीनता के साथ महत्त्वपूर्ण विषय था जिसके कारण साधारण जनता को न्यायपूर्ण समानता और शोषणमुक्त व्यवस्था मिलने की सम्भावना उत्पन्न हो गयी थी। अतः महात्मा गाँधी को भी समाजवाद और साम्यवाद पर विचार करना आवश्यक था। गाँधी 'समाजवाद' को मानते हैं और उसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि समाजवाद का यह अर्थ है कि लोग स्वावलम्बी बनें। ऐसा होने पर ही उनका लूटा जाना बन्द हो सकेगा।[९] उनका मत है कि 'ईशोपनिषद्' के पहले मन्त्र में ही समाजवाद ही नहीं साम्यवाद विद्यमान है।[१०] इसीलिए वे 'पाश्चात्य समाजवाद या साम्यवाद' को उचित नहीं मानते क्योंकि उसमें हिंसा का रंग चढ़ा हुआ है।[११] वे समाजवाद को स्पष्ट करते हैं और कहते हैं कि कारखानों का या तो राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय या उन्हें राज्य के स्वामित्व में रखा जाये। वे मानव-हित के लिए चलाये जाएँ, लोभ के लिए नहीं; तथा धन की आपा-धापी बन्द हो एवं मजदूरों का जीवन सुधारें।[१२] लेकिन गाँधी रूसी ढंग के समाजवाद को स्वीकार नहीं करते। वे स्पष्ट कहते हैं कि रूसी ढंग का जबरदस्ती थोपा गया समाजवाद भारत को कभी स्वीकार नहीं होगा। मैं 'अहिंसक साम्यवाद' में आस्था रखता हूँ।[१३] गाँधी के विचार में 'अहिंसा' और 'रचनात्मक कार्यक्रम' उसके मूल में हैं। गाँधी 'शोषण' के विरुद्ध हैं[१४] तथा 'वर्ग-युद्ध' के विरोधी हैं[१५], पूँजीपति एवं मज़दूर दोनों को चाहते हैं[१६], स्वराज्य के लिए 'आर्थिक स्वतन्त्रता' चाहते हैं[१७] और कहते हैं कि साम्यवादी दल के अस्तित्व में आने से पहले ही काँग्रेस श्रमिकों और कृषकों के लिए स्वराज्य की कल्पना कर चुकी थी।[१८] फिर भी वे मानते हैं कि कम्युनिस्टों से उनका झगड़ा नहीं है, मतभेद है।[१९] वे कई बार समाजवादियों से अपने अन्तर को स्पष्ट करते हैं। गाँधी मानते हैं कि सब सम्पत्ति प्रजा की है-'सबै भूमि गोपाल की', 'लेकिन समाजवादियों के घृणा और हिंसा से राज-सत्ता पर नियन्त्रण तथा समानता को बलपूर्वक लागू करने के वे समर्थक नहीं है।[२०] वे कहते हैं कि आप देश को अपने विचारों का अनुगामी बनाने के लिए हिंसा का पथ ग्रहण कर सकते हैं, परन्तु आप कितने लोगों को मारेंगे? करोड़ों का विनाश तो नहीं कर सकते जबकि आज आप मुट्टी-भर से अधिक नहीं हैं।[२१] वे स्पष्ट देखते हैं और कहते हैं कि समाजवादी और साम्यवादी अपने विचारों एवं सिद्धान्तों का अपने जीवन में आचरण नहीं करते। आप साम्यवादी होने का दावा करते हैं, परन्तु साम्यवादी जीवन व्यतीत करते दिखायी नहीं देते। गाँधी कहते हैं कि यदि साम्यवाद में हमारी श्रद्धा है, तो हम कम-से-कम अपनी निजी जायदाद तो समाज को अर्पण कर दें। एक भी कौड़ी जब तक कोई रखेगा, तब तक वह समाजवादी नहीं है।[२२] गाँधी आचरण पर बल देते हैं और उसे अहिंसा का मार्ग कहते हैं। इस कारण वे स्वयं को 'सबसे बड़ा कम्युनिस्ट'[२३] होने का दावा करते हैं।

वे इसी आधार पर जवाहरलाल नेहरू के समाजवाद से स्वयं को थोड़ा अलग मानते हैं। नेहरू परिणाम पर जोर देते हैं और अहिंसा के अतिरिक्त अन्य साधनों से भी समाजवाद लाना चाहते हैं, परन्तु गाँधी अहिंसा के सिद्धान्त से टस-से-मस नहीं होते।[२४] गाँधी मानते हैं कि उनका जो भारतीय समाजवाद है, वह एक दिवा-स्वप्न है, वैसे ही जैसे समाजवादियों का एक नयी व्यवस्था के बनाने का है, लेकिन वे भी एक नये ढंग की व्यवस्था बनाना चाहते हैं जो विश्व को अचम्भे में डाल देगी।[२५] उनका समाजवाद या साम्यवाद अहिंसा तथा श्रम व पूँजी और जमींदार व रैयत के सामंजस्यपूर्ण सहयोग पर आधारित है।[२६] गाँधी इसकी सम्भावना स्वतन्त्र भारत में देखते हैं और मानते हैं कि तब अमीरों और गरीबों के पास बराबर की सत्ता होगी, लेकिन यदि स्वेच्छा से सम्पत्ति का त्याग नहीं किया जाता और जो सत्ता सम्पत्ति से प्राप्त होती है, उसे खुशी-खुशी नहीं छोड़ा जाता तथा सम्पत्ति का उपयोग मिल-जुलकर, सब की भलाई के लिए नहीं किया जाता तो निश्चय ही इस देश में खूनी क्रान्ति आयेगी।[२७]

प्रेमचन्द समाजवाद को लेकर विवेकानन्द, गाँधी, बोल्शेविक क्रान्ति तथा अपने युग की आवश्यकताओं से प्रभावित थे और वे समाजवाद का अपना दर्शन विकसित कर रहे थे। भारत में उस समय स्वराज्य की लड़ाई शुरू हो चुकी थी। इस लड़ाई का आधार विदेशी दासता से मुक्ति का संकल्प तो था ही, समता एवं न्याय पर आधारित समाज की रचना का स्वप्न भी जुड़ा हुआ था। इस प्रकार समाजवाद भी उस युग की प्रमुख माँग थी। इसी कारण बोल्शेविक क्रान्ति और गाँधी के आविर्भाव से पहले ही प्रेमचन्द की दिशा शोषण-मुक्त समाज के निर्माण की थी। उनके इस चिन्तन को विवेकानन्द, गाँधी और मार्क्स के अनुयायियों ने दृढ़ आधार दे दिया और वे अपने लेखों के साथ अपने उपन्यासों एवं कहानियों में अपने समाजवादी-दर्शन को रूप देते रहे। उनके लेखों में समाजवाद का चिन्तन पक्ष तथा सर्जनात्मक कृतियों में भारतीय समाजवाद तथा भारतीय समाजवादियों व कम्युनिस्टों के चरित्र का उद्घाटन किया गया है। प्रेमचन्द ने समाजवाद की परिभाषा में कहा है कि समाजवाद यही तो कहता है कि मनुष्य मात्र को समान भाव से शिक्षित होने और काम करने का अवसर दिया जाय, सभी काम बराबर समझे जाएँ, सभी समान रूप से प्रेम और शान्ति के साथ रहकर जीवन व्यतीत करें। इससे ऊँचा और पवित्र मानव-संस्कृति का उद्देश्य और क्या हो सकता है।[२८] उन्होंने एक अन्य स्थान पर लिखा कि आज राज्य का आधार स्तम्भ है समता। उसका अर्थ है, प्रजातन्त्र के लिए समान अवसर, समान सुविधा और समान सत्ता की व्यवस्था करना, और जो राज्य इस सत्य को स्वीकार नहीं करता, वह बहुत दिन टिक नहीं सकता।[२९] प्रेमचन्द मानते हैं कि बीसवीं सदी सोशलिज़्म की सदी है जो सम्भव है आगे चलकर कम्युनिज़्म का रूप धारण कर ले। भारत जैसे देश में जहाँ आबादी का बड़ा हिस्सा गरीबों का है, जिनमें पढ़े-अनपढ़े सब तरह के मज़ूर हैं, सोशलिज़्म के सिवा उनका आदर्श हो ही क्या सकता है।[३०] इस दृष्टि से विवेकानन्द, गाँधी और प्रेमचन्द एक ही लक्ष्य के पथिक बन जाते हैं।

प्रेमचन्द ने समाजवादी-दर्शन में हमें वे मुसोलिनी, हिटलर, स्टालिन जैसे तानाशाहों का समर्थन करते हुए मिलते हैं। वे कहते हैं कि मुसोलिनी, हिटलर तथा स्टालिन राष्ट्र के सच्चे सेवक हैं और यही उनकी सबसे बड़ी शक्ति है। राष्ट्र उनकी सम्पत्ति नहीं है और न राष्ट्र का धन उनके भोग के लिए है। इनकी डिक्टेटरशिप चन्द रोज़ा है या स्थायी, पर इसमें सन्देह नहीं कि इस वक़्त वे डिमाक्रेसी से कहीं उपयोगी हो रही है।[३१] वे इसे 'समाजवाद का आतंक' भी कहते हैं तथा यह मानने लगते हैं कि यह डिक्टेटरशिप का युग है।[३२] एक स्थान पर प्रेमचन्द मानते हैं कि सोवियत का आदर्श कम्युनिस्ट पार्टी या डिक्टेटरशिप नहीं है। यह अस्थायी है। उसका आदर्श एक ऐसा साम्यवाद है जिसमें आदमी स्वार्थ से नहीं, केवल समाज के हित के लिए बगैर किसी दवाब के जियेगा और मरेगा, जब सभी मनुष्य होंगे, ऊँच-नीच या शासक और शासित का भेदभाव मिट जाएगा।[३३]

प्रेमचन्द का डिक्टेटरशिप का यह समर्थन स्थायी न रह सका। मुसोलिनी, हिटलर तथा स्टालिन के शासन-तन्त्र में वे जो प्रजा का हित देख रहे थे, वे उनके जीवन-काल में ही धराशाही हो गया। यदि वे जीवित रहते और दूसरा विश्व-युद्ध देखते तो उन्हें अवश्य ही वे मानव के भयंकर शत्रु के रूप में पहचानते। 'हिटलर की तानाशाही' शीर्षक से तो उन्होंने 'हंस' के मई, १९३४ के अंक में सम्पादकीय लिखा और उसके अत्याचारों पर टिप्पणी की। रूस के स्टालिन के बारे में उन्होंने 'हंस' के मई, १९३३ के अंक में लिखा कि रूस का साम्राज्यवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है[३४] लेकिन अपने इस मत का स्वयं खण्डन करते हुए २२ मई, १९३३ को अर्थात् उसी महीने 'जागरण' में 'भावी महासमर' सम्पादकीय में उन्होंने लिखा कि साम्राज्य-विरोधी रूस भी चाहता है कि ज़माना सोवियत हो जाय। उसे 'विचार का साम्राज्य' चाहिए। इसी प्रकार वे लेनिन और स्टालिन के रूस के बारे में समझते थे कि वहाँ पूँजीवाद समाप्त हो गया है, परन्तु २३ अप्रैल, १९३४ की उनकी टिप्पणी में यह स्वीकार है कि वे भ्रम में थे। उन्होंने लिखा, 'हम समझ रहे थे कि कम-से-कम एक ऐसा देश है, जिसने पूँजीवाद पर विजय पायी है और अपने देश में एक नयी समाज व्यवस्था कायम कर दी है, लेकिन मालूम होता है कि हम भ्रम में थे।'[३५] अपने सन् १९२१ में लिखे लेख 'स्वराज्य के फ़ायदे' में उन्होंने आशा व्यक्त की थी कि बोल्शेविज़्म का कोई सुधरा रूप आगे बच रहेगा, लेकिन वे अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में देख रहे थे कि रूस का स्टालिन और उसकी कम्युनिस्ट व्यवस्था हिटलर की तरह ही व्यवहार कर रही थी। वे जिस 'फ़ासिज़्म और नाज़िज़्म' को समाजवाद के रूप समझ रहे थे, वे उनके समय में ही अपना असली चेहरा दिखाने लगे थे और इस तरह उनके भ्रम टूट रहे थे। वे समझ रहे थे कि 'कम्युनिज़्म और फासिज़्म' जिस रूप में विकसित हो रहा है, उससे वे प्रजाहित के अपने उद्देश्य से भटक जायेंगे और तब उनकी सत्ता भी समाप्त हो जायेगी। उन्होंने रूस में कम्युनिस्ट शासन के समाप्त होने की भविष्यवाणी करते हुए 'जागरण', २१ अगस्त, १९३३ को लिखा, ''कम्युनिज़्म और फासिज़्म का आधिपत्य इसलिए नहीं है कि उनके पीछे सैनिक शक्ति है, बल्कि इसलिए कि वे प्रजाहित को ही अपना आधार बनाये हुए हैं। ज्यों ही वे इस आदर्श से गिर जायेंगे, जनता फिर चंचल हो जायेगी और फिर किसी दूसरी तरह इस समस्या को हल करने की चेष्टा करेगी।''[३६] बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में रूस में कम्युनिस्ट शासन के पतन की घटना को देखते हुए उनकी भविष्य-दृष्टि की प्रशंसा करनी पड़ेगी। वे देख रहे थे कि राजनीति के नये सिद्धान्तों पर चलकर विश्व में नये राष्ट्र बन रहे थे तथा वे बलवान और संगठित भी हो रहे थे, किन्तु उन्हें सन्देह था कि इससे संसार में सुख और शान्ति में वृद्धि होगी।[३७]

प्रेमचन्द के समाजवाद-दर्शन पर विवेकानन्द और गाँधी का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। वे एक स्थान पर तो विवेकानन्द की ही शब्दावली में समाजवाद का सम्बन्ध वेदान्त के एकात्मवाद से जोड़ते हुए लिखते हैं, 'यहाँ तो वेदान्त के एकात्मवाद ने पहले ही समाजवाद के लिए मैदान साफ़ कर दिया है। हमें उस एकात्मवाद को केवल व्यवहार में लाना है। जब सभी मनुष्यों में एक ही आत्मा का निवास है, तो छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब का भेद क्यों?'[३८] प्रेमचन्द विवेकानन्द और गाँधी के इस विचार से सहमत हैं कि यूरोप के समाजवाद के स्थान पर भारतीय समाजवाद हो, जिस पर 'भारतीयता' की छाप हो, जिसमें स्वार्थ और लूट प्रधान न हो, नीति और धर्म प्रधान हो।[३९] विवेकानन्द और गाँधी का दर्शन भी 'नीति और धर्म' पर ही स्थित है। इसी कारण प्रेमचन्द अपने समाजवादी दर्शन में मार्क्स और लेनिन की हिंसक क्रान्ति, वर्ग-संघर्ष, भूमि पर राज्य का अधिकार, मज़दूरों की प्रमुखता और हड़ताल आदि को स्वीकार नहीं करते। प्रेमचन्द 'हंस' के जून, १९३१ में लिखते हैं, 'महात्मा गाँधी क्रान्ति नहीं चाहते और न क्रान्ति से आज तक किसी जाति का उद्धार हुआ है। महात्मा गाँधी ने हमें जो मार्ग बतलाया, उससे क्रान्ति की भी भीषणता के बिना ही क्रान्ति के लाभ प्राप्त हो सकते हैं।'[४०] वे सर्वत्र हिंसक क्रान्ति का विरोध करते हैं और 'द्वेषमय हिंसा' करना तथा उसकी सराहना करना दोनों को 'धर्म-विरुद्ध' मानते हैं।[४१] वे संघर्ष को पशुता का तथा सहयोग को मानवता का

लक्षण मानते हैं[४२] और इसीलिए वे वर्ग-संघर्ष को स्वीकार नहीं करते। प्रेमचन्द ने इन्द्रनाथ मदान को २६ दिसम्बर, १९३४ को पत्र में लिखा था कि ''मेरा आदर्श समाज वह है जिसमें सब को समान अवसर मिले। विकास को छोड़कर और किस जरिए से हम इस मंजिल पर पहुँच सकते हैं। लोगों का चरित्र ही निर्णायक तत्व है। कोई समाज-व्यवस्था नहीं पनप सकती जब तक कि हम व्यक्तिशः उन्नत न हों। कहना सन्देहास्पद है कि क्रान्ति से हम कहाँ पहुँचेंगे। यह हो सकता है कि हम उसके जरिए और भी बुरी तरह डिक्टेटरशिप पर पहुँचें जिसमें रंचमात्र व्यक्ति-स्वाधीनता न हो। मैं रंग-ढंग सब बदल देना चाहता हूँ पर ध्वन्स नहीं चाहता।''[४३] इन विचारों के मूल में महात्मा गाँधी की अहिंसा, सहयोग, हृदय-परिवर्तन, ट्रस्टीशिप, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य आदि का सीधा प्रभाव है, बल्कि यह कहना उचित होगा कि गाँधी के इन विचारों के कारण वे मार्क्सवाद का भारतीकरण कर पाये। प्रेमचन्द इस प्रभाव के कारण महात्मा गाँधी को सोशलिज़्म और कम्युनिज़्म से भी आगे बढ़ा हुआ मानते थे, क्योंकि वे उनके विचार में 'अपरिग्रहवादी' थे।[४४] गाँधी स्वयं को कम्युनिस्ट कहते थे और प्रेमचन्द ने भी एक बार स्वयं को कम्युनिस्ट कहा था, परन्तु गाँधी कार्ल मार्क्स के अर्थ में स्वयं को कम्युनिस्ट नहीं मानते थे, वैसे ही प्रेमचन्द भी शास्त्रीय अर्थ में कम्युनिस्ट या समाजवादी नहीं थे। प्रेमचन्द ने एक इण्टरव्यू में कहा था, ''मैं कम्युनिस्ट हूँ, मगर मेरा कम्युनिज़्म बिल्कुल भिन्न प्रकार का है। ग ग ग हमारे समाज में जमींदार, साहूकार, यह किसान का शोषण करने वाला समाज बिल्कुल रहेगा ही नहीं।''[४५] प्रेमचन्द इस इण्टरव्यू में रूसी, इंग्लैण्ड तथा गाँधी के कम्युनिज़्म को स्वीकार न करके अपने कम्युनिज़्म को स्पष्ट करते हैं। इस प्रकार प्रेमचन्द मार्क्स की नकल नहीं करते, लेकिन शोषण से मुक्ति की उनकी नीति को स्वीकार करते हैं, परन्तु गाँधी से अनेक विचारों को ले लेते हैं और अपना समाजवाद निर्मित करते हैं। वे कांग्रेस और गाँधी के साथ हैं, क्योंकि समाजवाद उनका आदर्श है। वे जवाहरलाल नेहरू के भी समर्थक हैं, परन्तु वे गाँधी और नेहरू में गाँधी को सर्वोच्च मानते हैं, क्योंकि गाँधी विचार और आचरण दोनों में समाजवादी हैं, जबकि प्रेमचन्द के अनुसार नेहरू विचार से सोशलिस्ट हैं, व्यवहार से नहीं।[४६]

प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों में समाजवाद और साम्यवाद का एक दूसरा रूप मिलता है। उन्होंने अपने लेखों, पत्रों, इण्टरव्युओं आदि में समाजवाद का अपना सैद्धान्तिक प्रारूप प्रस्तुत किया और उस युग के समाजवादी-दर्शन के गुणावगुणों के विवेचन के उपरान्त अपना भारतीय समाजवाद का रूप तैयार किया, लेकिन सर्जनात्मक साहित्य में उन्हें जीवन में आये समाजवादी सत्यों का उद्‌घाटन करना था। वे देख रहे थे कि जवाहरलाल नेहरू जैसे सशलिस्ट कांग्रेसी विचार से समाजवादी थे, व्यवहार में नहीं और महात्मा गाँधी भी बार-बार कहते कि बलपूर्वक सभी को समान बनाने से अच्छा यह है कि हम स्वयं समानता के सिद्धान्तों का अपने आचरण में प्रयोग करें। हम अपनी निजी सम्पत्ति समाज को दान कर दें। भारत के साम्यवादी स्वयं साम्यवादी कहते हैं पर साम्यवादी जीवन व्यतीत करते नहीं दिखायी देते, क्योंकि वहाँ एक-एक के आचरण की कोई योजना नहीं है।[४७] प्रेमचन्द की दृष्टि भी यही है। वे देखना चाहते हैं तथा पाठकों को दिखाना चाहते हैं कि जो लोग भारत में समाजवाद तथा साम्यवाद लाना चाहते हैं, वे स्वयं समाजवाद को कैसे जी रहे थे। स्वाभाविक था, इसके लिए चरित्रों का निर्माण करना था और यह उपन्यास, कहानी और नाटक में ही सम्भव था। सन् १९१७ में बोल्शेविक क्रान्ति और सन् १९१९ में 'बोल्शेविक उसूलों के क़ायल' होने का उल्लेख करने के बाद प्रेमचन्द सन् १९२० से सन् १९३६ तक की कहानियों और उपन्यासों में भारतीय कम्युनिस्टों के चिन्तन और व्यवहार का बड़ी यथार्थता के साथ चित्रण करते रहे। उनकी ऐसी कहानियों में-'पशु से मनुष्य' ('प्रभा', फरवरी, १९२०), 'ब्रह्म का स्वाँग' ('प्रभा', १९२०), 'हार की जीत' ('मर्यादा', मई, १९२२), 'दो सखियाँ' ('माधुरी', फरवरी-मई, १९२८), 'क़ैदी', ('हंस', जुलाई, १९३३) तथा 'पण्डित मोटेराम की डायरी' ('जागरण', जुलाई, १९३४) आदि उल्लेखनीय हैं तथा उन्यासों में, जिनमें समाजवाद और भारतीय साम्यवादियों का

चित्रण हुआ है, उनमें 'प्रेमाश्रय' (जनवरी, १९२२), 'रंगभूमि' (फरवरी, १९२५) तथा 'गोदान' (जून, १९३६) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रेमचन्द ने सन् १९२३ में 'संग्राम' नाटक लिखा जिसमें समाजवादी चिन्तन का उल्लेख है तथा इसी वर्ष टालस्टाय की कहानियों का अनुवाद 'टाल्स्टाय की कहानियाँ' भी प्रकाशित हुआ।

प्रेमचन्द के सर्जनात्मक साहित्य में महात्मा गाँधी और मार्क्स के दर्शन का प्रभाव लगभग एक ही समय पर पड़ता है। सन् १९१९ में गाँधी ने असहयोग आन्दोलन शुरू किया था और इसी वर्ष प्रेमचन्द ने बोल्शेविक उसूलों के क़ायल होने की बात लिखी थी। इसके तुरन्त बाद उनकी कहानियों और उपन्यासों में इन दोनों का ही प्रभाव आना आरम्भ हो गया, परन्तु इन प्रभावों में जहाँ महात्मा गाँधी के चिन्तन-बिन्दुओं का प्रभाव निरन्तर बढ़ता जाता है, और समाधान के लिए भी वे गाँधी की ओर जाते हैं, वहाँ वे मार्क्सवाद से शोषण-मुक्ति और किसान-मजदूर के शासन का विचार तो लेते हैं लेकिन समाधान और किसी अनुकूल निर्णय के लिए वे मार्क्स या लेनिन की ओर नहीं देखते। यही कारण है कि उनके सम्पूर्ण साहित्य में एक भी ऐसा पात्र नहीं है जो मार्क्सवाद दर्शन का प्रतिरूप बन सके या समग्रता में उसे प्रस्तुत कर सके। इस दृष्टि से 'रंगभूमि' (१९२५) का नायक सूरदास ऐसा पात्र है जो गाँधी-दर्शन का प्रतिरूप है और उनके अहिंसा सिद्धान्त, धर्म एवं न्याय की लड़ाई, विदेशी सत्ता से असहयोग, औद्योगीकरण का विरोध एवं कृषि जीवन का समर्थन, विचार और आचरण में समानता आदि को जीवन में उतारता है। यह एक प्रकार से मार्क्सवाद पर गाँधीवाद की विजय का ही प्रतीक है।

प्रेमचन्द के सर्जनात्मक साहित्य में, यदि समाजवाद को जन-सेवा का आधार माना जाये, तो दो प्रकार के चरित्र मिलते हैं। एक जो समाजवाद एवं साम्यवाद के विचारों के बिना भी जनता का निःस्वार्थ भाव से सेवा करते हैं; तथा दूसरे वे, जो समाजवाद और साम्यवाद के विचारों के समर्थक हैं लेकिन आचरण में वे सामन्तवाद और पूँजीवाद के अनुयायी हैं। पहले प्रकार के पात्रों में 'पशु से मनुष्य' (फरवरी, १९२०) कहानी का प्रेमशंकर, 'ब्रह्म का स्वाँग' (मई, १९२०) कहानी की वृन्दा, 'प्रेमाश्रय' (१९२२) उपन्यास का प्रेमशंकर तथ 'रंगभूमि' (१९२५) उपन्यास का नायक सूरदास उल्लेखनीय हैं जो समाजवाद के नारे के बिना भी मानवीयता का नया आदर्श प्रस्तुत करते हैं। प्रेमशंकर उनका ऐसा पात्र है जो 'पशु से मनुष्य' तथा 'प्रेमाश्रय' में समान रूप से मिलता है तथा उसकी चरित्र-रचना भी लगभग समान है। दोनों रचनाओं के प्रेमशंकर अमेरिका से कृषि-विज्ञान का अध्ययन करके लौटता है। उनका कोई पात्र रूस जाकर लौटकर नहीं आता। प्रेमशंकर कृषि और बागवानी को आजीविका का साधन बनाते हैं। कुछ लोग उनके साथ काम करते हैं, पर कोई मालिक नहीं, मज़दूर नहीं। बस वे मुखिया हैं और अन्य साथियों की तरह ही रहते हैं। वे इस 'सहकारिता' से छोटे-बड़े तथा मोटे-पतले का भेद मिटाकर वर्गों में होने वाले संग्राम को मिटाना चाहते हैं, क्योंकि वे मानते हैं कि 'सहकारिता' ही इस भीषण संग्राम के संकट से मुक्त कर सकती है, पर वे स्वयं को 'सोशलिस्ट' नहीं मानते। प्रेमशंकर कहते हैं, मैं 'सोशलिस्ट' या 'डिमोक्रेट' कुछ नहीं हूँ। मैं केवल न्याय और धर्म का दीन सेवक हूँ। मैं निःस्वार्थ सेवा को विद्या से श्रेष्ठ मानता हूँ।''[४८] इस प्रकार बोल्शेविक क्रान्ति के बाद जन्मे पात्र प्रेमशंकर भी मार्क्स से प्रेरणा नहीं लेता, बल्कि गाँधी के 'न्याय और धर्म' के सिद्धान्त से समतामूलक समाज की रचना में प्रवृत्त होता है। 'प्रेमाश्रय' उपन्यास का पात्र प्रेमशंकर लेखक के समाजवादी-दर्शन को विकसित करता है, और उसे भारतीय रूप देता है। इस उपन्यास में जो खलनायक ज्ञानशंकर है वह साम्यवाद की रूपरेखा बताता है, परन्तु प्रेमशंकर 'साम्यवाद' की चर्चा और प्रेरणा के बिना[४९] ही 'रामराज'[५०] की स्थापना करता है। प्रेमचन्द के अनुसार ज्ञानशंकर अपनी असमर्थता के कारण 'साम्यवादी' बन जाता है, लेकिन उसका नशा जल्दी दूर हो जाता है। ज्ञानशंकर आगे चलकर साम्यवाद की कलई खोलते हुए कहता है, ''सिद्धान्त रूप से हम चाहे इसकी कितनी ही

प्रशंसा करें पर उसका व्यवहार में लाना असम्भव है। मैं यूरोप के कितने ही साम्यवादियों को जानता हूँ जो अमीरों की भाँति रहते हैं, मोटरों पर सैर करते हैं और साल में छह महीने इटली या फ्रांस में विहार किया करते हैं।''[५१] यह साम्यवादियों का वह रूप है जो ज्ञानशंकर देख रहे थे, लेकिन अपने भाई प्रेमशंकर का व्यावहारिक साम्यवाद देखकर वह आश्चर्य करता है[५२] कि यह सम्भव कैसे हो पाया। प्रेमशंकर का साम्यवाद इसलिए सम्भव हो पाया क्योंकि वे रूस से नहीं भारत के जीवन-मूल्यों और यहाँ की ज़मीन की आवश्यकतानुसार उसकी रचना करते हैं। प्रेमशंकर 'सन्तोषमय, निष्काम और निःस्पृह जीवन' जीते हैं जिससे 'शान्ति और सहृदयता' उत्पन्न होती है। वे 'प्रेमाश्रय' की स्थापना करते हैं जिसमें 'सारल्य, सन्तोष और सुविचार की तपोभूमि थी।' यहाँ न ईर्ष्या का सन्ताप था, न लोभ का उत्साह, न तृष्णा का प्रकोप। यहाँ धन की पूजा न होती थी और न दीनता पैरों तले कुचली जाती थी। ग ग ग यहाँ सब एक-दूसरे के सेवक, एक-दूसरे के मित्र और हितैषी थे।[५३] यही प्रेमशंकर का 'रामराज' है और प्रेमचन्द का अंग्रेज़ी दासता का प्रस्तुत विकल्प। तुलसीदास ने भी मुग़लों की दासता के विकल्प के रूप में 'राम-राज्य' का प्रारूप प्रस्तुत किया था। प्रेमचन्द का यह 'रामराज' रूस से नहीं भारत की आत्मा से निकलता है। 'प्रेमाश्रम' का ज़मींदार मायाशंकर इस 'रामराज' को और विकसित करता है। वह अपनी प्रजा को स्वतन्त्र कर देता है और किसानों को उनकी भूमि का स्वामी बना देता है एवं शोषण के सभी दरवाज़े बन्द कर देता है। यह गाँधी के हृदय-परिवर्तन और ट्रस्टीशिप का प्रभाव है, परन्तु प्रेमचन्द इसे अपने समाजवाद का अंग बना लेते हैं। मायाशंकर एक बड़ा कार्य और करता है। वह रूसी कम्युनिज़्म के इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता कि भूमि राज्य की सम्पत्ति है। वह इस धारणा का प्रतिवाद करते हुए कहता है, ''भूमि या तो ईश्वर की है जिसने इसकी सृष्टि की या किसान की जो ईश्वरीय इच्छा के अनुसार उसका उपयोग करता है।''(५४) इस प्रकार प्रेमचन्द अपने प्रेमशंकर और मायाशंकर पात्र से भारतीय समाजवाद का प्रारूप निर्मित करते हैं। यह भारतीय मूल्यों तथा भारतीय जीवन-दृष्टि पर आधारित है, न कि रूसी क्रान्ति पर। 'प्रेमाश्रम' के पात्र बलराज की इस उक्ति से कि 'रूस' और 'बलगारी' में काश्तकारों का राज है, यह उपन्यास रूसी क्रान्ति या मार्क्सवादी चेतना का उपन्यास नहीं बन जाता। हमारे मार्क्सवादी आलोचक यही ग़लती करते हैं कि एक उल्लेख मात्र को उपन्यास का प्रतिपाद्य बना देते हैं और उसके वास्तविक प्रतिपाद्य को, उसकी आत्मा और मूल सम्वेदना को ओझल कर देते हैं। इस आलोचनात्मक हस्तक्षेप से प्रेमचन्द मार्क्सवादी लेखक नहीं बन सकते।

प्रेमचन्द की एक कहानी है- 'ब्रह्म का स्वाँग'। इसमें एक नारी पात्र है वृन्दा और उसका पति जिसका नाम 'पुरुष' है। वृन्दा 'स्त्री' के नाम से कहानी में आती है। यह कहानी विवेकानन्द के अद्वैतवाद और प्रेमचन्द के वेदान्तीय एकात्मवाद[५५] पर आधारित है। प्रेमचन्द विवेकानन्द के शब्दों में कहते हैं कि पश्चिम के समाजवाद की प्रगति देखकर ही सोशल लीग ने यह नतीजा निकाला है कि समाजवाद विध्वंसात्मक है, लेकिन क्या यह ज़रूरी है कि यूरोप के समाजवाद ने जिस नीति को अपनाया, उसे भारत भी अपनाए। यूरोप में जैसी परिस्थिति थी वैसी भारत में नहीं है। यहाँ तो वेदान्त के एकात्मवाद ने पहले से ही समाजवाद के लिए मैदान साफ़ कर दिया है। हमें उस एकात्मवाद को केवल व्यवहार में लाना है। जब सभी मनुष्यों में एक ही आत्मा का निवास है, तो छोटे-बड़े, अमीर-गरीब का भेद क्यों?[५६] प्रेमचन्द इसी अद्वैतवाद को 'ब्रह्म का स्वाँग' कहानी की नायिका वृन्दा के माध्यम से चित्रित करते हैं। वह इस एकात्मवाद को व्यवहार में उतारती है। उसका पति उसे समझाता है कि हम सब एक ही पिता की सन्तान हैं। हम एब एक हैं। ऊँच-नीच का भेद करना अन्याय है। वृन्दा इस 'अमृत-वाणी' को सुनकर इसे व्यावहारिक रूप देती है और धोबिन के सिर में तेल लगाकर तथा महरी के साथ बैठकर बर्तन धुलवाती है। वह समझती है कि इनकी आत्मा में भी

उसी के समान ईश्वर की ज्योति है। उसका पति इससे दुःखी होता है कि उसकी पत्नी साम्य के सिद्धान्त को व्यवहार में लाती है। वह मानता है कि हम साम्यवाद की प्रशंसा करेंगे, उसके पक्ष में तर्क देंगे परन्तु उसे व्यवहार में लाना असम्भव है। वृन्दा इसके बाद भी वैसा ही व्यवहार करती है। वह नीच स्त्रियों को भद्र स्त्रियों के साथ बिठा देती है और कंगले-भिखारियों को घर की सारी पूरी-मिठाइयाँ बाँट देती है। पति उसकी भर्त्सना करता है और कहता है कि ईश्वर यदि चाहता तो प्राणी मात्र को समान सुख देता है और ऊँच-नीच की भेदरहित सामाजिक व्यवस्था बनाता। यह व्यवस्था उसकी आज्ञा से ही चल रही है, अतः ये बेसिर-पैर की बातें, अर्थात् एकात्मवाद की मूर्खता बन्द करो। वृन्दा सोचती है, हम स्वार्थ के लिए ब्रह्म का भी स्वाँग बनाते हैं, लेकिन वह निराश नहीं होती। उसे विश्वास है, शीघ्र ही यह अन्धकार नष्ट होगा और ब्रह्म-ज्योति चमकेगी।[५७] इस कहानी में प्रेमचन्द वृन्दा के साथ हैं। वह जिस रूप में अद्वैतवाद को व्यावहारिक बनाती हैं, वे उसका समर्थन करते हैं, लेकिन वे उसके पति के साम्यवादी छल को, सिद्धान्त और व्यवहार के अन्तर को बड़े व्यंग्यात्मक रूप में अभिव्यक्त करते हैं।

प्रेमचन्द प्रेमशंकर और वृन्दा जैसे पात्रों के साथ हैं जो मार्क्सवाद को पढ़े बिना उसका पालन करते हैं। इस प्रकार के पात्र प्रायः अशिक्षित, निर्धन और ग्रामीण परिवेश वाले हैं। प्रेमशंकर इसके अपवाद हैं। 'रंगभूमि' का सूरदास भिक्षुक है, अन्धा है पर जनता का सेवक है, त्यागी है और सब का कल्याण चाहता है। वह अहिंसा का अनुयायी है और औद्योगीकरण का विरोधी है। वह कर्मशील है और गीता के कर्मयोग को जीवन में उतारता है। प्रेमचन्द मानते हैं कि भगवान कृष्ण का कर्मयोग स्वार्थ-मुक्त करके परमार्थ की ओर ले जाता है तथा भातृ-भाव की सृष्टि करता है।[५८] 'प्रेमाश्रम' का प्रेमशंकर भी कर्मवादी है, लेकिन यह कर्मवाद रूस से नहीं आया है। यह दुःखद स्थिति है कि ऐसे पात्रों की संख्या अधिक नहीं है, सम्भवतः इसलिए भी कि प्रेमशंकर, वृन्दा, सूरदास जैसे पात्र समाज में कम ही होते हैं और साथ ही इसलिए भी कि हिन्दुस्तानी कम्युनिस्ट उन जैसा जीवन जीना नहीं चाहते। इसी कारण 'प्रेमाश्रम' का ज्ञानशंकर साम्यवादियों पर व्यंग्य करता है और वृन्दा का पति उसे उसके वेदान्तीय एकत्व को व्यवहार में लाने पर फटकार लगाता है। 'रंगभूमि' का प्रभु सेवक भी इसी प्रकार का साम्यवादी है और राजा का बेटा विनय भी। प्रभु सेवक के चरित्र के बारे में तथा उनके साम्यवादी स्वरूप के बारे में प्रेमचन्द 'रंगभूमि' में लिखते हैं, 'प्रभु सेवक और कितने ही विलास-भोगियों की भाँति सिद्धान्त रूप से जनवाद के कायल थे। जिन परिस्थितियों में उनका लालन-पालन हुआ था, जिन संस्कारों से उनका मानसिक और आत्मिक विकास हुआ था, उनसे मुक्त हो जाने के लिए जिस नैतिक साहस की, उद्दण्डता की ज़रूरत है, उससे वह रहित थे। वह विचार-क्षेत्र में त्याग के भावों को स्थान देकर प्रसन्न होते थे और उस पर गर्व करते थे। उन्हें शायद कभी सूझा ही न था कि इन भावों को व्यवहार रूप में भी लाया जा सकता है। वह इतने संयमशील न थे कि अपनी विलासिता को उन भावों पर बलिदान कर देते। साम्यवाद उनके लिए मनोरंजन का एक विषय था और बस।'[५९] इसी प्रकार 'रंगभूमि' का विनय भी राजकुमार होते हुए भी साम्यवादी है, लेकिन वह अपने स्वार्थ को छोड़ नहीं पाता। प्रेमचन्द उसके बारे में लिखते हैं, 'गाड़ी में बैठते ही उनका साम्यवाद स्वार्थ का रूप धारण कर लेता है।'[६०] इन भद्र समाज के पात्रों का सामन्तीय संस्कार साम्यवादी होने पर भी समाप्त नहीं होता। प्रेमचन्द इस यथार्थता से परिचित हैं। विनय अपनी गोली से आत्म-हत्या करता है, लेकिन सूरदास पुलिस की गोली से मरता है और शहीद हो जाता है। विनय अपने सामन्तीय संस्कारों के कारण सूरदास जैसी गौरवपूर्ण मृत्यु से वंचित रहता है। जनसेवक और साम्यवादी में यही अन्तर है।

प्रेमचन्द की कुछ अन्य कहानियों और उपन्यास में भी ऐसे ही छद्म साम्यवादी मिलते हैं। वे अपनी व्यंग्य की धार से इनके दोहरे चरित्र को उद्घाटित करते चलते हैं। 'हार की जीत' (मई, १९२२) कहानी में प्रो. हरिदास भाटिया

साम्यवादी हैं और साम्यवाद पर एक पुस्तक लिख रहे हैं। वे 'सिद्धान्तों के भक्त' थे, लेकिन उन्हें व्यवहार में लाना उचित न समझते थे। इसी कारण वे 'धन की अवहेलना' नहीं कर सकते थे। वे अपनी पुत्री लज्जावती के लिए धनी और तालुकेदार शारदाचरण को वर के रूप में चुनते हैं, परन्तु लज्जावती उससे कहती है कि कॉलेज की शीतल छाया में पला हुआ तुम्हारा साम्यवाद बहुत दिनों तक सांसारिक जीवन की लू और लपट को न सह सकेगा।[६१] 'दो सखियाँ' (फरवरी-मई, १६२८) कहानी का विनोद भी साम्यवादी है। उसे राजाओं से चिढ़ है। वह मानता है कि समाज की सारी व्यवस्था, सारा संगठन सम्पत्ति-रक्षा के आधार पर हुआ है।[६२] यह ऐसा साम्यवादी है जो विवाह को अनावश्यक मानता है और स्त्री-पुरुष दोनों को स्वाधीन बनाना चाहता है। वह उन्मुक्त काम का उपासक है, परन्तु जब वह अपनी पत्नी को पर पुरुष के साथ देखता है तो उसका सारा साम्यवाद बह जाता है और आत्म-हत्या की चेष्टा करता है। इस कहानी का अन्त साम्यवादी सिद्धान्तों से न होकर आत्म-समर्पण, सेवा-भाव, सहृदयता और आत्मीयता जैसे भारतीय जीवन-मूल्यों से होता है। 'पण्डित मोटेराम की डायरी' (जुलाई, १६३४) कहानी में भी मोटेराम के द्वारा साम्यवाद का मज़ाक उड़ाया गया है, जबकि मोटेराम जैसे ब्राह्मण भी प्रेमचन्द के व्यंग्य-बाणों से बच नहीं पाये हैं। 'क़ैदी' (जुलाई, १६३३) कहानी तो रूसी शासक ज़ार के विरुद्ध लेनिन और उसके कामरेडों की हिंसक क्रान्ति पर आधारित है, पर यहाँ भी प्रेमचन्द रूसी कम्युनिस्टों के स्वार्थी, धोखेबाज तथा क्रान्ति के झूठे संकल्पों का सत्य उद्‌घाटित करते हैं तथा यह भी निष्कर्ष देते हैं कि हिंसा से नहीं, मनुष्य अहिंसा, प्रेम और समर्पण से ही बदला जा सकता है। प्रेमचन्द हिन्दुस्तानी ही नहीं रूसी कम्युनिस्टों को भी पहचान रहे थे। वे तो निजी सुख और विलास के लिए साथी कामरेड़ के साथ गद्दारी कर रहे थे और उसके विरुद्ध अदालत में झूठी गवाही दे रहे थे। ऐसी स्थिति में हिन्दुस्तानी कम्युनिस्ट अपने रूसी कम्युनिस्ट गुरुओं से भिन्न कैसे हो सकते थे?

यहाँ 'गोदान' में प्रस्तुत हिन्दुस्तानी कम्युनिस्टों के चरित्र का विवेचन भी आवश्यक है, क्योंकि हिन्दुस्तान के कम्युनिस्ट आलोचक मानते हैं कि 'गोदान' एक मार्क्सवादी कृति है। रूस में कम्युनिस्टों के शासन के दौरान वर्षों तक 'प्रगति प्रकाशन, मास्को' में कार्य करने वाले मदन लाल 'मधु' ने लिखा है कि 'गोदान' के रचना के समय प्रेमचन्द ने 'वर्ग-संघर्ष' के सत्य को स्वीकार कर लिया था।[६३] डॉ. शिवकुमार मिश्र का मत है कि १६३१ के बाद प्रेमचन्द मार्क्स अथवा समाजवाद के नये यथार्थ, विशेष बुद्धिवादिता और मानसिकता से जुड़ गये थे। इस कारण 'गोदान' में 'क्रान्तिकारी पक्षधरता' तथा 'यथार्थवादी कला का उत्कर्ष' मिलता है। उन्हें अब गाँधीवादी नहीं 'मार्क्स या समाजवाद' अधिक प्रासंगिक प्रतीत होता है।[६४]डॉ. शिवकुमार मिश्र जैसे अनेक मार्क्सवादी आलोचक 'गोदान' को समग्रता में पढ़े बिना ही ऐसी निष्कर्ष निकाल लेते हैं! डॉ. नामवर सिंह ने अपने एक भाषण में कहा था कि कहानीकार (रचनाकार) का विश्वास मत करो, कहानी (रचना) का विश्वास करो। (यह दरअसल अँग्रज़ी उपन्यासकार डी.एच. लॉरेन्स की ऐसी ही उक्ति का पुनर्कथन भर है)[६५] लेकिन सत्य इसके विपरीत है। ये मार्क्सवादी विद्वान कई बार प्रेमचन्द पर विश्वास करते हैं और कई बार उपन्यास या कहानी पर और वह भी उस अंश पर जिसे ये विद्वान मार्क्सवाद की स्थापना के लिए उपयुक्त समझते हैं। इनके समीक्षा-शास्त्र की एक विशेषता यह भी है कि ये समीक्षक रचना में विद्यमान मार्क्सवाद के विरोधी वक्तव्यों और प्रसंगों को नहीं देखते और चाहते हैं कि अमार्क्सवादी समीक्षक भी उन्हें नहीं देखें या उनका उल्लेख करें। 'गोदान' का प्रमाण ही यहाँ लेते हैं। 'गोदान' अधिकांश मार्क्सवादी समीक्षकों की दृष्टि में मार्क्सवादी रचना है, लेकिन इसमें मार्क्सवाद और हिन्दुस्तानी कम्युनिस्टों की जो कटु आलोचना है, उसे ये मार्क्सवादी समीक्षक नहीं देखते। 'गोदान' में प्रो. मेहता एक ऐसे पात्र हैं जिनके विचारों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। डॉ. रामविलास शर्मा (विख्यात मार्क्सवादी समीक्षक) ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द और उनका युग' में लिखा है कि प्रो. मेहता प्रेमचन्द के विचारों के प्रतीक हैं तथा होरी उनकी परिश्रम करने की दृढ़

इच्छाशक्ति का। डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है कि यदि प्रो. मेहता और होरी को जोड़ दिया जाये तो जो व्यक्ति बनेगा, वह बहुत कुछ प्रेमचन्द से मिलता-जुलता होगा।[६६] अब यदि 'गोदान' में प्रो. मेहता साम्यवाद तथा हिन्दुस्तानी कम्युनिस्टों की आलोचना करते हैं तथा उन पर व्यंग्य करते हैं तब भी ये कम्युनिस्ट समीक्षक उसका उल्लेख भी नहीं करते। यहाँ तक कि डॉ. रामविलास शर्मा भी प्रो. मेहता को प्रेमचन्द की विचार-सन्तान मानने पर भी प्रो. मेहता के इस पक्ष को पाठकों के सामने नहीं लाते। मार्क्सवादी समीक्षक प्रो. प्रकाशचन्द्र गुप्त भी यही मानते हैं कि मेहता प्रेमचन्द के विचारों के प्रतीक हैं।[६७]

प्रो. मेहता प्रकृति के पुजारी हैं। वर्तमान उनके लिए सब-कुछ है। ईश्वर जीवन, क्रीड़ा, चहक और प्रेम में है। मातृत्व महान गौरव का पद है। नारी-हृदय धरती के समान है, धैर्यवान, शान्तिपूर्ण और सहिष्णु। नारी 'वफ़ा और त्याग' की मूर्ति है। मनुष्य के लिए क्षमा, त्याग और अहिंसा जीवन के उच्चतम आदर्श हैं और नारी ने इस आदर्श को प्राप्त कर लिया है। संसार में सबसे बड़ा अधिकार सेवा और त्याग से मिलते हैं। सच्चा आनन्द, सच्ची शान्ति केवल सेवा-व्रत में है। सेवा ही अधिकार का स्रोत है, वही शक्ति का उद्‌गम है। धन-संग्रह से उन्हें प्रेम नहीं है। मेहता स्वयं को 'पक्का आदर्शवादी' कहता है, किन्तु दूसरे स्थान पर वह स्वयं को 'आईडियलिस्ट' और 'मेटीरियलिस्ट' दोनों ही बताता है। वह 'समता' को अप्राकृतिक मानता है और ओंकारनाथ को उत्तर देते हुए कहता है कि बुद्ध, प्लेटो और ईसा सभी समता के प्रवर्तक थे, पर समता स्थायी नहीं बन सकी।[६८] प्रो. मेहता अपने इन्हीं विचारों के कारण साम्यवाद के समता-सिद्धान्त पर सीधी चोट करते हुए कहता है, 'धन को आप किसी अन्याय से बराबर फैला सकते हैं, लेकिन बुद्धि को, चरित्र को और रूप को, प्रतिभा को और बल को बराबर फैलाना तो आपकी शक्ति के बाहर है। छोटे-बड़े का भेद केवल धन से ही तो नहीं होता।'[६९] वह मनुष्य जाति की इस विभिन्नता को सिद्धान्त का रूप देते हुए यहाँ तक कहता है कि मैं इस सिद्धान्त का समर्थक हूँ कि संसार में छोटे-बड़े हमेशा रहेंगे और उन्हें हमेशा रहना चाहिए। इसे मिटाने की चेष्टा करना मानव-जाति के सर्वनाश का कारण होगा।[७०] प्रो. मेहता यह तर्क इसलिए देता है क्योंकि वह समता को अप्राकृतिक मानता है। प्रकृति में जो कुछ है वही स्थायी है। प्रो. मेहता हिन्दुस्तानी कम्युनिस्ट और रूसी कम्युनिज़्म पर भी गहरी चोट करता है। वह अपने समय के कम्युनिस्टों को देखता है और पाता है कि उनके विचारों और आचरण में घोर अन्तर है। वह राय साहब की बैठक में होने वाले वाद-विवाद में कहता है, 'मुझे उन लोगों से ज़रा भी हमदर्दी नहीं है जो बातें तो करते हैं कम्युनिस्टों की-सी, मगर जीवन रईसों का-सा, इतना ही विलासमय, उतना ही स्वार्थ से-भरा हुआ।'[७१] प्रो. मेहता इससे भी कठोर शब्दों में हिन्दुस्तानी कम्युनिस्टों पर व्यंग्य करते हुए उनके नकली साम्यवादी चेहरे को उजागर करते हुए कहता है, 'मैं तो केवल इतना जानता हूँ, हम या तो साम्यवादी हैं या नहीं। हैं तो व्यवहार करें, नहीं हैं तो बकना छोड़ दें। मैं नकली ज़िन्दगी का विरोधी हूँ।'[७२] वह रूस के साम्यवाद पर भी चोट करता है और इसे अस्वीकार करता है कि राज कर्मचारियों के मिल-मालिक बन जाने से सामाजिक विषमता समाप्त हो गयी है। वह कहता है, 'आप रूस की मिसाल देंगे। वहाँ इसके सिवाय और क्या है कि मिल के मालिक ने राज कर्मचारियों का रूप ले लिया है।'[७३]

प्रगतिशील लेखक संघ के संस्थापक सज्जाद ज़हीर को १२ जून, १९३६ को लिखे पत्र में प्रेमचन्द ने हिन्दुस्तानी कम्युनिस्टों के चरित्र का उद्‌घाटन इस प्रकार किया था- 'महज जबानी इश्तिराकियत (साम्यवाद) से क्या हासिल? मैं ऐसे कितने नौजवानों को जानता हूँ जो मजलिसे अहबाब (दोस्तों की सभा) में सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट सब कुछ हैं, मगर जब जवांमर्दी दिखाने का मौका आता है तो हमरमसरा (अन्तःपुर) में रूपोश (छिप) जाते हैं।

इस विवेचन से कई महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष सामने आते हैं। प्रेमचन्द के साहित्यिक रंगमंच पर आने से पूर्व ही देश-विदेश में समाजवाद का विवेचन-विश्लेषण शुरू हो गया था। यहाँ तक कि हिन्दू संन्यासी विवेकानन्द भी नयी सदी में समाजवाद की आवश्यकता अनुभव कर रहे थे और राष्ट्र-नायक गाँधी भी समाजवाद की अनिवार्यता की स्थापना करते हुए उसे हिन्दू धर्म के जीवन-मूल्यों और मानवीयता के साथ संयुक्त करके राष्ट्र के सम्मुख प्रस्तुत कर रहे थे। विवेकानन्द ने समाजवाद को धर्म और अध्यात्म से जोड़ा और गाँधी ने भी उसे धर्म एवं नीति का आधार दिया। इन दोनों विचारकों ने हिन्दू धर्म की नींव पर समाजवाद को परिभाषित किया, लेकिन कार्ल मार्क्स का समाजवाद या साम्यवाद धर्म को अफ़ीम मानता था और उसमें हिन्दू जीवन के मानवीय मूल्यों- अहिंसा, सेवा, त्याग, हृदय परिवर्तन, संस्कारों एवं दुष्प्रवृत्तियों का परिष्कार, साधन की पवित्रता, वाणी एवं आचरण की एकता, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, सहकारिता, परमार्थ और समष्टिवाद आदि के लिए कोई स्थान नहीं था। फिर भी इस 'पश्चिमी समाजवाद' का साहित्य भारत में आ रहा था और जवाहर लाल नेहरू, सम्पूर्णानन्द, आचार्य नरेन्द्र देव जैसे नेता समाजवाद की ओर उन्मुख हो रहे थे। प्रेमचन्द समाजवाद की इन विभिन्न धाराओं को चौराहे पर खड़े होकर देख रहे थे और वे देशी एवं विदेशी समाजवाद के आदर्शों एवं मूल्यों को समझने की चेष्टा कर रहे थे। प्रेमचन्द ने विवेकानन्द, गाँधी और मार्क्स को पढ़ा था। विवेकानन्द पर तो उन्होंने लेख लिखा था। गाँधी के साथ तो वे असहयोग आन्दोलन से ही थे। मार्क्स की प्रेरणा से रूस में हुई वोल्शेविक क्रान्ति की चर्चा भी वे लगभग इसी समय से कर रहे थे। जो मार्क्सवादी समीक्षक यह मानते हैं कि प्रेमचन्द को मार्क्सवाद का अधूरा ज्ञान था, वे भ्रम में हैं। सम्भवतः वे इसे सिद्ध इसलिए करते हैं क्योंकि वे मानते हैं कि उनके साहित्य में साम्यवाद का शास्त्रीय चित्रण नहीं मिलता। इसका कारण वे उनकी अज्ञानता को मानते हैं, न कि उनकी असहमति और अस्वीकृति को, लेकिन सत्य इसके विपरीत है। उन्होंने सन् १६२५ में मार्क्स का उल्लेख किया और उसके सिद्धान्तों का श्रेय हज़रत मुहम्मद को दिया। उनके साहित्य में मार्क्सवाद की शब्दावली भरी पड़ी है और रूस के कम्युनिज़्म पर वे यदा-कदा लिखते रहे हैं। उन्हें रूस का कम्युनिज़्म कुछ क्षणों के लिए मोहित करता है, परन्तु शीघ्र ही उनका भ्रम टूटता है और वे स्टालिन आदि की प्रशंसा करते-करते रूसी कम्युनिज़्म के समाप्त होने तक की भविष्यवाणी करते हैं। वे कम्युनिज़्म से शोषण से मुक्ति और समता का विचार लेते हैं, यद्यपि ये विचार भी उन्हें विवेकानन्द, गाँधी और अपने युग से मिलते हैं, परन्तु साम्यवाद इन विचारों को और पुष्ट करता है। फिर भी वे मार्क्स और रूसी कम्युनिज़्म के अर्थ में कम्युनिस्ट नहीं बन पाते हैं। वे कहते हैं कि मैं कम्युनिस्ट हूँ पर मेरा कम्युनिज़्म रूस, गाँधी आदि से भिन्न प्रकार का है। वे रूस का कम्युनिज़्म देख रहे थे जहाँ पूँजीवाद और साम्राज्यवाद क़ायम था। वे हिन्दुस्तान के कम्युनिस्टों और समाजवादियों को भी देख रहे थे जो जवाहर लाल नेहरू के समान विचारों से समाजवादी थे, व्यवहार और आचरण से नहीं। वे मानते थे कि विलासमय जीवन जीने वाले ये हिन्दुस्तानी कम्युनिस्ट कभी समाजवाद की स्थापना नहीं कर पायेंगे। इस कारण प्रेमचन्द इन हिन्दुस्तानी कम्युनिस्टों की कटु आलोचना करते हैं और उन्हें अपने व्यंग्य का शिकार बनाते हैं। अतः प्रेमचन्द का समाजवाद निश्चय ही मार्क्स का समाजवाद नहीं है। मार्क्सवादी समीक्षक डॉ. रामविलास शर्मा भी यह स्वीकार करते हैं कि प्रेमचन्द का जन्म सर्वहारा वर्ग में नहीं हुआ था, न उन्होंने सर्वहारा वर्ग के क्रान्ति-दर्शन मार्क्सवाद को पूरी तरह अपनाया था और न उन्होंने कुटीर उद्योगों के स्थान पर मशीनी उद्योग को महत्त्व दिया और न स्वाधीनता आन्दोलन एवं समाजवाद के निर्माण में मजदूर वर्ग की भूमिका को ही स्वीकार किया।[७४] डॉ. शर्मा के ये विचार ही प्रेमचन्द के समाजवाद को मार्क्सवादी मुखौटा पहनाने की कुचेष्टा को धाराशाही कर देते हैं। परन्तु प्रेमचन्द का अपने लेख 'राज्यवाद और साम्राज्यवाद' ('स्वदेश', १८ मार्च, १६२८, गोरखपुर तथा 'दस्तावेज'-१०८, पृ. ३४) में इससे भी भयंकर निष्कर्ष यह है कि ''साम्यवाद से ऐसी ही लम्बी-चौड़ी आशाएँ बाँधी गयी थीं, मगर अनुभव यह हो रहा है कि

साम्यवाद केवल पूँजीपतियों पर मजूरों की विजय का आन्दोलन है। न्याय के अन्याय पर, सत्य के मिथ्या पर विजय पाने का नाम नहीं है।

प्रेमचन्द का समाजवाद भारतीय था। भारतीयता और भारतीय जीवन-मूल्य, जो हिन्दू संस्कृति की देन हैं, उनके समाजवाद के अंग हैं, अतः डॉ. रामविलास शर्मा के इस विचार में कोई संगति नहीं है कि वे समाजवादी आदर्श के लिए 'राष्ट्रवाद' और किसी हद तक 'कथित भारतीयता' को भी छोड़ने के लिए तैयार थे।[७५] इस निष्कर्ष के लिए वे कोई प्रमाण नहीं दे पाये। यह मार्क्सवादियों की कमज़ोरी है कि वे बिना प्रमाण के फतवेबाज़ी करते हैं और विचारों एवं धारणाओं को उलटने-पलटने और बदलने को भी उचित मानते हैं।[७६] डॉ. नामवर सिंह ऐसा करते रहे हैं, अतः इसे वे सिद्धान्त बना देते हैं। प्रेमचन्द जन-शताब्दी के अवसर पर हैदराबाद में आयोजित एक गोष्ठी में मेरी उपस्थिति में उन्होंने कहा था कि होरी एक हिन्दू किसान है और यह होरी ही प्रेमचन्द है। मैंने तत्काल खड़े होकर इस नये चिन्तन का जब समर्थन किया तो वेणु गोपाल ने मंच पर आकर धमकाते हुए कहा कि डॉ. नामवर सिंह बताएँ कि वे गोयनका के क़रीब आये हैं या गोयनका उनके क़रीब। डॉ. नामवर सिंह इसी शताब्दी के अवसर पर 'हरिश्चन्द्र सभा' की विचार-गोष्ठी में इसके विपरीत मत व्यक्त करते हुए कहते हैं कि यदि प्रेमचन्द को होरी माना और समझा गया तो मेरा सारा भाषण व्यर्थ हो जायेगा।[७७] यह विचारों और धारणाओं का वैसा परिवर्तन नहीं है, जैसा 'कला प्रयोजन' के इण्टरव्यू में उन्होंने कहा है। यह अवसर और श्रोताओं के अनुकूल और 'वाही-वाही' लूटने की चालाकी है। विचार और धारणा का वास्तविक परिवर्तन तो डॉ. रामविलास शर्मा ने किया था जब उन्होंने आर्यों को इस देश का मूल निवासी घोषित किया, लेकिन उनका यह वैचारिक परिवर्तन डॉ. नामवर सिंह और उनके चेलों को स्वीकार नहीं हुआ। डॉ. नामवर सिंह ने 'आलोचना' का एक अंक रामविलास शर्मा को अर्पित करते हुए उनके इस वैचारिक परिवर्तन को घोर हिन्दूवादी, भगवाकरण का प्रतिरूप बताया। डॉ. नामवर सिंह स्वयं अपनी धारणाओं, विचारों का परिवर्तन करें तो वह साहित्य-नीति के अनुकूल है, लेकिन यदि डॉ. रामविलास शर्मा करें तो वे राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सदस्य हो जाते हैं। प्रेमचन्द के सम्बन्ध में भी वामपंथी इसी नीति पर चलते रहे हैं।

प्रेमचन्द भारतीय थे और अपने युग के भारतीय पुनर्जागरण के संवाहक थे। वे पश्चिमी संस्कृति और विदेशी विचार से भारत को बचाना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने सन् १९२६ में 'प्रेम-द्वादशी' की भूमिका में लिखा था कि वे अपने कथा साहित्य में 'भारतीय आत्मा' को सुरक्षित रखना चाहते हैं। प्रेमचन्द का यह विचार उनके साहित्य का केन्द्रीय विचार है और यही उनके विचारों का मूलाधार है। प्रेमचन्द महात्मा गाँधी के समान यह समझते थे कि भारत में वही जीवन-दृष्टि फलीभूत और स्वीकार्य हो सकती है जो भारत की सनातन दृष्टि से मेल खाती हो। प्रेमचन्द निश्चय ही इतिहास, धर्म, परम्परा आदि के उन तत्त्वों के विरोधी थे जिन्होंने मनुष्य-मनुष्य में भेदभाव, असमानता के साथ शोषण और दमन का चक्र चलाया हुआ है। हिन्दू धर्म के आडम्बर, अस्पृश्यता, भेद-भाव, कर्महीनता आदि के वे घोर आलोचक थे, परन्तु इससे वे हिन्दू जीवन-दृष्टि और उसके सनातन मानवीय पक्ष के भी आलोचक नहीं हो जाते। विवेकानन्द और गाँधी ने भी हिन्दू धर्म की बुराइयों की कटु आलोचना की लेकिन बीसवीं शताब्दी की नयी चेतना के अनुकूल जो विचार-दृष्टि एवं मानवीय मूल्य हिन्दू धर्म की सनातन-दृष्टि में थे, वे उन्होंने स्वीकार किये और उनके आधार पर ही उन्होंने भारत की मुक्ति और विकास का दर्शन प्रस्तुत किया। इस प्रकार विवेकानन्द, गाँधी और प्रेमचन्द लगभग एक ही प्रकार से भारत की सनातन धारणाओं और जीवन-दर्शन के प्रवक्ता और संवाहक थे। प्रेमचन्द जिस 'भारतीय आत्मा' को सुरक्षित रखने का संकल्प ले रहे थे, उससे पूर्व स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द, स्वामी दयानन्द, गाँधी आदि अनेक भारतीय विचारक उसी भारतीय आत्मा, रमेशचन्द्र शाह के शब्दों में

'आत्म-बिम्ब' को आविष्कृत करने का प्रयत्न कर रहे थे।

प्रेमचन्द की इस 'भारतीय आत्मा' में पुरातन भारत के 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' के साथ धर्म के मानवीय मूल्य और आध्यात्मिक-चेतना का योगदान है। उनके अप्रैल, १९३६ के 'प्रगतिशील लेखक संघ' के प्रथम अधिवेशन में दिये गये अध्यक्षीय व्याख्यान तक में ये विचार प्रमुखता से मिलते हैं। 'हंस' के अप्रैल, १९३२ में छपे लेख 'जीवन में साहित्य का स्थान' में उन्होंने लिखा कि जीवन और साहित्य का उद्देश्य आनन्द है और सच्चा आनन्द 'सुन्दर और सत्य' से मिलता है। उनके अनुसार भारतीय साहित्य का आदर्श 'त्याग और उत्सर्ग' में है, 'भोग' और 'अधिकार' में नहीं और इन आदर्शों की सृष्टि 'व्यास और वाल्मीकि' ने की है। भारत राष्ट्र की ये 'सबसे मूल्यवान सम्पत्ति है।'[७८] हिन्दू धर्म में सत्य, नीति, व्यास, सेवा, परोपकार, प्रेम, सहिष्णुता, बलिदान, परमार्थ आदि जो मानवीय मूल्य हैं, प्रेमचन्द के जीवन-भर उनकी आत्मा के अंग बने रहे। उन्होंने 'श्रीकृष्ण और भावीजगत' शीर्षक लेख लिखा जो 'कल्याण' के अगस्त, १९३१ के अंक में छुपा था। इस लेख में उन्होंने 'धर्म' के सम्बन्ध में लिखा था, 'भारत की संस्कृति धर्म की भित्ति पर खड़ी की गयी है। हमारे समाज और राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्था धर्म पर अवलम्बित थी, लेकिन पाश्चात्य देशों में धर्म को जीवन से पृथक रखा गया, जिसका फल यह हुआ कि आज संसार में जीवन-संग्राम ने प्रचण्ड रूप धारण कर रखा है, और यह ईश्वरहीन सभ्यता किसी संक्रामक रोग की भाँति फैलती जा रही है। जातियों और राष्ट्रों में अविश्वास है, आपस में संघर्ष। स्वामी और मजूर, अमीर और गरीब में भीषण युद्ध हो रहा है। ईश्वरहीन उद्योग में शान्ति कहाँ। ऐसे समय में संसार के उद्धार का एक ही उपाय है और वह है कर्मयोग। हिंसामय जनतन्त्र और हिंसामय एकतन्त्र में विशेष अन्तर नहीं है। आधिभौतिकवाद के धर्महीन तत्त्वों से संसार का उद्धार न होगा। उसमें आध्यात्मिकता की स्फूर्ति डालनी होगी। समष्टिवाद और बोल्शेविज्म उसके (यूरोप) वह नये आविष्कार हैं जिनसे वह संसार में युगान्तर कर देना चाहता है। उनके समाज का आदर्श इसके आगे और जा ही नहीं सकता था, किन्तु अध्यात्मवादी भारत इससे सन्तुष्ट होने वाला नहीं। वह अपने परलोक को ऐहिक स्वार्थ पर बलिदान नहीं कर सकता। वह अध्यात्मवाद से भटक कर दूर जा पड़ा था जिसके फलस्वरूप उसे एक हज़ार वर्ष तक गुलामी करनी पड़ी। अब की वह चेतेगा तो संसार को भी अपने साथ जगा देगा और उस व्यापक भ्रातृभाव की स्थापना करेगा जो संसार के सुख और शान्ति का एकमात्र साधन है। अब की इस जागृति में ऊँच-नीच, छोटे-बड़े का भेद मिट जायेगा। समस्त संसार में अहिंसा और प्रेम का जयघोष सुनायी देगा और भगवान कृष्ण कर्मयोग के जन्मदाता के रूप में संसार के उद्धारकर्ता होंगे।'[७९]

प्रेमचन्द 'प्रगतिशील लेखक संघ' के अधिवेशन में दिये गये व्याख्यान में भी इसी भाव-भूमि एवं चिन्तन-बिन्दुओं की स्थापना करते हैं। वे सत्य, सुन्दर एवं शिव की प्रवृत्तियों की चर्चा करते हैं और लगभग बारह स्थानों पर 'आध्यात्मिक तृप्ति', 'आध्यात्मिक और नैतिक सभ्यता', 'आध्यात्मिक आनन्द', 'आध्यात्मिक भोजन', 'आध्यात्मिक सामंजस्य', 'आध्यात्मिक सुख', 'आध्यात्मिक बन्धन', 'भक्ति, वैराग्य, आध्यात्म', 'आध्यात्मिक उच्चता', 'आध्यात्मिक और भागवत सभ्यता' आदि की विभिन्न सन्दर्भों और प्रश्नों की व्याख्या में शब्दों का प्रयोग करके यह स्थापित कर देते हैं कि उनका साहित्य तथा समाजवाद का दर्शन हिन्दू धर्म एवं आध्यात्म की मूल आत्मा पर ही स्थापित है। इस व्याख्यान में मार्क्स, मार्क्सवाद और उसकी शब्दावली किसी की भी चर्चा नहीं है। यहाँ तक कि 'बन्धुत्व और समता' की स्थापना के लिए उन्होंने महात्मा बुद्ध, हज़रत ईसा तथा हज़रत मुहम्मद आदि धर्म-प्रवर्तकों का तो उल्लेख किया तथा उन्हें श्रेय भी दिया, किन्तु यहाँ भी उन्होंने मार्क्स का उल्लेख तक नहीं किया। मार्क्सवादी आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा ने भी सन् १९४१ में प्रकाशित पुस्तक 'प्रेमचन्द' में स्वीकार किया था कि उनके साहित्य-चिन्तन पर 'भारतीयता'

का प्रभाव है।[८०] प्रेमचन्द की भारतीय समाजवाद की रूप-संरचना में 'प्रगतिशील लेखक संघ' के व्याख्यान में व्यक्त विचारों को भी हमें ध्यान में रखना होगा। इस व्याख्यान में भी अध्यात्म, नैतिकता और संस्कृति की मानवीय धारणाएँ, मूल्य, आचार-विचार, संस्कार और आस्थाओं को संयुक्त करके जो साहित्य-दर्शन दिया गया है वह उनके भारतीय समाजवाद की रूप-रचना में महत्त्वपूर्ण हिस्सेदारी करता है। अब तो मार्क्सवादी लेखक भी प्रेमचन्द के 'मूटी पियाई आदर्शवाद' के साथ धर्म और संस्कृति की अनिवार्यता को स्वीकार कर रहे हैं।[८१] इन मार्क्सवादियों ने देखा कि जो रूस का 'वैज्ञानिक समाजवाद' था वह तो नष्ट हो गया किन्तु प्रेमचन्द का 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' आज भी प्रासंगिक बना हुआ है। ओमप्रकाश ग्रेवाल इसी कारण अब समाजवाद में धर्म, संस्कृति और नैतिकता के संयोग के साथ विचार, संस्का, मूल्य, व्यक्ति की अस्मिता, आस्था, जनतन्त्र आदि को आवश्यक मानते हैं;[८२] लेकिन डॉ. शिवकुमार मिश्र जैसे मार्क्सवादी अभी 'मार्क्सवादी विवेक' से ही सब कुछ देखना चाहते हैं।[८३] मार्क्सवादी विवेक ईसाई और इस्लाम के समान एकाधिकारवादी विचार है जो अपने अनुयायियों का समाज बनाता है, लेकिन प्रेमचन्द का विवेक भारतीय था जो अनुयायी नहीं बल्कि बेहतर मनुष्य और उसके समाज की संरचना के लिए भारतीय समाजवाद की कल्पना कर रहा था। हिंसक क्रान्ति से न तो संस्कृति बदलती है और न समाजवाद के 'मार्क्सवादी यूटोपिया' को स्थायी बनाया जा सकता है। प्रेमचन्द अपने 'भारतीय विवेक' से इसे समझ रहे थे और यहाँ के धर्म, अध्यात्म, अहिंसा, सत्य, सुन्दर, शिव, न्याय, नैतिकता आदि के समन्वित रूप पर समाजवाद का स्वरूप निर्मित कर रहे थे। वे स्वतन्त्रता और समाजवाद के लिए 'न्याय और सत्य' के लिए ही लड़ रहे थे और वे इसे 'न्याय और सत्य ही के हथियारों' से लड़ना चाहते थे।[८४] प्रेमचन्द ने 'सत्य के मेरे प्रयोग' और 'डिस्कवरी ऑफ़ इण्डिया' या 'कैपिटल' जैसी पुस्तकें नहीं लिखीं, परन्तु वे हिन्दू संस्कृति की सनातन मानवीय धारणाओं और मूल्यों के साथ युग-जीवन के ज्वलन्त प्रश्नों को रखकर अपने समाजवाद का प्रारूप प्रस्तुत कर रहे थे। अपने इस 'भारतीय समाजवाद' का स्पष्टीकरण देते हुए उन्होंने 'हंस' के अप्रैल, १९३२ के अंक में स्पष्ट रूप से लिखा था, 'काँग्रेस ही एक ऐसी संस्था है, जो वास्तविक रूप में जन-सत्ता चाहती है; जो जात-पाँत के झगड़ों से अलग रहकर राष्ट्र के उद्धार का प्रयत्न करती है; जो दरिद्र किसानों के हित को सबसे ऊपर रखती है; विभिन्नता में एकता उत्पन्न करके राष्ट्र को बलवान बनाना चाहती है; जिसका मुख्य सिद्धान्त यह है, कि देश का शासन, देश के हित के लिए हो, हम अपने ही देश में दलित और अपमानित न रहें, हम में यह व्यापक बेकारी न रहे, हमारी जनता पशुओं की भाँति जीवन न व्यतीत करे। हम वह स्वराज्य चाहते हैं, जिसमें हमें राष्ट्र की इच्छानुसार परिवर्तन और सुधार करने का अधिकार हो, जिसमें हमारे ही धन से पहले वाले कर्मचारी हमी को कुत्ता न समझें, जिसमें हम अपनी संस्कृति का निर्माण आप कर सकें। हम वह स्वराज्य चाहते हैं, जिसमें हम भी उसी तरह रह सकें, जैसे फ्रांस या इंग्लैण्ड (यहाँ वे रूस का उल्लेख नहीं करते-गोयनका) में लोग रहते हैं। इसके साथ ही हम उन बुराइयों से भी बचना चाहते हैं, जिनमें अन्य अधिकांश राष्ट्र पड़े हुए हैं। हम पश्चिमी सभ्यता की कृत्रिमताओं को मिटा कर उस पर भारतीयता की छाप लगाना चाहते हैं। हम वह स्वराज्य चाहते हैं, जिसमें स्वार्थ और लूट प्रधान न हो, नीति और धर्म प्रधान हो।'[८५]

प्रेमचन्द ने स्वराज्य, समाजवाद और धर्म को संयुक्त करके अपने समाजवाद का रूप प्रस्तुत किया। वे हिन्दू के लिए स्पष्ट कहते हैं कि जो समाजवाद का समर्थक नहीं, वह हिन्दू नहीं है।[८६] इस विचार-धारा पर विवेकानन्द और गाँधी का प्रभाव है। उनके इस 'भारतीय समाजवाद' पर मार्क्स के प्रभाव को देखना और सिद्ध करना राजनीतिक छल-कपट है। प्रेमचन्द की त्रासदी यह है कि उन्हें अब तक उस रूप में प्रस्तुत किया गया, जो वे नहीं थे। प्रेमचन्द की दूसरी त्रासदी यह है कि वे भारत की स्वतन्त्रता और काँग्रेसी समाजवाद का चरित्र नहीं देख सके और पहले ही

संसार से विदा हो गये। महात्मा गाँधी ने तो स्वतन्त्रता देखी, परन्तु उनके समाजवाद की कल्पना उनके जीवन-काल में ही छिन्न-भिन्न हो गयी। प्रेमचन्द यदि गाँधी के समान स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद जीवित रहते तो वे भी अपने 'भारतीय समाजवाद' के महल को ढहता हुआ देख लेते। आज कम्युनिस्ट लेखक 'रूसी समाजवाद' का विकल्प तलाश कर रहे हैं, लेकिन प्रेमचन्द के 'भारतीय समाजवाद' का कोई विकल्प नहीं है। भारत में जब भी समाजवाद आयेगा, जो निश्चय ही एक दिन आयेगा, वह विवेकानन्द, गाँधी और प्रेमचन्द का 'भारतीय समाजवाद' ही होगा। मार्क्स यदि भारत में पैदा हो तो उसे भी भारतीयता के इसी मार्ग पर चलना होगा। भारत की जनता ऐसी ही है। मानवीयता उसकी संस्कृति है, फिर भी कोई भी नया विचार भारतीय बनकर ही जीवन का अंग बन सकता है।

सन्दर्भ :-

१. 'प्रेमचन्द', सरस्वती प्रेस, बनारस कैण्ट, प्रथम सं. १९४१, पृ. १०९।
२. 'प्रेमचन्द : विरासत का सवाल', प्रथम सं. १९८१, पृ. ६४।
३. 'प्रताप' साप्ताहिक, दिसम्बर, १९२५ का विशेषांक, बाद में 'इंडिया टुडे' साहित्य वार्षिकी, १९९५, पृ. २४-२६ पर पुनः प्रकाशित।
४. 'विवेकानन्द साहित्य', खण्ड-१०, पृ. ३४७।
५. वही, खण्ड-४, पृ. २४३।
६. वही, खण्ड-७, पृ. ३५७।
७. वही, खण्ड-४, पृ. २५२।
८. वही, खण्ड-४, पृ. २४३।
९. 'गाँधी वाङ्.मय', खण्ड-५९, पृ. २३८।
१०. वही, खण्ड-६४, पृ. ४२६।
११. 'गाँधी वाङ्.मय', खण्ड-५८, पृ. २२७।
१२. वही, खण्ड-२५, पृ. २६९।
१३. वही, खण्ड-६४, पृ. ३४८।
१४. वही, खण्ड ६९, पृ. ४१०।
१५. वही, खण्ड-५८, पृ. २२७।
१६. वही, खण्ड-५८, पृ. १२३।
१७. वही, खण्ड-६४, पृ. २१६।
१८. वही, खण्ड-४५, पृ. ३१७।
१९. वही, खण्ड-५८, पृ. १२३।
२०. वही, खण्ड-८३, पृ. ३१।
२१. वही, खण्ड-४५, पृ. ३१६।
२२. 'गाँधी वाङ्.मय', खण्ड-६२, पृ. २४५।
२३. वही, खण्ड-८३, पृ. ३२।
२४. वही, खण्ड-६४, पृ. ३४८।

२५. वही, खण्ड-७३, पृ. १६।
२६. वही, खण्ड-५८, पृ. २५६।
२७. वही, खण्ड-७५, पृ. १७४।
२८. 'जागरण', ११ दिसम्बर, १६३३
२६. वही, २५ सितम्बर, १६३३।
३०. वही, ६ अक्टूबर, १६३३।
३१. 'जागरण', १८ सितम्बर, १६३३।
३२. वही, १५ जनवरी, १६३४।
३३. वही, २३ अप्रैल, १६३४।
३४. 'विविध प्रसंग'-२, पृ. ३०८।
३५. 'विविध प्रसंग'-२, पृ. ३४२।
३६. वही, पृ. १६८।
३७. 'हंस', अक्टूबर-नवम्बर, १६३२।
३८. 'जागरण', ११ दिसम्बर, १६३३।
३६. 'हंस', अप्रैल, १६३२।
४०. 'विविध प्रसंग'-२, पृ. ७८।
४१. 'हंस', सितम्बर, १६३१, संकलित 'विविध-प्रसंग'-२, पृ. ८३।
४२. 'जागरण', ३ अप्रैल, १६३३।
४३. 'चिट्ठी-पत्री'-२, पृ. २३७।
४४. 'जागरण', ६ अक्टूबर, १६३३।
४५. 'प्रेमचन्द का अप्राप्य साहित्य', खण्ड-१, पृ. ३१४।
४६. 'जागरण', ६ अक्टूबर, १६३३।
४७. 'गाँधी वाङ्.मय', खण्ड-४५, पृ. ३१६, खण्ड-६६, पृ. ४७३; खण्ड-६२, पृ. २४५।
४८. 'पशु से मनुष्य' कहानी से, 'मानसरोवर'-८, पृ. १०१।
४६. 'प्रेमाश्रम', पृ. ३६०।
५०. वही, पृ. ४१०।
५१. वही, पृ. ३६०।
५२. वही, पृ. १४०।
५३. 'प्रेमाश्रम', पृ. ३५३ तथा ३८६।
५४. वही, पृ. ४०३।
५५. 'जागरण', ११ दिसम्बर, १६३३, 'विविध-प्रसंग'-२, पृ. २२४ पर संकलित।
५६. वही, पृ. २२३-२४।
५७. 'मानसरोवर', खण्ड-८ में संकलित।
५८. 'श्रीकृष्ण और भावी जगत' लेख से, 'कल्याण', अगस्त, १६३१ के 'कृष्णांक' में प्रकाशित।
५६. 'रंगभूमि', पृ. ४११।

६०. वही, पृ. ४३७।
६१. 'मानसरोवर'-८ में संकलित 'हार की जीत' कहानी से
६२. 'मानसरोवर'-४ में संकलित 'दो सखियाँ' कहानी से
६३. 'गोर्की और प्रेमचन्द : दो अमर प्रतिभाएँ', प्रगति प्रकाशन, मास्को, १९८०, पृ. २९०।
६४. 'प्रेमचन्द : विरासत का सवाल', पृ. ६७, ७०, १६९, १७१।
६५. 'प्रेमचन्द : विविध आयाम', सं. डॉ. दिनेश प्रसाद सिंह, में संकलित उनके भाषण से, पृ. २२।
६६. 'प्रेमचन्द और उनका युग', चौथा संस्करण, पृ. १०६।
६७. 'गोदान-विमर्श', सं. महेन्द्र भटनागर में संकलित लेख से, पृ. ३१।
६८. 'गोदान', पृ. १८८-९०, २७४, १३५, १४०, १५२-५८।
६९. वही, पृ. ५४-५५।
७०. 'गोदान', पृ. ५४।
७१. वही, पृ. ५२।
७२. वही, पृ. ५२।
७३. वही, पृ. ।
७४. 'प्रेमचन्द और उनका युग', चौथा संस्करण, पृ. १०६, १०९, १६५, २०३।
७५. वही, पृ. ११०।
७६. डॉ. नामवर सिंह की भेंटवार्ता से, 'कला-प्रयोजन'-२५, जुलाई-सित., २००१, पृ. २११ उनके अनुसार साहित्य-नीति में विचारों और धारणाओं को बदलना गुनाह नहीं है।
७७. 'प्रेमचन्द : विविध आयाम', सं. डॉ. दिनेश प्रसाद सिंह में संकलित डॉ. नामवर सिंह के व्याख्यान से, पृ. ३०।
७८. 'साहित्य का उद्देश्य', पृ. ३४-३५।
७९. विविध प्रसंग'-३, पृ. १४१-४३।
८०. 'प्रेमचन्द', प्रथम संस्करण-१९४१, पृ. १ एवं ११।
८१. देखिए, 'कथन', २००३, मासिक पत्रिका में रमेश उपाध्याय, पूरनचन्द्र जोशी आदि के वक्तव्य।
८२. 'कथन', २००३, मासिक पत्रिका, पृ. ६८-७१।
८३. 'कसौटी'-५, मासिक पत्रिका, पृ. १५१-५७।
८४. 'समर-यात्रा' में नायक का कथन
८५. 'विविध-प्रसंग'-२, पृ. ६१।
८६. 'जागरण', ११ दिसम्बर, १९३३ में प्रकाशित लेख 'हिन्दू सोशललीग का फ़तवा' से, देखिए 'विविध -प्रसंग'-२, पृ. २२४।

स्मृतियों में पिन्हा छवियाँ...

प्रेमलता वर्मा

...सुबह एक खिड़की खुलती है...रात को वही खिड़की बन्द हो जाती है...बस इतनी ही तो जीवन उगने, पनपने, महसूस करने, सोचने, चिन्तन करने, संवाद का आदान-प्रदान करने की प्रक्रिया...और फिर (जीवन की) यह खिड़की अकस्मात् बन्द तो बन्द...एक अनन्त अन्धकार का गोला..जिसमें हर किसी किस्म के शब्द की हैसियत गुमनाम है...

समय की कितनी लहरें?... उसके कितने विभाजन?
वक्त के जबड़े खुले और बन्द हुए...

अपना भी स्वर बन्द हो जाएगा समय के अँधेरे जबड़े के भीतर.. कोई अगला शब्द बनने से पूर्व... यह बूझ लेने मात्र से क्या दिल के तिकोने से वह भयावह रूप से अराजक पछतावे का अहरह बहता रक्त भी बन्द हो जाएगा? वह किरचें ही तो चुभोता रहा है अब तक!...जो नहीं किया जा सका उसका पछतावा, जो किया गया उसका पछतावा... किसी के-अपने अजीज के- इस विरोधभासी, मगर सुन्दर दुनिया से विदा पाना कौन सी पहेली रही है? क्या हम सभी ने अपने प्रिय जन को दुनिया से विदा करने का जतन नहीं किया अपनी अपनी समस्याएं, माँगों एवं शिकायतों का पिटारा उसके सिर पटक कर? क्या हम सभी (और तन्त्र भी) जिम्म्दार नहीं हैं कि एक अपूर्व स्वर्ण प्रतिभा का महज ४६ साल में ही पंचभूत में विलय सम्भव हो जाय

क्या यह सान्तवना देने का कोई ढँग है सोच लेना कि देह किसी की रिश्तेदार नहीं होती..उसके अपने तर्क, अपनी 'जीन' के संस्कार होते हैं? (भाग्यवादी तो सब कुछ विधाता की मर्जी पर छोड़ अपनी स्वंय की जिम्मेदारी से हाथ धो कर ही पछतावे से निवृत हो जाता है)।

..... वे तो लौटेंगे नहीं जो समय की दीवार फोड़ कर चले गये हैं...किन्तु इस मुट्ठी भर के गोलमोल मुकान में, जो बारीक-बारीक न्यूरोनों के जालों से बुना गया है, वे बार-बार वापस होते हैं...उनकी वापसी में कोई नवीन तर्ज नहीं, किन्तु उनके अस्तित्व का निराला रुपान्तरण इस वर्तमान को विचित्र इन्द्रजाल से कस देता है- उनकी प्रस्तुति के आगे

चूँकि 'थे' लग चुका है- वे नहीं हैं जो थे...फिर भी वे दूरियों की नजदीकी में पूरित तो हैं ही एक विशिष्ट सन्दर्भ में खूब सगेपन के सँग एक बिम्ब के रूप में ही सही जो सदैव स्मृति में बिंधा रहता है...। यह नाता एकदम अलग सी चीज है, भौतिक ताल्लुकों से एकदम अलहदा ...प्रस्तुत-अप्रस्तुत ...फिर भी प्रस्तुत...स्फुरित...वे बोलते नहीं,बोल सकते नहीं..उनकी प्राण वायु को ब्रह्माण्ड ने सोख लिया है..., वर्तमान होने के लिए सामान्य अर्थ उन पर लागू नहीं होता...मगर वे हैं...वर्तमान का होने के लिए हैं...लम्बे वर्तमान के प्रतिभू...जिन्होनें 'कर्म की विविध दिशाएँ' तलाशीं तथा उसे भेदभाव के तन्त्रसिद्ध मुद्दती रिवाज के बाहर,सावधानी से,एक अभौतिक, अर्थवान मौलिक भाषा के साथ रखा...जिसके इशारे जो समझे तो वह भी उनकी तरह, एक चिर वर्तमान में होने के काबिल हो शायद...कुछों में एक या दो की भविष्य की ओर उँगलियाँ फैली रहेंगी समय का बहुरूप, गतिशील साक्ष्य बन कर...।

मुझे मेट्रो की सरसराहट में बैठे- बैठे अकस्मात् मारीयो बेनेदेती (उरुग्वायन लेखक) के उपन्यास 'हममें से कौन' के एक पात्र मीगेल का स्मरण हो आता है जो कहता हैः 'यथार्थ सिर्फ एक लाइलाज बेहूदी असह्यनीयता है, उकताहटभरी थकान है... कला मुझे एक कौशल प्रतीत होती है मगर वह भी कभी पूरी तरह समर्थ नहींय हमेशा को तो वह प्रमाणित भी नहीं...'

-क्या मलयज भी (अपने हताश पलों में) ऐसा समझते थे? अपने जीवन के आखिरी सालों में वे कितने विकल रूप से असहाय जैसे हो गये थे कि उनकी हैसियत एक कैदी की-सी हो गयी लक्षित होती है। वे जैसे न प्यार करने को आजाद हों ,न नफरत ही करने को न गुस्सा करने की ही हैसियत रही उनकी ...फेफड़ा फट जाने का डर...एक फेफड़ेवाले इनसान को तेज जज्बातों के इजहार की मनाही है...इसीलिए सहज हरकत पर भी भाई उँगली रख उसे दबा देते रहे... खाना तक,जो भी(चाहे स्वाथ्य लाभ लायक भी न हो) उनके आगे रख दिया जाता,चुपचाप खा लेते बिना पसन्द-नापसन्द का इजहार किए। उन्हें जैसे अपनी ज़रूरत,अपनी रुचि किसी के आगे पेश करने की इजाज़त न हो अपनी तरफ से..उनके.भीतर-भीतर एक बड़ा फोड़ा तपता रहा जिसे किसी ने नहीं देखा...

उन भावनाओं का क्या किया जाय जो तहखाने से बारबार निकल पड़तीं हैं अन्तर को हिंड़ोरती?...

...मकान की बाल्कनी ही उनकी अपनी सगी रह जाती रही जहाँ संवेदना विचार मन्थन को बौद्धिक रूप में ढालने के लिए कलम थामे कागज पर झुके मलयज के लिये वह एक बाग बन जाती जहाँ वे खुली साँस ले सकें...वह घाट हो जाती जहाँ थका सिर रख कर वे जीवन से प्रार्थना कर सके...तथा एकान्त की वह मुलायम चिकनी सतह जहाँ चेहरा टिका अपने से गुफ्तगू कर सकें,...अपने सिर का दर्द बहा सकें और अपने मात्र बचे एकमात्र फेफड़े की साँस बचा सकें...

मगर कुछ भी तयशुदा नहीं इस जूझते जीवन में... और आगे का हमें पता क्या...

मानस में घटनाएँ मुसलसल जारी हैं...आकारहीन,अमूर्त सी...भूत सी... राजा विक्रम के बैताल की सी...कि बचपन का, उगते किशोर का तथा यौवन की दहलीज पर बिछी जिम्मेदारियों में घुली-धुली कत्थई यादों का बिखरा-बिखरा गैरसिलसिलेवार चक्का- अपने लिए चुरा लिए गए एकान्त में- चल पड़ता है... यादें-शुरु के बुलबुले उठाते कयामत की धूसर,धुँएदार करवट..--.ग्रीष्म की तेज ज्वाला में तड़फड़ाती गली के भीतर गुट्टी का खेल रचती... अनुभव को अनुभूति की तरह जीती...तेज़ बुखार में गुम होते होश सी यादें...यात्रा कर रहीं हैं...

…अनुभूति में सब समाता गया जैसे गहरे जल की चट्टान से फट कर साबुन के बुलबुले उसमें समा जायँ ……और फिर एक सन्नाटा…जिसमें कोई दीवार फटने को आतुर हो कर भी नहीं फट पाती…

मोहतशिम गँज से डिफेन्स कॉलोनी…तक कडुए धुँए में कैद विविध रँगोंवाले इतिहास का उपसँहार…और एक उसी शेष सूत्र से एक नए ,फिर भी दुखद इतिहास का आशा में रँगा प्रारम्भ…

उन्ही के स्वप्न दुदु:स्वप्न बारबार हड़काते रहे…
(शायद यह मेरा अब्स्ट्रैक्ट प्रलाप है न?)..

मलयज का संवेदनात्मक, प्रबुद्ध,बौद्धिक रूप एवं उनका सघन व्यक्तित्व मेरे ऊपर इतना छाया रहा कि अकस्मात् उनका इस सँसार से चले जाना मेरे लिए अकल्पित ही रहा … तबियत उजड़ गयी सुन कर कि ''बड़े मामा स्वर्गवासी हो गए.''. कितना सीधा सा वाक्य है.- ''नहीं रह'' वे, जिनके अपने निश्छल व्यवहार में किसी को कष्ट न देने का भाव होते हुए भी खुद को दँड देना हुआ… वह सब जो उनके वश के बाहर था, न दे पाने की अपराध भावना से घिरे हुए…कि जिसके लिए अपनी क्षयग्रस्त शारीरिक परनिर्भरता बड़ी तल्ख हकीकत रही… कि.अपने अकेले के लिए चुटकी भर भी सूकून या सुख पा लेने का जतन जिन्हें अपनी खुदगर्जी लगती : वे जो दूसरों की परेशानियों से व्याकुल हो जाते रहे,और वे ही सगे जन जो उनके अन्तर में घुमडती व्यथित,उदास तनहाई से ग्रस्त तस्वीरों की ओर झाँकने की दरकार से दूर रहे, उन्ही के लिए गहरा विषाद लिए ही, अपने अंतिम समय में किसी और से कुछ माँगे बगैर, किसी को परेशान किए बिना, अपने अन्तर के रिसते फोड़े को लिए-लिए बिना शिकायत के,वे एक मँत्र की तरह अन्तरिक्ष में समा जाएगें अपना निहायत मूल्यवान अस्तित्व यहीं छोड़ कर…विश्वाश करने लायक नहीं लगता…

वह पीड़ा जो उन पर हँसती थी काफ्कियन अन्दाज में उनके साथ ही क्या चली गयी?

मैं जिस पर उनका पूरा विश्वास टिका था,कितना कर पायी? मेरी अन्तश्चेतना ने इस विरोधाभासी एवं सबके बावजूद अपनी विविध विभिन्न मुद्राओंवाले सुन्दर पृथ्वी ग्रह से उनका अकस्मात् के तर्ज पर विदा हो जाना मंजूर नहीं किया लम्बे अरसे तक।

-कितनी भुरभुरी रही बाहरी सुरक्षा!

-कितना हरामखोर था मॉडल टाउन का वह डॉक्टर जिसने मलयज को हॉर्ट अटैक आने पर कुछ भी करने से इनकार कर दिया! चुटकी भर भी मानव सँवेदना न थी उस मुँहजले के पास! तब तक तो मलयज जीवित थे,साँस तो तब उखड़ी जब टैक्सी से वे अस्पताल पहुँचनेवाले थे। मैं वहाँ होती तो सीधे उस नीमहकीम हत्यारे पर मुकदमा ठोंक देती। मलयज का हृदय ज़िन्दा हो सकता था अगर उनका वक्ष दबा-दबा कर उसे धड़काने, पुनर्जीवित करने की क्रिया तुरन्त की गयी होती। मगर मामूली साइँस के भी ज्ञान की तरफ तो हमारे भारतीय परिवार का ध्यान एकदम अप्रस्तुत तथ्य है न।

'उनमें जो मुर्दनी है वहीं
क्रूरताएँ जन्म लेतीं हैं'

डॉक्टर तो क्रूर था, पर शेष लोग?

–उनकी वर्षों की कमाई- उनकी कविता ,कहानी, लेखों की पुस्तकें? वे चिकट हो धूल चाट रहीं हैं, उसी घर में जिसके अपने रहते निर्माण का सपना देखते- देखते वे चले गये इस दुनिया से... उनकी बचपन से ही जमा की किताबों की बड़ी अलमारी कहाँ गुम हो गयी उनके चले जाने के बाद?

हाँ जिसे मैं मैनगॉड समझती रही, वह चला गया हमेशा को, मेरे दुबारा देश वापस होने के इन्तजार में ...'तुम आ जाओ तो सब ठीक हो जाएगा' की (असम्भव) कामना लेकर...

सिर्फ़ एक वाक्य दहकता थरथराता रह गया-'मलयज नहीं रहे...'मामा जी नहीं रहे'... 'भइया नहीं रहे'...

मैं न धरती पर न आसमान पर न ही अधर में...कहाँ रह गयी मैं?

दो नावों पर अपने दो पाँव टिकाये...उनके पत्र मुट्ठी में थामे,..... मँझधार में हाथ-पाँव फेंकती रही हूँ...

....अब तो मलयज की याद में खुभी पतझर -तारीखें मेज पर धरीं हैं और सफ़ेद कागज पर एक सिकुड़ी हुई रोशनी किसी इन्तज़ार में...लगता है भइया खड़े हैं नीम अँधेरे में आँख गड़ाये, कुछ परखते...एकान्त को सँभालने के लिए मेज़ खामोश है अपने अंदाज से...

मलयज भइया से शेष रह गयी कुछ बातचीतः चन्द सवाल...

...मैं तुमसे कहना चाहती हूँ कि तुम्हारे प्रति मेरा कुछ दाय है, कुछ भ्रान्तियाँ और शिकवा भी (शायद जिनका आज कोई अर्थ नहीं रह गया फिर भी खुलासा करना मानस को साफ़ कर लेना होगा) जिन्हें सुलझाना चाहती हूँ तुम्हारे सामने.. बताओ,तुम हँसी को अपने दाँत तले ही क्यों रखते थे, होठों पर लाकर उसे खुल कर बाहर क्यों नहीं आने देते थे? जानते हो तुमने सुखी होने की कोशिश ही नहीं की अपने हृदय की आवाज़ सुन कर। झिरझिरे हो गये पारम्परिक मूल्यों को निरीह भाव से तुमने स्वीकर कर लिया... पिता को तो बस अपना वंश आगे बढ़ाने की चिन्ता थी, तुम्हें अपने मन का जीवन साथी चुनने का मौका नहीं दिया; तुम्हारा मन पढ़ने की ज़हमत वे क्यों उठाते। उनकी धमकी पर तुमने अपनी गाँठ जोड़ी उन्हीं की मरजी से,उन्ही के जल्दबाज चुनाव पर और तुमने ग़ैरसमझे रह कर असुखी बनना मँजूर किया तो क्यों? तुम इतने दबे रह गये कि अपना समूचा अस्तित्व ही उनके हाथों गिरवी रख दिया उनका कर्ज़ चुकाने के लिए! प्रबुद्ध होते हुए भी! क्या कोई अन्य विकल्प नहीं हो सकता था? क्यों, बेहतर न होता कि तुम इनकार कर देते और सारे जीवन अपना सलीब ढोने से बच जाते? मगर तुम तो जैसे परिवार की ज़िम्मेदारी ही अपने कमज़ोर कन्धे पर ढोने के लिए रह गये कुछ खीझ से मगर सहिष्णुता खोये बग़ैर। माकूल, समझदार जीवनसंगिनी का अभाव, उसके मानसिक,सांस्कृतिक विकास की कमी तुम्हें दुःखती रही थी मगर चुपचाप सहते हुए उस कमी को झेलते रहे। अगर अपनी दुनिया से परिचय करवा कर उनका सांस्कृतिक विकास करने की कोशिश करते तो शायद बच सकते थे अपने अन्तर की चुभती वेदना से। तुम तो बस अपनी मुख़्तसर-सी ज़रूरतें भी घटाते गए सबकी ज़रूरतें पूरी करने की खातिर।

तुम्हारे सीने में स्वयं के लिए कौन-सा बेसुरा राग बन गया था बाहरी दुनिया की डगमगाती हरक़त के तहत?

हाँ, आज एक पुरानी कसक धुल कर सवाल (और शायद उसका जवाब भी) बन गयी है कि...जो शिकायत कभी बाहर न आयी, वह आज क्यों फूट रही है....कि

तुम्हारे उस बेचाहे प्रसंग के घटित होने से काफी पहले कोई गहरा फ्रस्ट्रेशन तुम्हारा पीछा करता आया था कि तुमने अपने असंतोष और कुण्ठा में, समाज की कोढ़ी मान्यताओं के तर्क घोल कर,उसकी ऐनक लगा कर हमीं दोनों बहनों को अपनी बनाई कचहरी के कटघरें में खड़ा कर जज किया! (वह भी अपनी पहली-दूसरी डायरी में)। क्या वह तुम्हारी बीमारी का साइड एफेक्ट था जो हम पर उतरना था? उस ऐनक को उतारने में कितनी देर लगी न! और मेरी तो उल्टी-सीधी तस्वीर ही बना गये थे तुम! तुम मुझसे कुछ ज़्यादा ही अपेक्षा रखते थे। तब, तुम्हें मेरा स्वतन्त्र विचार खलता था। हमारी किशोर-मन की हरकतों को तुम खामख्वाह का विद्रोह मान बैठते कि बगैर पड़ताल किये कि अगर ऐसा है तो आखिर उसकी जड़ कहाँ और क्यों है! तुम वहाँ प्रश्न ही न उठाते और ठीक से बौखला भी न पाते।अगर एक बार तुम हमें डाँट कर पूछते तो निर्भय रूप से तुम्हारे निकट होने का अहसास होता, कम से कम मैं तो - अपने मन में कोई ग्रन्थि न होने से- खुल कर तुमको हवाला दे ही सकती थी। पर उस समय तुम हमारे मन की गतिविधि और संघर्ष की तरफ से आँखें क्यों मूँदे बैठे थे? या फिर उसे आधी आँखों से ही देखा। तुम तो कलम के नये नए सिपाही थे न; कलम को हथियार बना कर तुमको हमीं पर (विश्लेषण के नाम पर) दिल का बुखार उतारना था? बहनों को सुरक्षित साँचे में बिठाने की तुम्हारी(पारंपरिक) चाह पर हम पानी फेर रहे थे न! कितना यथार्थ और कितनी कल्पना का जुज़ था तब बहनों से अपेक्षाएँ करने में कि बिना उदार हुए उन पर जबरदस्त कसौटी रख गये थे!... क्या तुम्हे मालूम था कि हमारा क्या दुःख था, किस बात से हमें खुशी होती थी?

मज़े की बात तो यह कि जिन विधि-निषेधों को तुम हम पर धरना चाहते, उस पर ही तुम्हारा भरोसा कहाँ था। वे खुद तुम्हारी सोच के प्रतिकूल पड़ते रहे होंगे। क्या कम था कि अपनी किशोर आयु में ही हमने-(खास कर प्रेमा ने-) पूरे घर की जिम्मेदारी-- खाना पकाने,घर की सफ़ाई,सजावट करने, बाजार हाट करने से लेकर छोटे भाई बहनों की देखरेख, रोगग्रस्त माँ की सेवा तक-- अपने कमज़ोर कँधों पर ढो ली थी? अपनी पढ़ाई आगे ले जाने के लिए हम दोनों बहनें ट्यूशन भी तो करतीं थीं! और भूल से भी तुम्हारी अवहेलना नहीं की।तुम्हारी जटिल बीमारी में भी दिन-रात कौन रहता था तुम्हारी टहल के लिए- मैं ही न। शाम की ललछौहीं साड़ी में रात की स्याह किनारी लगाते सिंहअवतारी वक्त में, तुम्हारे मुँह को भलभला कर खून की उल्टी करते, तुम्हारी पूरी शकल नीली पड़ते देख, धीरज धर खून का तर्सला उठाते,उसे धोते, उस नितान्त अकेले कमरें में कैसे मेरा दिल टुकड़े टुकड़े हो जाता और फिर कुछ दहसत से भर दुआ करती कि वह तसला दुबारा न भरे...मन करूणा से लबरेज और आशा की चिनगारी सुलगाने की चेष्टा..। वह मेघमय, निहायत करूण चेहरा और उस पर भटकनभरी चमकती आँखें क्या कभी भूलनेवाली हैं? वैसे मेरी तकदीर में तो १२ साल की उम्र से ही मौत के साये में रहना बदा था। एकदम निकट से मौत का हाड़तोड़ साक्षात्कार एक नहीं,कई बार। मगर दिल तो उससे कड़ा कहीं भी न हुआ, संवेदना में कहीं खरास नहीं पड़ी। तुम्हारी जर्जर दैहिक हालत में अनेकों को तुम्हारे पास जाने में दहशत सी होती, मगर मैं तो तुम्हारे कमरे में ही बनी रहती तुम्हारी तीमारदारी के लिए (उसी तरह जैसे मैनेनजाइटस से तड़पती दस साल की गीता की रात रात भर की चीखें सुनती जगी रहती उसका माथा सहलाती..उसके बजाय खुद अपने को भ्रमित दिलासे से बेकार रँगती..)।ऐसी दुःसाध्य हालत में पिता को अपने 'खानदान का एकमात्र चिराग' बुझने देना किसी भी कीमत पर मंजूर न होना उनकी बैचौनी में और काँटे डालता जाता था। तुम्हारा क्षार होता तन पलँग से सटता ही गया जिसे किसी से देखा नहीं जाता था। उन दिनों घर के चारों तरफ जैसे मौत की स्याह परछाईं टहला करती। चोर निगाहें हमारा पीछा करतीं...

मुहल्ले में कानाफूसी होती 'भइया' की बीमारी के लेकर...जैसे सभी एक अशुभ घटना के घटने के इन्तज़ा में हों... मेरी सहेलियों की माँए, बुआ, भाभी सभी अपनी देहली लाँघने पर निषेध लगा बैठीं। तब शाम को कभी-कभी छोटी बहन को कनिया पर लाद कर मैं रामबाग स्टेशन पर रेलगाड़ी की धड़धड़ छुम्मक छुम्मक सुनने बैठ जाती किसी बेंच पर, दिलकी तेज धड़कन न सुनने को...और तुम्हारी हालत पर निहायत गमगीन होते हुए भी अपने पर उम्मीद की थिगली लगा कर सोचती कि रात के बाद सुबह आती है..कि, बुरे वक़्त की एक मियाद होती है...।

क्या यह सब जाना तुमने?

अपनी आत्मकेन्द्रियता में तुमने मेरी संघर्षशीलता नहीं समझी न मेरे मन को ही। क्या तुमने देखा कि अपनी थिगली लगी साड़ी में ही बदन चुरा कर, मामूली चट्टी पहन, दो मील चल कर मुझे कॉलेज जाना होता? फिर भी कोई शिकायत नहीं हुई उस कड़ुई स्थिति को समझदारी से बूझ लेने पर। हम पिता के हुक्म के हिसाब से घर का सारा कामकाज निपटा कर ही पढ़ने जातीं! मगर तुममें तो उस वक्त हमारे पितामह हजारी लाल श्रीवास्तव के आजमगढ़ी संस्कार की रँगरेजी मौजूद थी और वही तुम्हारे सर पर तुर्रा बाँधे, अपना बाजा बजा रहा था न? तुम हमें उसी के हिसाब से समूचा देखना चाहते थे और हमारा अधूरा होना तुम्हें खटकता था। मगर बताओ, समग्र का विचार अपने आप में एक गड़बड़ फेन्टेसी,एक यूटोपिया नहीं है? क्या ग़लती करना मानवीय नहीं है? मैंने तो अपनी ग़लती के लिए अपने सिवा किसी को भी जिम्मेदार माना ही नहीं! सबसे ज़्यादा मुझी पर पिस्तोल ताना था न तुमने,तो शायद इसलिए कि सबसे ज़्यादा ममता और स्नेह तुम्हें मुझी से था। फिर भी तुमने जो भारी कसौटी रखी उसमें तो न्याय था ही नहीं न। और जब मैंने अपने जीवन की, 'कर्म की वह दिशा' खोजनी शुरु ही की थी जिसे मेरे सिवा परिवार का कोई सदस्य नहीं दिखा- बना सकता था, तो तुम भीतर झल्ला उठे थे...। बताओ अन्धकार से निकल प्रकाश की खोज करना कोई अपराध, कोई बड़ी ग़लती है? मैं तो परिवार को आर्थिक संकट से निकालने के जतन में नौकरी की तलाश में थी चाहे वह इलाहाबाद में हो या किसी दूसरे शहर में। इसके अलावा, मैं एक मिडियॉकर गृहणी बन कर नहीं जीना चाहती थी। गृहणी ही बनना हो तो अपने तर्ज पर स्वतन्त्र बन कर, पराये और जबरन थोपे अनुशासन पर नहीं। अपनी ही जिम्मेदारी पर और अपनी ग़लती के नतीजे के लिए किसी अन्य के सर दोष मढ़ने के रुग्ण मनोविज्ञान से हट कर। मगर तुमने उस संघर्ष का उल्टा अर्थ लगाया अपने को दुःखी कर।

अपनी पारम्परिक समाजिक नीति की एब्सर्ड मान्यताओं और अविश्वास का चश्मा आखिर तुमने बाद में उतारा जब कि किशोर वय में ही उसकी दरकार थी। नैतिकता की असली पहचान, उसकी मौलिक व्याख्या तुमसे तब हुई सही रूप में जब तुमने पहली बार, मेरे डिफेन्स कॉलोनी के जीवन में, गहरायी से मेरी मानसिक पीड़ित दशा को महसूस किया और मेरे जीवन की ओडिसी को मेरे देश से बाहर जाने के बाद कुछ और ज़्यादा । तभी तुम्हें बीते समय के मेरे संघर्ष के मतलब का अभिज्ञान हुआ और असलियत से वाकई साक्षात हुआ तभी तो तुमने लिखाः 'तुम मेरी चिन्ता करती हो। तुमने शुरू से ही घर के सब लोगों की चिन्ता की है... इसलिए अपने दिल की बातें तुमसे कह दिया करता हूँ।' (१६ जुलाई,१९७२) । और आखिर में तो अपने सन ८१ के एक पत्र में तुमने यहाँ तक मुझे लिख डाला 'तुम्हारे ये पत्र जैसे आइना हों जिसमें मैं अपनी असली सूरत देखता हूँ।'

यानी, मेरी बाबत तुमने महसूस कर लिया था कि जीवन एक ही,बने बनाये ढर्रे का गुलाम नहीं हो सकता,परिवर्तन ज़रूरी है वरना जीवन घुट कर रह जाएगा व्यर्थता और खालीपन के फन्दे में लटक कर...कि जीवन को बौना बनाने से बचाना है, इसलिए 'कर्म की सार्थक दिशा' तलाशनी जरूरी है पिछली दिशा का तेवर बदल कर। तभी तो मुझे

विदेश में (जब तुम बहुत व्यथित थे और निराशा में झूल रहे थे,) लिखाः 'एक सीमा के बाद लगता है कि हम किसी अदृश्य घेरेबन्दियों में घिरते जा रहे हैं और उसे यदि समय रहते नहीं तोड़ा गया तो बहुत देर हो चुकी होगी। तुमने उस क्षण को पहचाना और अपने जीवन की दिशा को मोड़ने का फैसला किया, यह साहस की बात है। इस फैसले में तुमने लोकापवादों की परवाह नहीं की, यह और भी साहस की बात है'।

'जिन सीमाओं और उलझनों में बँध कर हिन्दुस्तानी मन दब्बू,स्वार्थी और क्रूर बन जाता है-सौभाग्य से तुम उससे दूर हो'।

मुझे उस दिन राहत की साँस मिली...

इसी सन्दर्भ में

फिर तुमने खुद ही विचारा कि क्यों भारतीयों पर पारम्परिक आग्रहों का बोझ हैः 'हज़ारों साल की संस्कृति के अवशेष चेतना के न जाने कितने स्तरों पर तैरते रहते हैं 'वह संस्कृति जो अपने आप में भानुमति का पिटारा है।सँस्कृति के ये अवशेष जीवित और मृत दोनों हैं। संगत और असँगत। सार्थक और निरर्थक'। (मलयज के सन् ७८ के पत्र से)

तुमसे कुछ और कहना है :

तुमने भावुक होना नहीं चाहा न, मानो भावुकता कोई ऐसा छुपा हुआ दैत्य है जो तुम्हारी बौद्धिक चेतना तथा तटस्थ कला अनुशासन को रेती से रेत कर सब हड़प जाएगा...तब जैसे समझदारी का लंका दहन हो जाएगा... तब तटस्थता के प्रसंग पर तुमने मुझे क्यों लिखा? कि 'एक जागरूक तटस्थता के लिए स्वास्थ्य चाहिए'। (और भावुकता के लिए?) मगर तुम्हारी सेहत तो एक ही फेफड़े से करीब हमेशा ही बीमार पंख फड़फड़ाती रही... (तब भावुक क्या तुम कभी हुए ही नहीं?) सही हो सकता है कि तटस्थता की बात व्यक्तिगत नातों में नहीं साहित्य के सम्बन्ध में तुमने कही। यूँ तो तुम अपने अन्तर्विरोध को बड़ी खूबी से संभाल ले जाते थे! मानना होगा कि एक फेफड़े लेकर तो, बारबार बीमार पड़ते हुए भी तुम बहुत कुछ वह कर गये जो हमारे वंश में किसी ने - न ही रिश्तेदारों में- ये किया, न करने में समर्थ हैं न इस ओर उनकी दिलचस्पी है (एक दो को छोड़ कर)। साहित्य को अतः जीवन को भी तुमने बड़ा मूल्य दिया, इसमें शक की गुँजायश नहीं। इसलिए भी अपने साहित्य कला- कर्म को अधूरा छोड़ जाने का दुःख तुम्हें(जहाँ कहीं भी तुम हो) या किसी को नहीं होना चाहिए।

तुम्हारी- एक उम्दा ही कहना चाहिए- सिफ़त ये भी थी कि दूसरों पर सवाल उठाने से पहले अपने भीतर झाँक लेते थे अच्छी तरह, अपने भीतर चलती हलचलों का एक्सरे कर लिया करते। आत्मदया के शिकार नहीं थे न, तभी अपने दोष मँजूर करने में तुम्हें लाज नहीं आती थी। (बताओ कितने भारतीयों में यह सदगुण है? मैं जानती हूँ कि तुम आदर्शवादी रहे। पलायनवादी धार्मिकता से ग्रस्त, डरे हुए, उधार में लायी परायी सभ्यता की (भारत के लिए नयी) वस्तुओं की चौंध में अधखुली आँखोंवाले महानुभावों द्वारा तुम्हारे आदर्श का मतलब नहीं समझा गया। मैंने तुमसे कहाः 'आदर्श' को 'असम्भव' से जुदा कर दो। आदर्श असम्भव नहीं होते। आखिर उसकी हिफ़ाजत में तुमने कभी सिर तो नहीं झुकाया बेईमानों के आगे! तुम्हीं ने तो मुझमें मेरा विश्वास सँभालते लिखा था कि 'सारी मान्यताएँ और सिद्धान्त एक जीवित व्यक्ति के संघर्ष के आगे छोटे हैं'।...

तुमसे और किस्म का भी कुछ बतियाना है; सात समुन्दर पार आखिर तुम्हीं तो मेरे सेतु भी रहे जैसे कि मेरी

मातृभाषा, अपने देश का बहुविध मूल्यवान इतिहास और अद्‌भुत स्थापत्य कला।

यहाँ के नये परिवर्तनों के सन्दर्भ तुम्हें बताने थे। 'काले सूरज' को अपने कलेजे में दबाने वाली, शब्दों की जादूरनी कवयित्री अलेखान्द्रा पिसर्निक, प्रकृति के रहस्यों से जादू टोना करनेवाली शिल्प की रानी ओल्गा ओरोष्को तथा, एक नई भाषा के प्रयोगवादी श्रेष्ट वामपन्थी क्रान्तिकारी कवि ख्वान खेलमन एवं समाज तथा सियासत पर प्रश्न उछालती 'माफाल्दा' के रचयिता 'कीनो' (उपनाम) की बाबत तथा और भी तमाम बातें जो कभी कहने-सुनने का मौका नही हुआ।

... देखिए, सहबान,अपना और मेरा कथन सुन, इस हवाई जहाज की 'धकर-मकर रररर छु' चुकने के बाद घोर मेघ से फूटती बिजली जैसा सत्य पुनः सामने रख देने को मलयज आ खड़े हुए-पृथ्वीजन्य मँजरों के सरकते-, सरसराते बादलों की झाडियों के पीछे से झाँकते हुए...। अपने गमगीन चेहरे पर आदर्शवादी आँखों की नैतिक चमक लिए...कल सपने में भी आये थे पिथागोरियन अन्दाज में झुके हुए, 'Papirus' (छालपत्र) पर मुझसे कुछ लिखवा रहे थे... फिर अकस्मात् अधूरा छोड़कर दृढ़ कोमलता से बोले, अब आगे से तुम्हारी ज़िम्मेदारी... अब तुम आगे से लिखोगी इसे...।

और चुपचाप छाया बन कर अपनी गमगीन आँखें और मुर्झायी- उदास शकल तथा क्षीण तन लेकर गायब हो गये किसी धुन्ध में...

--तब मैंने लिखना शुरु किया...उनके बाबत... लेकिन वह पापीरो टूट गया बीच से ...।

इसके बाद कितने ढ़ेरों के ढ़ेर साल पतझड बन गये...

(आखिर उनकी 'पीठ में खुभा हुआ मौत का छुरा' मेरे अस्तित्व पर भी लगा था न...)

काफ़ी समय तक मुझे तो पता ही न चला कि कब मैं मलयज भइया के लिए बहुत ज़रूरी हो गयी थी। डूबते के तिनके जैसा...आखिर मैं क्या और कितना कर सकती,उनका दुःख, उनकी अहरह पीड़ा दूर करने के लिए? मेरी भी सीमाएँ और दूरूह समस्याएँ रहीं विदेश में जिन्हें मुझे अकेले वहन करना और सुलझाना था।

उनका अकस्मात् की तरह हमेशा को चले जाना मुझ पर बम की तरह गिरा परदेश के मेरे अकेले कमरे में। एक लम्बे समय तक उनकी झटके की विदाई मेरे गले से उतरी ही नहीं; उनकी मौजूदगी मुझे हर वक़्त महसूस होती रही-कभी नसों को कँपाती हुई और कभी हर १५ दिन पर आनेवाली चिट्ठी की प्रतीक्षा के रूप में उतावली हो कर; जब भी डाकिया आता मैं अनजाने ही उधर दौड़ जाती... पूछने पर डाकिए का 'कुछ नहीं अभी तो सेन्योरा' सुन कर गले में फाँस लग जाती....। कोई चीज़ रास न आती, मन कहीं केन्द्रित न होता। पढ़ना लिखना तक बन्द। घोर पछतावे में भइया का वह वाक्य दुहरा दुहरा कर मुझे कुचलता रहा 'तुम आ जाओ तो सब ठीक हो जाएगा'।

सपनों में भइया, खामोशी से मेरी बगल में बैठ टुकुर-टुकुर सँझीली पनियायी आँखों से मुझे ताकते रहते या कोई मौन सन्देश दे जाते। जहाँ मैं जाती मेरे साथ जाते...जैसे वे अपनी शाश्वत अल्विदा को मंजूर न कर पा रहे हो...

(कृपया, मेरे इन इज़हारों को मेरी गदगद भावुकता या मेरी संघर्ष व्यथा न मानें)

तब एक दिन मेरे एक छात्र मित्र ने कहा, 'तुम्हारे भाई फिर से जीवन पा लेंगें अगर तुम उनका छूटा, अधूरा काम पूरा करो, उसे आगे ले जाओ। तुम्हें चाहिए साहित्यिक विषयों पर समीक्षा लिखना, कविता, गद्य या कला की समीक्षा शुरू कर दो। तब वे हमेशा तुम्हारे साथ रहेंगें और तुम्हें उनके छूटे काम आगे बढते पा उनकी आत्मा को सन्तोष मिलेगा।'

अपने मित्र की राय को रूप देने में समय लगा। डिप्रेशन से उबरने के कुछ बाद अर्जेन्टीनी कवियों की कविता के अनुवाद के सिलसिले में आलोचना करने का मौका हाथ लगा। बाद में अर्जेन्टीनी महाकाव्य 'मार्तिन फियेर्रो' का जम कर(डाक्टर इन्द्रनाथ चौधुरी के शब्दों में 'अपूर्व') अनुवाद किया ५८ पृष्ट की भूमिका के साथ जिसमें न केवल साहित्यिक पक्ष से समीक्षा है बल्कि इस देश की ऐतिहासिक, राजनैतिक, समाजिक और आर्थिक दशा के परिप्रेक्ष्य में, अफ़सरशाही में, पिसे आदिवासियों की एवं गाउचो की यातनामयी माली हालत का १५वीं सदी से लेकर आधुनिक काल तक का मन से विश्लेषण किया। यह अनुवाद साहित्य अकादमी, दिल्ली से प्रकाशित हुआ और उस पर रघुवीर सहाय ,चन्द्रकान्त देवताले आदि की खूब प्रशंसात्मक, दाद भरी चिट्ठियाँ मिली। तब मेरे भीतर आत्मविश्वास जगा।

इसी को मैं पुनर्जीवन होना कह सकती हूँ। मौत आदमी का पुराना कर्ज है, उसे तो चुकाना ही पड़ेगा, किन्तु जब तक हम ज़िन्दा हैं, हमें मौत का चुनौतीभरा इशारा समझ लेना चाहिए- यह सीखा।

नयी ऊर्जावाले कर्म का प्रारम्भ हमें खण्डित होने से बचा लेता है ।...

मगर मलयज पर फिर भी नहीं लिखा गया मुझसे।

..यथार्थ और फेन्टेसी, वास्तविक-अवास्तविक का ऐसा योगायोग मेरे मानस में बना कि अपनी स्मृतियों के कुण्ड में उसे मथती रही मुद्दतों...।

मलयज को सबसे ज़्यादा मैंने ही महसूस किया, सबसे ज्यादा नजदीक पाया ।

भूत के मुड़े पाँव आगे...

अब कहाँ से शुरू करूँ? अतीत और वर्तमान एक दूसरे में धँसे हुए हैं...!

मलयज की सौम्य मुद्रा में लिपटी अहरह उदासी, उनका इतिहास और उनका वर्तमान एक दूसरे में भिदे हुए हैं...!

संस्मरण लिखना तो स्मृति में दर्ज भूतकालीन समय को पिघलाना है, पिघला कर क़ागज पर उतारना। उस पिघलाने में उन बातों उन घटनाओं को जीना भी होने लगता है जो बीत गयी लगतीं हैं...। बीते हुए को वर्तमान बनाना अपने भीतर से लहू निकालने जैसा ही तो है...

...अब वह पुराना गीत क्या गाना जो देश के नक्शे के एकदम दूसरे धुर छोर पर बने नक्शे पर जाने की रात पूरे परिवार के बीच-- 'थके पाँव लेकिन बहुत दूर जाना' गाया था, क्योंकि अब तो दूर आये हुए भी बड़ी मुद्दत हो गयी और अब तो लौटने की 'कोई सूरत नजर नहीं आती'...

इसी सन्दर्भ में अगर कहूँ कि पीड़ा शायद सबसे मौलिक चीज़ होती है,किसी की उत्सुकता शान्त करने के लिए उसकी पवित्रता पर हाथ नहीं लगाया जा सकता...चरम सीमाओं से हम कभी परिचित हो ही नहीं सकते, महज उसकी कल्पना कर लेते हैं।.. तो सुख अपने लघु क्षण में भी एक चरम सीमा है और दुःख दूसरी चरम सीमा। दोनों की

परिस्थितिगत मिलावट हम जी लेते हैं...दुःख से तो पूरा विच्छेद संभव ही नहीं। सिवा मौत के...मौत की अनुभूति में दुःख पूरी तरह असली चेहरा लेकर प्रस्तुत हो जाता होगा...

...और ऊँहूँ हूँ, रोज़मर्रे की ताकत का क्या कहना! चन्द कर्मों के दुहराव में सीझते जीवन का भिनभिनाता मक्खा बेसुरा राग गाता चला जाता है...सब ठहरा हुआ है इस एकरस बाँझ सुविधा के भीतर...हमारे अस्तित्व का सबसे अधिक लहू इसी रोज़मर्रे को, दुहराव को समर्पित है..कि विवेक के दरवाज़े बन्द हो जाते हैं...। अगर मध्य और निम्न मध्यवर्ग, पण्डिताऊ टुटपूँजिया धर्म की बैसाखी थामे ही रहे किसी सार्थक संघर्ष, किसी बदलाव की सम्भावना की अनदेखी करते, नजर फिराये हुए जीवन के एक तयशुदा फ्रेम में कसे हुए तो... उनकी अस्मिता पर रूढ़ी, कब्र पर घास की तरह उग चिपक ही गई तो कहना क्या... भला किस नए सेहतमन्द मूल्य का उद्‌भव होगा! तब कर्म की कौन सी आशामयी दिशा खुलेगी आगत के स्वागत में?

इस सोच को- जो सिर्फ मेरी नहीं मलयज की भी चिन्ता की एक धारा रही- सही और खुली अभिव्यक्ति देने के लिए समय के संदर्भ के अनुरूप भाषा के प्रति मजबूत आस्था की दरकार होती थी, वह समय पहले एक दबी झिझक में क़ैद रहा...

मुझे काफ़ी देर लगी मलयज पर कलम उठाने में। शुरू के प्रयासों में कई तरह की जद्दोजहद अपने भीतर उठी। उन जैसे धुरन्धर प्रतिभा के अद्वितीय रचनाकार जिन्हें (किस्मत के) उड़नखटोले पर बैठ कर उड़ने की चाह कभी दूर से भी नहीं हुई, सच का मुगालता देनेवाले झूठ से जो हमेशा, सर्वथा दूर रहे, किसी बौद्धिक चुनौती से कभी भी पीछे वे नहीं हटे। - तो उन पर कलम चलाने के अपने खतरे तो हैं ही...

आखिर पहिए में धँसे सूरज को निकाल पाना... कितनी बड़ी ज़हमत का कर्म है!...

धूल से लदबद रास्ते, आँधी तूफान में घिसते पहिए के एक- एक चक्रों को सँभालते, अँधेरे को चीर कर जो सूरज अपनी सतरँगी किरणों में अपने मानस तन्तुओं का रहस्य रचता रहा; अपने इर्दगिर्द बिखरी वास्तविकता को समेट लेता था... और जिसका रचना संसार धूलमिट्टी, सिमसिमी बीमार रजाई की गन्ध, चिलचिलाती गर्मी में सूज गये एकमात्र फेफड़े से उच्छवास की तरह निकलती भारी साँस की एक एक धार की कीमत पर, अपने लहू की एक एक बूंद से रचा गया और सबके लिए चिन्ताएँ, ढहते स्वास्थ्य से ही ढोते, अभावों और अपना कर्तव्य समूचे और अपेक्षित रूप से न कर पाने से उद्‌भूत असुरक्षित मनःस्थिति, सत्ता की बेगुनी, स्वार्थी, अर्थहीन तीखे तेवरवाली चाल में ज़्यादा कुछ न कर पाने की बेचैनी और पछतावों तथा सारी समस्याओं का दोष अपने मथ्थे ही मढ लेने की फितरत आदि से गढा गया हो, उसके पछतावे में अपना भी पछतावा घोल कर मैं क्या कह पाती पाठक को देने के लिए?

मेरी पहली उलझन भाई-बहन के रिश्ते को लेकर रही, यानी मेरा निरपेक्ष न होकर उन पर कुछ लिख जाने पर मेरे पक्षपाती होने का शक पाठक को ढोना पडता-जो मैं नहीं चाहती थी। इसलिए, पहले तो कसालों में पड़े मेरे पाँव जिन्हें कठिन कठोर समस्याओं से अहरह लड़ते रहने पर ऊहापोहों की चकरघिन्नी में भी फँस जाना होता था, उससे कुछ उबरना था। मैंने तो वर्षों अपनी तरफ से परिवार में किसी को पता नहीं चलने दिया कि मैं कौन सी 'ओडिसी' जी रही और कैसे(ताकि वे मेरी वजह से दुःखी न हों) किस कदर कटे कलेजे को सिल कर चौराहा पार करने को खडी रही... परिवार से अपने दुःख का अध्याय बन्द कर लेने पर तो खुले संवाद की सम्भावना चुक ही गयी थी -इस बन्दिश को भी तोड़ सामने आ जाना था...।

तब एक परिपक्व, नजरिए की दरकार मुझसे इन्तज़ार करवाती गयी।

मगर आखिर सबके बावजूद मैं भी तो हूँ हाड़-माँस की बनी, मलयज भइया के असमय निधन ने मुझे झकझोरा तो। उनकी याद मुझे दुःख जाती है। इसलिए समूची तटस्थता का मेरा दावा नहीं।

...(माफ करें इस व्यक्तिगत विस्तार के लिए)

एक असम्भव सी आशा की टिमटिमाती चमक की झलक सिले, रह रह कर, एक हताश स्वर, 'लगता है मेरे शरीर के अँग मुर्दे हो गये हैं। केवल आँखें बड़ी और बड़ी होता जा रहीं हैं पता नहीं किस क्राइसिस से गुज़र रहा हूँ'... 'तुम यहाँ आ जाओगी तो सब ठीक हो जाएगा'... 'मुझे ठीक करने के लिए तुम्हारे जैसा व्यक्ति यहाँ होना चाहिये...' बराबर स्मृति को कोंचता रहा... बारबार गहराता पछतावा काँटे चुभो देता...।

मगर दुःख बाँट कर हल्का होने वाला मुहावरा न मुझ पर लागू होता है न मलयज पर ही हुआ। कहा न कि आदमी का दुःख (यदि पुरानी भाखा में कहें तो) एक पवित्र चीज़ होती है निहायत निजी जिसका बैना बना कर बाँटा नहीं जा सकता किसी दूसरे की कोई मँशा(या उत्सुकता भर) पूर्ति के लिए उसको पटाखा बना, धमाका किया जाना चाहिए(मगर हमारे श्रीराम मामा ने मलयज के निधन की खबर पर अपने उस दुःख का इतना ढिंढोरा पीटा कि उस बेहूदगी पर मिचली आ जाय)।

तब अपने निजी जज्बातों से ऊपर उठ कर मलयज जैसी सूक्ष्म पकडवाली गहरी और विराट रचनात्मक प्रतिभा के कवि-लेखक पर कलम चलाने के लिए अपने को समर्थ बना पाना एक नैतिक चुनौती रही।

शुरू शुरू में ये सब कह पाना मेरे लिए एक और दिक्कत पेश करती रही।

मगर यह कह देना गैरईमानदारी होगी कि आज मलयज को अपनी स्मृति में पुनः साक्षात करने की पीड़ा से एकदम बरी ही हूँ...

बोयनोसाइरेस स्थित भारतीय दूतावास के उकताए हुए, अर्थहीन खच्चरी वातावरण से निकल, दोपहर के लन्च अवर में मैं जब प्लासा सान मार्तिन की गुदगुदी घास पर बैठ 'पालो बोर्राचो' (अँग्रेजी में- ड्रंकेन ट्री) के पाँच उँगलियों वाले आकार के कत्थई बुँदकियों वाले आधे पीले,आधे गुलाबी फूलों पर निगाह साधे ताका करती और फूल शहीदी गरूर के साथ नीचे झरते मेरे बालों पर आसन जमा लेते.और पलट कर कुछ खोजते हुए देखती कि फूलों का झरना कैसे डालों से बिछुड़ रहा है और सूरज कितना सहम कर निकला है बादलों के पीछे लुकाछिपी करता...तो भइया को अपनी बगल में इसकी साझेदारी करती पाती.।

उस वक्त जाने क्यों उनकी एक कविता की पँक्तिः
'सौन्दर्य की चट्टान फोड़कर निकलता
वह क्रूर कठोर पँजा
एक हताश चेहरे के बालों पर ठहरा हुआ'... याद आ जाती।

याद आता है 'मृत्यु मेरी पीठ में छिपा हुआ एक नरम छुरा है'... मलयज भइया की गमगीन मुद्रा में साक्षात झलकता...।

इस छुरे का अहसास मुझे अर्जेन्टीना से भारत की पहली यात्रा(१९८०) के दौरान हुआ था। मैंने मलयज भइया को ब-मुश्किल हाँफ़-हाँफ़, रुक रुक सीढ़ियों पर चढ़ते देख शमशेरजी का भइया की तीव्रता से क्षय होती ऊर्जा की ओर ध्यान खींचते उनका विशेष ध्यान रखने की विनय की तो शमशेरजी ने 'मलयज का कुछ नहीं होने का, उनकी स्पिरिट काफ़ी मजबूत है, तुम खामखाह घबराती हो', कह कर एक सतही सान्त्वना मेरी मुट्ठी में थमा दी। मगर मैं तो अदभुत प्रतिभा सम्पन्न, स्नेहशील भाई जिसने अपने लिए(मुझसे पत्र के सिवा) कभी कुछ नहीं माँगा, की उखडी, गुपचुप संतप्त और असहाय हालत देख भीतर भीतर चूर-चूर होने लगी थी... वे बिचली सीढ़ी पर बैठ गये थे ..जैसे आगे उन्हें चढ़ना ही नहीं था...। उनकी मुद्रा में अनायास ही एक अकिंचनपन झलक गया था जिसे वे जल्दी पोंछ देना चाहते हों ताकि वह हमें न दिखे...

मगर नहीं...मैंने तो खूब देखा।शमशेर जी देख कर भी अनदेखी कर रहे थे अपने बचाव में... उनका कहना कितना ग़लत निकला!

भइया के जीवन का उपसँहार उस घटना के बाद दो साल से पहले ही हो गया...

फिर सालों दर साल मैं उनकी स्मृतियों से उलझती, लड़ती-झगड़ती रही। वे सपने में कम आने लगे। प्लासा सान मार्तिन में उनका आना छूटा, कमरे में उनकी उपस्थिति का अहसास घटता गया। नयी समस्याएँ, नर्यी मुसीबतें, नये संघर्ष में घुले-मिले पुराने संघर्षों की श्रँखला...। मानस परिपक्व होने लगा था गति के साथ। मलयज को अब क़रीब, तटस्थ दृष्टिकोण से समझने-बूझने के द्वार मानस में खुलने लगे...उनके साथ जुड़े सन्दर्भ नमूदार होने लगे...।

(मैंने तब तक बड़े भइया और मलयज को अलहदा कर उन्हें दो अलग-अलग तटों पर रख, देखना सीख लिया था। (क्या सचमुच?)...

फिलहाल, मलयज पर यह सब तथा और कुछ बोलने के पूर्व भावनाओं की कशमकश तथा भावुकता के चक्के में फँसने से बचे रहने के लिए भी मुझे अपने जीवन के तमाम पथरीले तूफानों के गुजर जाने, वस्तुस्थिति को बगैर धुन्ध के साफ़-साफ़ देखने, परखने का नजरिया विकसित हो जाने -जिससे पुराने असमँजस दूर हो जाएँ- का भी इन्तज़ार तो चक्कर लगाता ही रहा.. ।

सन् १९८७ में मैने मलयज पर पहली बार कुछ लिखा जिसे संकोच के साथ कृष्णा सोबती को दिखाया तो उन्हें पसन्द आया आगे भी उसे लिखते जाने का भी उत्साह दिया। फिर भी मन में जकड़न बनी रही और अपने पर भरोसा नहीं हुआ था। मेरी पहली भारत यात्रा में शमशेर जी मुझे उनसे मिलवाने उनके माल रोड के मकान में ले गये थे। तब से, भाषा की सम्राज्ञी कृष्णा सोबती जी से मेरे अच्छे सम्बन्ध बन गये थे, मेरी और उनकी उम्र में काफ़ी फासला होने के बावजूद) । इसलिए भी सोच लिया कि उन्होंने मेरा मन रखने के लिए भरोसा दिया होगा। और तब सब उसी तरह फ़ाइल में बन्द रहा।

कितने वर्ष तेज़ हवा में पन्नों की तरह उड़ते गये। मेरी एक और भारत यात्रा में नामवर सिंह जी ने मलयज और मेरे पत्र प्रकाशित करने की सलाह दी थी और मलयज पर लिखने को भी कहा। फिर भी मेरे हाथ उठे नहीं। मलयज पर कलम चलाने का सही सँकल्प बहुत वर्षों बाद अब आया ।

मैनें मलयज की डायरियाँ पढ़ी,पत्रों को दुबारा निकाल कर पढ़ा और थोड़ा-थोड़ा लिखने बैठ गयी।

इसी दौरान उनकी प्रकाशित रचनाएँ भी पढ़ लीं दुबारा। समझ आया कि किस लहजे और तरीके से विवेक के साथ उन्होंने अपने जीवन के अन्तर्विरोध को अपने लेखन के जरिए सँतुलित करने का जतन किया। मनुष्य को मनुष्य की तरह समझने और चित्रित करने में अपना पुरूषार्थ लगाया।

और उनके पत्र?

'जो अकेला है वह अकेला ही रहेगा' यह मलयज के एक पत्र का वाक्य है। उन्होंने अपने अकेलेपन को परिभाषित किए बगैर अकेलेपन के सारे Shades अपने पत्रों और रचनाओं में रखे हैं.। अकेलेपन का एक स्वभाव होता है, एक चरित्र होता है। कलाकार के लिए वह लाजिमी है और उसके अपने सन्दर्भ हैं। अकेलेपन के पीछे किसी लम्बे संघर्ष का इतिहास मौजूं रहता है। ऐसा अकेलापन कोई बाँझ अकेलापन हो ही नहीं सकता जिसमें निष्क्रिय भाव से तड़पना ही हो,आत्मदया में बँध कर। नहीं। मलयज का अकेलापन जागृत अकेलापन था और सक्रिय। उन्हें अपने चिन्तन एवं लेखन के लिए एकान्त चाहिए था (जो उन्हें आमतौर पर अनुपलब्ध रहा) उनकी पीड़ा भीड़ से अलग एक रचनात्मक एकान्त के अभाव का अहसास था। कह लीजिए कि उनके अकेलेपन का यही चरित्र था...

उनके पत्र उनके गम्भीर चिन्तन, मानसिक उलझन,विषाद, पारिवारिक परेशानी, गहरे स्नेह, अपनी बीमार और जर्जर होती सेहत, रचना प्रक्रिया का अनुशासन एंव साहित्यिक-दार्शनिक मन्थन के दस्तावेज हैं। मलयज बराबर बाहरी 'लैटिन अमेरीकी भी- देशों के बारे में जानकारी रखते जिसका एक संक्षिप्त रूप उनके पत्रों में होता।

मलयज के लिखे पत्रों में उनके वे क्षण भी मौजूद हैं जिन्हें वे सचमुच जीने की कामना में रहते। वे एक एक क्षण को जीना चाहते थे सचमुच जीने के अर्थ में। एक सार्थक जीना। दिल्ली के घुटनशील माहौल से निकल, जब-जब वे बाहर जाते उस यात्रा का पूरा लाभ उठाने की उनकी कोशिश होती। भावात्मक एवं बौद्धिक दोनों ही स्तरों पर। अपने सन्तोष और आनन्द के क्षण वे खुद खोज लेते थे अपने परिवेक्षण में, स्थानों के अपने इतिहास में,उसकी विशेषता में। वहाँ के पुराने कवियों से उन्ही के परिवेश में अकस्मात् मुलाकात में। इलाहाबाद में, शिवकुटी लाल वर्मा उनके बचपन के सबसे निकट के दोस्त थे और सारे जीवन रहे। शिवकुटी लाल की गली एक आँगन जैसी थी जहाँ छोकरे गेंद और छोकरियाँ गुट्टी खेला करतीं थी। शिवकुटी की सबसे सुन्दर बहन और उनके साहित्य-प्रेमी पति से हम सभी का लगाव रहा। शिवकुटी भइया (मैंने उन्हें राखी बाँधी थी) के मकान की तखत पर बैठे दोनों दोस्तों की साहित्यिक बहस देर तक चलती। अक्सर लोहे की छड़ों की बनी आँगननुमा छत पर भी सबकी बैठक जमती आमतौर पर शिवकुटी भइया के बहनोई की संगत में काफ़ी मसलों को लेकर बहसबाजी होती। इन सबको लपेटे हुए, अक्सर इलाहाबाद, मलयज को नौस्टाल्जिया के रूप में याद आता रहा अपने दिल्ली प्रवास में।

दिल्ली में उनके खास साहित्यिक मित्रों में थे भोपाल के रमेशचन्द्र शाह जिनसे उनका अपने घर में तथा पत्रों में साहित्यिक वार्तालाप चलता था। पूर्वग्रह पत्रिका के प्रकाशन के सिलसिले में वे श्री अशोक वाजपेयी के संपर्क से आये। मामा श्रीराम वर्मा से उनका सम्बन्ध मामा का कम और साहित्यक ज़्यादा था और उनके साथ घुमक्कड़ी का आनन्द लेते थे मौके- मौके पर। ये सारी बातें वे मुझे लिखते।

दोस्ती निभाना उन्हें आता था। जो भी घर आ जाय उसकी खातिर करने में चूकते नहीं थे बावजूद अपनी खस्ता हालत के। कितने अर्जेन्टीनी परिचितों की भारत यात्रा में मैंने कुछ सामान और पत्र उनके हाथों मलयज भइया को भेजा तो,भइया ने उनकी खातिरदारी में कोई कमी न की।

अपने व्यक्तिगत और साहित्यिक परिवेश की सारी खबरें वे मुझे विस्तार से लिखते।

परिवार के सभी सदस्यों के बारे में लिखते। निर्मल से उनकी बनी नहीं अपनी तरफ से कोशिश करने पर भी। तब उन्होनें 'दूधनाथ से निर्मल के व्यक्तित्व को बुर्जुवा सुरंग का बन्दी बना दिया' कह कर निर्मल की बाबत करीब वह अध्याय बन्द कर दिया आगे कोई टिप्पणी करने से। वैसे उनका स्नेह निर्मल के प्रति बना रहा।

माँ तो हमेशा बीमार रहतीं। मुझसे विछोह ने माँ को बेहद मानसिक कष्ट से रगड़ा था कि वे अपना होश खोने लगीं थीं (क्योंकि वे कभी अपने भीतर गुजरती हालत को खुले रूप से व्यक्त नहीं करतीं थीं)...भइया उनका एकमात्र सहारा रह गए थे.. परिवार में मात्र वही माँ का मन बूझते।. माँ के लिखा दो पत्र और माँ की आवाज में एक गीत टेप कर उन्होंने मुझे भेजा जो माँ की दी अन्तिम साड़ी के साथ संभाल कर रखी हुई है मेरे पास। माँ की बाबत मलयज भइया बड़ी गहरी ब्यथा से मुझे लिखते रहे।

उन्होंने 'छोटे की नहीं बड़े की कामना' की 'एक अत्यन्त आदर्शवादी की हद तक। जीवन के व्यवहार में वह कला नहीं जान सका जो कम में सुखी हो, लघु में सम्पूर्ण को पा ले'। 'हमेशा के संसार की तरह एक कल्पना का संसार भी मेरे अस्तित्व का यथार्थ रहा। इन दो संसारों के बीच जबरजस्त तनाव है और इससे मुझे पीड़ा भी होती है, पर यह स्थिति फिलहाल लाइलाज है' वे अपने पत्र में मेरी बात के जवाब में कह जाते हैं। मलयज जैसे निहायत मौलिक और श्रेष्ठ रचनाकार की शायद यही नियति होती हो।

वे अपने पत्रों में काफ़ी खुले हैं। कथन में स्फटिकता है।

मेरा खत जल्दी न आने पर बेताब हो उठते। खास कर अपने अन्तिम समय में। ६.६.१६८० के पत्र में मलयज की अन्तिम पडाव तक सरकती बीमार दशा(जिसमें माँ की मौत की आशंका भी मिली हुई थी) हृदय दहला देनेवाली है... अन्त में मुझे दिलासा देने के बहाने अपने को ही (मिथ्या) धैर्य बँधाते लिखते हैः- 'शायद धीरे-धीरे सब कुछ प्रकृत होता जाएगा' यहाँ 'शायद' शब्द एक खास मतलब रखता है; भविष्य उनका हाथ छोड़नेवाला ही हो मानो...। यह एक विशेष डर को भुलावा देने का उनका अपना तरीका था जिसे उन्होंने कई पत्रों में विभिन्न ढँग से व्यक्त किया। उनका डर था कि वे अपने रचनात्मक काम को पूरा नही कर पाएंगे क्योंकि मौत उन्हें तब तेज़ी से गुहार रही थी... तिल-तिल गलते तन से वे जल्दी कुछ बेहतरीन कर जाना चाहते थे... भारी क्रइसिस से गुज़रते अपने १४.८.१६७६ के पत्र में वे मुझे लिखते हैः 'कुछ लिख लेता हूँ तो लगता है जिन्दगी से कुछ छीन लिया है। पर ज्यादातर तो ज़िन्दगी मुझी से मेरा लेती जा रही है- मेरे दिन,रात, महीने और वर्ष'।

भीषण संकट के उस दौर में मानसिक नैतिक रूप से वे मेरे ऊपर निर्भर होते जा रहे थे.. उस गहन समय में भी उनके परिवेश में एक भी ऐसा शख्स नहीं था जो उनकी ढहती हालत को बूझता और उनकी तरफ समझदारी से संवेदनशील सहायता के लिए हाथ बढ़ाता। और जिससे उनकी अपेक्षा थी वह थी सात समुन्दर पार।

मेरे विदेश प्रवास में, एकमात्र मलयज भइया ही थे जो मेरी बेपनाह, संत्रस्त और संघर्षमय हालत का मर्म समझते थे; विवेक और सहानुभूति के साथ वे मेरा नैतिक बल बढाते थे। उनके विवेक में तथ्य साफ़ साफ़ आते। मेरे अनेक सवालों का सम्भावित उत्तर उन्हीं के पास होता जिसे वे अपने लम्बे लम्बे पत्रों में लिखा करते। उन सवालों के जवाब में उनकी अपनी भी मानसिक दशा,अपनी बात,अन्तर्निरीक्षण, आत्मालोचना,जीवन के उतार-चढाव के साथ साहित्य

या जीवन सम्बन्धी दार्शनिक बातें हुआ करतीं। ऐसा भी नहीं कि हम कभी बहस मुबाहसों में न उलझते हों, मगर हमारी नियत एकदम स्फटिक होती।

साहित्य सम्बन्धी उनकी राय इतनी पक्की हुआ करती कि उन पर मेरी ऐसी निर्भरता बढ़ी कि- दरअसल कहीं- मेरे साहित्यिक आत्मविश्वास में अवरोध बन बैठी। क्योंकि मैं अपनी रचना के फैसले में उन्हीं पर निर्भर होती गयी थी। कोई राय, कोई फैसला या उनका कोई मत-चाहे वह साहित्य, कविता या किसी आइडियोलॉजी को लेकर हो या किसी आदर्श सम्बन्धित या फिर मेरी जीवन-संघर्ष यात्रा या मेरे किसी निर्णय पर उनकी टिप्पणी-मेरे लिए एक प्रमाणिक कसौटी बन जाती। उनके विचार निहायत गहरे और मूल्यवान होते। उनसे कोई डिटेल छूटता न था। छोटी से छोटी घटना या प्रसंग वे मुझे लिख डालते। कभी उनकी बात में जो दुहराव आ जाता उसका मकसद शायद मुझे कुछ न बिसरने की आगाही- सी देना होता।

उनकी कामना उनके अपेक्षित रूप में पूरी न कर पाने का पछतावा कौन धो सकता है...

ठीक। उनकी गहन पीड़ा और मेरी गहन ब्यथा का एकान्त किसी के समझने-बूझने की खातिर नहीं रहा...दो फासले-- एक देश, दूसरा परदेश। मगर हम दोनों अपने-अपने तरह से एक ही भीषण यथार्थ के भुक्तभोगी रहे। हमने एक दूसरे का चेहरा देखा था बारीकी से,एक दूसरे का अकेलापन बूझा था और बूझी थी जीवन की वह त्रासदी भी जिसकी तेज़ धार में हम फेंक दिए गये थे भिन्न-भिन्न पठारों पर...भिन्न-भिन्न तरीके से। हम दोनों ही अपनी अपनी मौलिक अस्मिता की खोज में रहे...

तन्त्र हम दोनों के सिर पर तनी तलवार रही...

हम दोनों भाई बहनों का संवाद पत्रों में उनके जीवन के अन्तिम माह तक जारी रहा।

...

लिहाजा अब एक तरफ मेरे सामने है मलयज की छवियों समेत अनेक स्मृतियाँ, दूसरी तरफ उनका रचना संसार, दोनों के बीच उनके कुछ और पत्रों के सन्दर्भ तथा उनका संत्रस्त जीवन और तेजस्वी व्यक्तित्व।

मलयज के चिन्तन की दुहरी दिशा

देखा जाय तो मलयज के व्यक्तित्व की मानसिकता में चिन्तन के तीन छोर रहे हैः १) अपने परिवेश और पारिवारिक सम्बन्धों और सगों का विश्लेषण, उन पर टिप्पणियाँ,उनके अपने प्रति दूरी और नासमझी की पीड़ा की अनुभूति, साथ ही उनके प्रति ममता और अपनी जिम्मेदारी का गहरा अहसास,आर्थिक विसंगतियाँ (जिसकी सबूत उनकी डायरियाँ हैं) २) आत्ममंथन और आत्मविश्लेषणः ३) बौद्धिक साहित्यिक विचारधारा की लेखों में अभिव्यक्ति, कविता और बौद्धिक मित्रों से वार्तालाप आदि में आदान-प्रदान (व्यर्थ की बहसबाजी से हट कर)।

परिवेश और विकास की सीढ़ियाँः

सभी संवेदनशील व्यक्तियों की तरह मलयज के व्यक्तित्व का भी विकास क्रम है।
सन १९५५-५६ तक मलयज में कुछ धार्मिक परम्परावादी आस्था का आभास मिलता है।

वे पारम्परिक-समाजिक-पारिवारिक मूल्यों के प्रति कांशस थे-एक हद तक उन्हें स्वीकारते भी थे।(शायद इसीलिए

उन्होंने मेरे स्वभाव की अराजक व्याख्या की)। कुछ बाद में भी पूर्वग्रहवश वे जल्दी भावनात्मक आवेश में आ जाते बावजूद अपने नये विवेक के। भले उस आवेश को सामने न प्रकट करें। मलयज की सन १९६२-६३ की डायरी से पता चलता है कि अपनी पीड़ित भावना से निजात पाने के लिए वे बौद्धिक जगत की पहल करने के बाद भी, भीतर से चोट खाए हुए ही रहते। समझदारी में भावना का जो लचीलापन होता है, उस वक़्त उनमें गुम था। (वह बाद में आया) दरअसल अकेलेपन का खुरदुरा अहसास अक्सर असहिष्णु बना देता है।...

इसी हालत से गुज़रते हुए उन्होंने साहित्य जगत को अपना बेहतरीन देने की पहल की। उनकी खुद की ज़िन्दगी साँसत में होने के बावजूद, उनमें संकल्प,जिजीविषा, अपने कर्म का नैतिक बोध, विश्व की हलचलों और हरकतों के प्रति रचनात्मक जिज्ञासा भरपूर रही।

मगर जब उनकी प्रतिभा पूरे चढाव पर थी, उनके जीवन ने असमय ही धचका खाया। भूचाल की मानिंद उस दुःख का कोई इलाज नहीं..वह तो ताहम ज़िन्दगी अपने से लिपटी रहेगी। .. जैसे एक घने जंगल में फँसने के बाद कोई राह न मिलती हो जंगल से बाहर होने के लिए...भले उनकी स्मृतियों को कितना ही जागृत कर क़ागज पर रखूँ...

मलयज के जीवन की त्रासदी का यह तो संक्षिप्त निचोड़ है जिसमें मेरे जीवन की त्रासदी भी जुड गयी थी।...

ये सब सच उद्घाटित करने के लिए हिम्मत जुटाना होता है...

परिवेशः पहली सीढ़ियाँ

मलयज एक छोटे से आजमगढ़ के एक गाँव महुई में जन्मे मगर पले बढ़े, शिक्षित हुए उस समय के तीन धुरन्धर महाकवियों (निराला, पन्त, महादेवी) तथा राजनैतिक सरगर्मी के नगर इलाहाबाद में जहाँ साहित्यिक माहौल के साथ-साथ भेजाखावा जड़ सामन्ती समाजिक- अन्ध धार्मिक मान्यताएँ जन मानस पर अपना सिंहासन बनाये हुए थीं; जहाँ ढोंगी, धूर्त पण्डों की चाँदी रहती, जहाँ दशहरा, होली की धूम- धड़क्कों में उस छोटे-से शहर का धुँधलाया मुख कुछ चमक जाता था।

और वहीं मलयज ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से अँग्रेज़ी में एम.ए किया, पाश्चात्य साहित्य का जम के मनन किया, मगर अँगेजी भाषा की आरती नहीं उतारी देश के कर्ता- धर्ताओं की तरह जो मात्र अँग्रेंजी को देश की उन्नति का रास्ता समझने की खतरनाक बीमारी से ग्रस्त हों, देश की संस्कृति तथा देशज भाषाओं का सत्यानाश करने पे जुटे हुए हैं, जनके मानस पर उपनिवेशवादी अंग्रेज़ी का जादू-टोना जारी है तथा व्यापारी सभ्यता का तामझाम और पाश्चात्य सभ्यता की धूम धड़ाक।

मोहतसिमगंज नामके मुहल्ले में तीन पाएवाली गली में एक मस्जिद से सटा हुआ हमारा किराये का तीन मंजिला मकान था जो आज भी बूढे दैत्य की तरह बुरे ग्रहों से जकडा खड़ा है जिसके सामने का हिस्सा सीलबन्द ईंटों से चुन दिया गया है और सिकुडी हुई गन्द भरी, मलबों के ढेर से दबी गली उसे और भयानक बना गई है। गली एक अजीबोग़रीब नक्शा थी जीवन स्थितियों के उतार चढ़ाव, ज्वार-भाटे भचभच चरमराती, सम्भालती हुई बिना बैल की बैलगाडी... मोहतशिमगंज की उस केंचुएनुमा गली में मुर्गे की बाँग के साथ ही, आये दिन कोई न कोई हादसा गली की मोनोटॉनी भँग करने का जख़ीरा पेश कर देता...। १३ साल की रनिया का अपने बुढवे सौतेले बाप द्वारा बलात्कार और उस जघन्य कुकर्म के लिए किसी भी कचहरी की सम्भावना पर विचार तक नहीं....वही लहूलुहान

साडी पकड़े अधनंगी १३ साल की रनिया को गली में चीख कर रोते, भागते और तीखी से तीखी गालियाँ अपने बालात्कारी को देते बहुतों ने देखा-सुना और फटफट खिड़कियाँ बन्द कर ली गयीं- यह तो मैने भी देखा और खूब रोयी। बाद में वही रनिया एक बुढऊ के हाथ बेच दी गयी जो पहले ही उसके गोरे कोमल बदन पर गिद्ध निगाह डाले हुए था।और जब वह बुढऊ की अनर्गल अश्लील हरकतें सह न पाई तो विवाह की रात को ही ज़हर खा कर बीच गली में लेट कर हमेशा को सो गयी। जड़, नरवादी, असंवेदनशील और गलीच अन्तर्विरोध में गँधाते समाज की यातना से मुक्ति का मात्र यही उपाय शेष जो था। आखिर उस गोरी चिट्टी,गाने-बजाने में मस्त खुशमिजाज मासूम जीव को खुदकुशी कर ईश्वरी दरबार में ही न्याय माँगने जाना पड़ा...।

उधर गली के बीचोबीच, पण्डा जी की मिल्कियत की एक कच्चे मकान की एक सड़ी, बदबूदार कोठरी में रहनेवाले किराएदार एक कुँवारे जवान क्लर्क की 'सरेशाम' में मौत पर पण्डा के आदमी ने ही मृतक की हाथघड़ी के अलावा उसका मुख्तसर सा बर्तन- बासन और कोट क़मीज तक पर हाथ साफ़ किया। वह युवक यमराज के घर जाने से पहले अपने पर दफ़्तरी हूकूमत की अतिशय कसावट होने से कुछ सिरफिरा सा हो गया था तेज़ बुखार आने से कुछ पहले... तब लाश को रातोंरात नाली में फेंक दिया जाने पर किसी और शक की गुंजाइश कहाँ होती...मगर मेरे किशोर मानस में तो नाली में अटकी फूली लाश का चेहरा तो जमाने तक धँसा रहा।...

और रनिया? क्या उसका हमारे घर की सीढ़ी पर बैठ कर हावभाव से रँगीन, ढ़ोलक बजा कर मगनमन गाना गाता खुशनुमा चेहरा कभी बिसरा आजतक?...

गली के उन घटाटोप कुहरे में बन्द बेहया हादसों से अलग एक माहौल था हमारे घर में। पड़बाबा चतुर्भुज लाल और उपन्यास-कहानी पसन्द करनेवाली दादी के जमाने से आते साहित्यिक माहौल में जहाँ रामायण, महाभारत के संस्कार बजते, वहीं शेरलॉक होम्स के रोमान्चक जासूसी किस्से और चन्द्रकान्ता सन्तति की चटपटी भूतनाथी चासनी की बगल में ही प्रेमचन्द (जो दूर के रिश्ते से हमारे पड़बाबा लगते थे और हमारे पुश्तैनी मकान के आगे बने कुँए के आगे बैठ कर अपना कुछ लिखते थे-ऐसा पिता जी ने हमें बताया था) के कहानी संग्रह और उपन्यासों की भी खासी हैसियत थी, (जिन्हें हम भाई-बहन ने, स्वर्गवासी दादी की मुद्दत से बन्द कोठरी से चुरा कर निकाला था) पाँच छः साल की उम्र से मुझे कथक सिखाने के लिए मास्टर चुन्नीलाल आते। प्राइमरी स्कूल में हारमोनियम बजाना और नाचना सिखानवाले मास्टर जी, जरा सी गलती की सज़ा उँगलियों के बीच ज़ोर से कलम दबा कर देते। आखिर एक बार अन्धेरे कमरे में मेरा चुपके चुपके रोना देख पिता जी ने मास्टर अन्ना की अच्छी खबर ली।

पिता गली के माहौल की मनहूसियत दूर करने के लिए हर पूर्णमासी को कथा कहलवाते, उसमें क़रीब आधा मुहल्ला शामिल होता प्रसाद पाने के लिए। पण्डितजी ढेर- सी दक्षिणा पाकर अघा जाते। गाँव से परिवार के पुश्तैनी गुरू जी आते जनवरी के माघ मेले के समय गंगा स्नान के मेले में तथा पिता के कान में मन्त्र फूँक जाते। उनकी बड़ी खातिर होती। एक राज की बात बताऊँ? उन गुरू महराज के पैर मैंने माता-पिता के कई बार कहने पर भी कभी नहीं छुए। कारण पूछने पर मेरा जवाब था- 'मैं केवल माँ-बाबूजी के ही पाँव छू सकती हूँ क्योंकि उन्होंने मुझे जनमाया है, गुरूजी ने भला क्या किया' (उस समय यह बड़ा धमेकेदार कथ्य था) इतना कहते ही समझदार गुरूजी समझ गये मेरे पाँव न छूने का मतलब। तब मलयज भइया ने जैसे मुस्करा कर सहमति दी हो...पता नहीं। तब तो मैं कुल जमा ८-९ साल की रही हूँगी।

पिता को मेहमानदारी का ख़ासा शौक था जिसका वाज़िब या नावाज़िब फायदा कोई भी उठा सकता था तथा बिना बुलाए मेहमान भी आ धमकते और महीने के महीने जमे रहते (हमारे बुरे अभावग्रस्त समय में भी) -खास कर जनवरी-फरवरी के माघ मेले में गंगा नदी में डुबकी लगा पवित्र होने के लिए। और इस तरह पवित्र गंगा को अपवित्र बना संतुष्ट हो, वापस लौटते अगले साल फिर हमारा आटा गीला करने के लिए...

हम दोनों बहनों को मेहमानों के लिए अच्छा खाना बनाना सीखना होता, साथ ही घर की सफाई आदि भी।

पिता बुरे वक्तों पर(दो बहनों की आकाल मृत्यु पर) भगवत गीता का दूसरा या कोई और अध्याय पढ़ कर हमें सुनाते।

पिता का चूँकि सिनेमा संसार से खासा सम्पर्क रहा, इसलिए कभी कदाचित मय परिवार सिनेमा भी देख लिया जाता और उस पर हमारी अच्छी बुरी राय पिता सुन लेते।

हमारे बाबा हजारी लाल श्रीवास्तव पुत्र-पुत्री के भेदभाव में पगे थे जिनके लिए नर सन्तान 'कुल का दीपक' और 'बेटी पराया धन होती' थी जो उच्च शिक्षा के लिए नाकाबिल समझी जाती। ग़नीमत कि वे साल में एक दो बार ही हमारे घर आते। बाबा के इन्ही गैरसेहतमन्द,रूढ़ विचारों के तहत पिता की बाबा से कभी नहीं बनी। मलयज भी बाबा के निकट न आ सके, यद्धपि उस वक्त विरोध पक्ष में भी वे नहीं गये। उस वक़्त भी एक मैं ही थी जिसके दिल दिमाग में उस तरह के कर्तव्य और पारम्परिक दावे महज सुविधावादी नरवादी समाज के फ़ार्मूले होते जो आमतौर पर नाक़ामयाब हो जाते।

हमारा परिवार पुराने संस्कारों या तत्कालीन सामाजिक मान्य व्यवस्था से अछूता तो नहीं था पर हाँ मनुस्मृति के सितमगर कानून (जिसके पास विवेक नाम की कौड़ी भर परिभाषा नहीं) हमारे परिवार पर हावी नहीं रहे। पिता भी जो समाज में 'ऊँची ना' रखने पर जोर देते थे, जानते थे कि सिद्धान्त और रीति रिवाज आदमी से बढ़ कर नहीं हो सकते-वे आदमी के लिए ही बने हैं और जब आदमी का अहित करने लगें तो उन्हें उनसे मुँह फिरा लेना चाहिए। हाँलाकि एक कँजड़, धूसर, हौचपौच कटखनी गली के माहौल में ऊपर से ऐसा दिखाने का साहस कौन करता।

बाबा के नाखुश पक्षपाती और शुष्क व्यवहार और इस किस्म की चन्द रीतिवादी धार्मिकता के छिटक कर, हमें एक सांस्कृतिक, साहित्यिक, और संगीत का माहौल अपनी दादी और पिता से विरासत के रूप में मिला था। पिता उर्दू-फारसी में कुछ शायरी कर लेते और सरोद तथा बाँसुरी बजा लेते। घर के एक कोने में सरोद, तबला, तानपूरा और बाँसुरी धरी रहती। उन्हें फारसी और उर्दू के साथ अच्छी अँग्रेज़ी भी आती थी

मलयज को शतरंज खेलना पसन्द था, वे पिता के साथ या एक कोई कक्कड़ साहब अकसर घर पे आ जाते तो उनके साथ घण्टों शतरंज की गोटों पर निगाह जमाए रहते, जीत भी मलयज की होती। उनके मनपसन्द का दूसरा खेल होता- ताश जिसमें माँ भी शामिल हो जातीं। (जब कि इसके विपरीत मुझे दौड़भाग के खेल पसन्द थे) उन्हें रेडियो पर हॉकी की कमेन्ट्री सुनने में भी रुचि थी। ख़ुसरो बाग हमारी प्रिय जगह थी जहाँ के हमारे अदभुत एडवेन्चर के (दुर्घटना वाले) किस्से काफ़ी दिलचस्प रहे।

स्कूल में नृत्य की शिक्षा मिलती मुझे और निर्मल को शास्त्रीय गान की। कभी-कभी घर में मेरे नृत्य का कार्यक्रम रखा जाता पिता के आदेश पर।

अपनी किशोर अवस्था में, सुबह और रात को भी रेडियो पर देश-विदेश के शास्त्रीय संगीत पर कान लगाने में हम दोनों भाई बहन की साझेदारी रहती। हम संगीत की चर्चा करते। अक्सर मेरी कमेन्ट्री पर मलयज चकित भाव से मेरी ओर देखते। अब भी अपने आराम के पलों में शास्त्रीय संगीत सुनते हुए मुझे महसूस होता है कि सुन्दर शास्त्रीय संगीत की ध्वनि ब्रह्माण्ड के अन्तरतम की ध्वनि होती है... कभी ये भी लगता है कि ब्रह्माण्ड के हृदय से उतर कर,वे ध्वनियाँ सागर की आज़ाद लहरों की तरह लाखों किस्म के समुद्री जीवों को छूते हुए नाचती चली जातीं हैं...।

कुल मिला कर ये सब वे तत्व रहे जिन्होंने हमारे परिवार के अन्धकारमय दिनों में हमें खँडित नहीं होने दिया।

o

अकस्मात् ही हमारे परिवार पर गाज गिरी। तपेदिक ने मलयज को उनकी किशोर उम्र में ही दबोच लिया। पिता ने सड़क से, एक लावारिश मुसलमान बालक को घर लाकर उसे हम सब का भाई बना कर रखा था। उसका नाम निरंजन रखा मुहल्लेवालों की नाक भौं चढ़ने से बचने के लिए। उस लड़के को तपेदिक थी। उसी की छूत मलयज को लगी घोर रूप से। टी.बी के कीटाणु उनके फेफड़े का एक एक अंश चाटते गये। लम्बे और कई तरह के इलाज की नाकामयाबी में हम सब मायूसी से घिरते गये उस भीषण वक़्त में...मगर हार मानने को तैयार नहीं थे।

धुन्ध भरे महीने दर महीने गुजरे..मलयज के खून उगलने की गति से परेशान डाक्टर सूर ने तब अपनी हार मान उन्हें वेलूर के टी.बी. सेनेटरी में भेजने की राय दी। आखिर सन १९५५ में दक्षिण भारत के वेलूर शहर की एक सेनेटरी में एक अमरीकी सर्जन के हाथों उनके क्षयग्रस्त एक फेफड़े को काट कर निकाल दिया गया तथा २ साल वे वहीं वेलूर की सेनेटरी में रहे। वहाँ से लौटने पर, रानीखेत उनके मनचाहे एकान्त का स्वर्ग रहा। वे कई बार वहाँ गये। पहाड़ी क्षेत्र में भी कई महीने (जहाँ अपने पहले एडवेन्चर में वे एक गहरे गड्ढे में गिरे जिसमे उगे बिच्छू नामक पौधे ने उन्हें बेहोश कर दिया था और एक सैलानी राहगीर ने उन्हें उस गड्ढे से निकाला)।

इकलौते बेटे की जान बचाने को, उनके फेफड़े के मँहगें आपरेशन और इलाज में पिता कर्ज से गले तक लद गये। उस वक़्त तक, प्रभात टाकीज (बाद में मानसरोवर सिनेमा) जिसे पिता ने ईंट ब ईंट गढ़ा था, पराये हाथ में जा चुका था। सिनेमा के मालिक त्रिलोकीनाथ वर्मा (हमारे पिता श्री) की हैसियत उनके अपने ही सहयोगी शराबखोर श्री लल्ला बाबू की चरम दग़ाबाजी के तहत दिवालिये की हालत में पहुँच चुकी थी। प्रभात टॉकीज उनके हाथ से जबरन खींच कर निकाल दिया गया था। मानसरोवर टॉकीज के एक दूसरे मालिक कोई ठाकुर साहब के मैनैजर बन कर पिता ने कुछ समय तक नौकरी की मगर उससे जो आय होती, वह मलयज के लम्बे इलाज के लिए निहायत नाकाफ़ी थी। घर, की हालत खस्ता हो चुकी थी। तब मलयज के इलाज के लिए एक एक कर घर का करीब सभी सामान बेचना पडा। दिवंगत दादी का मेरे लिए दिया सोने का सुरक्षित कण्ठा, माँ को दिया चाँदी का पानदान माँ के गहने और रेशमी चादर जो उनको विवाह में मिला था,सभी के बिकने की नौबत आयी। कर्ज़ अलग से जो दादा-परदादा की ज़मीन बेच कर चुकाया गया। पता नहीं कौन सी आन्तरिक ऊर्जा के तहत भइया अपने एक फेफड़े का आपरेशन सफल तौर पर झेल गये। हम सबने तो हथेली में कलेजा रख कर वह खबर सुनी फिर भी आश्वस्त नहीं थे कि आगे क्या होगा... दो साल सेनेटरी में बिता कर पुनर्जीवन हासिल कर जब वे लौटे तो उनके चेहरे का ललछौंआं रंग देख कितना विशाल बोझ हम पर से उठा इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। माँ तो रोने लगीं थीं दुःख-सुख की मिलीजुली भावना के आवेग से। बाद में उनके सेनेटरी के साथी, एक बँगाली दोस्त भी हमारे घर आकर ठहरे। वे भी अपनी बीमारी से उबर चुके थे। मगर समझ नहीं आया कि वे हमारे घर क्यों ठहरे वह भी पूरे महीने भर! मैं उन्हें दादा कहती और

बांग्ला में उनसे बात करती सम्भ्रम से। अजब-सी लंम्बी, झुकी हुई पीली काया,बायें गाल के ऊपर मस्सा, मुड़ी हुई ठुड्डी, लम्बे कोने तक फैली भौंहों के बीच भीतर धँसी हुई चमकती हरी आँखें, आवाज़ नरम और सधी हुई, क़रीब भरोसेदार मगर कहीं उनकी पूरी धजा कुछ दहशत से रंग देती...जब वे चले गये तो इस अहसास से निजात मिली किन्तु कमरा बिल्कुल अकेला, बेसहारा और ठण्ढा लगा ।

सेनेटोरियम का जीवन मलयज ने आत्मपीड़ा से ग्रस्त होकर नहीं जिया बल्कि वहाँ मानव-जीवन के तमाम मूल्यवान पहलू खोज लिए। भले सेनेटोरियम ही सही, वहाँ उनके लिए अपना स्पेस और शान्त एकान्त मिलता था जो उनके चिन्तन को जाग्रत करता और कल्पना सबल बनाता। इधर-उधर आती-जाती नर्सों, सर्जन और सफ़ेद एप्रन में मरीज़ों का हाल पूछते डाक्टरों, उस टी.वी. सेण्टर के मरीज साथियों, वहाँ की दुहराई गतिविधि तथा सूनी चहलपहल और सेनेटरी के बाहर की अपने में मस्त प्रकृति, सब पर उनकी निगाह फिरती। अपने ही रोगी साथियों से वार्तालाप, सेनेटोरियम का यूकलिप्टस के दरख्तों से घिरा खुला प्राकृतिक परिवेश, आँधी में झूम-झूम रॉक बजाते युरोपीय तर्ज पर सिर झकझोरते दरख्तों की पाँत...सभी उनके अनुभव के भीतर समाते गये। वह शायद उनकी रचना प्रक्रिया की पहली गहरी तलाश और गंभीर सीढ़ी थी। उनके सजग चिन्तन का रूप पनपता गया।साथ ही भाषा का भी मार्जन होता गया। मलयज, जैसे एकान्त में ही, अपने जीवित रहने की ऊर्जा इकट्ठी करते थे। बीमारी को उन्होंने अन्तिम तथ्य नहीं माना, न लाचारी में डुबकी लगायी इतनी गरिमा थी उनमें। अपनी पीड़ा के बेबस शिकार होने से वे बचे। परिवार से उन्हें सहयोग मिला।

यूँ तो दुःख-सुख में सामञ्जस्य कभी नहीं होता, सुख की मात्रा हमेशा ही बहुत असन्तुलित रही।...

हाँ, लम्बी बीमारी ने मलयज के डाक्टर बनने का सपना चूर कर दिया। उन्हें कवि-लेखक बनना था न, आखिर।

वे शायद अपने विचारों में मगन रहे, चारों तरफ से हिफाज़त और सबकी तवज्जह पाते हुए। सेनेटरी में जो कुछ देखा, समझा उसे लिखने के सिलसिले को घर लौटने के बाद भी जारी रखा। कठिन बीमारी ने मलयज को लेखक बनाया, यह कहना बेवकूफी होगी, उसने महज इतना ही (शायद) किया कि वे अपनी तनावभरी संवेदना के जोड़ में अपनी दिमागी ऊर्जा को रचना की ओर अधिक ध्यान के साथ केन्द्रित करें। हाँ बीमारी ने उन्हें कुछ चिड़चिड़ा बना दिया था, मगर उसके तहत किसी को उससे चोट पहुँचाने की उनकी मँशा नहीं रही। इतनी सहनशीलता थी उनमें। मगर उनकी चुप्पी में इतनी ताकत होती कि उनके निकट आने में सहम जाना होता करीब सभी को...। बीमारी के दौर ने एक काम और किया कि उनके स्वभाव में 'जहाँ तक अभिव्यक्ति का सवाल है-- प्रत्यक्ष व्यवहार में- काफी कुछ जकड़न ला दी। दूसरी तरफ, पिता द्वारा उनका ओवर प्रोटेक्शन' उनमें आत्मकेन्द्रियता का नक्शा खींचता गया। बीमारी उनके स्वभाव की वही जड़ ज्यादा विकसित कर गई जो अन्दर ही थी उनके...।

यूँ अन्दर से वे निश्छल और भोले थे, काफ़ी हद तक।

मगर यह तो कहना ही होगा कि मलयज शुरू में बहनों को 'खास कर मुझे एक घरेलू लड़की के रूप में घर गृहस्थी में मगन आम लड़कियों की तरह देखने की ख्वाहिश रखते थे और जब वे ऐसा नहीं पाते तो खीझ जाते मन ही मन। पी० के बारे में उनकी राय पेन्डुलम की तरह होती और नी० के प्रति उनकी धारणा में फर्क नहीं आया(हालाँकि उनकी ममता नी० के प्रति बराबर रही, जबकि नी० ने उनकी भावनाओं को छुआ ही नहीं। मलयज को बीमारी से निजात दिलवाने में पिता ने अपनी सारी ऊर्जा लगा दी थी और खूब हिफ़ाजत से उनका ख़्याल रखा था। इसलिए भी

पिता के प्रति गहरी कृतज्ञता की भावना होने से मलयज पिता पर कोई सवाल नहीं उठाते थे। उनके प्रति उनकी खासा श्रद्धा थी।जब कि मैं माता-पिता की आज्ञा मान कर और उनकी सौंपी जिम्मेदारियाँ धारण कर के भी अन्दर से स्वतन्त्र विचारों की रही हमेशा। मैं बाहर से कुछ न कह कर भी उनकी सामाजिक मान्यताओं को कभी मंजूर न कर सकी।

परिवारवालों को काट खानेवाला तक्षक नाग होता- 'बदनामी' की सारी ज़िम्मेदारी औरत के सर ठोंकी जाती। हमारे परिवार में ऐसा तो नहीं था पर रूढ़ समाज का कुछ आतंक तो माँ-बाप पर था ही जो हम पर अपना भरोसा धरे थे (क्योंकि अच्छे-बुरे की पहचान हमारी घुट्टी में डाल दी गयी थी) पर पढ़ाई-लिखाई में हमें किसी से कोई प्रेरणा न मिलती।

मलयज ने अपनी किसी डायरी में उस घटना का ज़िक्र नहीं किया जब पोषण की कमी के तहत अपने कमजोर शरीर से अत्यधिक जिम्मेदारी ढोने के सबब प्रेमा घर के नल के नीचे बेहोश होकर गिर पड़ी थी। डॉक्टर ने बताया कि शरीर में कैल्शियम, विटामिन, फॉसफोरस तथा प्रोटीन आदि सभी की कमी है। माँ सबसे ज़्यादा चिन्तित। पिता ने मेरा खास ख़्याल रखने की हिदायत माँ को दी। मलयज करीब निस्पृह रहे।

स्कूली समय से ही मलयज भइया को किताबें खरीदने की लत लग चुकी थी। रोज़ के जेब खर्च के पैसे बचा कर वे किताब खरीद लेते हर महीने। अच्छी खासी लाइब्रेरी बन गयी थी उनकी जिसका सबसे ज़्यादा फ़ायदा 'उनके बाद -मैं ही उठाती। ८-९ साल की उम्र में ही किताबें पढ़ने के मेरे नशे की सज़ा मेरे बड़े मामा राजदुलारे बड़ी सख्ती से देते, मैं उसे झेल जाती पर पढ़ने के नशे से छुटकारा नहीं चाहा बाबा, मामा, पड़ोसिन चाची की कटु शिकायत के बावजूद। अक्सर रात को बिजली बुझा कर मोमबत्ती की रोशनी में झुक कर चुपके-चुपके मुझे पढ़ते देख भइया अक्सर मेरे कमरे में आ जाते और मेरी आँखे कम रोशनी पर पढ़ने से खराब होने की आगाही देकर मोमबत्ती उठ कर ले जाते। बाबा के कथन में भइया 'खानदान की विरासत आगे ले जानेवाले' एकमात्र 'कुलदीपक' थे अतः उन्हें टोकने-रोकने या कुछ कहने का सवाल ही नहीं। मैंने कभी मलयज भइया से अपने पढ़ने पर औरों के रोकटोक की शिकायत नहीं की। सिर्फ मैं ही तो उनके पुस्तक भण्डार में दिलचस्पी लेती रही। भइया की तरफ से इसकी इजाज़त थी।

मलयज पर अपने परिवेश का संस्कारगत दबाव तो कुछ था ही। उन्हें बहनों की फ़िक्र सताती तो शायद इसी के तहत क्योंकि मैं तो परँपरावादी कभी रही ही नहीं, मेरे मन में रूढियों और भेदभाव के प्रति बगावत की भावना सुलगती रहती जिसे मलयज पहचान रहे थे..मेरी समझौता न करने की वृत्ति की सुगबुग भी उन्हें लगी होगी। (मैंने एक मन्त्री के बेटे से विवाह करने से इनकार कर दिया था। माँ से यह कह कर कि जो बाप अपने बेटे को तराजू पर रख सौदा करना चाहे उसके घर जाना मेरे लिए अपमान है..)

अपने उस समय के परम्परावादी विचारों के बावजूद मलयज मेरे सहज विकास पर कुण्डी तो नहीं लगाना चाहते थे- इतना विवेक उनके पास था- मगर कहीं कुढ़ तो जाते ही थे। पिता लगातार काम के सिलसिले में अपने दौरे पर रहते, माँ डिप्रेशन की शिकार और कुछ बीमार भी शरीर से। तब मलयज ही एक थे जो हमारी परख रख सकते थे। यूँ बहनों के किशोर मन को वे तब सही तौर पर नहीं समझते थे। मलयज को मुझसे लगाव तो था सबसे ज़्यादा पर उन दिनों उनका रुख दूसरा होता। उनके मन में हम बहनों की एक (पारम्परिक) आदर्श तस्वीर देखने की कामना थी,वे

हमें अधूरा नहीं देख सकते थे। जब ऐसा नहीं पाते तो झुँझला जाते। खासकर निर्मल की तरफ से जो कुछ चिड़चिड़े स्वभाव की रहीं हैं, ज़्यादा मुखर और अपने स्वार्थ के दायरे में बन्द। उनकी विलोम मैं- चुप्पा, (और ठाकुर चाची के शब्दों में 'भोलानाथ' यानी 'भोंदू' जो अपने को डिफेण्ड करना नहीं जानती छोटी बहन के आगे)। मलयज हमारी कच्ची उम्र का तर्क नहीं बूझ पाते, हमारी अपनी राह तलाशने को स्वार्थ का पर्याय समझते। अपनी चाह तो बस उन समाजिक रूढ़ियों से निजात पाने की रही जो बेटी को बेटे से कम समझती आयी हैं। पकते विद्रोह से उबरना कितना कठिन लगा... भगवत गीता का सहारा लिया ११-१२ साल की कच्ची उम्र में ही। यूँ बचपन से ही अपनी कामना पर कैंची-छुरी धरने की और माँ-बाप का कहना मानने की आदत सी पड़ती गयी थीः डिप्रेशन में रहनेवाली माँ के प्रति करुणा और सेवा भाव बराबर रहा। और बड़े भइया के प्रति थोड़ा भय मिश्रित सम्मान, ममता और करुणा। माँ की मैं साथिन, प्रिय बेटी थी।

मैं उनसे पूछने से रह गयी कि भइया, सामन्तकालीन मनमानी एंव गतिहीन हो गयी नैतिकता से अलग राह चुनने की आज़ादी पर बौद्धिक पत्थर रख देना क्या स्वार्थ नहीं था? एक रुग्ण भ्रमित समाज के अर्धमृत माहौल (जहाँ एक किशोरी का आकाश की ओर ताकना, सहज ढंग से ठठा कर हँसना कसूर और शील विरोधी मान लिया जाय) में आधी मौत कन्धे पर ले जीते रहने में आखिर कौन सी, किस किस्म की नैतिकता का पालन होता? सफलता-असफलता तो जीवन के शतरंज पर पड़ते ही हैं... फिर कौन निर्णय कर सकता है अगर शतरंज की बिसात पर बैठने को आगे न बढ़ा जाय। इसके अलावा नैतिकता कोई कानून तो नहीं, बल्कि सौन्दर्य से सन्नद्ध होने के नाते एक आन्तरिक स्वच्छता का बोध है एक ईमानदारी और सच का उदार ग्रहणय विवेक के साथ सच्चाई का लचीला सम्बन्ध जो चेतना को स्वस्थ रखता है, असुखी नहीं करता। फिर अगर अपना चुनाव ग़लत हो सकता है, उसके नतीजे के लिए किसी और को जिम्मेदार बनाने की गैरइन्साफ़ वृत्ति से बचा ही जा सकता है...। मुक्ति भी तो अपनी कमायी वस्तु है। इस सबको नहीं समझा गया। चुनाव की आज़ादी से (डर कर) बिदकने पर कौन सी सम्भावना की राह निकल सकती भला- इस तर्क को भी क्यों समझा जाता भला। संघर्ष अपना तो पराजय भी अपनी, और विजय हो यह अनिवार्य नहीं। तब रूढ और गैर लचीली नैतिकता के तथाकथित ठेकेदार को क्या हक कि उसे (अपनी ही सुविधा से) अपनी जड़ कसौटी कर कसे? अपनी पराजय को खुले दिल से स्वीकार कर लेना क्या नैतिक नहीं है?

ऐसी मेरी सोच पर मुझे भला क्या कोई सनद मिलती?

इस सच का भाव एवं बौद्धिक- चेतना के स्तर पर कुछ स्पष्ट भान मलयज को मेरे विदेश जाने से पहले हुआ था। धीरे-धीरे वे परम्परावादी गैरलचीले तत्व उनके स्वभाव से बह कर हवा होते गये थे। सन ७८-७९ में मेरे विदेश प्रवास के दौरान पहली बार भारत यात्रा पर आम प्रतिक्रिया पूछने पर भारतीय मनोवृत्ति के सन्दर्भ में, मुझे लिखते हैः 'यहाँ धूल, गर्द, बारिश, धूप, हवा की तरह सब कुछ सार्वजनिक, सर्वहारा है। व्यक्ति को शक की निगाह से देखा जाता है... यह शक की निगाह हमारी परम्परा में ही निहित है, हमारी धार्मिक, अध्यात्मिक, लौकिक परम्परा में है'। ...यहाँ दूसरों के मामले में टाँग अड़ाना-दूसरों की प्राइवेसी पर अटैक करना यहाँ का पास टाइम है'... यह परिवेक्षण उनका अपना कष्ट और झुँझलाहट भी थी। साथ ही उनके विचारों में मौलिक तथा स्पष्ट समझदारी जाहिर करता है। इसी मसले को लेकर जब वे अनेक धरातलों पर संघर्ष की चुनौती पाते जाकर प्रौढ़ हो चुके तो एक लम्बे अन्तराल के बाद उन्होंने मुझे लिखाः 'किसी भी सच्चे सँघर्ष को सफलता और असफलता की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता'। जैसे उन्होंने मेरे बहुत पहले के विचार का जवाब दिया हो..।

सही तौर पर- संकल्प शक्ति होने पर ही- मानस एवं जज़्बातों को प्रौढ़ होने में समय लगता है। भावनाओं का सुथरा विकास और उसकी मौलिक स्पष्टता मानस को सही विचार की ओर ले जाती है...यही प्रौढ़ होना है।

वेलूर सेनेटरी में उन्हें बौद्धिक चिन्तन का जो अवसर मिला, उसे वहाँ से लौटने के बाद साहित्य की दिशा में मोड़ा। सन १९५३ में परिमल की स्थापना हो ही चुकी थी। मलयज साहित्यकारों के सम्पर्क में आने लगे थे। कविता तो पहले भी लिखा करते थे और डायरियाँ भी। वेलूर की सेनेटरी से लौटने के बाद पढ़ने-लिखने में वे ज़्यादा मशगूल रहते। हाईस्कूल में मेरे पहुँचने पर वे मुझे अच्छी अँग्रेज़ी जानने का गुर बताते। मगर इण्टरमिडियेट पहुँचने के बाद कोर्स की किताबें न खरीद पाने पर मैं 'प्रयाग साहित्य सम्मेलन' के पुस्तकालय में जाकर नोट लेकर पढ़ती।

दरअसल हमारी बातचीत बड़ी मुख्तसर सी होती, उसमें कहीं फैलाव नहीं था। कुछ खास मुद्दे होते। बस। वे मेरी कम उम्र में भी उपजी उदासी का सबब जान लेते थे।.. वे खुद अकेला महसूस करते बावजूद परिवार की ओर से उनकी तरफ खाश तवज्जह के। पिता ने उनका ओवर प्रोटक्शन किया पर उन्हें उस वक्त समझा नहीं या अपनी ही शैली में उन्हें समझते रहे। घर में तो वे आमतौर पर खामोश रहतेय उनका सँवाद बहुत सँक्षिप्त होता था घर के लोगों से। शायद वह ओवर प्रोटक्शन का ही एक असर था, क्योंकि ओवर प्रोटक्शन व्यक्ति को एक अलहदा दर्जा दे देता है मानों वह औरों की तरह होने की सँभावना से अलग है... कारण चाहे कोई हो।

इलाहाबाद के वास में कभी कदाचित महाकवि निराला के घर भी मामा समेत हम गये । उन दिनों निराला जी विक्षिप्त थे और एक दिन उनके निवास पर उन्हें बांग्ला, हिन्दी और अँग्रेज़ी तीनों भाषाओं में धाराप्रवाह बोलते पा कर मैं कुछ डर भी गयी थी। उसके बाद केवल उनकी मृत्यु पर ही हम गये। उसी दारागंज में,जहाँ से गंगा नदी पास थी, कवि, चित्रकार डाक्टर जगदीश गुप्त का घर था जिनसे मलयज की काफी बातचीत होती- कविता से ज़्यादा पेण्टिग पर। परिमल के वे भी सदस्य थे। आमतौर पर कम्पनी बाग में काव्य गोष्ठियाँ होतीं। बरगद के पेड़ के नीचे दरियाँ बिछा कर। मलयज भी परिमल के संयोजकों से एक थे।

मलयज का लम्बी और कठिन बीमारी से स्वस्थ्य होने के बाद हमारा जीवन एक सामान्य सन्तुलन पर आहिस्ता-आहिस्ता आने लगा था जैसे किसी दुर्घटनावश रुकी हुई रेलगाड़ी चल पड़ी हो..

आज, सुख के पैगाम से हीन मोहतशिम की गली और गली से होकर हिवेट रोड, रामबाग स्टेशन चौक, रानी मंडी, शाहगँज, लूकरगँज, दारागंज आदि तक से गुजरते अजब-बेढब किस्सों के नक्शों की लाइनें किस कदर हमारी तबियत में अड़ी रही हैं, इसका न कोई तर्क है न और कुछ। मौसमों के बदलते रहते तेवर के बावजूद, सदियों से साल दर साल बिना विकल्प, अज्ञान रस में पगे रीति रिवाजों की गुलामी से आबाद एक केंचुएनुमा गलियों के जख्मी माहौल में वही सब सम्भव चाल-ढाल समाज को जोड़तीं थीं जिसके सदस्य आमतौर पर या तो क्रूर होते हैं या अन्धविश्वासी घोंघाबसन्त...। हमारी मनहूस गली ने सनसन,धकधक, नाडियों को झकझोरा, मलयज से ज़्यादा मुझे। उसी के स्वप्न-दुःस्वप्न हड़काते रहे मुद्दतों।

मलयज के व्यक्तिगत विकास के सम्बन्ध में शायद उन साधूबाबा का ज़िक्र करना अप्रासंगिक न हो जिनके विचारों और जीवन को समझने का ढंग ढर्रेदार विश्वासों से अलहदा और उनके यायावरी अनुभवों का तथा मज़ेदार चुटकुलों में निहित नैतिक मूल्यों के सन्देश का असर नवयुवक मलयज पर पडा। साधू बाबा हमारे एक दूर के रिश्तेदार थे जो हमारे मोहतशिमगंज वाले मकान में आये और करीब साल भर उनके ठहरने का असर मलयज पर खूब पड़ा, क्योंकि

साधुबाबा थे ज्ञानी व्यक्ति ,खुले दिमाग के, स्वतन्त्र विचारों के और दिलचस्प स्वभाव तथा यायावरवृत्ति के। उनकी दार्शनिक बातों में तरह तरह की रहगुजरी का दिलचस्प बयान और उसमें पिन्हा चुटकुलों का असर मलयज पर अच्छा पड़ता। मलयज अपना सबसे ज़्यादा समय उन्ही के साथ उनकी ज्ञान में रंगी बातों को सुनने में, प्रश्न करने, उत्तर पानें में बिताते थे। उन्हें साधूबाबा से खूब लगाव हो गया था। साधूबाबा उन्हें खुश रहने का मसाला देते रहते। मैं भी अक्सर उनके साथ शामिल हो जाती। साधूबाबा के चले जाने के बाद सबसे ज़्यादा दुःख मलयज को ही हुआ। यह उनके वेलूर से लौटने के बाद की घटना है। उस समय उन्हें वैसे ही खुशमिजाज घुमक्कड़ी से प्राप्त तजुर्बों का खजाना बाँटने वाले आजाद शख्स की दरकार थी जो कहीं बँध कर नहीं रहता।

इसके बाद, एक फेफड़े के आपरेशन से उपजी असुरक्षा भावना की उदासी को छील कर मलयज के मन में कुछ उत्फुल्लता का संचार किया एक १५ साल की गोरी चिट्टी, ललछौंहे घुँघराले बालों वाली, लम्बी भौहों के नीचे दो विशाल भूरी आँखें लिए (जिनमें तीसी फूलती रहती हर वक्त) अत्यन्त सुन्दरी नवविवाहिता किशोरी ने-जिसकी एक टाँग छोटी होने की वजह से वह भचक कर चलतीं थी। उनके चालीस साला प्रौढ़ पति जो- हमारे पुरखों के इलाके के थे - पिता के सिनेमा की इमारत में रात को पहरा देने का काम करने आये थे, शहर में कोई अन्य जगह न होने के कारण हमारे घर अपनी अक्षत यौवना पत्नि को रख गये थे। वह खुशमिजाज युवती खूब खिलखिला कर हँसतीं थी ज़रा ज़रा- सी बात पर भी। भइया मलयज ने उन्हीं को फूलझडी नाम दिया हुआ है अपनी डायरी में। मलयज के मन में उनके लिए एक नरम कोना रहा बराबर। वे भइया की मन से सेवा करतीं थीं। साल भर हमारे घर बिताने के बाद, फूलझडी देवी (जिनका असली नाम पता नहीं) के मन में भइया के प्रति एक प्रेम भाव का जन्म हुआ होगा अवश्य। इसका आभास तुरन्त उनका निहायत उदास चेहरा देख कर मिला जब मेरे घर से उनके गम्भीर चुप्पा, शुष्क स्वभाव के पति उन्हें सिनेमा में ही मिली एक कोठरी में रहने को ले गए। उनकी हमेशा की उन्मुक्त खिलखिलाहट ने उनके पीले पड़ते जाते गमगीन चेहरे और बुझी-सी आँखों ने, खुदकुशी करने में देर न की.. । गाँव वापस गयीं तो मौत ही को अपने इन्तज़ार में पाया। कुल जमा भरे यौवन में ही। न भइया न मैं ही फुलझडी को बिसरा सके कभी।

...आदमी की बात कहते हुए हमें बड़ी या छोटी वस्तुओं के सौन्दर्य का, बडप्पन का या उसके छोटेपन और बेहूदेपन का जो अहसास होता है वहीं से पाना और खोना होता है। ज्वार-भाटे के बीच ही रिश्ते पहचाने जाते हैं। और उस रिश्ते के बीच-बीच जो घटता है उसकी समझ पैदा होती है। मलयज के साथ भी यही हुआ। साधूबाबा और फुलझड़ी देवी का मलयज के जीवन में आना यही मतलब रखता है।

उसी की कोई बारीक ध्वनि लेकर, मलयज की संवेदना को अब किसी अन्य दिशा में मुड़ने का वक़्त आ रहा था...

इलाहाबाद विश्वविद्यालय पहुँचने के बाद (जहाँ से उन्होंने अँग्रेज़ी साहित्य में एम.ए किया तथा साल भर पढ़ाया भी) विजयदेव नारायण साही, रघुवंश जी तथा अन्य साहित्यकारों के सम्पर्क से व्यक्तियों और वस्तुओं के उनके रिश्ते में एक नया मोड़, नयी पहचान आयी। अब वे पहले के पके पकाये चालू मानदण्डों से हाथ छुड़ाने लगे थे। Sujectivity, objectivity में तब्दील होने लगी। सन १९५३ में 'परिमल' की स्थापना हो ही चुकी थी जिसके संयोजकों में एक मलयज भी रहे और वहीं उनका परिचय हिन्दी के धाकड़ कवियों-लेखकों से हुआ। सन ६०-७० के करीब के दशक में ही वे परम्परा और आधुनिक विचारों में सन्तुलन की खोज में लगे, पर अभी भी पारम्परिक संस्कार एंव मान्यताओं से उनका सरोकार पूरी तरह टूटा नहीं था। अगर वजह माने तो शायद मानना होगा कि मलयज के पूरे अस्तित्व में एक खास किस्म की संजीदगी रही अपनी बीमारी और अनुकूल परिवेश का अभाव पाकर। अपने से निर्लिप्त रह पाने

की छटपटाहट को साथ लेकर...आत्मपरकता और वस्तुनिष्ठता ये दोनों मिल कर एक अजब घोल तैयार करते हैं कि उनकी अपने संग जद्दोजहद कभी चुकने में नहीं आती। आलोचना में वे तटस्थता निभा सके हैं मगर सगों से सम्बन्धों के शुरू के दौर में आमतौर पर वे जज़्बाती रहे।

अपने परिवार में मलयज का बौद्धिक इम्पैक्ट सबसे ज़्यादा मेरी ही संवेदना पर पड़ा। एक मैं ही थी जिससे वे शुरू से कहीं जुड़े रहे। हालाँकि उनके आगे मैं कुछ दबी सी रहती आयी थी उनके चुप्पा स्वभाव की वजह से। बातें हम कम करते, एक दूसरे को कुछ ज़्यादा समझते। उन दिनों हम दोनों ही अपने-अपने ढंग से कुछ खोज रहे थे। कभी-कभी टुप से वे कोई सवाल मेरी ओर उछाल कर मुझे चौंका देते।

मेरे खामोशी से, घर की जिम्मेदारी कम उम्र में ही सँभाल लेने तथा (ऑपरेशन से पहले) उनके क्षयग्रस्त शरीर की बेतरह गिरती मृण्मय हालत में उनकी सेवा में दिंन रात अकेले, दृढ़ता और निःस्वार्थ भाव से मेरा लगे रहना उनके सबकॉन्शस में पहली बार झलका और बाद में कॉफी महसूस किया। वे खामोशी से समझते गये कि मैं जो कुछ भी करती उसमें मेरी अपने लिए कुछ पाने की कामना नही होती। मेरे मन में आशा हमेशा जगती रहती कि कठिन समय हमेशा नहीं रहता, बस धैर्य रखो, सब बदलेगा। इसीलिए मुझे अपने लिए कुछ मिलने का अभाव खलता न था। इसलिए भी एक तरह से मैं मलयज से भी ज़्यादा निःसंग रही अपने प्रति।

उस वक्त तक मेरे संघर्ष को समझने की क्षमता परिवार में मात्र मलयज के पास ही कुछ आयी । जाने-अनजाने सूत्रों से हम भाई बहन जुड़ते गये। हममें एक गपचुप संवाद बनता रहा। हम दोनों मौन रूप से ही एक दूसरे का मर्म और कष्ट बूझते गये। मलयज का स्नेह भी खामोशी से व्यक्त होता। एक मिसाल यही है कि सर्दी में कठिन परिश्रम के बाद जब पानी के कामकाज से हाथ-पाँव गल कर ठिठुरने लगते,गला और सिर दर्द से पम्प करने लगता, नाक से पानी का झरना फूटता और गले में खरास के काँटे चुभते होते यानी मेरा दुबला तन सिर दर्द या जुकाम की घोषणा कर देता तो मलयज चुपके से तेल की शीशी लेकर मेरी पीठ पीछे आ के खड़ी हो जाते तथा खामोशी से मेरे सिर में अच्छी मालिश कर देते काफ़ी देर तक। उस समय तक मेरे मानस में बड़े भइया का सँकोचभरा सम्भ्रम बना हुआ था।

मैं उन दिनों विश्विद्यालय में पहुँच चुकी थी।

मलयज का सबसे संवाद मन ही मन चलता पक्ष या विपक्ष में...

मलयज के भीतर आधुनिक विचारों की शुरुआत हो तो गयी थी इलाहाबाद के साहित्यिक वातावरण में पहुँच कर जो उस वक़्त साहित्यकारों का गढ़ था। आधुनिक फलक पर चीज़ों की, तथ्यों की पहचान होने लगी उनका मानसिक रिश्ता वस्तुस्थिति से भिन्न तरीके से होने लगता है गाढा होते हुए। मगर पिछली दर्दनाक घटनाओं तथा परिवेश का दबाव तब भी अपना असर दिखाता ही रहा...। आत्मकेन्द्रिता में खास फ़र्क नहीं आया। मैंने प्रयाग साहित्य सम्मेलन से विशारद की पढ़ाई शुरू की तो परीक्षा में श्रीराम मामा ही मेरी मदद करते। मलयज किसी साहित्यिक गोष्ठी में मुझे अपनी तरफ से वे कभी नहीं ले गये। परिमल की गोष्ठी में कभी कदाचित मामा श्रीराम वर्मा ही ले गये तो मलयज ने विरोध भी नहीं किया। बाद में शमशेरजी, कवि रूप में मेरी पहचान पा कर, कई काव्य गोष्ठियों में मुझे ले गये।

दिल्ली में ज़िन्दगी की शुरूआत ने मलयज में इलाहाबाद वाली कसावट ढ़ीली कर दी। यानी परिवर्तन की मौलिक शुरुआत तथा कुछ खुलापन इलाहाबादी परिवेश से निकल दिल्ली आने के बाद ही होती है जब वे कृषि मन्त्रालय में

आए। दरअसल अनुवादक की जो पोस्ट मेरे लिए दर्ज की गयी थी, मैंने परिवार की और खुद मलयज की मानसिक-आर्थिक जरूरत को महसूस करते हुए, उनको अपने से ज़्यादा योग्य समझ, बता कर अपने बजाय उन्ही के लिए माँगी और खुद ट्यूशन में लगी। तब मलयज भइया और मैंने साथ-साथ मॉडल टाउन में किराए का फ्लैट लिया। वे कुछ खुले। आर्थिक समस्या के उस छोटे से ही हल से उनकी असुरक्षा भावना हल्की हुई। हम दोनों की कमाई से गाड़ी नयी दिशा में चल पड़ी। मॉडल टाउन उन दिनों अनेक हिन्दी लेखकों से भी आबाद हो गया था। उनसे परिचय और साहित्य पर घरेलू गोष्टियों का सिलसिला चल निकला। या कभी कदाचित कनॉट प्लेस के कॉफी हाउस में भी साहित्यिक जमावड़ा हो जाता। बाहर के परिचितों से उनके सूलूक साहित्यिक या विचारात्मक रहे हैं। व्यक्तिगत मसलों में तो उनका स्वभाव आत्मकेन्द्रित ही रहा। रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, स्नेहमयी चौधरी आदि से मेरा भी परिचय हुआ।

वे मुझसे मुखर हुए दरअसल मेरे डिफेन्स कॉलोनी चले जाने के बाद जहाँ एक के बाद एक तीन फ्लैट बदले गये। वे तब काफ़ी खुल गए थे। शमशेरजी भी आते तब बहस का साहित्यिक या ग्रीक इतिहास का पिटारा खुल जाता तीन महानुभावों में और मैं नाश्ते, चाय आदि की तैयारी में भी श्रोता होती- बस श्रोता। मलयज की वैज्ञानिक जानकारी का फ़ायदा मुझे अपने गर्भ में श्रुति के आगमन पर हुआ। वे मुझे बड़े काम की बात बताते।

फ़िल्म सोसाइटी के सदस्य हम दोनों ही थे और विदेशों की अच्छी अच्छी फिल्में देख कर उन पर टिप्पणी करते घर लौटने का एक खास आनन्द होता। अक्सर शमशेर जी भी हमारे साथ होते।

मलयज की पारिवारिक हैसियतः द्वन्द्व

मलयज निहायत अकेले जीव रहे और एकान्त प्रिय जिन्होंने अपना नरक खुद ढोया-करीब बिना शिकवा-शिकायत के।.. वह नरक जो अपनी सख्त बीमारी, दो साल परिवार से दूर वेलूर के एक सेनेटरी में, फिर अकेले कुछ महीने, रानीखेत के पहाडी इलाके में बिताया जिसमें उनमें एक भविष्यत डॉक्टर बन पाने के सपने का ध्वस्त होना, पिता की धमकी से आहत हो अपनी इच्छा के विरूद्ध पिता के ही चुनाव पर उन्हें जो अस्वीकार्य था उसे स्वीकर करने पर मजबूर हुए। यानी, अपनी पसन्द, अपनी इच्छा, अपनी शिक्षा दीक्षा के एकदम विपरीत प्राणी से विवाह के बन्धन में बाँध दिए गये जिसमें उन्हें साथी नहीं रूढ और करीब अपढ परिवार की पत्नि मिली जिसने कभी उनके बौद्धिक, साहित्यिक कार्यकलाप में दिलचस्पी नहीं ली। मगर जिस भुरभुरे सरहद पर वे खड़े थे उससे परिचित होने के नाते वे शिकवा भी न कर सके। पिता को तो अपने खानदान में इज़ाफ़े ,वरन यूँ कहें कि ''वंश बेलि', बढ़ाने की चिन्ता थी! इसलिए उन्होंने मलयज भइया के निजी सुख-दुःख की तरफ से आँखें मूँद ली थी। पिता के प्रति गहरे कृतज्ञता और आदर भाव ने उन्हें विरोध से रोका तथा एक निरीह स्वीकार में पिसते, खोमोशी से अपनी आन्तरिक कामनाओं का अग्निदाह करते मलयज को परिवार के प्रति कर्तव्य के नाम पर अपने कमज़ोर कन्धे पर छः लोगों की इकला ज़िम्मेदारी का चक्का ढोने को मिला। अपने को अपनी संक्षिप्त मगर ज़रूरी माँग से भी वंचित रखा। महीनें- दो महीने में कोई मनपसन्द किताब खरीद पाना ही उनकी नियामत रही- वह भी सस्ते दाम तलाश कर। पत्नि में शिक्षा-दीक्षा का अभाव, रूढिग्रस्त विचार सांस्कृतिक विकास का अभाव उन्हें खलता था। इससे वे दुःखी थे, उनमें एक माकूल जीवनसंगिनी न पाकर, परन्तु विवेक के साथ उसके प्रति अपनी ज़िम्मेदारी समझ कर, उसे कभी आलोचना के कटु कटघरे में खड़ा नही कर पाते थे। पत्नि के प्रति एक हिफ़ाजत का भाव भी उनमें था ही। पत्नि के सन्दर्भ में, शायद यह कह कर अपने को धीरज देने की चेष्टा करते कि 'हर व्यक्ति अपना जीवन जीता है, जिसे वह अपने तर्क से जीता है।

दूसरे किसी के जीवन की चक्की नहीं चला सकता। उसके बदले नहीं जी सकता' (प्रेमा को लिखे पत्र में) कह कर अपने को (झूठी) सान्त्वना दे दी थी हालाँकि मन की कसक से कभी निजात नहीं मिली। घरेलू परिवेश और पत्नि के प्रति असन्तोष के लिए आमतौर पर वे अपने को ही दोष देते 'मैं अपने अन्तर्मुखीपन के कारण पत्नि को शिक्षित न कर सका', 'मैं अपने बारे में ज़्यादा खामोश रहा, मैंने अपनी समस्या उसके सामने' नहीं रखी ,उसके साथ नहीं बाँटी। इससे हमारे सम्बन्ध सहज नहीं हो पाये। 'मैं अपने स्वभाव से विवश था और यह मेरी ग़लती थी'।(डायरी ३, पृष्ट १२८)

उन्होंने पत्नि पर कोई प्रश्न नहीं उठाया, कोई अपेक्षा नहीं प्रदर्शित की। यहाँ तक कि माँ के प्रति पत्नि सरोज की बेरूखी और उपेक्षा तक को वे अनदेखा कर गये। माँ तो सरोज को अपनी बेटी के रूप मे ही देखतीं थी, दुलहिन शब्द तो सिर्फ़ सम्बोधन भर होता था। वहाँ वे समझदारी से समझा न सके मगर अन्दर से कसक तो थी ही जिसका संकेत या झलक उनके एकाध पत्रों में मिलता हैं कुछ धुँधले रूप में...

दूसरी तरफ एक ऐसा संसार भी था उनके रोज़मर्रे को बगल किए- वर्गभेद, शोषण, पक्षपात, चालबाजी, धूर्तता, डर के सबूत में जी हूजूरी, कम्पटीशन आदि पर टिकाउ सरकारी तन्त्र का जो उनके संग कभी इन्साफ़ न कर सका। आर्थिक परेशानी। हमेशा उसी सीढ़ी पर जो उन्हें शुरू में दी गयी, बढ़ते सालों में भला कितना इजाफा होता वेतन में। वही ढाक के तीन पात। यद्यपि वे काम को निःसंग ईमानदारी के साथ करते। वे बहुत काबिल थे अपने काम में मगर बड़े अधिकारियों की जूती साफ़ करने की नियत न होने से वे उपेक्षा के ही अधिकारी रहे। दूसरे जन उनकी उदारता का फायदा उठा कर सटक जाते। दफ़्तर के अधिकारी साहब की मूँछ में मलाई वगैरह लगायी नहीं, कम्पटीशन से वे दूर रहे, तब उस बुर्जुआ दफ़्तरशाही में उन्हें तरक्की कैसे दी जाती- भले वे बड़ी काबिलियत से अपना काम वहाँ करते मगर ईमानदारी की कीमत क्या कभी भ्रष्ट सत्ता में आँकी गई है?

(माफ़ कीजिए, अपने देशी तन्त्र में इसी किस्म की धूर्त, दासवादी वर्चस्वता मान्य है और सफलता का रास्ता खोलती है..)

शादी के बाद, मलयज की ज़िम्मेदारियों में इजाफ़ा होता गया। पारिवारिक, समाजिक, आर्थिक सुख-शान्ति से वंचित तमाम ज़िम्मेदारियाँ अपने अकेले और कमज़ोर कन्धे पर ढोते गये जिसमें विषाद गहराता गया। (मेरे बारे में ही उनकी चिन्ता क्या कम थी)। कम आय में बड़ी-बड़ी ज़िम्मेदारियाँ वहन करना हुआ, जैसे छोटे भाई कि शिक्षा-दीक्षा, माँ की लम्बी बीमारी (जो ब्रेन थ्रम्बोसिस में उनकी जान लेकर ही समाप्त हुई) दो बच्चों का पालण पोषण और बेमेल पत्नि में उचित शिक्षा के अभाव में स्वयं ही बच्चों को स्कूल का काम कराना और उनकी उचित शिक्षा दीक्षा की फ़िक्र (जो उनके लिए जानलेवा सिद्ध हुई)।

वैवाहिक जीवन में मलयज की मनःस्थिति न समझे जाने की स्थिति में अर्थपूर्ण संतोष के लिए उन्हें बौद्धिक सम्पर्क की ज्यादा अपेक्षा रहने लगी जो उन्हें अपने चन्द साहित्यकार मित्रों से संवाद में कुछ पूरी हो जाती। यूँ वे एकान्तप्रिय-रचनाकार होने के नाते- हमेशा ही रहे हालाँकि चिन्तन-मनन और लेखन के लिए उन्हें कहीं एकान्त नहीं मिलता था। पत्र ही नहीं, गम्भीर लेख तक लिख पाने के लिए उन्हें पार्क की बेंच पर जाकर बैठना होता या दफ़्तर के शोरभरे वातावरण में।

इन सब दूरुह तथ्यों ने भी मलयज के अन्तर्मुखी स्वभाव में कुछ इजाफा ही किया। सुख सन्तोष उनके लिए असम्भव विषय हो गया था।अपनी शारीरिक और आर्थिक कमियों का उन्हें इतना गहरा अहसास हुआ कि वे अपने व्यक्तिगत

जीवन की दिशा बदलने के ख्याल से दूर हटते गये। उन्हें उसी नरक में रहना पड़ा जो उनका बनाया नहीं था...। सबके बावजूद सहिष्णुता और आशावादिता का साथ उन्होंने नहीं छोड़ा,न ही पारिवारिक ज़िम्मेदारी से मुँह मोड़ा। इस सबके बावजूद परिवार की गहरायी से चिन्ता करते उनके प्रति उत्तरदायित्व निभाने के प्रयास में लगे मलयज, परिवार की मूल समस्या हल न कर पाये-इसका मलाल उन्हें पूरे जीवन सालता रहा। परिवार और लेखन में- दोनों में सन्तुलन न हो सका। लेखन उनकी बुनियादी जरूरत बनती गयी क्योंकि वही उन्हें अपने ज़िन्दा रहने का अहसास कराती रही, उसी के तनाव से वे रिलैक्स अपने बेतरह दुःखी जीवन के लिए वे स्वयं को ही ज्यादातर जिम्मेदार मानते रहे...अपने अन्तर्मुखीपन को दोष देकर, और यह कह कर कि तुम 'असम्भव आदर्श की स्थिति' में रहे।

जीवन के समस्त कसालों की तप्त धूल मलयज के जख्म को छेंकती रही... जो नरक उन्हें मिला, उसमें वे चुपचाप सीझते रहे... हालाँकि उसमें-उस मरुथल की खाई में- न गिरने की कसम खाए हुए थे... आशा, आस्था और मानवीय मूल्य कस कर उनका हाथ थामे रहते। उनका मानस कभी निष्कृय नहीं रहा, कठिन परिस्थितियों में वह और जागृत हो उठता। कर्म की उनकी जिजीविषा अद्‌भुत थी। उनका विवेक एवं दूरदर्शिता, बेतरह जटिल परिस्थिति में, मुश्किल दशाओं में अपनी, धूल धूसर कंकरीली ज़मीन पर पड़ गयी हस्ती को पुनः ऊपर उठा कर नये-पुराने संघर्ष के लिए तैयार कर लेते। जिस अनुपात में देह तिलतिल गल रही थी, उसी अनुपात में उनकी मेधा, उनका विवेक भी बढ़ रहा था। उसी विवेक ने उनके तन-मन को टिकाए रखा जब तक वह टिका। गलते फेफड़े और रुक-रुक चलती साँस की गति लेकर भी उन्होंने उम्मीद का पल्ला नहीं छोड़ा जैसे जीवन की बाजी, रचना द्वारा उन्हें जीत ही लेना था...

हालाँकि सुख सन्तोष की मिकदार इतनी अल्प होती कि 'ज़बरजस्ती बटोर लिए गये' 'दो-चार पलों का सुख- तवे पर छन्न से बोल कर रह जाता' था क्योंकि (उन्ही के शब्दों में 'कोई सच्चा आनन्द नहीं....कुछ लिखना चाहता हूँ, पर एकान्त घर में नहीं, दफ्तर में शोरगुल, कहाँ जाकर लिखूँ, गृहस्थी में पिसा जा रहा हूँ ...मानव सम्बन्ध सहज नहीं रह गये... सबकी बुनियाद अर्थ पर है। मेरी संवेदना कोई नहीं चाहता। सबको अर्थ चाहिए'। (५६११/८० के पत्र में)...

वे लम्बे समय तक परिवार से बिछुड़े रहे किसी दूसरे शहर में अपनों से दूर। इस तथ्य ने उन्हें एकान्त की माया दी.. वे अन्तर्मुखी हुए। बाहर से अपने लिए कुछ सार्थक न पाकर, न ही कोई असली सुख, उन्होंने अपनी एकमात्र राहत के साधन के रूप में अपने को साहित्यिक कला में गहरायी तक डुबो दिया... रचना ही वह सहज और स्थायी मुकाम रहा जहाँ वे मूल्य हासिल करते। रचना का तनाव रोज़मर्रे के बाँझ तनाव से एकदम अलहदा चीज़ है। मगर अपनी दैहिक अक्षमता के बोध में गुजरते समय की छटपटाहट और रचने के लिए स्पेस के अभाव से उगे पछतावे और असुरक्षा भावना ने उनसे कहलवाया : 'मेरा बहुत-सा हिस्सा-जिसकी मुझे खबर नहीं-वह जैसे आइसबर्ग की सतह के नीचे है'।

भारी क्रइसिस से गुज़रते अपने १४/८/१६७६ के पत्र में वे मुझे लिखते हैः 'कुछ लिख लेता हूँ तो लगता है ज़िन्दगी से कुछ छीन लिया है। पर ज़्यादातर तो जिन्दगी मुझी से मेरा लेती जा रही है- मेरे दिन, रात, महीने और वर्ष'।

और तब मैं?

उनकी गहन पीड़ा और मेरी गहन व्यथा का एकान्त किसी के समझने-बूझने की खातिर नहीं रही...दो फासले; एक

देश, दूसरा परदेश। मगर हम दोनों अपने-अपने तरह से एक ही भीषण यथार्थ के भुक्तभोगी रहे। हमने एक दूसरे का चेहरा देखा था बारीकी से, एक दूसरे का अकेलापन बूझा था और बूझी थी जीवन की वह त्रासदी भी जिसकी तेज़ धार में हम फेंक दिए गये थे भिन्न-भिन्न पठारों पर...भिन्न-भिन्न तरीके से। हम दोनों ही अपनी अपनी मौलिक अस्मिता की खोज में रहे...

तन्त्र हम दोनों के सिर पर तनी तलवार रही...

यह मलयज के जीवन की त्रासदी का संक्षिप्त निचोड़ है जिसमें मेरे जीवन की त्रासदी भी जुड़ गयी थी।

मलयज भीतर से एक जटिल, गुम्फित मानसिकता के जीव रहे। वे सहजता की कामना तो करते थे पर स्वयं सहज नहीं हो पाते थे। दूसरों की सुन लेते, बूझ भी लेते। मगर बुनते वही जो उन्हें माफ़िक लगता।

वे खुद अपने अन्तरविरोध का शिकार रहे। साथ ही वे दूसरों के चरित्र की, व्यक्तित्व की नापजोख में अपनी भी नापजोख कर लेते। यह उनकी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण क्षमता की सिफत रही जिसका सिलसिला टूटा नहीं।

पीड़ा उनके अकेलेपन की वफादार साथिन रह जाती है अन्त तक।

उन्हें एक (आम धारणा में) सफल सांसारिक जीवन नहीं मिला। सादा सरल, नीरस व्यक्तिगत जीवन उनके लिए एक समस्या ही रहा। मलयज को अपनी दैहिक कमी का अहसास इतना गहरा रहा कि वे अपनी शेष असली समस्या को सुलझाने के लिए अपने व्यक्तिगत (खास कर दाम्पत्य) जीवन की दिशा बदलने के प्रयास से दूर रहे। अपने १९७९ के एक पत्र में उन्होंने पत्नि के सन्दर्भ में मायूस विवेक के साथ लिखाः 'कोई आदमी किसी को नहीं बदल सकता। बदलाव की इच्छा और प्रेरणा हमेशा भीतर से होती है'। नाउम्मीदी ने उन्हें वहीं रख दिया, उसी नरक में जिसे उन्होनें नहीं गढ़ा था- वे बिना मंजूर किए बेबसी में जीते रहे। साथ ही अपराधबोध भी उनका पीछा करता गया...शारीरिक सामर्थ्य और आर्थिक कमी के सबब परिवार की मनचाही ज़रुरतें पूरी न कर पाने का, उन्हें वह सब न दे पाने का -जिसे देने की ख्वाहिश वे रखते थे-का मलाल उन्हें बराबर डँसता रहा...खास कर माँ के सन्दर्भ में जो उनके २२/१०/८० के पत्र में स्पष्ट लक्षित हैः 'माँ पाँच वर्ष और जीवित रह सकतीं थीं अगर...इस 'अगर' का इतिहास लम्बा है और हम सबकी अपेक्षाओं, असमर्थताओं, कायरताओं का इतिहास लपेटे हुए है। यह तथ्य या सत्य मैं कभी नहीं भूलूँगा'। इस तरह वे पछतावे बटोरते गये।

एकाध ऐसे सुधी कवि-लेखक भी रहे जिन्होंने,अपने दम्भ, बहानेबाजी और झूठ के प्रदर्शन से मलयज के सरल स्वच्छ बर्ताव का नाजायज़ फायदा उठाते उन्हें दगा दिया। मलयज ने अपने इस गहन विषाद का इज़हार किया तो महज मुझसे (यह उनके मुझे भेजे पत्रों में एकदम स्पष्ट है।) और मैनें अपनी त्रासदी सिर्फ़ उनसे कही।

कुछ वर्षों तक हर वर्ष के ३६५ दिनों का हिसाब लगाने और उसमें अपने जीवन प्रक्रिया के विचारों का विश्लेषण करने -अपने भीतर देखने-परखने की प्रवृत्ति उनमें रही।

उनके मुझे लिखे पत्रों से स्पष्ट है कि वे अपनी सेहत के प्रति कितने कांशस होते गए। हमेशा हर महीने बीमार पड़ जाने वाले मलयज भाई को चँद दिन आराम करने और स्वच्छ वातावरण अनायास मिल जाने पर जो थोड़ा सा स्वास्थ्य लाभ होता, वे दिन उनके लिए नियामत या किसी उपलब्धि के दिन होते। वे दिन रचना में लगाने के होते,

सन्तोष के होते। लिखाः' इस बार इलाहाबाद में रहना बहुत अच्छा लगा, खूब आराम किया। इस आराम से स्वास्थ अच्छा रहा और अभी तक तो ठीकठाक चल रहा है'। इस 'अभी तक तो' शब्द पर गौर कीजिए...इन तीन शब्दों में उनके तन मन की साकारात्मक (हालाँकि क्षणभँगुर और शंकाग्रस्त) प्रक्रिया जाहिर होती है। वह थोड़ा-सा आराम एक उत्तम उपहार है, जो उनके अपने परिवार की नासमझी में गुमशुदा रहता था...

स्मृति-खण्डः छवियाँ और...

...पारे-सी बिछलती यादें..खून के थक्के की पिघलन जैसी यादें...कत्थई और

सफ़ेद यादें... विस्मृति के तहखाने से फूट, बहती यादें...

कचट ही कचट..जो अब पिराता नहीं...मगर घाव का दाग अपनी जगह ज़रा सा

नाखून लग जाने पर पूरी तरह खुल जाने को तैयार...

...सिर्फ़ तारीखें गड़मड़ हो गईं हैं...। हैं तो सिर्फ़ छवियाँ अपनी-अपनी तनी या नरम मुद्रा के साथ...स्मृति-चित्रों में कहीं-कहीं पछतावे की थिगलियाँ...तनन तनन...पछतावे जो कभी छँटते नहीं...धूनी लगा कर बैठ जाते हैं...

बावजूद आत्मरक्षा की आदिम प्रवृत्ति के...

...लोगों से दूरियाँ नजदीकियों का ही मेटाफर होतीं तथा नजदीकियाँ पास आ कर वापस लौट जातीं... अपने बचपन से युवा होने तक की प्रक्रिया में वे तमाम चलती-फिरती, चकराती छवियाँ जिनमें जले, अधजले या साबुत और अधूरा; सब का सब-खट्टा ज़्यादा, मीठा कम-यथार्थ..सपने के अंदाज में खड़ा है मुझे पिघला कर...मूढ बना कर...

स्मृतिखण्ड की वे मूर्तियाँ पास आने के लिए जैसे बेताब हो उठीं हों अब वर्षों के इतने सारे पत्ते पीले हो जाने के पश्चात... वे कटी पतंग की तरह हृदय के आसमान में भटकतीं हैं...

समझ नहीं आता इन कटी पतंगों को कैसे बटोरूँ और फिर कौन -सा लंगर खोजूँ...

- यह एक साथ मौत की-सी पीड़ा, उसकी रौ में आहिस्ता-आहिस्ता सरकते, तमाम नया रूप धारण करते पुराने एपीसोड तथा चुभते मंज़र...उन्हीं मंज़रों के बीच मलयज की ऊपर टकटकी बाँधें चिन्तन मुद्रा...घर की दीवारों से सीढियाँ नापती, छत तक मँडराती एक आवाज- 'देखो, तुम्हारी तरह मैं भी अकेला पड़ गया हूँ...तुम परिवारहीन हो और मैं परिवार में हूँ... तुम्हारे चारों तरफ एक बिना पहचाने चेहरों की चीज़ है और मेरे चारों तरफ अपने ही पहचाने चेहरों की भीड़। पर तात्विक दृष्टि से उस भीड़ के अकेलेपन में कोई फर्क नहीं'।

उनकी गहन धकधकाती पीड़ा में चिपका मेरी समस्याओं का पहाड़ रोज़ मेरी दहलीज पर आकर अड जाता जिसे ठेलने में रात हो जाती मगर पुनः सुबह उससे भेंट का सिलसिला हो जाने का मेरा भीषण संघर्ष... किसी (और) के बूझने, समझने के लिए नहीं रहा...दो फासले, एक देश दूसरा परदेश। मगर हम दोनों क़रीब एक ही सच, एक ही भीषण वास्तविकता के भुक्तभोगी। हम दोनों ने एक दूसरे का चेहरा देखा था, बारीकी से चेहरे की रेखाओं की व्यथा पढ़ी, एक दूसरे का अकेलापन बूझा था तथा जीवन की उस त्रासदी को भी महसूस किया-- विचारों के धरातल पर

भी-जिसकी तेज़ धार में हम फेंक दिए गये थे बेदर्दी से, अलहदा- अलहदा तरीके और भिन्न-भिन्न धरातल पर...

सत्ता का तन्त्र तो हम दोनों के ही सिर की तलवार थी...

....पिछले इतिहास की ओर मुड़ने पर सबसे धुँधभरा अजीबोगरीब नक्शा साक्षात होता हैः मोहतशिमगंज (इलाहाबाद) की तीन पाये पर खड़ी दुःखदायी, अन्तर्विरोधी, सन्त्रासमयी दुर्घटनाओं से साँस भरती गली...कैसा असर डालती पूरे वजूद में-इसकी फ़िल्म समय के अन्तराल के साथ आहिस्ते-आहिस्ते और कभी झटके से तमस-मय होती गई...

यहीं था हमारा तीन मँज़िला किराये का मकान और उससे सटी एक धूसर मस्जिद। दिन में पाँच बार 'अल्ला हो अकब' की पाँच आजानों की बुलन्द आवाज मकान गुँजा कर झटके से एकदम खालिस खामोशी में डुबा देंतीं।...

मोहतशिमगंज मुहल्ले में कम पढे लिखे लोग और जाहिलों की तादाद ज़्यादा थी। ...हिन्दु मुलमान के मिलेजुले उस मुहल्ले में आये दिन अजब-अजब घटनाएँ घटतीं। हादसे ज्यादा होते- वीभत्स, भोंड़ें, अश्लील और मानव हत्या तक।

ऊपर कहा न कि वह गली जहाँ नाली में धँसी कोई लाश दिख जाय तो आश्चर्य नहीं...या अकस्मात किसी भले सज्जन का दिमाग फिर जाय और वे नाली से कचरा बटोर कर सिर पर धर चलते नज़र आएँ तो भी गली के लोगों की संवेदना में फर्क नहीं पड़ता सिवा उत्सुकता के।

मुहल्ले में बैजनाथ पण्डा की सबसे ज्यादा धाक थी। सामन्ती, पण्डिताऊ धर्म के अन्ध पालक जजमानों की सिफ़त से पण्डा जी मालामाल होने के अहँकार का परिचय वक्त-वक्त देते- अपने दरिद्र किरायेदारों का तरह तरह से शोषण करने में रत्ती भर चूक न होती। वे अपनी आलीशान हवेली में बाईजी लोगों को नचवा कर रँगरेलियाँ मनाते हुए भी अपने 'जजमानों' के आगे पूज्य बने रहे। हवेली के उस संगमरमरी चबूतरे पर जहाँ नाच गाने और पीने- पिलाने की महफ़िल जमती, वहाँ आम लोगों का प्रवेश निषिद्ध होता। फिर भी इक्का दुक्का लोगों में कुछ पहुँच ही जाते लुके-छिपे। हमारे पिता प्रतिष्ठित लोगों में गिने जाते, अतः उनके लिए भी निमन्त्रण होता। एकाध बार शायद मलयज भी गये नाच देखने की उत्सुकता लेकर मगर तुरन्त लौट भी आये। वह वातावरण उनके मन माफ़िक नहीं था।

होली-दिवाली-रामलीला गम ग़लत करने के सच्चे बहाने होते। उबाऊ रोज़मर्रे के ढर्रे में गहमागहमी पैदा कर आपसी मनमुटाव पर धूल डाल सबको खुश रहने की एक दो दिनों की इजाज़त बख्श देते। इन त्योहारों में खास कर दशहरे की रामलीला के वक़्त पण्डा की भूमिका अहम रहती। राम-लक्ष्मण-सीता की मखमली सजी-धजी चमाचम चौकियाँ जो पथरचट्टी से शुरू हो हमारी केंचुएनुमा गली से गुजरतीं तो राम-लक्ष्मण-सीता के दर्शन करने को फटाफट खिडकियाँ खुल जातीं, तमाम नये, पुराने चेहरे उन से लटक जाते, फूल मालाएँ बरसायी जातीं उन त्रिमूर्तियों पर; उनके अदभुत कलात्मक शृँगार से लोगों की आँखें जुड़ा जातीं...ढमढम ढोल बजते। बैल भारी सजी हुई लकदक चौकी ढकेलते...शृँद्धानत निगाहें उधर नहीं जातीं... आखिर वे बैल ही तो थे, भले भगवान लोगों को अपने कन्धे पर धारे हुए हों..। चौकी के भगवानों की पूजा करने के अधिकार में, त्रिमूर्तियों की चौकी सिर्फ़ बैजनाथ पण्डा की हवेली के आगे रुकती।

तब वैसे पावन हँगामें में वह मनहूस गली फड़क कर, फुरफुरी छोड़ कर, रोमांचित हो उठती...फिर धूम धडाके, उदास खोमोशी में गर्क हो जाते...त्योहारों का किया सिंगार गली के मुख से छूटने में देर न लगती...

मलयज ने बैजनाथ पण्डा और उनके बिगड़े नवाबों की बाबत लिखा नहीं। यदि उनके स्वभाव पर निगाह डालें तो बात साफ़ हो जाय कि वे खामोश और गम्भीर तबियत के जीव रहे और मेरी तरह मुहल्ले का चक्कर नहीं लगाते थे, फिर शोरशराबे भी तो उनके लिए बेहद परेशानी का सबब होते क्योंकि शोर उनकी विचार शृँखला को खण्डित कर सकते थे और मलयज यह खतरा नहीं चाहते थे, तो आश्चर्य नहीं लगेगा। वे हद से हद रामलीला मैदान में जाते या अपने मन माफ़िक घुमक्कड़ी करते, आमतौर पर अकेले या कभी-कभी शिवकुटी लाल वर्मा या मामा को लेकर। मेरी घुमक्कड़ी मलयज से अलहदा किस्म की होती। प्रतिक्रिया में भी फर्क। मेरी संवेदना में तो मुहल्ले का महीन से महीन विस्तार आ कर जम जाता। मेरे ऊपर प्रश्न उठाये जाते, मलयज का सब कुछ जायज होता।

मलयज ने भी अपनी संवेदना के भीतर अपने ही मौलिक तरीके से उस समय की, इलाहाबाद शहर की (विरोधाभासी) वास्तविकता को भोगा और उससे रचा। मैंने शायद उनसे कुछ अधिक ही उस गली के रहस्य को देखा, समझा क्योंकि घर से कामकाज के लिए, छोटी बहन (नीलू) को घुमाने या सिर्फ़ गली से बाहर साफ़ साँस लेने के लिए या पैदल तीन मील तक महाविद्यालय जाने के लिए मुझे ही निकलना होता जब कि मलयज दरवाज़े के पास कुर्सी लगा कर बैठे गली का नज़ारा करते जो भी निगाहों के सामने आ जाय।...

दिल्ली जाने के बाद वे फिर इलाहाबाद नहीं लौटे रहने के लिए। हालाँकि इलाहाबाद के अनुभव उनके लिए नौस्टाल्जिक होकर याददाश्त में भिदे रहे। उनके साहित्यिक जीवन की शुरूआत इलाहाबाद में ही हुई थी।

- मानस में चलते द्वन्द्व से मलयज का निस्तार नहीं हुआ। वह द्वन्द्व दो धरातलों का थाः एक उनका अपना सन्त्रास भरा जीवन और दूसरा उनका साहित्यिक संघर्ष। लेखन मलयज का ठोस और प्रबल मुकाम था। उनकी मनसा के लिए एक तरह से सुरक्षित। इसके लिए उन्होंने अपने अस्तित्व से लहू की एक एक बूँद निचोड़ कर दी।

अर्थहीन सुविधा में जीना उनका भूले से भी कोई लक्ष्य नहीं था। दूसरों की सुविधा के लिए वे आकुल रहते। अपनी औलादों को सही भविष्य देने की खातिर अपनी जॉन दाँव पर लगा दी। मगर दूसरे लोग उनके अन्तर में चलनेवाली व्यथित, उदास एवं तनहाई ग्रस्त तस्वीरों की ओर कभी झाँकने की दरकार से आँख पर पट्टी बाँधे रहे। अपने लिए उन्हें कहीं सूकून नहीं। उल्टे अपने अकेले के लिए सूकून या चुटकी भर सुख पा लेने का जतन भी उन्हें अपनी ही स्वार्थी हरकत प्रतीत होती...ऐसे सूकून के कई अवसर उन्होंने खो दिये-मेरी अपनी तरफ से कोशिशों के बावजूद। अपने दिल की बात साझा करने के लिए एक मैं ही रह गयी थी उनके लिए। अफ़सोस। अपना अकेलापन अपनी मानसिक, आर्थिक परेशानियाँ, माँ की बीमारी से त्रस्त, उनके लिए ज़्यादा कुछ न कर पाने का अपराध बोध; चन्द साहित्यकारों की गैरईमानदार बेरूखियाँ, अपने भ्रमण के अनुभव, मेरे लेखन पर टिप्पणियाँ, मेरा उत्साह बढ़ाने के लिए कुछ सुन्दर बौद्धिक राय और मुझसे मेरी रचनाओं की निरन्तर माँग (जो मैं हर बार पूरा न कर पाती अपनी दौड़भाग और समय की कमी में मन केन्द्रित न कर पाने के कारण) और कविता और लेखन कर्म की निस्बत उपयोगी सुझाव, मार्क्सवाद पर मेरी जिज्ञासा का उत्तर और लैटिन अमरीकी आन्दोलनों पर अपनी सुथरी टिप्पणी आदि तमाम बातें उनके लम्बे पत्रों में होती।

घर में बौद्धिक माहौल का अभाव उन्हें सालता, मगर उसे बनाने में कोई योग न देते। घर के सदस्यों के प्रति अक्सर उनके विचार बदलते। रिश्तों की आपसी टकराहट -जैसे जलकुण्ड में पत्थर फेंका जाय और पानी फट जाय...फिर पानी अपने मूल स्तर पर आ जाता है थोड़ी देर हलचल मचा कर...उसी तरह रिश्ते भी आपस में टकरा कर अपनी

जगह वापस लौट आते...उनकी टकराहट परिस्थिजन्य और स्वभावगत दोनों होती है। जब जटिल परिस्थिति झेलने की सामर्थ्य नहीं होती तो भीतरी झल्लाहट बाहर आ जाती है...। रिश्तों की बाबत मलयज में तल्खी के बजाय ज़्यादातर गहरी उदासी और पीड़ा है, कभी सधा हुआ व्यंग्य भी। कुल मिला कर मलयज ने दूसरों के साथ ज़बरजस्ती नहीं की, उन्हें समझने की कोशिश की अपने जीवन के मध्यकाल में। खास कर जीवन की सन्ध्या में।

अपने बच्चों के प्रति ममता होने के अलावा एक पिता की जिम्मेदारी इतनी गहरायी से महसूस करते गये कि उनकी शिक्षा-दीक्षा और भविष्य की चिन्ता उन्हें मौत के दरवाजे पर ढकेल गयी उन्हीं औलादों के लिए मकान बनाने की चिन्ता उन्हें खा गयी।..वही उनकी औलादें जो आज अपने पिता का नाम तक नहीं लेतीं, उन्हें पिता का सम्मान करना, उन्हें स्मरण करना तक सिखाया नहीं गया...वही बाबा का कुलदीपक पोता जो अपने पिता की पोट्रेट पर उनकी मृत्यु तिथि (वर्षी) के दिन फूल चढाने से इनकार कर देता है...उसका और उसकी बहन का भविष्य बनाने की चिन्ता में उनका एकमात्र फेफड़ा फट कर अग्नि की भेंट हुआ...

उनके आदर्श बड़े थे। अपने १६ जुलाई १९७८ के पत्र में वे मुझे लिखते हैः 'तुमने जो छोटी-छोटी चीजों में सुख तलाशने की बात लिखी है, मुझे अच्छी लगी अर्थपूर्ण और बड़ी... मगर मैं उसमें ज्यादा सफल नहीं हो सका। मैंने हमेशा छोटे की नहीं, बड़े की कामना की है-एक असम्भव आदर्शवादी हद तक...' वे उस माहौल के लिए अनुपयुक्त थे जो, उनसे चाहता तो सब कुछ था पर देने के नाम पर उनकी तकलीफ़ को पूछना और समझना तक नहीं, 'आसपास कोई दुःख बँटाने वाला नहीं' ही उन्हें कहना पड़ा। जो माँगें वे खुद पूरी नहीं कर सकते थे, उसे वे दूसरे से भी नहीं चाहते थे...जो वे चाहते थे, उसे दूसरे से पाने की उम्मीद नहीं पालते। जिस तन्त्र में वे ईमानदार काबलियत से रोज़ी-रोटी कमाते थे, उसने भी उन्हें उपेक्षित कर रखा था, उनसे कम योग्यता वाले उनके नीचे काम करने वाले, उनकी सलाह पर काम करने वाले, वे तिकड़म भिड़ा कर सत्ता की लल्लूचप्पू कर के उनसे ऊँचे पद पर पहुँच गये और मलयज अपने उसी सीढ़ी पर बिठाये रखे गये अपने सरल व्यवहार और काम में खूब लायक होने के बावजूद। इस अन्याय को भी वे पी गये लेखन की खातिर जो दरअसल, उनका असली कोना था अपने आप से साक्षात्कार का। कम वेतन में तमाम खर्चों को ढोना उनके जैसे एक फेफड़े के जीव के लिए बेहद भारी न था क्या? वह तो उन्हें समूचा लील गया।

मलयज की तनहाई उनकी रचना प्रक्रिया के बीच सफल रूप लेती गयी क्योंकि वहाँ दिलचस्पी के साथ उन्हें सामने आयी चुनौती के आगे सीधे भिड़ जाना होता था... वही उनकी राहत भी होती। वे सही और अच्छा लिखना चाहते थे। उसके पीछे कोई और महत्वाकांक्षा नहीं रही। यश की भी नहीं। उन्हें अपनी दैहिक कमियों का इतना गहरा अहसास था कि व्यक्तिगत जीवन की असली समस्या पर धीमा हाथ ही रखा, उसकी दिशा बदल कर मज़बूती देने की जैसे उनमें हिम्मत ही न हुई। हाँ, उनका मानस खूब चलता था गति के साथ। उनके साहित्य संसार की कुन्जी उसी से खुलती थी न... जीवन की खोज का उनका तरीका ही एकदम अलहदा होता और मौलिक। अपनी पीड़ा के लाचार शिकार होने की मंशा में कभी नहीं रहे- इतनी गरिमा थी उनमें। शोहरत के वे मुहताज नहीं थे।

अपनी मनसा खोलने के लिए, एक अलहदा तरीके से जीने के लिए कविता उनके लिए एक सुरक्षित जगह रही। एक किस्म का पीड़ामय स्वर्ग भी... अपने देश,.. परिवार में तो वे अपनी छोटी सी कामना तक व्यक्त कर पाने की सम्भावना नहीं पाते...। उनकी बाहरी सुरक्षा कितनी भुरभुरी थी ...जीवन की परनिर्भरता कितनी तल्ख़, कितनी विषैली हरकत है... उनके अपने जीवन के तीखे विद्रूप की तस्वीर अक्सर वैसी है जैसे रेशमी कपड़े पर पत्थर का

आघात...जो रेशम को फाड़ नहीं सकता ...

आँतरिक सुरक्षा का एक ही मुकाम था- कलम और कह्पी- अंतरंग रूप के एकमात्र संगी साथी।

..तब तमाम मंज़र, तमाम छवियाँ घेर घेर कर मुझसे सवाल उठातीं है: मलयज क्या अपने लेखन में कोई किला तोड़ने चले थे जो उनके स्वप्नभंगों का, हताशाओं का तथा असमंजसों एवं (शारीरिक) असमर्थताओं के कठोर पत्थरों से गढ़ा गया था? मलयज ने क्या अपना चेहरा खुद ही तलाश किया? उनके अपने भी जवाब हैं...वे काफ़ी नहीं हैं। हो भी नहीं सकते।

-बुद्धि अगर परास्त हो गयी तो श्रद्धा अन्धविश्वास में बदल जाती है- किसने कहा था? उनकी बुद्धि तो कभी परास्त हुई नहीं...

- मगर मेरे सामने तो उनके साथ बिताये आखिरी घण्टे, अन्तिम दिन ही शेष हैं, पछतावे में पिन्हा...

पछतावा? वह तो राजा विक्रम के बैताल की तरह कन्धे से चिपका हुआ है...।

गतिशील स्मृति चित्रः चन्द पैने से मंज़र

मोहतशिमगंज १४७ के घर का बड़ा कमरा। कमरे में चारों तरफ तपेदिक की बीमार गरम महक...बिस्तर पर लाचार, निहायत कृश तनवाले भइया के मुख से उगला जाता भलभलाता खून...तसला भर जाता...पास खडी प्रेमा खून भरा तसला उठा कर धोती है और साफ़ तसले में डिटोल डाल कर पुनः बिस्तर की बगल में रख देती है। मलयज निढाल पड़े रहते हैं काफ़ी देर तक...फिर मुझसे तकिया उपर उठवा कर उठ कर अधलेटे हो जाते हैं । उनके नीले पड़ गये चेहरे पर अधबुझी-सी निगाह चारों तरफ दिवारों का फेरा लगाने के बाद खुली खिड़की पर टिक जाती है...देर तक । बोलने में उन्हें कष्ट होता है, इतने कमजोर हो गये हैं...हाथ-पाँव सुन्न से.. मलयज में अन्न का टुकडा मुँह तक ले जाने तक की ताकत शेष नहीं। प्रेमा उनके होठों के बीच अन्न या अँगूर के दाने डालती है जिसे वे ब- मुश्किल चुभलाते हैं...। मलयज का माथा बुखार से तप रहा है...प्रेमा उनके माथे पर ठण्ढा गीला तौलिया रखती है... कमरे में दूसरा कोई नहीं आता गर्भवती माँ को मनाही है नीचे के कमरे में आने की। पिता अपने काम के सिलसिले में सारे दिन बाहर। दफ़्तर जाने से पहले बेटे का हालचाल देख जाते हैं और शाम को दवा, इन्जेक्शन आदि खरीद कर रख जाते हैं मलयज का माथा सहला कर। वे बहुत चिन्तित हैं। प्रेमा को मलयज की देखरेख की हिदायत दे जाते हैं। कमरा तो किसी के लिए भी, बल्कि करीब सभी जनों के लिए 'भीतर प्रवेश करना मना है' हो गया था। प्रेमा पढ़ाई छोड कर, भइया की सेवा, शोभा-नीलू की देखरेख तथा घर का कामकाज सम्भालने के लिए घर में ही है।

उन दिनों मलयज की बीमारी का खामजा पडोसी सहेलियों का घर न झाँकने की धमकी पर चुकाना पड़ता; 'तुम्हारे घर छूत की बीमारी है, यहाँ न आया करो' सहेलियों की माँएँ, भाभियाँ ,चाची आदि गुस्से में भर कर मना करतीं। बेहद पीडा होती उस निर्वासन से। मगर अपने घर में किसी के आगे प्रेमा ने इस बाबत जुबान नहीं खोली। उधर मकान मालिक जो मकान से सटी मज़िद के भी मालिक थे और खुदा के आगे दिन में पाँच बार सिजदा करने में एक दिन भी न चूकते, मकान का किराया अदा करने में देर हो जाने पर पिता के वायदे और सारे तर्क की ओर से कान में ठेठी डाले और दिल सुन्न किये दरवाज़े के सामने खरी खोटी सुनाने से बाज़ न आते...

oo

…मृत्युंजय पाठ के लिए बाबा ने गाँव से एक पण्डित भेजा (गरीबी में आटा गीला करने..)। पिता के शंकित मन ने डर कर अपना विश्वास उन पर धर दिया। नाटे, काले, झुकी रीढ़, पिचका सूखा चेहरा, चीमड़ और कुबड़े तनवाले भुटके से पण्डित जी, धोती का पछोटा बाँधे, अधमैली गंजी पहने जब नमूदार हुए तो अपना तो दिल ही धसक गया… पण्डित जी हमारे हाथ का कच्चा खाना नहीं खाएँगें, सिर्फ़ पूरी, पराठा सब्जी, खीर ही खा सकते हैं हमारा पकाया। बाबा ने गाँव से असली घी भेजा पण्डित जी के हवन और उनके भक्षने के लिए…। अपना दिमाग कुढ़ा मगर करती क्या? पण्डित जी ने अपनी झुलसी खाल के सहारे मृत्युंजय पाठ प्रारम्भ किया… लोहबान की तीखी गन्ध के बीच पण्डित जी हड़बड़ मन्त्रोच्चार के अनजान शब्द बड़बड़ाते हवन में घी डालते हैं… मगर एक भी शब्द स्पष्ट नहीं। पण्डित जी मृत्युंजय जाप करने के लिए किसी विचार की ज़रूरत से बाहर हैं…। बस वे पटापट मन्त्र बुदबुदाते भइया के शरीर पर फूँक मारते जाते हैं… भइया के कमरे में चौबीस घंटे, हवन कुण्ड जलाए दिन भर मन्त्र पढ़ते रहेंगे अगर-धूम जलाते हुए…सारा कमरा धुँए के मेघ से भर गया है। किसी को ये समझ नहीं कि भइया के फेफड़े उस ज़हरीली गैस को पी कर किस मृत्यु पर विजय पाएँगे…!

भइया का खून उगलना बन्द नहीं हुआ।

समूचा एक महीना। मलयज की अदम्य जीजिविषा ने उस भीषण कर्मकाण्ड के निषेधात्मक परिणाम को भी झेल ही लिया खून उगल उगल कर…

ooo

उबड़खाबड़पन

समय मेरे बचपन का ही है- मलयज मुझ बालिका पर 'उबड़-खाबड़' का खिताब चढाए हुये थे। मुझे पता ही न चल पाया कि वह उबड़खाबड़ कोई व्यंग था या मुझे चिढ़ाने का कोई गुर या आलोचना, कोई खीझ या फिर ममता का बेढब इज़हार।

मेरा उबड़खाबड़पन था क्या? मैं अपने दिमाग़ पर ज़ोर देती हूँ। क्या अभी भी वह उबड़खाबड़पन सपाट नहीं हुआ?

क्या था मेरा उबड़खाबड़पन?

---मोदी की दुकान से एक किलो चना लाने के बजाय दो किलो बोल आना; भिखारी की झोली में मुट्ठी भर अनाज या बासी रोटी के बजाय चार-पाँच सिंकी रोटियाँ या कटोरा भर- भर चावल दाल डाल देना; बजबजाती सड़ी गर्मी की चिलचिलाती दुपहरिया में गली के दूसरे छोर पर बने एक आँगननुमा मटियाले मैदान में गुट्टी खेलने निकल जाना; बाबा के गाँव की अमवारी के सबसे ऊँचे आम के पेड़ की डाल पर बैठ कर ऊँचे स्वर में कोई राग अलापते सो जाना…फिर बाबा की कड़ी सज़ा से बचने के लिए अनाज की कोठरी में घुस कर डर के मारे नींद का सहारा लेना; गाँव की एक खोखेनुमा कोठरी में अकेली,(थायरॉयड रोग की बीमार) घेघा वाली एक पड़ोसिन बूढी परदादी को दोपहर में चुपके से अपने हिस्से का खाना ले जाकर दे आने के लिए बाबा के मकान के पिछवाड़े की टूटी दिवार लाँघ, बाजरे का खेत पार करना…मेरा उबड़खाबड़पन रहा होगा। जब मैं बालिका थी तो कबड्डी खेलने का, पडोसिन के घर झूला झूलने का या रस्सी कूद खेलने का नशा सा था। उसमें भी लौटने में देर होती ही। या फिर हिवेट रोड (इलाहाबाद) की पटरी पर बाँस के मंचों पर सजी छोटी-छोटी दुकानों का यूँही चक्कर लगा आना; या फिर किसी

मकान के चबूतरे पर बैठ आसमान का मुजरा करते मन में उगते तमाम झाडझँखाड़ सवालों से भिड़ना, पीसना, उन्हें मसलना,भूनना और उछालना... भटकी आत्माओं की पड़ताल करना और अस्तित्व सम्बन्धी सवाल कि 'मर कर मैं कहाँ जाऊँगी'...वगैरह के ऊन उधेड़ना और लपेटना...और अन्त में इन प्रश्नों के नतीजे में झौवा भर मायूसी लेकर घर लौट आना.., पडोसिन बँगाली माँ जी के कड़ुवे मिजाज के बावजूद, उनकी बेटियों - मुन्नी, बूतू- के साथ, उनके ठाकुर जी के कमरे में (जो सैकड़ों मूर्तियों से सजा-गुजा था) पालथी मार कर (खास कर दुर्गा पूजा के काल में) रतजगा करते, बंगला भजन गाना... हफ़्ते में एक दिन उपवास करना...यही सब शायद मेरा उबड़खाबड़पन रहा होगा जो बड़े भइया की पैनी निगाह से गुज़रता रहा होगा। भइया कुछ कहते, पूछते नहीं, सिर्फ़ एक नाराज सी कनखी से देख (जो मेरा दिल धसकाने के लिए काफ़ी होती) या जिज्ञासा भरी नजर मुझ पर डाल कर अपनी किताब पर झुक जाते। शायद ठाकुर चाची का (जो मुझे 'भोलानाथ' का खिताब पहनाए हुईं थीं) मुझसे पूछना : 'अरे, तोहके का भइल कि मुहवाँ पर घण्टा बजल ह?' उनके कान में पहुँचता होगा।

मलयज अक्सर चिड़चिड़ा जाते बहनों की 'नासमझी' पर, यानी उनकी निडरता पर। वे हमारी एक आदर्श छवि बनाने या देखने की कामना में होते। अगर उनकी कसौटी पर खरे न उतरते तो वे हमसे कोई हवाला भी तो न माँगते! यह बात मुझे अखर जाती क्योंकि अगर वे कोई सफ़ाई माँगते तो उन्हें साफ़ साफ़ बताने की हिम्मत आ जाती और बात का खुलासा हो जाने से हम सभी के दिल से बोझ हट जाता। कुछ बड़े हो जाने पर दोनो बहनें अपनी एक दो गायिका सहेलियों के संग नाव यात्रा पर निकल जाते जिसमें अक्सर घर लौटने में देर हो जाती। हम ऐसी वैसी हरकत भी कहाँ करते थे; उस जमाने में हमारे घर फोन कहाँ था कि कोई सूचना दे पाते ।

मेरा एक और उबडखाबडपन रहा होगाः मैं उन दिनों चुप्पा थी और हँसी मेरे होठों के नज़दीक आने में सकुचाती थी, मगर जब सचमुच हँसी आती तो पटाखे की तरह फूटती, जिसे उस ज़माने में नारी जाति के शील के लिए बेहयायी मानी जाती। सिर नीचा करके चलना सिखाया जाता जो कि मेरी कोशिश के बावजूद सम्भव नहीं हो पाता। वैसे आमतौर पर मेरे मुँह में-मलयज की ही तरह- धागे पड़े होते मगर उनका धागा उनके गम्भीर स्वभाव का एलान था और मेरा! कोई किसी बालिका से पूछता था उस वक़्त कि क्यों?..

धागे ज़बान में होते मगर कल्पना की पतंग आसमान में ऊँचे-ऊँचे पहुँचने को बेताब रहती...मलयज इसे बखूबी बूझते क्योंकि वे- खुद कल्पना की पतंग उड़ानें में माहिर, मेरी पतंग के धागे पर मुस्करा देते।

यही सब मेरा उबड़खाबड़पन रहा होगा।

वैसे अभी भी मैं अपने भीतर का उबड़खाबड़पन ढूँढ रही हूँ...

...और शायद मैं अपने उबड़खाबड़पन को समेटने में लगी...अपने को बाहर से व्यवस्थित करने की तैयारी से शुरू कर...(पारम्परिक) सलीका और सुथरेपन की ओर कुछ अधिक ही खिंचना था...यानी मुझे अपना ऊबड़खाबड़पन समतल करने के लिए अपने को बाहर से सँवारना था...भीतर की घटना को दरकिनार कर! मुश्किल काम। (आज भी वह उबड़खाबड़पन घटाने की प्रक्रिया जारी है अपने भीतर, हालाँकि हर बार उसमें विफल हो जाती हूँ)

कहीं ज़बरजस्त आशावादिता भी थी मेरे भीतर। मलयज मेरी किसी भी जटिल परिस्थिति में अपराजित आशावादिता से वाक़िफ थे। साथ ही कूढमगज़ मनुस्मृति का लकीर का फ़कीर समाज के पितृसत्तामक भेदभाववाली वृत्ति के विरुद्ध

चलनेवाले मेरे भीतर की विद्रोही ज्वाला से परिचित हो रहे थे मगर वे खुले रूप में उस समाज की मारक मान्यताओं का विरोध नहीं कर पाते। वे उस वक्त स्वयं भी उसी समाज की कसौटी को कुछ- कुछ सही समझते थे। पिता का दबदबा उन पर था ही। मेरी समझ से उनमें पिता के प्रति एक गहरी कृतज्ञता की भावना भी रही (क्योंकि पिता ने अपनी भीषण आर्थिक समस्या में भी बिना हार माने मलयज के प्राण बचाने की कोशिश में कोई कसर न छोड़ी)। मगर उन दिनों उनके दृष्टिकोण में लचीलेपन की कमी ने अपनी दोनों बहनों के प्रति प्रत्यक्ष सहानुभूति नहीं दी। जिन दुर्दशाओं में हम जी रहे थे, उससे उबरने की कोशिश करने, हमारे अपना रास्ता खुद बना के विचार को समझे बगैर वे कुढ़ते रहे। हमसे गलती हो सकती थी (हुई भी) मगर कौन जीवन की सही भविष्यत गणना कर सकता है? (यह सही है कि छोटी बहन का स्वभाव चिड़चिड़ा, अपने ही स्वार्थ के दायरे में बँधा रहा और उनके विकास की सम्भावना उनके जीवनसाथी ने ही दबा दी) भइया ने कभी पूछा तक नहीं कि हमें क्या हुआ और क्यों हम अपना भविष्य खुद बनाना चाहते थे। उन्हें उत्तर मिल जाता और वे अपने को उस कदर न मथते। उनका मन हल्का होता और हमसे खुला, सहज सम्वाद बन सकता। मगर उन्होंने कोशिश ही नहीं की समझने की कि हमारे किशोर मन में क्या घट रहा था तथा हम परिस्थितियों के सिमसिमें अन्धकार में कौन-सा रास्ता टटोल रहीं थीं.. कि किशोर मन अपरिपक्व होता है इसलिए उससे भारी भरकम आदर्श की आशा नहीं की जा सकती। पर उन्होंने उस वक्त हमारे संघर्ष से काफ़ी कुछ अपनी आँखें बन्द कर रखीं या शायद अपने को ही धोखे में रखे रहे। वे हमारे प्रति अपने ही उत्तर से प्रतिबद्ध थे जैसे उन्हें हमारे प्रश्न- उत्तर से सरोकर ही न रहा हो। काफ़ी बाद में उन्हें लगा कि इस सम्बन्ध में कितनी निर्मूल धारणाएँ रहीं उनकी। मगर उस वक़्त रूढ पारम्परिक दबाव के तहत मानव मनोविज्ञान के विरोध में कोई जैसे समझना ही न चाहता हो कि सबका सत्य एक ही नहीं होता और सत्य की छोटी-बड़ी हर तरह की अभिव्यक्ति होती है कि कोई सिद्धान्त मनुष्य को पूरी तरह परिभाषित नहीं कर सकता, न सबकी मनोरचना एक किस्म की होती है। इस तथ्य को वे बाद में समझे इलाहाबादी वातावरण से निकलने के पश्चात। वरना पी. के बारे में अपनी डायरी में इतनी अन्तर्विरोधी टिप्पणियाँ भाई साहब न लिख गये होते। (जिसके पछतावे का संकेत उन्होंने बाद में दिया)। मुझसे उन्हें सबसे अधिक स्नेह रहा शायद इसीलिए उनका हथगोला भी मेरी ही तरफ आता था। उनकी कसौटियाँ मेरा गला घोंटतीं थी। उनके चुप्पे स्वभाव नें प्रत्यक्ष संवाद में छड़ें लगायीं। इससे कुछ डर लगता था। फिर भी वे उम्मीद पालते कि सब उन्हें समझें, तो कहाँ सम्भव होता। तब वे अपने ही मुँह पर पर तमाचा जड़ते। उस वक़्त उन्हें चेतना न रही होगी कि मनुष्य होने के नाते हम सभी आधे अधूरे हैं, कुछ सफ़ेद, कुछ स्याह; कि हम पूरी तरह न उजले होते हैं न पूरी तरह अन्धकारमय। उस समय के धुँआदार कडुए माहौल को फाड़ कर साफ़ करने की कामना और एक सेहतमन्द जिन्दगी की दशा के लिए संघर्ष करना कोई अपराध न था न कोई अतिचार। अपनी आत्मकेन्द्रीयता में उन्हें भान ही नही हुआ कि पी. का बाहर ज़ाकर नौकरी करने या पढ़ाने का काम करने के विचार के पीछे सबसे पहले परिवार को आर्थिक संकट से उबारने की शुद्ध भावना के साथ, किसी ध्वंसक अदृश्य धुँध को चीर कर, अपने को आध्यात्मिक दिशा की ओर ले जाना था। वैसे भविष्य क्या कोई मुट्ठी में बाँध रखने की चीज़ है?

पी. के दिल्ली जाकर नौकरी की तलाश का फ़ायदा पहले मलयज को ही हुआ। मगर तब तक बड़े भइया की तरफ से विचारात्मक उत्साह भी कहाँ मिला!

बाद में उन्हें लगा कि कितनी निर्मूल धारणाएँ उनकी पी. के बारे में रहीं! पी. के बारे में ही सबसे ज़्यादा अपनी डायरियों में लिखा। पी. को ही परिवार में सबसे ज़्यादा मानते थे, उसी को वे परफ़ेक्ट देखना चाहते थे, शायद इसीलिए उसी के आगे तोप-गोला भी रखा, अपने ही अन्तर्विरोध के तहत। एक तरफ पी. को वे 'पवित्र, निश्छल,

दृढ' और 'तेजस्विनी' बता देते हैं तो दूसरी तरफ उस पर शिकायतों की चिप्पियाँ भी लगा देते। एक तरफ उनकी यह बहन प्रतिभाशालिनी लगती है तो उसके बाद ही कुछ विरोधी शब्द लीप दिये जाते हैं उस 'तेजस्विनी' तस्वीर पर। 'एक शादीशुदा गृहणी' (इसी रूप में वे मुझे देखने की कामना करते थे) इसके विपरीत होने पर वह युवती 'मानसिक बीमारी' मान ली जाती। उन्होंने तब यह नहीं सोचा कि एक इन्सान ताखे की देवी या देवता नहीं बन सकता सिर्फ़ प्रार्थना पूरी करने की खातिर यानी दूसरों की ज़रूरतों और कामनाओं की पूर्ति का परपेक्ट साधन बन कर! दरअसल उनके मानसिक विकास की सीढ़ियों की पड़ताल करते हुए कहा जा सकता है कि अपने इलाहाबादी वक़्त में, रोगग्रस्त भाई अगर स्त्री स्वातन्त्र के पक्ष में नहीं थे तो उसकी वज़ह होगी कि समाज की बनी बनायी परिपाटीवाली तस्वीर ही उन्हें तसल्ली दे सकती थी और बड़े भइया के उत्तरदायित्व से मुक्ति। बाबा की मान्यताओं और उनकी बीमारी के तहत कर्ज़ से लदे पिता का दबाव तो था ही उन पर अपने-अपने ढँग से।

उन्होनें काफ़ी बाद में अपने अन्तर्विरोध को पहचानते हुए लिखाः 'मुझे कभी-कभी लगता है कि मैं अन्तर्विरोध का शिकार हूँ और सभी चीज़ें आपस में उलझी हुई हैं'।ये अन्तरविर्रोध वस्तुजगत के उतने नहीं जितने आत्मगत हैं उनकी अपनी हालत की अशक्तता के कारण। अन्तर्विरोध सिर्फ़ भावात्मक नातों में ही उजागर हुआ, उनके साहित्य में नहीं।

मलयज भीतर से जटिल रहे और बाहर से सरल यद्यपि गम्भीर। उनकी गँभीरता से अनेक लोग सहमते थे बिना उनके कोमल, उदार संवेदनशील हृदय को समझने की चेष्टा किये जिसका मलाल मलयज को एक हद तक रहा।

यूँ बड़े भइया को हम बहनों के प्रति एक नैतिक जिम्मेदारी का अहसास था। ऐसा भी नहीं कि वे पूरी तरह रूढिगत विधि-निषेधों के प्रति आश्वस्त ही थे- गली का माहौल कुछ ऐसा भदेस, ऐसा रद्दी था कि उन्हें डर लगा रहता कि हम किसी मुसीबत में न फँस जायँ। मुहल्ले के बशिन्दों में न केवल कम पढ़े लिखे, या जाहिलजन ही थे, उसमें एकाध शोहदे, लफँगे भी बसे थे जो आये दिन स्कूल जाती लड़कियों से छेड़छाड़ करते। मगर मुझे बचाव करना आता था निडर होकर। मैंने इसीलिए लफँगों की शिकायत तक न की। अन्दर ही अन्दर नरवादी और हिपोक्रेट समाज के प्रति नफ़रत सुलगती ज़रूर।

अनेक दृश्यों में एक पिछला दृश्यः

ड्राइंग रूम के मुख्य दरवाज़े से सटी कुर्सी पर बैठे बड़े भइया कुछ लिख रहे हैं।

और रह रह कर उनकी चमकती आँखें ऊपर उठ जातीं हैं- दाहिनी तरफ एक ब्लॉक दूर छज्जे की ओर चिन्तन की मुद्रा में...

किताबें ज़्यादातर अँग्रेज़ी की। शायद वे टॉल्सटॉय का 'अन्ना कारेनीना' पढ़ रहे हैं।...मैंने शीर्षक देखने की उत्सुकता में उधर झाँका तो मुस्की मार कर बोलते हैं,'अभी तुम्हें इसके लिए कुछ और अँग्रेज़ी सीखनी होगी और दिमाग. को परिपक्व होना है'।

मैं हाईस्कूल के पहले साल में थी। मलयज भइया से अंग्रेज़ी में मदद चाहा तो उनका सुझाव आया कि मुझे अँग्रेज़ी की कहानियाँ पढ़नी चाहिए और जो शब्द न समझ आये तो डिक्शनरी में उसके अर्थ खोज़ूँ, सिर्फ़ ग्रामर से अँग्रेज़ी नहीं आती।

कुछ और बड़ी हो जाने के बाद भइया और मैं पिता की समाजिक मान्यताओं को लेकर उलझ पड़ते यद्यपि कम-। एक दिन भइया ने बड़ी समझदारी की बात कहीः हर पीढ़ी के अपने संस्कार होते हैं जो उसे विरासत में मिले होते हैं। हमारे विचार, उनके विचार एक नहीं हैं, जैसे उनके विचार बाबा के नहीं हैं। हमारे पिता की मान्यताएँ उनके अपने जमाने और संस्कार की हैं। हम उन्हें मिटा नही सकते। उन्हें मिटाने की चेष्टा वैसी ही होगी जैसे उन्हें(पिता) बीच के काट देना... हम अपने वर्तमान परिवेश और विचारधारा की उपज हैं तो उनसे भिन्न होगें ही। हमें सिर्फ़ ये सोचना है कि उन्होंने हमें जीवन दिया, पालापोसा और उसके लिए संघर्ष किया, अपना कुछ उत्सर्ग भी करना पड़ा उन्हें। वे हमें प्यार करते हैं। तब हमें उन्हें प्यार और सम्मान देना है, बजाय उन पर अपनी कसौटी रखने के।...

मैं उस समय तो मलयज के तर्क से सहमत हो गयी मगर एक 'किन्तु' रह ही गया मुझमें...

सन् १९६३ रानीखेत की यात्रा

मुझे अपनी पुस्तक 'महाकवि घनानन्द' से एडवान्स में मायाप्रेस से पैसे मिले हैं..। खर्च करने का यही बेहतरीन तरीका, मौका सूझा। भइया, अग्नेष्का, विजय सोनी और मैं। एक नरेन्द्र दीक्षित नाम के चित्रकार, पत्नि और छः महीने की बच्ची के साथ मिल जाते हैं हमारे साथ किराये का कच्चा मकान शेयर करने को। हम सभी घुमक्कड़। उजली रात में घूमने का कुछ खास मज़ा होता। अग्नेष्का पोलिश साहित्य और पोलैण्ड की राजनैतिक- समाजिक स्थिति पर बातें करतीं तथा दीक्षित कला पर बहस करते। मैं दोनों को सुनती। भइया मलयज हमेशा कुछ नोट करते रहते। या अग्नेष्का से प्रश्न शैली में अनेक तरह की बौद्धिक चर्चा करते। मैं किसी चट्टान पर बैठ कर अपनी डायरी रँगती या बाँग्ला के गीत गाती, या अग्नेष्का के साथ दूर तक घूमती बतियाती चली जाती। मगर एक दिन काफ़ी रात हो गयी और हम रास्ता भटक गये। बडी मुश्किल से एक झोपड़ी दिखी जिनके उदार बशिन्दों ने गुड़ की चाय से हमारी ठिठुरन कम कर हमें अपने मुक़ाम तक पहुँचने का रास्ता बताया। दिल में डाँट खाने की धुकधुकी लेकर झोपड़ीनुमा उस कच्चेघर में पहुँचे। सब परेशानी में गर्क थे हमारी अनुपस्थिति से। उनके राहत की साँस ने हम दोनों युवतियों का डर रफ़ादफ़ा किया।...

कलकत्ते की एक भारी भरकम काव्य गोष्ठी में मुझे कविता पढ़ने का(पहली बार) निमन्त्रण मिला। अभिभावक के रूप में मलयज मेरे साथ गये। वहाँ मलयज को मेरे असली तेवर का पता चला...और वे खुश हुए। घटा कुछ अनपेक्षित ही ...काव्य सम्मेलन (जिसमें साहित्यकार डॉ. प्रभाकर माचवे भी निमन्त्रित थे) की समाप्ति पर हम सब कवियों की बुलाहट, सम्मेलन के आर्थिक खर्च में सहयोग देनेवाले, एक करोड़पति मारवाडी सेठ के आलीशान मकान में हुई। दुबले,पतले सुटुक्के, सूखे आलू जैसा चेहरा, गाव तकिया लगाये एक आँख पर(अमरीकी फ़िल्म के खलनायक का आभास कराती) काली पट्टी, और अखबार पर- बाजारभाव की ओर- सरसराते काँटे की मानिन्द- दूसरी आँख गड़ाये काफ़ी देर तक मेहमानों की ओर तवज्जह देने से बेखबर। क़रीब १५-२० मिनट बाद जब हमारी उपस्थिति की ओर सँयोजक महोदय ने अतिशय विनम्रता से उस अमीरजादे का (जिसका मेदा जरूर खराब रहा होगा) ध्यान खींचा तो 'अरे हाँ'! कह कर उन्होंने ठेठ मारवाड़ी नाश्ते के साथ चाय मँगवाई। उस समय मेरी आयु जुम्मेजुमा १८ साल की। और सबसे ज्यादा संकोची। जीभ जला डालनेवाला तेज़ तला मारवाड़ी नाश्ता पेश करवा लेने के बाद उन 'बोनसायी सेठ जी सब कवियों को नोट का बैना बाँटने का श्रीगणेश किया...जब मेरी पारी आयी तो मैंने नोट लेने से बेधड़क इनकार कर दिया...मेरा चेहरा सुर्ख और तमतमाया देख कर सेठ महोदय मारवाड़ी टोन में चौंके,' अरे!

आप तो हमारा बेटी समान हैं, ले लीजिए। आखिर परेशानी की क्या बात है इसमें'। मेरा मन हुआ कि बोल दूँ, हम कोई मरभुक्खे भिखमँगे हैं या कुत्ते- बिल्ली जिनके आगे आप कागज़ के ये टुकड़े फेंक रहें हैं उस करोड़ीमल मारवाड़ी की नोट बाँटने की अश्लील हरकत तथा आसीन कवियों की सिर झुका कर लालच से उसे थाम लेने की हरकत पर मुझे उबकाई-सी आने लगी थी...(ग़नीमत थी कि माचवे जी वहाँ नहीं थे) मैंने उनके दुबारा, तिबारा आग्रह को भी नामँजूर कर दिया और उन्हें चकित-भ्रमित छोड़ कर सीधे मलयज का हाथ पकड़, उन्हें उठाया और सीढ़ियों से फटाफट उतर गयी। उपस्थित जन आँख फाड़े हमें तकते ही रह गये।

सन् १९८०। विदेश से मेरा पहला भारत आगमन। कनॉट प्लेस। अपने साथ की महिलाओं को उनके होटल छोड़ कर मैं मलयज परिवार की खोज में बढ़ती हूँ। जनपथ पर एक ढाबे के पास मलयज भइया, सरोज दोनों बच्चों के साथ मेरे इन्तज़ार में खड़ें हैं...मैं लपक कर भइया के गले जा लगती हूँ...वे इतने दुबले और कमज़ोर हैं कि मैं ही उनका भार सँभालती हूँ...। दोनों बच्चे भी हमारे साथ लिपट जाते हैं...

आखिर सी-१२ मॉडल टाउन।

सीढ़ियाँ ऊँची-ऊँची हैं.. भूली नहीं हूँ पर इतने समय बाद उन पर चढ़ना अजीब लगता है...

माँ की खाट के पास बैठ कर माँ का हाथ थामती हूँ सहलाते हुए...माँ पहचान जातीं हैं कि किसका हाथ है... वे भाव विह्वल हो रोने लगतीं हैं...'रोओ मत माँ, प्रेमा आ गयी है तुम्हारे पास' मलयज का काँपता स्वर!

... मैंनें और नीलू ने माँ को कुर्सी पर किसी तरह बिठा कर नहलाया। उन्हें एक लाल पाड़ की सुन्दर-सी साड़ी पहनायी, उनके बाल काट-छाँट कर मैने अच्छे से कँघी कर माथे पर सिन्दूर का टीका लगा दिया...माँ का चेहरा सुन्दर हो आया है... 'कितनी सुन्दर है मेरी माँ' मलयज बुदबुदाते हैं और उन्हें निहारते थकते नहीं।

...अब मैंने एक नन्हा-सा रंगमंच रच डाला... अस्मिता के बाल शेम्पू से धो कर अच्छी तरह कंघी से सँवार कर चमका दिया...बच्ची के धुँधले से चेहरे पर कान्ति और लावण्य एकदम निखर आया। मैंने अपनी लाई फ्रॉक पहना दी उसे और एक टैंग्गों संगीत का केसेट लगा कर अस्मिता का हाथ पकड़ उसे ताल लय सिखाती उसे नचाते हुए नाचने लगती हूँ... बिटिया रानी कुछ शर्माती, हँसती नाचती है..सरोज दरवाज़े के पास प्रसन्न खड़ी यह मनोरम दृश्य ताकतीं हैं कौतूहल और उल्लास से...।.भइया सुखी भाव से आँखों में चमक लिए मुस्कराते हैं... वह मुस्कान बेटी के चेहरे की नयी उछाहभरी मुस्कान है...बच्ची अकस्मात् लाज भूल कर खिलखिला पड़ती है...मलयज मुग्ध हैं उस पर...

...रसोई में जाकर सरोज को कुछ नये ढंग का पकाना सिखाती हूँ जिसे मलयज संतोष के साथ देखते हैं...। हिन्दी बोलने में मेरी जबान अक्सर कुछ लड़खड़ा जाती है, स्पेनी के शब्द बीच में भीगी लता की तरह पड़ जाते हैं... तब मैं हिन्दी फटाफट बोलने का अभ्यास करने लगती हूँ जो शायद भइया को अच्छा नहीं लगता...

मैं सोचने लगती हूँः

मलयज के अन्तरमन की दो दुनिया रहीः साहित्यिक विचारों की, दूसरी, व्यक्तिगत सम्बन्धों की जिसमें पीडा, सन्त्रास, आत्ममन्थन की उमड़न-घुमड़न अहरह रही। उनके पत्रों में अकेलेपन और फ्रस्ट्रेशन का ज़िक्र कई बार आया है।

मानस में द्वन्द्व था, मगर उसका एकतरफा समाधान ही उन्होंने हासिल करने की कोशिश की। उनका दाम्पत्य जीवन डाँवांडोल तथा असुखी रहा,पत्नि की अनेक कामनाओं को पूरा करने की कोशिश कर के भी अपनी तरफ से उन्हें अपने संसार का कुछ सिखाने का या बदलाव लाने का भी तो कोई खास जतन नहीं किया अपनी जिम्मेदारी के प्रति सचेत होते हुए भी। करते भी तो वास्तविक संवाद की भूमि तैयार ही कहाँ हो सकती जब प्रयत्न एक तरफा हो... सुख शान्ति तो अपना कमाया तत्व है, अपने आप नहीं मिलता। और उसमें पासवाले का सहयोग अनिवार्य है। मैंने उन्हें कई बार लिख कर उस बाबत अपने सुझाव लिखे, उससे उन्हें कुछ फ़ायदा भी हुआ। मगर बात आगे नहीं बढ़ी। उन्होंने दूसरों के स्वार्थ से परिचालित पीड़ा से बचने का लिए अपने पर चोट की, हकीकतन, यह तरीका दूसरों को चोट से बचाने की खातिर भी था। उनका स्वप्नभंग अधिकंशतः अपने परिवार के सदस्यों को लेकर ही रहा जो उनसे अधिक अपेक्षा तो रखते थे (खासकर जब वे परिवार का भार सँभालने लायक हुए), बगैर उनकी लम्बी बीमारी के तहत क्षय होती देह की सीमा समझे हुए, अपनी तरफ से उन्हें कुछ देने के ख्याल से काफ़ी दूर। परिवार में एकमात्र माँ ही उनके कसकते हृदय की राहत थीं। उनकी भावनाओं में माँ एक बन्दरगाह थीं, जहाँ वे अपनी व्यथा टिका देते...। पिता के प्रति वे कृतज्ञता के बोझ से दबे, उनके विचारों, और भावुकता से सहमत न होते हुए भी उन्हें उदारता से समझने की कोशिश करते और उनका पूरा सम्मान करते थे। सिर्फ़ इसलिए ही नहीं कि पिता ने उन्हें जीवित रखने के लिए अपना सब कुछ दाँव पर लगा दिया था, बल्कि अपने वेदना सम्मत विवेक को सहानुभूतिशील संवेदना में जोड़ कर, उन्हें जीवन के भुक्तभोगी अहरह रूप से संघर्षशील व्यक्ति के रूप में जिसने घोर समय में भी आशा का पल्ला नहीं छोड़ा- महसूस कर।

परिवार से वे किसी न किसी रूप में वे हमेशा जुड़े रहे ,चाहे वह उनके सन्त्रास की वजह ही क्यों न हुआ हो...

उनका साहित्यिक संसार ज्यादा सुरक्षित था, उसमें उनका आत्मविश्वास अखण्डित रहा। इसलिए भी कि वे मूल रूप से आदर्शवादी थे। अपने आदर्शवाद की व्याख्या वे इन शब्दों में करते हैं' असम्भव की चाहना आदर्शवाद ही है..पर मैं अपने आदर्शवाद की पहुँच देख सकता हूँ। मेरा आदर्शवाद एक बहाव, एक सेण्टीमेंट नहीं है। वह चीज़ों को देखने और महसूस करने की मेरी दृष्टि है'... 'यह मेरे स्वभाव का अंग बन चुका है। तब मैं संसार का एक सफल व्यक्ति नहीं बन सकता।' (मलयज के पत्र प्रेमा के नाम)

मलयज अपनी जटिल गुम्फित मानसिकता से बराबर उलझते रहे। हालाँकि अपने गम्भीर स्वभाव के बावजूद उनमें चुटकुलों के शगूफे छोड़ हँसा देने का भी गुण रहा।

मगर आनन्द रूपम् अमृतम (आनन्द ही अमरता का रूप है) में वे कभी न जा सके।... कि आनन्द की अनुभूति जीवन को लम्बा करती है, कि सुख और शान्ति कमाया हुआ तत्त्व है... मगर मलयज के लिए व्यक्तिगत सुख एक असम्भव चीज़ हो गयी थी। वे निहायत तनहा व्यक्ति रहे। एक तनहाई रचनाकार के लिए ज़रूरी होती है, उससे अलहदा एक अन्य किस्म की तनहाई भी जो उन्हें छटपटाहट में रगड़ देती थी...

कुछ दृश्य रह गये हैं जो पता नहीं मेरे अलावा किसी और को घेर सकते हैं या नहीं..पता नहीं...

...रेलगाड़ी दूसरे शहर की ओर सरसर बढ रही है...मुझे लेडीज कम्पार्टमेण्ट में सीट मिली, किन्तु मलयज के लिए कोई सीट रिज़र्व नहीं। हर बार रिज़र्वेशन नहीं मिलता। भारतीय रेलगाडियों में टी.टी का रिश्वत ले कर सीट देना रोज़मर्रे की हरकत है। मगर मैं घूस के इतनी खिलाफ़ हूँ कि पूरी रात खड़े खड़े भी यात्रा कर लूँगी मगर मेरी जेब से

एक कौड़ी भी नहीं निकलेगी। मगर भइया तो गैलरी में काँपते से खड़े हैं दिवाल का सहारा लेकर... उन्हें बुखार है... मुझे एक उपाय सूझाः मैंने अपने कम्पार्टमेण्ट की महिलाओं से बेहद नम्र होकर अर्दास की कि मेरे भाई बीमार हैं और बुखार से लस्त तो मेहरबानी कर उन्हें मेरी सीट पर लेटने की अनुमति दे दें। महिलाएँ दयालु थीं।

...मैं मलयज के सिर पर पानी की पट्टी रख रही हूँ उनका सिर अपनी गोद में लेकर। उनका माथा जल रहा है।...

.... इलाहाबाद... कानपुर...लखनऊ...उज्जैन। मलयज भइया एक एक पल मेरे साथ बिताना चाहते हैं। उन्होंने दफ़्तर से छुट्टी ले रखी है इसके लिए...शायद उन्हें अहसास हो रहा है कि मेरा साथ अन्तिम साथ है...उनके साथ हर यात्रा में ही जैसे एक आखिरी सलाम मौजूद रहता...

सचमुच ऐसा ही तो घटा...

उनके ६ जून १९८० के पत्र में उनका एक वाक्य दिल सरसरा देनेवाला हैः 'इस बीमारी से लगता है कुछ बुनियादी रूप से बदल गया है। समझ नहीं पाता कि क्या। लगता है मैं पहलेवाला नहीं रह गया हूँ'। शायद आनेवाले पौने दो साल और चार दिन की स्याह ध्वनि थी..

शायद मलयज की अपने से बाहर होने की इच्छा के कई रूप साक्षात न हो कर एक किस्म से फ्रस्ट्रेशन में तब्दील हुए।

.. रसूलाबाद की गंगा का सुदूर कच्चा घाट...मैं नदी में कूद पडी सलवार-कुरता समेत... और तैर रही हूँ पानी के भीतर सिर डाल कर... इतना ही तैरना सीखा... जल में कुछ अधजली लकड़ियाँ कोयले समेत बह रहीं है मेरी बगल से। मन कुछ सन्नाटे में आ गया एक जली लकड़ी जब मेरे माथे से टकराई... मलयज भइया मेरे तैरने पर निगाह रह रह कर गड़ा देते। गंगा की ईंट के रंग की सन्ध्यामयी लहरों पर उनकी बुखार से तप्त आँखें मौन भाव से ठहरी रहीं.. मलयज भइया ने गंगा के पानी से चुल्लू भर, मुँह धो लिया है बस। वे कुछ काँप रहें हैं मगर तकलीफ़ को धोखा देकर वे मुझे पानी से निकलने का इशारा कर रहे हैं... मैं, अचानक उनके विषादग्रस्त, बुखार से तमतमाये चेहरे को देख तुरन्त पानी से बाहर आ जाती हूँ। घाट का पण्डित हमारे माथे पर टीका लगाने को कह रहा है...भइया नम्रता से सिर झुका टीका लगवा लेते हैं और मुझे भी आग्रह से लगवाते हैं जैसे वे आखिरी हिन्दु रिवाज़ को पूरा कर रहे हों... वे मखौल से कुछ मुस्कराए भी शायद अपनी इस हरकत पर जैसे कह रहें हों 'देखो हम कैसे पीछे जा रहे हैं जनाब!...' मगर मुझे उनकी पूरी धजा में निरीहता दिख रही है...लगता है उन्हें मालूम हो रहा है कि उनका जीना अब उनके हाथ से तेज़ी से खिसक रहा है...और वे अपने इन आखिरी दिनों में कुछ सुखी से पल जी लेने की कोशिश में हैं' भले ये क्षण मामूली और क्यों न हों...

शाम हो रही है...ठण्ढ बढ़ रही है नदी की शह पाकर...

मेरे सामने उनके साथ बिताये अन्तिम घण्टे हैं जिसमें तमाम कोशिश के बावजूद घरघराती शाम बादल समेत प्रस्तुत हो जाती है...

...एयरपोर्ट पर शमशेर जी, पिता और मलयज- तीनों जैसे अपराधी की मुद्रा में खड़े हैं एक दूसरे से मुँह छिपाते ...

आखिर मुझे पुनः अपने देश लौटाने की तरतीब कहाँ गुम हो गयी?...

वह दृश्य फिर कभी दुहराया न गया...पाँव छूने को मैं झुकी हूँ...पहले मलयज भइया के, फिर पिता के..(मैंने बचपन से अब तक सिवा इन दोनों और माँ के कभी किसी और का पाँव छू कर प्रणाम नहीं किया)।

कोई बोल नहीं रहा...शमशेर जी के होंठ कुछ काँप रहें हैं बोलने की चेष्टा में मगर बोल नहीं पाते...। पिता की आँखें गीली और हाथ आशीर्वाद की मुद्रा में मेरे सिर पर।

और भइया मलयज गुमसुम...चेहरे में जैसे साँझ का सूरज डूब रहा हो तेज़ी से...

... जैसे वे श्मशान घाट से लौटे हों...या वहाँ जाने की तैयारी में हों...पूरी धजा भभूत हो उठी थी...मलयज बेध्यानी में किसी अन्य क्षितिज में रह रहे थे...

वह हमारी आखिरी भेंट थी...। अन्तिम विदा भइया से।

ये दृश्य भुलाए भूलते हैं क्या भला? बारबार मानस में प्रस्तुत हो जाते हैं...

पिछले इतिहास के बहुत सारे मंज़र हैं ...चलती फिरती या मूक छवियाँ हैं...

और गली एक अजीबोगरीब नक्शा है जीवन स्थितियों के उतार-चढाव को झेलती, सँभालती ,चरमराती हुई..बिना बैल की बैलगाडी..

मई १९८२

दफ़्तर से लौटने के तुरन्त बाद पढ़ाना...फिर जल्दी- जल्दी खाना पका कर बेटी को खिला देने के बाद रात को साढ़े नौ बजे अपना ध्यान मेज पर रखे हरे रंग के अन्तर्देशीय पर जाता है जिसके पीछे लिखा है- अनिमेष ठाकुर (जिसे अपनी व्यस्तता में खोलने की जल्दीबाजी न की)। पत्र खोला...पहली ही सतर : 'बड़े मामा नही रहे, स्वर्गवासी हो गये'... कितना सीधा वाक्य है- 'नहीं रहे'.. दिल पर गाज गिरी...अन्दर ज्वालामुखी फूटी और उसके तप्त लावे में (भावना के) तमाम पंछी लिथड़ गये... शुरू में एक तेज़ पीड़ा तेज़ नशे की तरह चढ़ती कि उस तीव्र प्रलापी नशे में पीड़ा का यथार्थ ही गुम हो जाता...फिर एक गहरी अँधेरी खायी जिसके बंजर अँधेरे में चारों तरफ आँखें, चेहरा, गर्दन, हाथ-पाँव भाँज-भाँज कर हाँफ़ता रहा मेरा अदना सा अस्तित्व.. (पता नहीं क्यों लोग मुझे प्रौढ़ कलेजेवाली धैर्यमती, सन्तुलित प्राणी मान गए!)...

अब ढ़ेर सारे रक्त लथपथ कटे-जले पंख मेरे अन्तरतम में तपते फड़फड़ा रहे हैं...

मलयज नहीं रहे...मेरे लिए अब उनकी कोई चिड़िया नहीं बची जो सात समुन्दर पार कर इस नीम अँधेरे मकान में उनके कीमती लफ़्ज़ों का रेशमी सूत्र रखने फिर कभी आएगी...अपने साथ तो वे आगत की सारी माया, सारे, प्रतीक, सारे बिम्ब, सारी ऋतुएँ समेट ले गये...

वह रोशनी बुझ गयी जो महीने दर महीने, साल दर साल मेरी जलावतनी में मलयज भइया ने जला रखी थी..और

मैंने आदि मानवी की भाँति सँभाल के रखी...उसी बुझे तमस खण्डहर में सिर धुनते आगामी कबूतरों की तड़फड़ाहट जारी है...

पछतावा और अपराधबोध पूरे अस्तित्व पर आरी चला रहा है...उन्हें कितनी शिद्दत से मेरी ज़रुरत थी और मेरी मजबूरियाँ और भारी भरकम दूरी दुश्मन बन गये...अभी पिछले हफ़्ते ही उनका खत बता गया था- मेरी शक्ति चुक रही है... मगर तुम आ जाओ तो सब ठीक हो जाएगा,... इस वाक्य के सही हिज्जे उस वक्त न कर पाने पर कितना बड़ा धक्का है सीने के बीच उस अनुरोध को पूरा न कर पाने की लाचारी पर! हज़ारों मील की भौतिक दूरी और दो फासलों के बीच विराट सागर...फिर दौड़भाग..भीषण व्यस्तता के बीच मैंने सही हिज्जे नहीं किये, नहीं कर पायी गहरे विश्वास के ज़ोर पर कि उनके जीवन के दिन और पल गिनने का समय तेज़ी से चुक रहा था और वह कामना आखिरी कामना थी!... कि मनुष्यता की खरी कसौटी पर उतरनेवाली एक संपूर्ण हस्ती इस एकमात्र ठोस धरती, जीवन की धड़कन से सम्पूर्ण पृथ्वी से नाता तोड़ कहीं किसी वायवी दुनिया में बस यूँही चली जाएगी!...एक बड़ी गहरी आस्था और विश्वास में सुराख डाल कर एक सम्पूर्ण सेमी गॉड सा- मानव, वह भी इतनी कम उम्र में जब उसकी प्रतिभा रचना के चरम शिखर पर पहुँच रही हो! ...न न सँभव नहीं कि वह बस यूँ ही, एक प्रार्थना की तरह अन्तरिक्ष में समा जाएगा...! मुझे जीते रहने का अहसास करनेवाले सम्वादों का सिलसिला खत्म एकदम से! सिर्फ़ एक वाक्य में समाहित- 'बड़े मामा जी नहीं रहे!'

अब न मैं धरती पर न आसमान पर न ही अधर में...तब कहाँ रह गयी मैं अब?

मेरे पास खोने के लिए अब क्या रह गया?

क्या यही उपसंहार रह गया?

समय के अँधरी सुराख में कोई बेहद क़ीमती हस्ती गिर गयी...मैं क्या करूँ?

(मेरी सन् ८२ की डायरी से)

यानि अब कभी मेरी दिशा का संकेत करनेवाला, मेरा नैतिक बल बढ़ा कर मुझे जीते रहने का भरपूर अहसास दिलाने में कमी न करनेवाला, कवि कर्म एवं साहित्य सम्बन्धी सुझावों से उत्साह से भर देनेवाले उनके लम्बे ख़तों का सिलसिला समाप्त हमेशा को! यह अकस्मात के तर्ज पर उस बहुमूल्य जीव का तप्त माथा सहलाने की इति!...

मलयज का रचना संसार

मलयज रचना के प्रति प्रतिबद्ध लेखक थे। इस प्रतिबद्धता को वे इन शब्दों में कहते हैं- 'एक अच्छा प्रतिबद्ध लेखक कभी अन्तिम सत्य की बात नहीं करता। वह होने की (जिसे सत्य के एक अर्थ में लिया जा सकता है) सम्भावना पेश करता है। इसी से कला को Real की अपेक्षा Imaginary कहा गया है'।

'होने' यानी सत्य बताने की अनुभूति को सही दिशा देना होता और इसके लिए नैतिक विवेक पर उनका खास आग्रह होता।

मलयज ने अपनी स्थिति जस्टीफ़ाई करने के लिए नहीं कहा कि 'जीवन, जीवन से ही सन्तुष्ट नहीं रहता, तब कला की रचना करता है, यह मान लिया गया कि जीवन की कुल आग जीवन के पानी से नहीं बुझेगी, उसके लिए एक

दूसरे ही पानी की ज़रूरत है और वह है कला। इस तरह कला जीवन के बाहर की चीज़ है गोकि उसे रचा जीवन ने ही, अपनी ज़रूरत पूरी करने के लिए' यानी उन्होनें कला की सच्चाई को उद्घाटित करने की पहल की जीवन के सन्दर्भ में।

रचना की दरकार के बाबत मलयज का अपने ही भीतर के मँथन से उभर कर सतह पर आया अनुभव का यह अँश एक सन्देश है-'समय एक सागर है और कौन जानता है कि इसमें डूबते मनुष्य के जीवन को एक तिनके का सहारा अनिवार्य हो जाय। कला उस डूबते मनुष्य के लिए -समय के उन्नत सागर में-सहारे का एक तिनका है।' (पृष्ठ ११५) यह वाक्य मलयज पर शायद सबसे अधिक लागू हुआ।...

मलयज की ज़िन्दगी दो बिन्दुओं में विभाजित हो गयी थी-परिवार और लेखन। दोनों में संतुलन तो सम्भव हुआ नहीं, पर लेखन में वे एक तरह से रिलैक्स होते रचनात्मक तनाव के भीतर ही। अपने को कुछ सार्थक पाते। लेखन उनका असली संतोष का मुकाम था। मगर लेखन में भी वे कभी कम्पीटीशन में नहीं आये।

कला के प्रचार से मलयज दूर रहे। अपनी बात को सही तौर पर रख देने में ही उनका बड़ा सन्तोष था। अपनी रचना पर अपने को भी परखते गये। सख़्ती के साथ। निहायत सचेत और सावधान रचनाकार के रूप में। वे अपने को कहीं फ़िसलते नहीं देख सकते थे।

मलयज के पास आधुनिकता की तरह नैतिकता की भी निजी मौलिक परिभाषा थी।

अगर कहें कि 'होने की सम्भावना' समझने के लिए मनुष्य के सत्य में अपने को समूचा ढ़ाल लेना होता है इस तरह, मनुष्य को समझना अपने मनुष्य होने में इज़ाफा कर लेना है। रचना-कर्म पर, सम्वेदनात्मक प्रबुद्धता की यह ज़िम्मेदार शर्त सबसे ज़्यादा लागू होती है। यह समझ तब सम्भव नहीं होती जब जीवन को किसी फ्रेम में जड़ दिया जाता है। बने बनाए दायरे में जकड़ कर किसी किस्म का जोखिम न उठाना पड़े के मकसद से। यह जोखिम न उठाने की वृत्ति पर सभी आगत सम्भावनाओं का रास्ता कट जाता है। मलयज ने इसे ही 'बौना जीवन' कहा है और 'बौने जीवन से कविता नहीं बनती'। उन्होंने 'बौना जीवन' की परिभाषा भी यों कर दीः 'कर्म क्षेत्र की विविधता का सँघटन न करने से बौना जीवन बनता है- कर्म की दिशाएँ, दिशाहीन कर्म नहीं' कह कर कर्म के अर्थ का भी खुलासा कर दिया ताकि इस सम्बन्ध में कोई मुगालता न रह जाय। रचना की प्रक्रिया में 'अनुभूति की सीमाएँ खोलना' की बात कह कर वे अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हैं' ताकि स्मृति में जो बन्द है वह पिघले और बह कर धरती को चूमे' यथार्थ के प्रति -कविता के यथार्थ के प्रति- उनका विचार है कि 'यथार्थ सौन्दर्यबोध से कटा हुआ न हो न नैतिक चेतना से'। मलयज का मत है कि कविता का अपना रचा हुआ यथार्थ होता है जो जिये हुए यथार्थ से ही आता है। मगर दूसरे रूप में।

सत्य के वास्तविक रूप से साक्षात करने के यत्न में तमाम सवालों से जूझते हुए उनकी मानसिक यात्रा अन्त तक जारी रहती है एक बार शुरू होकर। उनकी आस्था का रूप भी बदलता है, वह आस्था (उनकी पहलेवाली) पारंपरिक आस्था से अलहदा अपना कमाया तथ्य है।

तभी वे कहते हैं कि कोई रचना रचनाकार से बड़ी नहीं होती तो कथन का उद्देश्य यही समझ में आता है कि रचना

रचनाकार के अपने जीवन के निचोड़ से उद्‌भूत सौन्दर्यबोध की पूरी ज़िम्मेदारी निभाने पर टिकी हुई है। कि रचना रचनाकार के जीवन से अलहदा कोई चीज़ नहीं है।

इसी बुनियाद पर, मलयज दूसरों के घटना क्रम को अपने घटना क्रम के आइने में एक ऐसी भाषा में रखते हैं जो दूसरे को उसके अपने जीवन के निष्क्रिय प्रयास की याद दिला कर सचेत कर दे कि ईमानदारी से कर्म करते हुए ही कर्म में अर्थ की निष्पत्ति होती है। लेखक के लिए तब देश, समाज, परिवेश का यथार्थ, रचना का यथार्थ बनता है। अच्छे लेखक का काम पटाखे छोड़ कर गड़गड़ाहट पैदा करना नहीं है। कभी भूले भी मलयज की सोच को यह बेहूदा तथ्य छू तक नहीं पाया। अपने जिए- भोगे यथार्थ के परिप्रेक्ष में दूसरों के जिये- भोगे यथार्थ का संयोजन रचना का आधार होता है। रचना की भाव-भूमि इन्ही दो यथार्थों से रची जाती है जो रूपान्तरित होकर, रचना के सँसार में फलित होती है। मलयज रचना के प्रति अपनी ज़िम्मेदारी को बेहद गहरायी और विस्तार से परखते थे। रचना के प्रति अपना दायित्व वे एक सफल कलाकार के रूप में भाषा के कुशल शिल्पी होकर पूरा करते रहे अपना सर्वस्व दाँव पर रख कर। अपने रक्त की एक-एक बूँद लेखनी में भर कर।

अपने २०/८/७८ के एक पत्र में (हालाँकि मेरे ही सन्दर्भ में) उनका वाक्य हैः 'संघर्ष जितना बड़ा होगा उसकी क़ीमत भी उतनी ही बड़ी होगी'। यद्यपि उनके सँघर्ष की क़ीमत इतनी बड़ी निकली कि उन्हीं को निगल गयी...

मलयज की रचना किसी प्रचार की मुहताज नहीं रही। उसकी गुणवत्ता ही पाठक को आश्वस्त करती थी। उन्हें प्रकाशकों की चकल्लसबाजी का भी भान था/ राजनीति में उनकी पहचान को कभी इश्तेहारी शैली में रखने की दरकार न थी। वे इश्तेहार के गलत या नाकाम नतीजे से अवगत थे। आम तबके की बेबसी में दबी वेदना और अभाव की चोट उनकी सँवेदना को भीतर तक खुरचती थी।यह चोट उनकी कविता और कहानी दोनों में व्यक्त है। उनका विरोध व्यक्ति से नहीं उस सत्ता से था जो दिन दूनी रात चौगुनी वाली अपना सुरसा बदन बढ़ाती, -सीधी सादी जनता को भी भोगवाद के खड्ड में ढ़केलती- इश्तेहारों पर आसीन, बाज़ारवादी सभ्यता की साँठगाँठ में आम आदमी को असली ज़रूरतों से वंचित कर, उसे वैश्वीकरण के (दगाबाज़) सब्ज़बाग की ओर सरकाती अपनी पाँचों उगलियाँ हमेशा के लिए घी में डुबाए रखने की लिप्सा में रहती है...

मलयज ने एक सिद्धहस्त निपुण सुनार की तरह जिसमें सबसे बारीक छेनी से मन मुताबिक डिज़ाइन गढ़ने की लगन होती है,उसी लगन के साथ उस आम आदमी की हैसियत कला के तख़्ते पर रखी, निजी प्रतीकों और बिम्बों के ज़वाहरातों को मौलिक तरह से जमा कर। आम आदमी की ज़रूरत और भावनाओं के संग खेल करने की आदी, सियासत जिस तरह स्याह रंग से उसके जीवन की लीपापोती कर, उसे अपना सिर ओखली में ही रखने को विवश करती आई है... उसकी शकल उन्होंने ने रखी है। जैसे मलयज का चुन्नीलाल इनमें से एक है।।

(ताक़तवर और कमज़ोर का सनातन रिश्ता भी कितना विचित्र और टेढ़ा है!..)

...उन्होंने ज़बान जैसे खोली ही नहीं पर सब कुछ कह डाला...ऐसा आभास दे गये।

००

साहित्य एक ऐसी खिड़की है जहाँ से ताज़ी हवाएँ हरी- हरी हो गुज़रतीं हैं और वह सब कुछ भी जो अप्रिय लगे... खिड़की के सामने जो भी गुज़रे वह सब खिड़की में समाए-चाहे वह बगीचा हो, पतझड हो, तूफ़ान हो,मछली की

टोकरी सिर पर धरे मछुआरिन हो, मूँगे की माला बेचती किशोरी या कोई भीषण दृश्य जैसे तेज़ बाढ़ में पानी की तेज़ धार का झोपडी समेत एक शिशु को निगलना...या कोई नरम दृश्य जैसे वर्षा के बाद पेड़ के एक पत्ते से पानी की बूँदों का टपटप गिरना खूब धीमी गति से...

कवि-लेखक के लिए ये सब घटनाएँ अहम हैं। इन घटनाओं को बटोरना, सँवारना और घटे हुए यथार्थ से कुछ अलहदा मगर मुकम्मिल रूप गढ़ लेना और उसे पाठकों में बाँट देना, एक उत्तम कलाकार की सिफत होती है। ऐसी रचना का कोई युग-काल नहीं होता, सिर्फ सन्दर्भ होते हैं। (सन्दर्भ शब्दों का घर है) हर समय में कुछ नया घटा, पुराना टूटा। आज भी क्या पिछले पूर्वग्रह टूटे हैं (आधी ही सही)? मलयज ने अपने समय में ही यह सवाल भी उठाया था नये कवियो के संदर्भ में। 'नये नये' का नारा दरअसल पुराना हो चुका है। आम आदमी शब्द नारा बना लिया गया है-एक फ़ैशनेबुल शब्द। कवि स्वयं आधुनिक हुए बगैर अपने लेखन में आधुनिकता का ढ़िंढ़ोरा पीटता जा रहा है। हाथ में मोबाइल और कान में डिस्को म्युज़िक का तार लगा होने से कोई आधुनिक नहीं बन जाताा। जीने की रीति और लिखने- सोचने की रीति में खाई तो अब भी है। क्या है 'आज' की आवाज़? जीवन की धारा सहज कहाँ रही। राजनीति चक्रव्यूह बन गयी है, सीधे सादे आदमी के लिए जो हमेशा सियासत की तराजू पर (या फाँसी पर) चढ़ा दिया जाता है.. उसमें हीन ग्रन्थि डालना बाज़ारवादी सँस्कृति के बाएँ हाथ का खेल है। निष्क्रिय आक्रोश में खुदकुशी पर उतर आना कोई विशेष दुर्घटना नहीं रही। यह सच कर्ज़ों से लदे किसानों में आम हो चला है, इसी अत्याधुनिक वैश्वीकरण के युग में! फिर अपनी ही भाषा में अपने समय को अभिव्यक्त कर उसे जनों तक पहुँचाने के रस्ते में ही तमाम बाधाएँ- जिसमें सत्ता की पटरानी व्यवसायिक अँग्रेज़ी भाषा धमकी भरा कोड़ा घुमाती रहती है। देशी भाषाओं को अपनी चाकरनी बनाने के पूरे जतन में...तब अपनी भाषा के सहज व्यवहार पर ही शर्म आने लगी है लोगों को.. .उन्हें अहसास दिलाया जा चुका है कि अर्थ-तन्त्र की धुरी, अतः शिक्षा- व्यवस्था का सूत्र भी, अँग्रेज़ी भाषा के हाथों में ही है। दोमुखी साँप के कालिया नृत्य में बेसुध साहित्यकार कब सन्तुलन खो देगा- इसे कौन बता सकता है... जन समानता का नारा लगानेवाले वामपन्थी भी अँग्रेज़ी को ही वर्चस्व देते रहे हैं, अपने सिद्धान्त के प्रचार के लिए। वे तथाकथित, घोषित ढोंगी अंग्रेज़ीवादी जिन्हें सिर्फ़ अपने सिद्धान्त के विज्ञापन और कॉफी हॉउस में नियमित दुहराव के साथ किसी भी राजनैतिक सत्ता पर (जो उनकी पार्टी का न हो) गाली-गलौज का ही कचरा फेंकने की दुर्दम आदत हो बजाय किसी रचनात्मक सार्थक योजना की रूप रेखा बनाए, वे कौन-सा जनकल्याण कर रहे हैं, यही नहीं समझ आता। और वे समाजवादी जिनके बच्चे उन प्राइवेट अंग्रेज़ी स्कूलों में भेजे जाते हैं, जहाँ चार साल के बच्चे/बच्ची से मास्टरनी जी डाँट के - 'नो हिन्दी, ओनली इंग्लिश' वाली शिक्षा का संस्कार डालतीं हैं तथा उनकी चुनी भाषा कोई देशी भाषा नहीं,विदेशी भाषा जैसे जर्मन या फ्रान्सीसी होती है तो उस पर माँ-बाप को गर्व होता है। अँग्रेज़ी के ऐसे महिम वर्चस्व पर, तब तो सारे लोक गीतों को भी जो धान रोपती खेतिहर मज़दूरिनें आज भी गाकर अपने श्रम की थकान दूर करती हैं, 'गुडबाई कह देना होगा और विदेश स्थित दूतावासों की तो बात ही मत कीजिए...वे और वे भी नहीं समझेंगे या अहंकारवश न समझने का ठेका लेंगें कि किसी भी देश की असली अस्मिता सबसे पहले उसकी अपनी देशी भाषा होती है, राष्ट्र की पहचान के रूप में- संस्कृति का बुनियादी नाता भाषा से है कि संस्कृति और भाषा का विकास समानान्तर हुआ है। बिना देश की निजी भाषा के संस्कृति की रीढ़ टूटने के भीषण खतरे में होती है। ...नेहरू युग से ही अपनी भाषाओं का कितना अपमानजनक बहिष्कार हुआ और अँग्रेज़ी को पटरानी बना राष्ट्रभवन में स्थापित किया गया जिस पर हर देश के विदेशी (जिसे अपनी भाषा पर गर्व है और उसी में उनका राजकाज भी चलता है) आश्चर्य से भर जाता है, कुछ बुरा-सा मुँह बना कर...

मगर भारत के वामपन्थी में भी उपनिवेशवादियों की भाषा के सहारे, बाज़ारबाद में मगन घोर दक्षिणपन्थी पार्टी की तरह ही, आमतौर पर आज एक फ़ैशन और सत्ता में पहुँचने की महत्वाकाँक्षा भर रह गयी है, समाज में सेहतमंद बदलाव लाने के प्रयास से मुँह फेर कर।

दरअसल सत्ता की होड़ में दक्षिणपन्थ या वामपन्थ एक बराबर हैं- कहें तो कोई झूठ बात न कही। शमशेर जी भी मानते थे (और इसीलिए कम्युनिस्ट पार्टी से अलग हुए) कि किसी आइडियोलॉजी को जब सत्ता की ताक़त मिल जाती है तो अपने मूल व्यवहार से वह छिटक जाती है। जनता के नाम पर जनता से अपनी पूजा करवाना कोई नया रिवाज़ नहीं अपने देश में...और बिचारी भकुआई जनता जिसके अस्तित्व का बड़ा हिस्सा अन्ध रूप से धार्मिक है, बिना कोई पड़ताल किए ,आँख पर पट्टी बाँध किसी को भी वोट दे आती है..

तब कौन किससे कहे कि देख भाई, कोई भी आइडियोलॉजी मनुष्य को अच्छा नहीं बनाती, वह अपनी आन्तरिक दशा के तहत अच्छा होता है। आइडियोलॉजी एक सम्भावना है जो आन्तरिक दशा को उभार कर अपनी राह पर रख देती है। आदमी अच्छा हो तो अच्छी आइडियोलॉजी उसे आदर्श और जनहित के कर्म की ओर सही तौर पर ले जाती है वरना अच्छे से अच्छा सिद्धान्त नारा बन के रह जाता है क्योंकि वे हाथ ही इतने सेहतमन्दी से मज़बूत नहीं न दिमाग इतना विवेक वाला कि आदर्श की मथनी को सही दिशा में ले जा सकें।. अपने घर यानी देश के इतिहास की सुथरी निगहबानी किए बिना,उसे पछोरे बिना आराम से उसे नकार कर एकपक्षीय सिद्धान्त के गुलाम बन जाना कोई सेहतमन्द हरकत है क्या साहबान?

मलयज को अपने समय में भी इस गड्ड-मड्ड का, विरोधी व्यवहारों का पता लग चुका था। अपना रचना- कर्म ईमानदारी से करने में मलयज किसी वाद के खेमे से नहीं बँधे। मलयज का विरोध भी किसी व्यक्ति से नहीं, उस समाजिक ढाँचे से होने लगा था जो (धर्म के मूल अर्थ से हटी) धर्मनिति के नाम पर, जीने की प्रफुल्ल, स्वच्छ साँस पर कँकड़ जमाती जाती है। उनका विरोध उस सत्ता से भी रहा जो आदमी को दिन ब दिन बौना बनाती जाती है, संवेदना को भोथरा बनाने में जुट कर उसे मशीनी पुर्ज़ों में तब्दील कर देता है। तन्त्र ने आम आदमी का सिर आकाश देखने का हक़दार न मान कर अपने पैरों की ही तरफ नज़र गड़ाए रखने में ही (उसकी खैरियत का) हुक्मनामा गढ़ा । यह सच मलयज की कहानियों के फलक पर बारीक शैली में खुदा हुआ है। आज तो आर्थिक समृद्धि को अपने लिए ही रिज़र्व कर लेना सत्ता का व्यवसाय बन गया है। वामपन्थी वास्तविक समस्या से किनाराकश कर तन्त्र बदलने बनाम ढ़हाने का शोर मचाते हैं। यह बात थोडी क्रूर लग सकती है, मगर ज़रा आँख खोल कर देखें तो हकीकत यही है जिसे मलयज ने आज से ३६-३७ साल पहले ही महसूस किया और इस सच की ओर निर्भयता से संकेत किया था। उन्होंने वह कहा जो आधुनिक प्रगति के नाम पर जम कर चल रहा है। आज के वामपन्थ में वे भी शामिल हैं जिनकी रूह और चालचलन एकदम सामन्तवादी है, वे बड़े घरों के बिगड़े नवाब खानदानी धन पर निश्चिन्त हो अपनी मार्क्सवादी आइडियोलॉजी का बैल हाँकते हैं। जबकि उनके स्वार्थ को किसी भले मार्क्सवाद से सरोकार नहीं...उन्हें अपने उस देश से भी प्रेम नहीं जिसका अन्न और हवा खा कर वे जिन्दा हैं और बकबक लगाये हैं। यहाँ कौन बुनियादी परिवर्तन लाने की कोशिश कर रहा है सिवा नारा लगाने के? चाहे यह नारा पूँजीवादी का हो या जन पक्षी का मुखौटा लगाये वामपन्थ का। दोनों ही सत्ता की होड़ में लगे हैं, आम जनता को अपना हथियार बना कर। वामपन्थियों का सबसे बड़ा दोष ये रहा है कि वे कभी अपने भीतर नहीं झाँकते..आत्मालोचना तो प्रपंच है उनके लिए, अप्रस्तुत तथ्य है। मगर मलयज तो बराबर अपने पर ऊँगली उठाते रहे।

मालूम है-एक वामपन्थी मन्त्री मोशाय ने अपने इलाके में क्या क्या जुल्म नहीं ढहाये थे इक्कसवीं सदी के पहले दशक में जिस पर खुद बँगाल की श्रेष्ठ वामपन्थी लेखिका महाश्वेता देवी ने तथा अन्य तमाम लेखक-लेखिकाओं ने विरोध की आवाज़ उठायी थी।

मलयज इन तथाकथित महानुभावों से कहीं बहुत ज़्यादा समाजवादी रहे बिना समाजवाद का बिल्ला लगाये। साथ ही उनकी निगाह केवल अपने ही देश की गतिविधियों और आन्दोलनों तक ही सीमित न रह कर देश के बाहर की घटनाओं और समस्याओं की भी खोज-खबर रखती और उन्हें परखती भी सही ढंग से। मलयज मेरे पत्र में लैटिन अमरीका में होनेवाले आन्दोलनों का ज़िक्र करते 'चे गेवारा' और गोरिल्ला संघर्ष की बाबत, कहते 'ये चिह्न महज फैशन मात्र नहीं, ऐसा लगता है कि यह महज विद्रोह न होकर पूरे सिस्टम में स्थायी परिवर्तन करने की अकांक्षा का प्रतीक है'। यह उनकी समझ के विस्तार का एक लक्षण है। उन्होंने अपने माथे पर देशीपन का चन्दन नहीं लगा रखा था।पाश्चात्य साहित्य का (और मार्क्स के सिद्धान्तों का भी) जम कर अध्ययन किया मगर उसकी भूलभुलैया में नहीं फँसे अपना तर्क सिद्ध करने के लिए, बल्कि उन्होंने उसमें से, चुना जो सही था, उससे अपने देश में सेहतमन्द बदलाव की सम्भावना की ओर साफ़ इशारा था...। अपने तर्क के लिए उन्हें बाहरी रचनाकारों की मिसाल देने की खास ज़रूरत नहीं पड़ी। न ही वे पाश्चात्य विचारों और मानदण्डों को बैसाखी बना कर अपने मत की पुष्टि करनेवालों में रहे। उनकी प्रवृत्ति समझौतावादी नहीं रही किसी भी स्थल पर, यहाँ भी नहीं।

(प्रेमा के नाम) पत्रों में मलयज ने स्पष्ट रूप से अपना विचार प्रकट किया कि 'सभी सिद्धान्त और आदर्श अल्पकालीन ज़रूरतें पूरी करते हैं,वे समस्त पीढ़ियों के ज़िम्मेदार नहीं हो सकते।' कि 'सत्य की छोटी बडी सभी किस्म की अभिव्यक्ति होती है'। आदमी की पराजय कभी नहीं हो सकती। उन्होंने अपना मन्तव्य स्पष्ट करते लिखाः 'हमारी समस्या शायद किसी नयी सच्चाई के स्वीकार या अस्वीकार की नहीं, अपनी सच्चाई को नये सिरे से उपलब्ध करने की है'।(डायरी, भाग ३, पृष्ठ ८६)

वे मानते थे कि एक अच्छा रचनाकार सबसे पहले अच्छा मनुष्य होता है। उसके व्यक्तित्व के बड़प्पन के हिसाब से उसकी रचना में ओज और बड़प्पन आता है। एक सच्चे रचनाकार की उदारता, विचार का लचीलापन, मानव मन की गतिविधियों को समझदार सहानुभूति से परखने की तथा कुछ सार्थक दे पाने की (भाषागत) क्षमता ही पाठक को आकर्षित करती है। जिस सुथरी निगाह से इस दुनिया के झूठ- सच का साक्षात्कार होता है, वह बडी अहम चीज़ है। झूठ को झूठ की तरह और सच को सच की तरह देखने के बाद ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि झूठ को अलग कर कितना सच पाया जा सकता है। इसी तरह एक मौलिक, ईमानदार लेखक का फर्क साफ़ होना चाहिए। सच कौन कहता है, यह बात उतना ही मूल्य रखती है जितना सच स्वयं। शायद इसी आशय को लेकर मलयज ने कहा था कि 'कोई रचना रचनाकार से बड़ी नहीं हो सकती'। एक रचनाकार की ज़िम्मेदारी किसी भी व्यक्ति से ज़्यादा है क्योंकि उसे समूह का सामना करना पड़ता है अपने कर्म के लिए। एक आदमी के आगे झूठ बोलो तो वह एक झूठ होगा, और सौ आदमियों के सामने बोला गया एक झूठ सौ झूठ के बराबर होता है।...मलयज उन टुटपुँजिए लेखकों से एकदम दूर थे जो बाज़ार से अनुभव खरीदने जाते हैं लेखन की सामग्री बटोरने के लिए, अपने निजी जिए अनुभव को दरकिनार रख। मगर निजी अनुभव लेकर, गहरी बात की भूमिगत तह तक जाने के लिये, उसकी उचित अभिव्यक्ति को सम्भव बनाने के लिए भाषा का जो मज़बूत फावड़ा चाहिए, वह मलयज के पास था। भाषा को लेकर उन्होंने बहुत मन्थन किया, 'सच्चाई को नये सिरे से' पकड़ने के लिये और इस पकड़ के लिए 'किसी भी सच्चे संघर्ष

को सफलता और असफलता की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता' कह कर उन्होंने अपनी बात का खुलासा कर दिया।

रचना प्रक्रिया : लेख, कहानी और समीक्षा

मलयज अहरह रचनात्मक तनाव में रहते थे। इसलिए भी, उनकी कविता में पारिवारिक असन्तोष और पीड़ा के साथ सामाजिक दंश भी स्पष्टतः लक्षित है बिम्बों-सरल बिम्बों- में भी। दुःख से उनका गहरा रिश्ता रहा। वे पीड़ा की अनुभूति से बचना नहीं, उससे कुछ बेहतरीन गढ़ लेने की चेष्टा में रहे। अपनी आन्तरिक गहरायी तक धँसे-भिदे दुःख और अवसाद को झेल जाना सिर्फ़ साहित्य रचना में सम्भव हुआ। सन् १९६३ में ही मलयज ने 'दर्द की तल्ख़ अनुभूति और उसके दृष्टापन के बोध से सच्ची नाटकीयता की सृष्टि' की बात गाँठ में बाँध ली थी...अपने साहित्यकार होने की शर्त जैसी। उनकी कविता में वैसी ही पीड़ामयी सच्ची नाटकीयता मिलेगी।

सन् १९५३-५४ में मलयज की गद्य तथा पद्य की भाषा में बड़ा अन्तर दीखता है। कविता में गीत-तत्त्व छायावादी या उत्तर छायावादी रंग-रूप लेकर छाया हुआ है। मगर गद्य काफी सधा हुआ तथा आधुनिकता की पहचान कराता। उस वक्त उनके गद्य में ही भाषा का फ्लेवर मिलता है। सन ५१-५२ के क़रीब मलयज में परम्परावादी आस्था का असर दिखायी देता है, फिर आहिस्ता आहिस्ता यह रूझान हवा होने लगता है और सत्य के वास्तविक रूप से साक्षात करने की दिशा में उनकी मानस अग्रसर होता है। आस्था का एक भिन्न और प्रबुद्ध रूप तथा नैतिकता का अपारम्परिक बोध उजागर होता है। छठे दशक के अन्तिम वर्षों में उनके बौद्धिक विचारों को गतिशीलता प्राप्त होती है, वस्तुओं और तथ्यों की मौलिक पहचान गाढ़ी होने लगती है। संवेदना में वस्तुएँ और प्रकृति जैसे मलयज से संवाद करने की ज़िद पर उतरती हैं। उनका रिश्ता परिवेश से बदला हुआ नज़र आता है। सत्य की भी उनकी अपनी परिभाषा पेश होती है।

मलयज की प्रौढ़ प्रतिभा ने आदमी की अपनी निजी द्विविधा का उद्घाटन करते लिखा कि 'हर आदमी अपनी परछाईं का गुलाम है, अपने प्रतिबिम्ब का मातहत,अपनी इमेज का शिकार। अपने को पाने के लिए इस इमेज को तोड़ना होगा'।

मलयज (अपने पत्र और लेख में भी) भोगे और रचे यथार्थ का भेद करते अपनी बात को खास ढंग से रखते हैं- 'आदमी यथार्थ को जीता ही नहीं,उसे रचता भी है।....यह रचा हुआ यथार्थ भोगे हुए यथार्थ से अलग है। भोगा हुआ यथार्थ दिया हुआ यथार्थ है....हर एक का भोगा हुआ यथार्थ दूसरों के दिये हिस्से- हिस्से यथार्थ का एक सामूहिक नाम है।...इसलिए यथार्थ को रचना एक नैतिक कर्म भी है क्योंकि वह एक समाजिक सत्य की सृष्टि करता है'। आगे 'रचना और भोग का रिश्ता एक द्वन्द्वात्मक रिश्ता है। एक के होने से दूसरे का होना है। दोनों की जड़ें एक दूसरे में हैं और वहीं से अपना पोषण रस खींचतीं हैं। दोनों एक दूसरे को बनाते या मिटाते-बनाते हैं'। (डायरी ३, पृष्ठ ११२) रचना में यह द्वन्द्व जारी है तथा इसमें नैतिकता एक प्रमुख बिन्दु है मलयज के विचार में।

एक वस्तु का दूसरी वस्तु से क्या और किस किस्म का, किस रीति का रिश्ता होता है, उस रिश्ते को कितने आयाम, कितने कोण से समझा जा सकता है तथा उससे (एक रचनाकर्मी के लिए) कितनी सम्भावनाएँ निकल सकती हैं, यह एक सम्वेदनशील, बौद्धिक रचनाकार की तलाश का अहम और बिन्दु होता है। मलयज इसी रिश्ते की खोज में अपनी बौद्धिक यात्रा शुरू करते हैं। सबसे पहले वे अपने आप से अपने रिश्ते का सवाल उठाते रहे हैं। जैसे देखिए, अपनी

अन्दरूनी शंका में उलझे, उन्होंने एक यही बात उछाली 'दूसरों के मन में मेरी जो शक्ल है वही तो दर्पण है जिसमें मैं अपनी शक्ल खुद देख सकता हूँ और अपने को जज कर सकता हूँ'। मगर बाद में वे खुद दर्पण वाली धारणा पर शँका प्रकट करते हैं :-'तो क्या वाकई मैं इस दर्पण को सच मान लूँ कि वह मेरी जो तस्वीर दिखाता है वही सच है? इस तरह के तमाम प्रश्न पहले वे अपने पर ही उठाते हैं। एक और प्रश्न जगा था उनके मन में - 'क्या जो कई सतहों पर डूब कर भी 'जीता है' वह अनिवार्यतः गम्भीर ही होता है?'...'क्या गम्भीरता की सतह हल्के-फुल्केपन की सतह से जुड नहीं सकती?' आदि अनेक सवाल उन्हें मथते रहते हैं।

उनका मानस कई दिशाओं में सक्रिय रहता। उनका मष्तिष्क कभी निष्क्रिय नहीं हुआ, कठिन परिस्थितियों में वह और भी जाग्रत हो उठता। वे दूसरों के घटनाक्रम वे अपने घटनाक्रम को फलक या आइने में रख कर पहले उसके खरेपन की जाँच करते और फिर अभिव्यक्ति देते। देश, समाज, परम्परा का यथार्थ, रचना के यथार्थ में उनकी अपनी वास्तविकताके साथ घुलता गया।

मलयज का विचार था कि रचना ऐसी हो कि कवि स्वयं पर चकित हो सिर्फ पाठक ही नहीं। इस सन्दर्भ में वे मानते थे कि भाषा को दूर की कौड़ी नहीं बनाना है, क्योंकि जब भाषा दूर की कौड़ी हो जाती है तो अर्थ का नाश होता है। या अर्थ का अनर्थ। वे पाठक से संवाद बनाने पर बल देते।

इस तरह मलयज की रचना चमत्कृत नहीं करती, चेतना के भीतर धँस जाने की ऊर्जा से सम्पन्न होने से गहराई में प्रवेश करती है। वह अन्तर की भीतरी सतह खोद कर झनझनाने के बजाय उसका आइना बना मूढ समाज के आगे रख देती है... यहाँ तो चेतना को भींच कर विवेक जगाने और सँवेदना को हरहराने जैसी बात है...

मलयज की रचना की खास खूबी है कि उनकी गहरी संवेदना में भावुकता का चिपचिपापन अप्रस्तुत है तथा निगाह सैद्धान्तिकता या शास्त्रीयता के मोतियाबिन्द से रहित ।

एक वास्तविक रचनाकार वास्तविक समय में जीता है, उसी को रचता है- पिछले इतिहास को भी यदि लाना है तो उसे छील कर वर्तमान रूप में, वर्तमान सन्दर्भ में, ढाल कर लाना है। (इसलिए भी जो कुछ स्मृति में दर्ज है ,उसे ठुकराया नहीं जा सकता, नये वक़्त का तर्क देकर..) मलयज ने भी यही किया।

आधुनिक परिवेश की हलचलों का हवाला देने -या कोई हल निकालने को - उनका इतिहासबोध, ऐतिहासिक बाशिन्दों या सन्दर्भों का मुहताज नहीं। (भू-शास्त्री अन्दाज में) अपनी रचना चटक बनाने के लिये या उसे सहारे के लिये कोई बैसाखी बना लेने को उन्हें मिथों में जाने की दरकार नहीं। कुँवर नारायण के अन्दाज से पृथक मौलिकता वाले कवि मलयज वर्तमान को विस्तार से समझाने के लिए मिथों या ऐतिहासिक नायकों के सन्दर्भ की और नहीं जाते न ही सूदूर अतीत को खँगाल कर अपना विषय बनाने की तरतीब में रहे। उनकी समस्त रचनाएँ विचार और संवेदना के जोड़ में पूरी तरह वर्तमान पर केन्द्रित हैं। उनमें आधुनिकता की सही पहचान थी। इसलिए पण्डित नेहरू और उनके भारत में योरोपीय तर्ज के औद्योगिक विकास की मिथ्या धारणा तथा नये विज्ञान की खामियाँ उधेड़ने में मलयज की कलम पूरी निर्भयता से चलती है। नई टेकनोलॉजी ने किस कदर मनुष्य को पर निर्भर बना कर मनुष्य का मनुष्य में विश्वास नष्ट किया, वर्गभेद बढ़ाया, घरेलू आर्थिक व्यवस्था ध्वस्त की, नेहरू ने इस मसले पर गाँधी की बात नहीं मानी। और तो और हिन्दी भाषा को अँग्रेज़ी के आगे हीन बता कर अंग्रेज़ी को एक बार राजनैतिक सत्ता के सिंहासन पर बिठाया तो आज वह देश की पटरानी ही बन बैठी है। पाश्चात्य सभ्यता के धुँआधार असर का सन्दर्भ

देकर गाँधी जी ने एक तरह से आगाही दी थी (जो मानी नही गई) यह कह कर किः 'हमारे घर में बहुत-सी खिड़कियाँ हैं। हम उन्हें खुला रखना चाहते हैं ताकि ताज़ी हवा भीतर आए, मगर हम ये नहीं चाहते कि हवा हमें ही उडा ले जाय'(यंग इण्डिया)। गाँधी की बात अनसुनी करने का ही नतीजा है कि आज हिन्दी का राष्ट्रभाषा होना एक मज़ाक बन गया है। साहित्य में भी तो वही गुज़र रहा है जो मलयज ने भी अपने समय में गहराई से महसूस किया था। आज जो अपनी पुरानी मान्यताओं का पश्चिमी विचारधारा से मेक अप कर, 'नए' का भजन चालू है, वह असली मसले के संग दगा नहीं तो क्या है?... दरअसल जीवन प्रक्रिया और साहित्य के बीच कोई खास पुल बन नहीं पाया, यदि किसी में, कहीं बना तो ठीक नहीं बना।...

मलयज के लेखों में इन विषयों पर विश्लेषण बहुत सूक्ष्म और सारगर्भित हैं। उनका 'सृजनात्मक लेखन में भाषा का स्वरूप' नामक लेख लेखक के आगे भाषा की समस्या पर एक गहरा विश्लेषण है। भाषा की शक्ति पर, उसकी गतिशीलता और लचीलेपन और सबसे बढ़ कर भाषा के अनुशासन पर उन्होंने बहुत ज़ोर दिया क्योंकि कमजोर भाषा कथन के विषय को 'सपाटबानी' में बदल कर अर्थहीन कर देती है। उन्होंनें ऐतिहासिक शक्तियों की बात उठा कर भाषा के रूप को 'उसके आचरण से निर्धारित' होना बताते हुए भाषा के आचरण की परिप्रेक्ष्यगत गम्भीर व्याख्या में समाजिक ऐतिहासिक चेतना सम्पन्नता के स्तर पर सक्रिय मूल्यबोध का सवाल उठाया। भाषा के आचरण का परिवेश पर और परिवेश का भाषा पर किस तरह असर पड़ता है, इसकी तरफ ध्यान दिलाया है। इसी सन्दर्भ में पीढ़ियों की विचार भिन्नता, नयी पीढ़ी का, जीवन बोध की नवीनता के बावजूद, कोई मूल्यबोध न रच पाने की ओर भी स्पष्ट इशारा किया। सक्रिय अच्छी भाषा पा लेना एक रचनाकार के लिए लेखन की सबसे महत्वपूर्ण चुनौती है। शब्द को उन्होनें भाषा प्रयोग का 'संवेदनशील जीवित-खण्ड' माना जिस पर 'तनिक भी लापरवाही का नतीजा रचना के सौन्दर्यात्मक मूल्यों के उन्मेष को ही ध्वस्त' करना होगा।

दरअसल उनकी पूरी रचना प्रक्रिया में एक संयमित पीड़ा है...

कविता की कवि से रिश्तेदारी

कविता को अगर असम्बद्ध चीजों, बातों का सम्बन्ध मान कर चलें, कविता एक किस्म की माया रचती है ताकि यथार्थ जीने के काबिल बन जाय,यह भी कि यथार्थ इतना अयथार्थ न बन जाय कि हम दूसरों के प्रति अकरुण हों जायें और यथार्थ की अर्थोगर्भित सम्भावना से वंचित हो, अपने स्वार्थ के घेरे में अकरुणा की चुस्कियाँ लेते, उसी में फलते फूलते बने रहे। तभी मलयज ने जिए यथार्थ को लेखन में रचने की बात कही। सौदागिरी चाल मे फँसा यथार्थ, उसकी व्यवसायिक व्याख्या आज की ठूँठी आधुनिकता में आम जरूरतों का घोटाला कर रही है जिसका सरोकार रचनाकार से कितना हो सकता है और किस सोच के अन्तर्गत यह बात आती है, यह विचारणीय है। मलयज जिन्होंने खुद पूरी उदारता और निष्पक्षता से मनुष्य को समझा अपनी उसी डायरी में एक जगह अफ़सोस के साथ लिखाः -'लोग सतहों पर जीने के आदी हो गये हैं...' मलयज का विरोध व्यक्ति से नहीं, उस ढाँचे से था जो दिन-दिन आदमी को बौना बनाता उसे निरर्थक कर देता है। सत्ता का सम्बन्ध सामाजिक दायित्त्व से है, जो वह निभाती नहीं। इस तथ्य को गहरायी से महसूस करते उन्होंने कविता में एक समाजिक दायित्व को भी अभिव्यक्ति दी।

कविता का सन्दर्भ उठा कर मलयज भोगे यथार्थ और अनुभव की सम्भावना की तलाश को कविता की आधार शिला मानते हुए 'सही फॉर्म में अभिव्यक्ति के व्यक्त करने' की बात उठा कर फार्म की तलाश को 'एक सजग प्रक्रिया' बता

कर उस पर अनिवार्य बल देते हैं।'अनुभूतियाँ, चूँकि जटिल होतीं हैं,और संवेदना सरल... अनुभूति में क्षण के संवेदन के अलावा भूतकाल के अनुभव और स्मृतियाँ भी निहित होतीं हैं अतः फॉर्म की तलाश करतीं है' .... 'इसका उद्देश्य प्रभाव को स्थायी बनाना होता है' (प्रेमा के नाम मलयज के पत्र से) कह कर उन्होंने इस मसले को स्पष्ट किया।

मलयज की कविता के ही सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि मलयज का बाहर का कुछ देखना भीतरी होता जाता है, फिर भीतर से रचा जाकर वह साक्षात होता है। प्रकृति का ताजा फैलाव उन्हें बहुत भाता है परन्तु उनके अन्तर्मन में वही प्रकृति उनकी भेदक बेचैन उदासी में घुलमिल कर कोई और राजदार रूप धर लेती है। प्रकाश और अन्धकार का मिला जुला आकारकृउसको देखना और भोगना साथ साथ। वहाँ उनकी स्वप्नभंग, खण्डित अपेक्षाएँ, अपनों से सम्वाद का अभाव, गझिन और हाड़ दागती आर्थिक समस्याएँ तथा समाजिक राजनैतिक असंगतियाँ सबके अपने मिले जुले रोल हैं। भावना के तर्क को विचार की कसौटी पर रख कर उसकी परख भी करते हैं।

मगर गहरी पीड़ा के पंजे की कसावट से निजात नहीं...परिवेश के यथार्थ से , व्यक्तिगत यथार्थ से उपजी पीड़ा...

बिल्कुल शुरू शुरू के पद्य में मलयज में छायावादी किस्म की परम्परा का जो निभाव लक्षित होता है, वह छायावादी लिरिक की ओर झुकाव का इलाहाबादी असर बहुत जल्दी हवा हो जाता है। (जब कि उसी वक्त गद्य में तलाश की प्रवृत्ति झलकती है।) कविता गम्भीर दिशा में मुड़, अपने समय की जटिल झनझनाहट सोखने लगती है। उनकी व्यक्तिगत ज़मीन पर सामाजिक-सियासी मारजिन पर पड़े थके, त्रस्त लोगों की तस्वीरें उगने लगतीं हैं। वे और जन एकात्म होने लगते हैं.. तन्त्र के उपेक्षित आम लोगों में मलयज भी एक हो गये...यह एक खासी प्रगति है मलयज की छायावादी छूत से निकलने के बाद की कविता के लिए। मगर ध्यान रहे कि मलयज की यह प्रगति प्रगतिवादियों की प्रचारात्मक वर्णन शैली वाली सपाटबानी से एकदम बाहर है। मलयज की कविता में आम आदमी की तकलीफ सचमुच सीधे गहराई से भिदी हुई है, वह वर्णन मात्र नहीं है। किसी आइडियोलॉजी के प्रसारण की दरकार नहीं, सीधे मनुष्य का मनुष्य से साक्षात्कार है- विवेक सम्मत सहानुभूति और बौद्धिक, सजग संवेदना की ताल पर। किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले वे चश्मा उतार देते थे। चश्मा तब तक चढ़ा रहता जब तक उनकी गुम्फित विचारधारा चलती रहती। कई बार वे अपनी भावनाओं को ही चीर देते...

...दरअसल, कविता की प्रक्रिया एक लम्बी प्रागैतिहासिक सुरंग की पैदल यात्रा ही तो है...या किसी दलदल में धँस कर कोई जड़ निकाल लेने की शक्ति भर चेष्टा.. ताकि उससे कुछ अर्थवान उगाया जा सके...या मुट्ठी भर आग ही ठण्डी हड्डियों को गरम करने के लिए...या फिर एक साफ़, स्वच्छ हवा फेफड़ों की सेहत के लिए...

मलयज भी तो यही करते हैं...

ये सारे गम्भीर मसले संक्षिप्त शैली में गम्भीर भाषा का मुहावरा लेकर व्यक्त किए गये हैं मौलिक तर्ज पर। उनकी कविता अपने कथ्य की स्पष्टता के लिए वर्णन बनकर विस्तार में नहीं जाती। कविता में एक भी शब्द फालतू नहीं। भाषा की गम्भीरता और संक्षिप्तता का अपना मुहावरा अपनी मौलिकता में चरम सीमा पर है। वे शब्द की आत्मा, आस्था के साथ- पहचानते थे। शब्दों का परिष्करण उनका अपना है और शालीनता से आया है। उसमें कहीं-कहीं तीखापन भी है।

अल्प कथन और शब्दों की सघनता कहीं बिछली नहीं।

उनकी कविता में व्यक्तिगत ऐन्द्रिकता एकदम गायब तो नहीं, उसकी चोट है..। अगर, कलात्मक निःसंगता ज़्यादा है -कहें तो शायद ज़्यादा सही हो।

मलयज जैसे रचनाकार के लिए अकेलापन योग की स्थिति है जिसमें चिन्तन का प्रवाह कहीं टूटता नहीं।

इस सबके बावजूद मलयज के काव्य (और गद्य में भी) अवसाद के मेघ (भी) चारों तरफ से उमड़े हुए हैं...बेचैनी में नत्थी चलचित्र और एक के ऊपर एक बिम्बों की बनावट अपने आप में अनोखी है। बिना भड़के, भावात्मक तनाव की तपिश में फड़कता उनका मानस जिन बिम्बों का प्रतीक रचता है वे उनके उदास मानस में पेंग लेते गमगीन क्षणों की अतियथार्थवादी आभास देती तस्वीरें हैं... एक साथ कई बिम्ब आते हैं जैसे- 'आइने में पड़ते अक्स से कविता की ठाठर बाँधना' एक तगड़ी पंक्ति है, सुन्दर। मगर इससे आगे बढ कर छवियाँ या बिम्ब एक दूसरे पर छा जाते हैं तथा अक्सर एक इमेज पर दूसरी इमेज और दूसरी पर तीसरी इमेज ढुलकती-लिपटती जाती है तो अक्सर कविता गुम्फित होती चली जाती है। हालाँकि उसका असर भी जबरजस्त पड़ता है। जैसे यही टुकडाः

वक़्त का वह निर्लज्ज टुकडा
मेरी खाल पर जलते हुए दिन-सा
चिपका है
बेमुरौव्वत महाजन का ब्याज बन कर।

अपने बिम्ब सम्बन्धी ख़्याल के बारे में मलयज ने मुझे अपने २२/१०/१९८० के पत्र में लिखाः 'बिम्ब हमारी साँसों के पास लुढ़का हुआ होता है, प्रतीक हम देख सकते हैं, दूर से छू सकते हैं' (माँ के निधन के बाद उनकी याद का सन्दर्भ देते हुए । माँ का निधन १३ सितम्बर ८० को हुआ था) यह तथ्य उनकी कविता पर भी लागू होता है।

एक समय ऐसा भी आया था कि मलयज, अपने व्यक्तिगत जीवन की असमर्थ हालत से उबरने के लिए कविता पर माथा टेकते कह जाते हैं कि 'लगता है कविता ही मेरा निस्तार कर सकती है। बचाव उसी में है। ज़िन्दा रहने की शर्त वही पूरा कर सकती है'। मगर क्या जीवन का विषाद और अभाव कविता से कुछ कम हुआ?...

एक ही जल,एक ही अनुभव
एक कठौते से दूसरे कठौते में बारबार
उंडेलता रहा एक ही पल, एक ही सत्य
कई कई सिक्कों में तराजुओं में हर बार
भुनाता तौलता रहा
एक बार जो पाया उसे
हर बार खोता रहा।

मलयज की ये पंक्तियाँ उनके मन की वे पर्तें खोलती हैं जिसमें उनके बारे में काफ़ी कुछ समझने को मिल जाता है,

उनके रचना संसार की चाभी भी उसी में है... आमतौर पर उनकी कविताएँ ट्रेजिक हैं।

उमड़ते मंज़र में सधे धरे बिम्ब और उसमें एक बारीक उम्मीद की झलक। थोड़े से शब्द संयोजन में पिरोए गयी ढेर सारे मर्म की बातें। इस गुर में उनके जोड़ का कोई नज़र नहीं आया तब (आज शायद हों ..शायद ही) मलयज की कविता की एक ही मुद्रा नहीं है। करूणा के रूप अनेक हैं। वह करूणा आत्मदया से अछूती है। वह अपने होने के सत्य का इज़हार है। यह सँभलते हुए, किसी तल्ख़ मिजाज़ी को नहीं दर्शाता, बल्कि करूणा की झील में डुबकी लगवा देता है। मलयज की पीड़ा उनकी अपने संयम में ठहरी पीड़ा है। उनकी अस्मिता दूसरों की अस्मिता में समा कर भी अकेली है ...जिसके बयान के लिए उन्हें बाहर से मुहावरे लाने या भारी भरकम या पिलपिले, भावुक शब्दों की दरकार नहीं पड़ी। भले ही उनकी अपने प्रति निःसंगता कभी-कभी खण्डित-सी हो जाती है जैसे 'कवि' शीर्षक से इस कविता में :

गिरे हुए अक्षरों को बीन-बीन
एक गठरी में मैंने अपने को बाँधा
और पीठ पर लाद चल दिया
हरदम मैं अपने को ही ढोता रहा।

या यह कवितांश :

सौन्दर्य की चट्टान फोड़ कर निकलता
यथार्थ का वह क्रूर पंजा
एक हताश चेहरे के बालों पर ठहरा हुआ...
तन्त्र की चकरघिन्नी में फँसे
आम आदमी की अपनी ही शकल हैः
कैसे तू एक नाटक में अपने को खोलता,
मूँदता और पाता था
उस नाटक में तू ही सूत्रधार था, तू ही अभिनेता
तू ही दर्शक
एक ही मुजस्सिम नाटक
हर बदलते दृश्य में वही का वही
दुःख के पके फोड़ों का ज़हर समोये...

एक और जिन्दा तस्वीर :
दृश्य भाग रहे हैं

आदमी थम गया है
खून में जमे कतरे की तरह
जलती हुई चमड़ी के नीचे भरा हुआ पानी
उसमें जो आखें तैरती हैं
वह कहीं मेरी तो नहीं?

यहाँ प्रश्नवाची चिन्ह में, दूसरों के माध्यम से अपनी पीड़ा का राज बारीकी से खोलने में कवि मध्यवर्गीय त्रासदी में गिरफ़्त आदमी के साथ करीब आत्मसात है; साथ ही अपने तटस्थ रहने की सावधानी भी बरतता है... मलयज जब कोई सवाल उठाते तो शायद उसका जवाब नहीं चाहते; आखिर हर जवाब से भी तो प्रश्न उग ही आतेहैं। जब तक प्रश्न उठते हैं, मानस चालू रहता अपनी सान पर चढ़ा हुआ उत्तर पाते ही 'रचनात्मक तनाव ढीला पड़ जाता है...' जो वे नहीं चाहते होंगे।

कवि मलयज का एक दार्शनिक तर्ज का सन्देश भी आम जन और रचनाकर्मी के लिए सम्बोधित है-

खतरा
टकरा कर टूटने में नहीं
उस बहाव में है जो टूटने को टकराहट से
अलग रखता है।
छाती पर उगे हुए पत्थर
अपनी जड़ें अगर शब्दों में फेंकें
तो उन्हें काटो नहीं, बजाओ
एक तिनके की चीख
पूरे जंगल के सन्नाटे से भारी है।

मलयज ने अपनी त्रासदी के पन्ने कविता में ही खोले जो वे अपने व्यवहारिक जीवन में असंभव समझ कर न कर पाये जैसे उनके समान तमाम मानवों के साथ गुज़रता है उनका मैं और हम एक ही हम बन गया है।।

उनकी कविता में मानवीय लहरों के उतार चढ़ाव की खास मुद्रा लक्षित है जिसमें उनकी अपनी भी त्रासदी, अपने भी स्वप्नभंग प्रस्तुत हैं।

मलयज की एक कविता में कई कविताएँ, जैसे एक कहानी में कई कहानियाँ, पिन्हा हैं।

कविता के सम्बन्ध में मलयज के विचार स्पष्ट हैं- 'कविता सच्ची बनती है भाषा के भीतर की अनुभूति से और बड़ी कविता बनती है भाषा के बाहर के कर्म से।'

जिन्हें तेज़ रोशनी में वास्तविकता देखने की आदत है, उन्हे मलयज की रचनाएँ मुश्किल लग सकती हैं। मलयज की खूबी है कि वे आधे अँधेरे, आधी रोशनी से माफिक रंग चुन कर आपना मौलिक शब्द विन्यास तैयार करते हैं। पके

पकाए माल की तरह थाली में पेश कर देना उन्हें रास नहीं, उनकी रचना को पाठक की भागीदारी की दरकार रहती है, यानी पाठक के सक्रिय योग की अपेक्षा।

कविता उनकी राहत थी साथ ही उनके जीवन के साथ साजिश भी जो उन्हें अपनें में लपेट ले गयी...

यथार्थ को कला का रूप देकर क्या वे अपनी बौद्धिक संवेदना के भरोसे ही और उसी के भीतर जी सके? इस तरह भविष्य को वे 'शायद' बना कर जिये?

मलयज को समसामयिकता की पहचान थी। आम आदमी की त्रासदी, गूढ व्यँग के मुहावरे में पगी हुई, बड़े ढँग से तमाचे लगाती चलती है। ऊपर से एकदम सामान्य दिखनेवाली घटना और चेहरे अकस्मात् बहुत विशिष्ट बन कर उतरते हैं। समाजिक सरोकरों से लेकर सत्ता की नमकहराम चालाकियों को सही तरह से उघाड़ देने की हिकमत में कभी बदमिजाज़ी, बदसलूकी नहीं दिखेगी। आड़ से छोड़े गये तीर की तरह का तीखा व्यंग, विद्रूपमयी दशाएँ जिसमें गैर तबकेदार आदमी पिस जाता, भौंचक्का होकर। मलयज की भाषा रघुवीर सहाय से भिन्न होते हुए भी वही बात कहती है। एक रद्दी-सी दो कौड़ी के दाम पर तन-मन-मष्तिष्क खरीद लेनेवाली अफ़सरवादी नौकरशाही (जहाँ 'यस सर' और 'नो सर' में ही पूरा तन्त्र चालू है) की सबसे निचली सीढ़ी पर बिठाये गये निम्न मध्यवर्गीय तबके के मुलाजिमों की बेबसी में झुके सिर का नियति बन जाने की पीड़ा मलयज के मर्म को खुरचती थी। गरीबी की बाढ़ में बहने से अपने परिवार को बचाने के जतन में जूझते, सरकार के हाशिये पर पड़े जनों के भीतर की राख में दबी आग में दहकती पीड़ा का अहसास खूब गहराई तक उनमें था। भाषा की मजबूत छेनी से, एक समर्थ कलाकार की तल्लीनता से वे उसे उकेर कर निकालते हैं। भाषा की इस सफाई से प्रबुद्ध पाठक की चेतना में कँपकँपी मच जाती है।

मलयज जनशक्ति के आभास से अनजान नहीं थे। जिस तरह मानवीय मूल्यों और समाज के बीच अजब-सी उलटफेर वाली घपलेबाजी-जिसमें आचार विचार ढुलमुल हो गये थे- चल पड़ी थी, की गाढी चेतना उनको थी। 'वाद' और 'वादों' की भी खूब खबर उनके पास रही...।

उनकी गहन पीड़ा किस कदर सत्ता और समाजिक व्यंग विद्रूप बन के उतरती है इसे (मुझे सन् ७५ में भेजी उनकी कविता की) इन चन्द पंक्तियों पर गौर करें :

मेरे हाथ में एक कलम है
जिसे मैं अक्सर तानता हूँ
हथगोले की तरह फेंक दूँ उसे बहस के बीच
और धुआँ छँटने पर कूद पड़ूँ
-कोई है जो उस वक़्त मेरे घुटने से बहते रक्त की
तरफ इशारा कर न कहे कि
शान्ति रखो, सब यूँही चलता रहेगा?
.....
आसपास खुलती हुई खीसों में

इतनी संवेदना है
कि एक पत्ती की उद्धत तनहाई हिलती हुई
तोंद के हवाले हो जाती है
और बहस के लिए अन्याय के खिलाफ लडाईयाँ नहीं
बिना अक्षर की
एक पीली दीवार रह जाती है

ये पंक्तियाँ सत्ता की अनर्थता और अन्तर्विरोधी जन विरोधी मुद्रा की तीखे रंगवाली तस्वीर तो हैं ही, उन बौद्धिकों पर भी व्यंग है जो महज कॉफ़ी के प्याले में अपनी बहसें डुबो कर किनाराकश हो जाते हैं बजाय गैरइन्साफ़ी के खिलाफ कोई जागरूक संघर्ष करने के। और कविता को कलात्मक भोग की वस्तु मान बैठे हैं। मलयज ने उन लेखकों पर मजे में कटाक्ष किया है जो 'मूल्यों का अन्वीक्षण, परीक्षण किए बगैर अनुभव की थाह लिए बगैर समय की मौलिक चुनौती का सरलीकरण करने की सुविधावादी हरकत की ओर मुड़े हैं कलात्मकता का दावा करते हुए'... 'कला की बारीक कतरन और सूक्ष्मातिसूक्ष्म सँवेदना की कलात्मक हरकतें उपभोग पक्ष को ही रेखांकित करती हैं'। (ज़रा मलयज की भाषा पर गौर कीजिए) अब ज़रा आगे का सुनियोजित सधे व्यंग्य का अपूर्व नमूना- 'अनुवीक्षण, अन्वेषण का क्रम पूरा हो चुका और महल के कँगूरे रचने और नक्काशी करने की फ़ुरसत का समय आ गया है...खतरनाक सवालों को पूछने का क्रम थम गया है, बल्कि सवालों को लेकर आराम से मसखरेबाजी करने का रवैया होता जा रहा है'।

क्या आज मलयज के निधन के ३० वर्ष बाद भी यह स्थिति क्षीण हुई है?

परखिए इस अंश को भी जिसमें कवि मलयज एक भविष्य को भी जगते-जलते देख रहे थेः

फिर भी उन्हें डर है कि आज जो
शब्द -उगलती क्यारियों की छटा है,सेंतमेत है
कल जमीन का तिनका बन जाएगी
और एक खूनी नहर जो
पत्रिकाओं के सतरंगे पुखपृष्टों पर
घूँसे तानती हुई हर कुर्सी की बगल में
सट कर बैठ जाती है
काला झण्डा उठाएगी

इस कविता की आगे की सतरें एक और तीखी हक़ीकत की ओर प्रश्न फेंकती तर्जनी उठाती हैः-

जबकि चिरी हुई दीवार की ओट में खड़े
उनके आँसुओं के पीछे

धूल में पिटते नँगे चेहरों को धोता
कँटीला घड़ियाल है
कीचड़ में पद्मश्री सूँघता हुआ
और प्रतीकों की जकड़ जहाँ खून में मिली हुई
दूर तक उमड़ती चली गयी है उस दुर्घटना में
–कोई है जो मेरे बदहवास निहत्थेपन को सिर्फ़ मेरा
कुचला हुआ सौन्दर्यबोध न कहे
और जब मेरी चुप चीख में उतर कर
हाथ –पाँव की हरकत में बदल जाय
तो उसे पिछड़ेपन की छटपटाहट नहीं, चीज़ों को
तोड़ने का इरादा समझे?

मात्र यह एक ही कविता साक्षी है कि सत्ता का दम्भ और आम आदमी की हैसियत आज भी वैसी ही हौच–पौच वाली है जैसा मलयज ने अपने समय में देखी परखी थी,बल्कि इस भूमिकरण के धोखेबाज व्यापारी युग में बदतर ही जिसके शिकंजे में बौद्धिक भी पड़ गया है...।

मलयज की भाषा और उसमें पिरोये गये विषय का पूरा अन्दाज एक तरह से राजा भोज की सिंहासन बतीसी के अन्दाज़–सा है...।

मलयज की कविता मुख्यतः मानव ट्रेजेडी की कविता है जिसमें उनके अपने भी स्वप्नभंग शामिल हैं..

उसमें 'मैं' और 'हम' दोनों का संयोग मिलेगा।

मलयज अपनी मौलिकता की खातिर कभी कम्पीटीशन या स्पर्धा में नहीं पड़े। मलयज की व्यथा, उनका (भीड़ में) अकेलापन, दूसरों के प्रति निःसंग सहानुभूति और सूझबूझ, अपने स्वप्नभंगों के प्रति खेद के बजाय उससे कुछ बेहतरीन गढ़ने का नैतिक विवेक...यह सब मिल कर उनका अद्भुत रचना संसार गढ़ते हैं।

मलयज के गद्य में भी–चाहे वह किसी कवि की आलोचना हो यो आत्मकथ्य–कविता के करीब सारे गुण मौजूद मिलेंगे। गद्य में काव्यात्मक नाटकीयता है।अक्सर प्रतीक और बिम्ब एक दूसरे को सिलसिलेवार आत्मसात करते चलते हैं। एक मिसालः 'तिरस्कृत अर्थ और जलती हुई मौन समाधियाँ/...मृत लोगों ने अपने असली चेहरे कहीं छिपा कर रख दिए हैं सब एक दूसरे की आँख बचा कर आते हैं और सड़क पर तिरस्कृत केंचुल पहन लेते हैं'।

निःसंदेह प्रतीक रचना आसान नहीं। जीवन और मौत एक दूसरे में गुँथे हुए हैं।

मलयज के व्यक्तित्व में ही जिन्दगी और मौत एक साथ बोलती रही है।.. दोनों में विभाजक रेखा धीरे धीरे घटती गई।

आलोचना का क्षेत्र

आलोचना के क्षेत्र में मलयज के जोड़ का कोई लेखक सामने नहीं आया। अपने इस क्षेत्र में वे कविता के जरिए आये जैसा कि वे खुद 'कविता से साक्षात्कार' की भूमिका में कहते है- 'अनुभव से निकल कर जो कविता बाहर आयी वह मेरे लिए यात्रा का अन्त नहीं, वह एक नया आरम्भ है जो मुझे आलोचना के अनुभव संसार में ले जाता है। मैंने पाया कि आलोचना का संसार कविता के संसार का विरोधी,उसका विलोम या प्रतिद्वन्दी संसार नहीं है बल्कि कविता के संसार से लगा हुआ समान्तर संसार है'। अपने इसी तर्क को आधार बना कर वे तटस्थ तरीके से अपने समसामयिक कवियों-लेखकों की रचनाओं की समीक्षा करते हैं।

उनकी कलम संयमित ढँग से बेबाक है जब वे अपने प्रिय से प्रिय व्यक्ति और अपने श्रद्धेय तक की आलोचना निःसंगता से करते हैं। जिस कवि-लेखक पर कलम चलायी उसे उसके ही आईने के सामने रख कर, रचना की निष्पक्ष समीक्षा की बगैर आलोचना के पिछले मानदण्डों का हाथ थामे, अपनी ही अन्वेषित मौलिक कसौटी पर रख कर। अपना आत्म-विश्लेषण करने में भी वे अपने को कहीं ढील नहीं देते, अपनी चूकों, दोषों को ढाँकते-तोपते नहीं, बल्कि बेदर्दी से उन्हें उघाड कर सामने रख देते हैं। मगर दूसरे रचनाकारों की बाबत वे बहुत शिष्ट, संयमित तरीके से जिसमें भाषा की रचनात्मक ताकत अभूतपूर्व होती, लिखते। ज्यादातर बुद्धिमान पाठकों से उन्हें अपनी समीक्षा पर सनद मिली। (हाँ, एकाध ही ऐसे कुण्ठाग्रस्त कवि निकले जिन्होंने अपनी रचना पर की गयी पक्षपातहीन समीक्षा का उल्टा अर्थ लगा कर मलयज से दुश्मनी निकाली उन्हें कई तरह से तकलीफ पहुँचा कर। जब कि मलयज की नियत कभी वैसी न थी)। अपनी करुण हालत का साक्षात्कार करते हुए भी उनमें अपने प्रति दया- मया नहीं उपजी। वे अपने आप पर भी खासी कसौटी रखते थे- यह उनकी डायरी के अनेक स्थलों और मेरे नाम लिखे पत्रों में बिना लाग-लपेट के ज़ाहिर है।

यह स्पष्ट रहे कि मलयज द्वारा लिखी आलोचना दोष-गुण के बखान नहीं बल्कि उन्हीं के ही शब्दों में- 'कविता मेरे लिये अपने अनुभव को महसूस करने और उसे रचने का नाम है और आलोचना उस कविता के कवि को खोजने का। कविता अपने से बाहर दूसरों से जुड़ने का माध्यम है, आलोचना इस जुड़ने को सम्भव बनाने का एक साधन। मैं कविता में जो रचता हूँ, आलोचना में उसी को पाता हूँ'... 'कविता मेरे लिए एक आत्मसाक्षात्कार है और आलोचना उस कविता से साक्षात्कार।' 'ये दोनों संसार अपनी -अपनी जगह पर स्वतन्त्र सर्वप्रभुतासम्पन्न संसार हैं पर दोनों के बीच एक मित्रता की सन्धि है।' साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि 'आलोचना कविता द्वारा उठाये प्रश्नों का उत्तर नहीं देती, वह सिर्फ़ प्रश्नों की अर्थवत्ता और पृष्ठभूमि का उद्घाटन करती है, ताकि इस रहस्योद्घाटन के प्रकाश में कविता स्वयं अपना उत्तर या प्रश्न रचे।'

मलयज की शैली की प्रखरता बताती है कि वे स्थापित प्रतिमानों के प्रति आश्वस्त नहीं थे बल्कि उसकी धज्जी ही उड़ाते दिखते हैं। रामचन्द्र शुक्ल पर उन्होंने एकदम भिन्न और नये दृष्टिकोण से नये प्रतिमान रख कर गहरी समीक्षा लिखी जिसकी अपूर्व शैली में सरस और विचारात्मक वर्चस्व के साथ एक दिलचस्प आईना भी तत्कालीन समाज का रख दिया है जिसके परिप्रेक्ष्य में बाद में आनेवाली समीक्षा का फीकापन लक्षित हो जाता है...

मलयज ने इस तरह काव्य और आलोचना के स्वस्थ सम्बन्ध की अपनी व्याख्या में आलोचना की एक नयी दिशा खोली- पिछले आलोचना कर्म से भिन्न आयाम दिया। उनकी समीक्षाएँ एक पुष्ट और मौलिक भाषा के जरिए दिलचस्प तरीके से व्यक्त पाठक के साथ संवाद हैं। आलोचक का उन्होंने कविता और आलोचना दोनों में सँवाद की

अनिवार्यता पर ज़ोर दिया। वे समीक्षा को बहुत गम्भीरता से लेते थे, गुणदोष की परिपाटी से अलहदा रख कर।

कवियों/लेखकों की आलोचना में जो भी लेख लिखें हैं, वे भाषा की खूबी के कारण निहायत गहन विचारों से पूरित सरसता लिए हुए हैं, इसलिए दिलचस्पी बरकरार रहती है। मलयज के समीक्षात्मक लेख या टिप्पणियाँ भरपूर रूप से श्रेष्ठ रचनात्मकता की मिसालें हैं- इसमें दो मत नहीं। अपने समय के क़रीब सभी महत्वपूर्ण कवि/लेखकों की समीक्षा की- निराला, पन्त आदि छायावादी कवियों से लेकर अज्ञेय, शमशेर, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, श्रीराम वर्मा, निर्मल वर्मा तथा अन्य कवि-कहानीकारों पर उनकी कलम जिस गूढ और बेहतरीन तरीके से चली उसकी मिसाल आज भी शायद ही मिले। निराला उनके अत्यन्त प्रिय कवि रहे जिन पर बड़ी मार्मिक गहराई से उतरे और निराला के मनोविज्ञान की बड़ी बारीक तहरीर की। खास कर निराला की 'राम की शक्तिपूजा' और 'सरोज स्मृति' में तो जैसे समुद्र तल तक की गहरायी तक पहुँच कर मानव मनोविज्ञान की थाह ली है। ये दोनों ही समीक्षाएँ पढ़ कर मन भीग जाता है।

मलयज ने इतिहास की सर्पमथनी पर किसी कवि/लेखक को नहीं मथा एक को देवता और दूसरे को राक्षस बताते हुए। अपने श्रद्धेय और प्रिय कवि शमशेर पर अपनी भावना से अलग होकर बहुत बारीकी से कलम चलायी प्रशंसा और निन्दा के फार्मूले तोड़ कर। और सच पूछिए तो ऐसी उम्दा, और सही समीक्षा शमशेर जी की किसी ने नहीं की। रामचन्द्र शुक्ल पर तो उनकी समीक्षा अपूर्व है ही (जो उनके निधन के बहुत बाद पुस्तक रूप में नामवर सिंह के सम्पादन में प्रकाशित हुई)।

अपने से अलग होते हुए जिस ईमानदारी से मलयज ने अपने अनुभवों और परिवेक्षणों को संवेदना- सम्मिलित विचार के साँचे में ढाला है, कम से कम शब्दों में कस कर, वैसा गद्य चिराग ढूँढे मिल जाय आज तो ताज्जुब। उनका गद्य मेधा को उसकाने वाला, नसों को झनझना कर जगा देने वाला और दिलचस्पी से भर देनेवाली हैं। उनकी समीक्षाएँ सुन्दर काव्य की तरह मन को रिझाते और सहलाते हुए बींधतीं हैं।

कथा विधा

यहाँ मलयज की कलम कम चली पर उसकी धार तेज़ और गहरी रही.. जितनी भी कहानियाँ लिखीं वे आधुनिक कहानी कला में सम्पूर्ण है। उनकी कहानियाँ पढ़ कर विभोर होने के लिए नहीं बल्कि चेतना को खुरच कर जगानेवाली हैं। हृदय भेदक हैं। उनमें उसी त्रासदी की तस्वीर उकेरी गयी है जो लाखों करोड़ों लोगों की है। रघुवीर सहाय की कविता का रामदास और मलयज की कहानी का चुन्नीलाल दोनों की स्थिति लगभग एक है। दोनों की निगाह में एक श्रेष्ठ संवेदनशील लेखक की निःसंग करूणा मौजूद है।

मलयज अपनी कहानियों में, चरित्र चित्रण के अन्तर्गत, अपने पात्रों का आदर्शीकरण नहीं करते न ही व्यक्तिकरण। स्थितियाँ है, परिस्थितियाँ हैं जो यथार्थ हैं, पात्र उन्हीं स्थितियों की उपज, उन्ही के घेरे में मौजूद भोक्ता हैं। मलयज मार्मिक सहानुभूति से अपने पात्रों की निगहबानी करते हैं, उन्हें उसी तरह मन्जूर करते हैं बगैर किसी निर्णय के। कसैली वास्तविकता में जीता आदमी, अपनी छोटी मोटी तमन्नाएँ, अपनी प्राथमिक जरूरतों की पूर्ति में कुछ चालाकी के मूर्ख दम्भ में व्यवहारिक बन जाता है। वह आदमी निम्न मध्यवर्ग का है तथा उसी के दोष गुण से लदा-फँदा। तन्त्र उसे छोटी सी सुविधा से भी वंचित रखता है। मलयज अपनी अद्वितीय कल्पनाशीलता और भाषा की प्रतिभासम्पन्न भंगिमा से मध्यवर्गीय रोज़मर्रे में घिसे पिटे आदमी के एक किस्म से ठहरे जीवन को शालीनता के संग हिला देते हैं,

उसे सहलाते हुए..।.जो साधारण है, उबाऊ है, दुहराया हुआ है, उसे गतिशील रूप से अनोखा दिखा देना मलयज की खाश खूबी है। हुमहुमाते जनसमूह में भी किसी अनोखे व्यक्ति, या मँजर को तलाश लेना उनकी प्रतिभा की सिफत है। आम मध्यवर्ग एक ठहरे वर्तमान में समय की गति को भूल कर जीता है किसी असम्भावित आगत की निष्क्रिय प्रतीक्षा में...। ठहरा हुआ वर्तमान तेज़ी से अतीत बन जाता है अर्थ से विछिन्न होकर...इसी ठहरे वर्तमान को तोड़ कर समय की गति देने की चेष्टा मलयज की रही है।

भयावह नौकरशाही के शिकार मामूली आदमी की तस्वीर पाठक को कहीं अपना भी स्वरूप दिखा जाती है...उसकी आयरनी फ्राँज़ काफ्का की कहानियों जैसी है (जैसे उनका व्यक्तित्व भी)। उसमें काफ़्का की पीड़ा की गूँज मिलती है- वह पीड़ा जो अपने पर हँसती है...और आत्मदया से ग्रस्त नहीं है। मलयज की करकती पीडा और काफ्का की दहकती व्यथा की तरफ सरकारी तामझाम की बेपरवाह, संवेदनारहित सूखी निगाह नहीं जाती जैसे किसी भी सरकारी तन्त्र के पुर्जे बने कर्मचारी पर। इस त्रासदी के इतिहास की फाइल का एक संक्षिप्त मगर अत्यन्त चुटीला हिस्सा मलयज की कहानी 'सतह से उठता आदमी' और 'चुन्नीलाल' प्रसंग में व्यंजित है। मलयज की एक कहानी के एक पात्र का चित्र काफ़्का के एक पात्र से मिलता जुलता है। सिर्फ़ चलते हुए दृश्य हैं और अमूर्तता का माहौल।

बारीकी से देखा जाय तो मलयज एक किस्म से फ्राँज़ काफ़्का, दोस्तोएवस्की और एण्टन चेख़व का एक मिश्रित रूप थे। मैं उन्हें काफ़्का के ज्यादा निकट पाती हूँ। मलयज और काफ़्का में कहीं एक गहरायी से समानता है- दोनों के जीवन की समानता भी परखिए- अपने-अपने तर्ज पर दोनों जीनियस रचनाकार टी.बी. के मरीज, दोनों का जीवन संत्रास पीड़ा तथा पारिवारिक असन्तोष से भरा और दोनों अपने संघर्ष से हार न माननेवाले और दोनों का ही कम उम्र में निधन-काफ़्का ४४ साल में और मलयज ४६ साल में पृथ्वी रूपी इस नीले ग्रह से विदा लेने को मजबूर हुए।

काफ़्का की रचना 'आखिरी फैसला' ('द फाइनल जजमेन्ट') के अन्तिम दृश्य में जब सूखे कुँए के भीतर दो जल्लाद आमने सामने खड़े निर्दोष कैदी का गला रेतने के लिए एक दूसरे की ओर छुरा बढाते हैं... बदकिस्मत कैदी का गला काटने की जघन्य हरकत के लिये हिम्मत दोनों में किसी को नहीं होती...(आखिर वे जल्लाद भी किसी दबे, कुचले तबके से आये होंगे और तन्त्र के अन्याय के प्रति गुस्से का साँप उनके अन्दर भी रेंगता होगा...) उस अभागे में जल्लादों ने अपनी शकल देखी होगी। फिर कैदी कोई मामूली कैदी नहीं है- यह वे जानते हैं। काफ़्का का संकेत यह भी रहा होगा कि राजतन्त्र जल्लादों से भी बढ़चढ़ कर क्रूर है। मलयज का मुखिया जल्लाद सत्ता ही है। काफ़्का का जल्लाद मलयज का नौकरशाही का पुतला छोटे बाबू है जो पेपर कटर मशीन में कट मर जानेवाली फाइलों पर सर गडाये, सहमते-सहमते बड़े साहब के आगे पेश होता हैं, नये आर्डर के लिए सिर छाती से गड़ा झिड़की खाता 'यस सर बोलता'। तथा अपने से नीचे के (कैदी) कर्मचारियों पर धौंस जमाने में कभी-कभी हिचक जाता है...

मलयज का चुन्नीलाल बेहद दीन और संतप्त शख़्स है। चुन्नीलाल आते हैं अपना सर नीचा किये, छाती दबाये, हाथ सिकोड़े, आधी चादर से सर ढके, खुले पाँव में सियासत की रेगिस्तानी बर्फीली हवा सहते... इतिहास के समुद्र मन्थन में देवता और राक्षस एक बराबर हैं- एक दूसरे पर निर्भर... संवेदना के संधान पर मनुष्य है, केवल मनुष्य.. .सौन्दर्य चुन्नीलाल प्रसंग में भी है और फूलझडी देवी की अहरह सहज बेबाक हँसी में भी।

मलयज बेहद सतर्क कलाकार हैं। वे कहीं अपने को फिसलते नहीं देख सकते रचना में। मानव आकृति के पीछे छिपी दूसरी आकृतियाँ तलाश कर कुछ इस तरह उद्घाटन करना कि किसी आकृति पर चोट न लगे और वास्तविकता

सामने आ जाय- यह मलयज की ही सामर्थ्य में समाता है।

अब जैसे देखिए उनकी कहानियों के दो छोटे प्रसंग जिसमें एक दूसरे से निहायत अलहदा तत्व एक दूसरे में भिद कर मनुष्य की वर्तमान दशा का सूक्ष्म और मार्मिक संकेत देते हैं। चुन्नीलाल(यह नाम ही दरिद्रता का प्रतीक है) दीनता की चरम सीमा की मिसाल- 'फ़र्श से रूई का फाहा उठा कर चुन्नीलाल ने उसे तिपाई पर रख दिया...' चुन्नीलाल का 'आधी रूई से सब्ज़ी का गिरा रसा पोंछना तथा आधी से फर्श पोंछना'...'पिंजर के आगे खड़ा हो'...जाना आम आदमी की वर्तमान दुःखद नियति की परख के साथ उसे मंजूर कर लेने की लाचारी भी लक्षित है।

एक दूसरी मिसाल- 'लोहे के पलंग पर पड़ी हुई आकृति...जैसे छत से कोई बीज गिरा हो, जिसकी गठरी का गाँठ पूरी तरह न खुल कर बस थोडी ढीली पड गयी हो'। गौर कीजिये व्यंजना की सूक्ष्मता आकृति, बीज, गठरी और गठरी का ढीला पडना...चारों मानव स्थितियाँ हैं...सम्भावना और असम्भावनाओं के बीच झूलती हुई।

समसामयिकता के जटिल चेहरे की पहचान मलयज ने कर ली थी।

मलयज परिस्थितियों और मानव दशाओं- दोनों के प्रति बहुत चौकन्ने रहे। इसलिए किसी भी फार्मूले से बच कर दोनों से मुलाकात करने और उन्हे परखने की दशा में पहुँचे थे।

वर्तमान आदमी की पलायनवादी लाचार दशा का एक और किस्म का चित्र- 'तीन बार ताली ठोंकना जादूगर की क्रिया है...ताली की आवाज़ में वह काल का संकेत देता है जिसमें जादू शुरू हो जाएगा...आम आदमी का जादू है, सुर्ती का नशा..'

कहा जा सकता है कि मलयज ने वर्तमान आदमी की नियति का सन्ध्यामय चित्र उकेरा है। मगर कौन इन्कार कर सकता है कि इस सच से कि मलयज के समय से आज तक आदमी की यही तस्वीर अपने देश में कायम है बरकरारी से जिसकी आधुनिकता दो कदम आगे चल कर चार कदम पीछे की है। सिर पर हथौडा लेकर, (अश्लीलता की हद तक पहुँचा) इण्टरनेट और मोबाइल के इस व्यापार बहुल युग में यातना के रिहर्सल की तरह या क्रूर मज़ाक की तरह वही सब गुज़रता है जो १८वीं-१९वीं सदी के सामन्तवादी उपनिवेशवादी युग के क्रूर विदेशी हाथों गुज़रता था। अँग्रेज़ों ने सिर झुका कर चलने की आदत में खूब इजाफ़ा किया और आज के लोकतन्त्र में सिर झुकाने में ही आम आदमी की खैरियत है, इसी में किसी सम्भावित खतरे से बच निकलना मुमकिन है...इसीलिए मलयज की कहानी के पात्र की हैसियत सिर्फ़ एक निहायत छोटी चादर की है जिससे आधा बदन ही ढ़ँका जा सकता है, पाँव का तलुआ बाहर ही रह जाता है... । किसी ने भला विचार किया कि सिर झुका कर हम भयानक से भयानक अन्याय गुटक जाते हैं मुँह सिल कर, अपने विवेक को ताक पर रख कर या पाषाण के नीचे दबा कर... 'सिर तकिए में छुपा और इधर पाँव के तलुए का दिखना' (मलयज की एक कहानी का वाक्य) समाज में आम तबके की संतप्त दरिद्र हैसियत का प्रतीक है। जब माथा छुपा दिया गया है शून्य कर तथा पाँव के तलुए की उपयोगिता जाहिर हो ...तो मंशा ये कि पाँव के तलुओं को दौड़ते रहना चाहिए...खून बहने और घट्ठे पड़ने की परवाह से बेखबर हो कर। आम आदमी के लिए यही सामाजिक सियासी तन्त्र से पायी उपलब्धि है। आदमी नाम के जीव की उपयोगिता सिर ढके रहने में है क्योंकि सत्ता को, समाजिक ढाँचे को इस आदमी की विचारात्मक अस्मिता की दरकार नहीं। राजकीय महत्वाकांक्षा के लिए विचारात्मकता खतरे का बिगुल हो सकती है न...

मलयज आम जन की विडम्बना अनावृत करने में जैसे अपने जीवन की विडम्बना की ओर भी संकेत कर रहे हों- ऐसा आभास मिलता है। उस तन्त्र की असंगतता और भेदभावपरक पक्षपाती नियत का भी खुलासा करते हैं जिसके वे खुद भुक्तभोगी रहे। चुन्नीलाल की तरह अभाव की रेखा उन पर भी खिंची। ताहम जिन्दगी साँसत भुगतते रहे जबान पर ताला लगा कर।

इश्तेहार के वर्चस्ववाले व्यवसायी समय का एक बडी सूक्ष्म प्रोफ़ाइल वाला नन्हा-सा मंज़र, मलयज सशक्त सटायर की शक्ल में पेश करते हैं- 'दिवाल पर बढ़िया कागज़ में मानव पिंजर के भीतर रक्त संचालन का दृश्य छपा था। रक्तवाहिनी नाड़ियों के नाम लेबल लिए हुए थे।' यह एक समूची व्यंजनात्मक छवि है। हाँ, जिन्हें तेज़ रोशनी में वास्तविकता देखने की लत है, उन्हें मलयज की आँकी हुई तस्वीरें कठिन और अँधेरी लग सकतीं हैं...मलयज हैं कि आधे अँधेरे में आधी रोशनी से रंग लेकर शब्द विन्यास को चमकाते हैं। कहानी में जो चित्र या पात्र स्थिर से लगते हैं वे ठहरे हुए नहीं हैं... पर शायद वे मूक चलचित्र का आभास देते लगते हैं अक्सर।

विषय को पके- पकाये माल की तरह थाली में पेश कर देना उन्हें नागवार है क्योंकि इस तरह पाठक को वह कुछ नहीं दिया जा सकता जो उसकी चेतना को झँकृत कर सके। मलयज की रचना पाठक की भागीदारी की कामना करती है- पाठक के सक्रिय योग की। ऊपर से सामान्य लगनेवाले बयान को अर्थगर्भित ही नहीं कर देना बल्कि खामोशी से, पाठक से उनकी दरख्वास्त भी है कि वह उनकी रचना में अपनी भी भागीदारी जोड़े। आखिर वह खुद भी तो वही है जो समसामयिकता के कर्ज़ में डूबे सरकारी या ग़ैरसरकारी दफ़्तरों का तेली के बैल बना लिया गया है, या सूदखोर बैंकों का शिकार, गले तक कर्ज़ में डूबा, खुदकुशी को कर्ज़ मुक्ति का एकमात्र राह मानने वाला नादान किसान...या पोंगा धार्मिकता की अन्ध पालकी से झुलाते पाँवों पर झुकने की लाचारी में निरर्थक जीवन ढकेलता इनसान...।

यही सब लोग मलयज की कहानियों, डायरियों और कविता में भी अपनी गाथा सुनाते हैं!

रोज़ रोज़ के जीवन के जो अपने मुहावरे होते हैं, हमारी भाषा की ज़िन्दगी में पले, भिदे हुए, उन्हें अच्छी तरह सँवारना कठिन होता है, यह एक बड़े रचनाकार के ही बूते की बात है। मलयज इसमें कितने सफल हुए, यह तो उनका रचना संसार ही बता देता है, अन्य बेहतरीन लेखकों की मंझी हुई दाद भी सबूत है ही।

ऐसी अदभुत कहानियाँ लिखीं भी उन्होंने कहाँ पे? एकान्त का अभाव उनके तीव्र रचना-संवेदन के रूप में उन्हें बहुत अखरता था, मगर कोई उपाय न होने पर वे कहीं भी लिख पाने की सुविधा जुटा लेते थे चाहे वह पार्क हो, या दफ़्तर का शोरभरा माहौल या रेलगाड़ी का सफ़र। भौतिक सुख तो असम्भव विषय हो ही गया था पर कुछ न रच पाने की स्थिति उन्हें अपने जीवन की मूल्यहीनता का अहसास कराती। उनके शरीर से जड़ ममता की तरह लिपटी बढती बीमारी, रचना विरोधी तत्व की दिशा में ले जोनेवाली चुनौती के रूप में पेश होती। बढ़ती उम्र की बात वे इसीलिए उठाते थे क्योंकि उन्हें चेतना हो गयी थी कि कठिन परिस्थितियों को समस्याओं के पहाड़ ठेलते क्षरणशील शरीर को ज्यादा समय तक ढकेल ले जाना सम्भव नहीं था, वे अपने शरीर की सीमा पहचानते थे। जानते थे कि उनका जीवन का उपसंहार नज़दीक है। वे रचना के लिए बेताब हो गये थे और सार्थक लिखने की, सार्थक जीने की बात अपने पत्र में कर गये। वे अपने मानस का भरपूर इस्तेमाल कर लेना चाहते थे। जीते जी इस दुनिया को, साहित्य जगत को अपनी रचनात्मक प्रतिभा का बेहतरीन दे जाने की ख्वाहिश थी उनकी। इसलिए अपनी व्यक्तिगत तकलीफ़ों, दरकारों और कामनाओं को डिब्बे में रख सीलबन्द कर देते...

अपने अतीत सुखी पलों को बजाय नौस्टॉल्जिक बनाने के या रोमाण्टिक रंग में रंगने के, वे उसे जीवन्त वर्तमान बना कर, उसके प्रति अह्लादित होते। खास कर अपनी यात्राओं में प्रकृति के भरपूर साथ में वे मन का विषाद पोंछ कर अपने उन पलों को अर्थवान बना डालते स्मृति के भीतर। (उनके मेरे नाम पत्रों में खुल कर इसका वर्णन है) दरअसल मलयज की आन्तरिक पीड़ा और गहरे विषाद को क्षणों में पिन्हा (बहुत अल्प) सुख की मिलावट में भी समझा जा सकता है। मलयज के जीवन में अनेक तरह के कष्टों का पलड़ा हमेशा भारी रहा। पर रचना के बारे में उन्होंने कभी अपने को मुगालते में नहीं रखा। उनकी रचनात्मकता उन्हें पीडा का शिक़ार बनने से रोके रहती। उनका नीरव अहं उन्हें बचाये रखता। दुःख को उन्होंने अपना नशा नहीं बनाया...

मलयज की रचनाएँ संवेदना को कुदेर देती हैं चिन्तन को उसका देतीं हैं।

मलयज की रचनाएँ काल के तीनों बिन्दुओं का स्पर्श करती हैं, उन्हें जोड़ती हैं, यद्यपि वे अपने वर्तमान की तस्वीर की सिद्धि के लिए ऐतिहासिक मिसालें, इतिहासिक एपीसोड, प्रतीक या मिथिक इमेज नहीं लाते।(जैसा कवि कुँवर नारायण या मुक्तिबोध ने किया है)

मलयज की भावभूमि पर-उनके अपने मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में - तनिक गहरायी से- नजर डालें तो पता लगेगा कि उनमें रचनात्मक बुद्धि का भाषागत अनुशासन एवं (कोमल) भावनाओं की दोनों तरफ से एक सन्तुलित एक दूसरे में बिंधी संसृष्टि के बिम्बों का सहअस्तित्व या योगायोग अद्‌भुत और बेहतरीन मौलिकता से मौजूद है। इसी प्रसंग में अपने सामने पेरू देश के इंका राजाओं के प्रमुख देवता 'वीराकोचा' और मेक्सिको के अस्तेका साम्राज्य के कुलदेवता 'केत्साक्वाआत्ल' का सन्दर्भ याद आता है। भौतिक और सांस्कृतिक सृजन के लिए 'वीराकोचा' अपने को दो हिस्सों में बाँट लेता है- नर तत्व और नारी तत्व। नरतत्व बुद्धि का शक्तिमान प्रतीक बनाये नारी तत्व कोमल, स्निग्ध, तरल एवं स्थायी भावनाओं तथा सृजनशील संवेदना का प्रतीक हुआ। इन दोनों का उत्तमोत्तम रूप ही 'वीराकोचा' है जो बसन्त का भी देवता है। यदि मलयज को इस सन्दर्भ में देखें तो क्या ऐसा नहीं प्रतीत होता कि उनमें इन दो तत्वों का कहीं मेल है अपने ही विभाजन पर? उनकी बुद्धि सजग, विवेकी, परिपुष्ट, बारीक भावतत्वों की छानबीन करनेवाली और हृदय उतना ही कोमल, उदार मानवीय समझ के लचीलेपन से भरपूर तो है न?

दूसरी ओर हैं 'केत्साक्वाआत्ल' की अद्‌भुत धारणा (जिसका एक आधुनिक व्यवहारिक रूप आज भी मेक्सिको के चन्द रीति-रिवाजों सें मौजूँ है)। इस देवता को ताज़े कटे हृदय की बलि भेंट की जाती थी जिसके पीछे मकसद होता थाः इन्सानी ताल्लुकों की हिफाजत और उनका स्थायीत्व। यह सम्बन्ध सुचारु रूप से निरन्तर बनाये रखने के लिये केत्साक्वाआत्ल को जिलाये रखने की अनिवार्यता में उनका पोषण मानव हृदय की बलि चढ़ा कर किया जाता था।

केत्साक्वाआत्ल के शाब्दिक अर्थ पर अब जाइयेः कुल अर्थ है पंखदार नाग। पंख और सर्प...ऊपर से विरोधाभासी.. .सर्प यानी सन्त्रासमयी प्रताड़ित बुद्धि...। जीवन की खोज की ओर उन्मुख संसार की मंत्रणा भोगती मानव की बौद्धिक चेतना तथा उसकी सूक्ष्म कोमल सौन्दर्य चेतना, दोनों मिल कर केत्साक्वाआत्ल बनते हैं। यूँ कहें कि भावना और सौन्दर्य चेतना पर अंकुश रखनेवाला बुद्धिरूपी नाग ही है। इन दोनों के जोड़ में ज़रा सी फिसलन गम्भीर खतरे का एलान बन सकती है...सर्प की पंछी से अंतरंगता एक खास मायने रखती हैः नाग पंखों को डसता तो ज़रूर है पर उसे विषमय नहीं बनाता, उसमें ज़हर नहीं डालता। जो तरल पदार्थ नाज़ुक पंखों पर पड़ता है वही उसे मज़बूती देता है जिससे ठोस बन कर वे नाग के अगल-बगल सज जाते हैं...इन दोनों से संसार का (रचना संसार का भी) जो

मोज़ाइक बनता है वह संघर्ष से पलायन नहीं बल्कि निरन्तर संघर्ष को अर्थ देते जाने की क्रिया रख कर बना।(यहाँ सिमसिम खुल जा वाले जादुई शब्द की चमत्कारी घटना एकदम नहीं) यहाँ एक भारी, ऊर्जावान साहस, वासना और एषणा की तपती अग्नि का संस्कार जुड़ा हुआ है तथा ठोस चुनौती...। भय, सँत्रास, कोमलता,, सौन्दर्य, स्वप्न, स्निग्ध उड़ान, संयम और जगमग कल्पना, सभी का एक जुट संयोजन।

अद्‌भुत यद्यपि निर्मम भी।

मलयज के रचना संसार में भी क्या इसी किस्म के संतुलन का बोध नहीं होता? अपने आप से निःसंग अपने को भी विवेक की भारी कसौटी पर रख कर अपने को अपना आइना बना कर परखना, अपनी खामियाँ बेहिचक पाठकों के आगे रख देना बड़े जिगरे की बात है। उन्होंने अपने श्रद्धेय, अपने प्रिय मित्रों की रचनाओं की जिस बेबाक साहस के साथ निष्पक्ष आलोचना की है, अक्सर निर्मम होकर भी वह इसकी मिसाल है। समीक्षा में आये कवियों, लेखकों, उपन्यासकोरों एवं इतिहासकारों के मानस में धँस कर, उनके मनोविज्ञान की पहचान कर उनके भावगत परिवेश की अस्मिता की सुथरी पहचान मलयज अपने अन्वेषण, परिक्षण द्वारा करके अपनी कलम स्याही में डुबोते थे। मानवीय मूल्यों और राजतन्त्र एवं समाजिक व्यवस्था के बीच जो अजब सी घपलेबाजी, उलटफेर चल रही थी जिसमें आचार-विचारों का ढुलमुलपन जारी है, को मलयज की पैनी निगाह बखूबी बूझ रही थी...। वाद और वादों की घोड़ा- ऊँट चालों की भी खबर थी ही... भाव पक्ष की परख में उनकी निगाह कोमल और उदार भी रही। भाषा सधी हुई मगर काव्यात्मकता से लचीली जैसे मजबूत रेशमी धागे का पुल...।

सतही भाषा के वे तर्क-संगत ढँग से निहायत विरोधी रहे।

केत्साकोआत्ल की ओर लौटते हुए-

केत्साक्वाआत्ल के मिथ में दो चरम सीमाएँ एक दूसरे में गुँथीं हुईं हैं। तथा एक में रूपान्तरित होकर अपनी पृथक अस्मिता खोये बगैर, एक तीसरे अर्थ तत्व से गर्भित हो साक्षात होतीं हैं। दोनों एक दूसरे को चैलेन्ज न देकर अपने लिए सम्भावना पा लेते हैं। दोनों में एक किस्म का समझौता भी है...(मनुष्य में तो अक्सर विरोधी तत्व एक दूसरे को काटने की तैयारी में रहते हैं, हालाँकि हमेशा वे काट पाने में सफल नहीं होते।)।

मलयज दो विरोधी पहलुओं को काटने के बजाय(समझौते पर उतर के नहीं) दो सरहदों को एक दूसरे में ढालने के जतन में लगते हैं, ताकि भाव इकहरा न रह जाय तथा बुद्धि धिक्कार या सन्त्रास का मसला न बन जाय। उनके प्रौढ मानस में यह तथ्य सजग रूप से मौजूद रहा। इस तथ्य का एक पहलू इस तरह समझा जा सकता है कि मलयज ने पाश्चात्य और एशियाई साहित्य जम कर पढ़ा था, उसे पचा कर खाद बना लिया था, इसलिए वह उन पर हावी नहीं हुआ, उनके मानस पर शासन नहीं कर पाया। हाँ, उनके दृष्टिकोण को कुछ और विस्तृत कर गया, कुछ मुकम्मल दे गया, उनके पारम्परिक संस्कारों को ढीला कर। तबियत को लचीला बनाया। इस सन्तुलन के लिए उन्हें जद्दोजहद करनी पड़ी। अपने से लड़ना हुआ। और इसकी कीमत चुकानी पड़ी। वे अपने हृदय का दान रचना को करते गये... उनकी महत्वाकांक्षा में कोई सर्पदँश नहीं रहा, कभी भी...वह विशुद्ध रूप से निःस्वार्थ थी। बुद्धि हृदय के अनुशासन में,और उसी के तहत अनुभव की मज़बूत रूहानी बुनावट में पदार्थ जगत का दोहन करती...ढलती गयी...। वे वस्तु की तरह नहीं, सार्थक जीवनवाले इनसान की तरह जीना चाहते रहे। वे इस संसार को कुछ मूल्यवान दे जाने के दायित्व को महसूस करते थे, न कि एक ढर्रे का गुलाम अर्थहीन गृहस्थ मात्र बन कर।

इसीलिए मलयज ने अपना लहूहलुहान हृदय साहित्य देवता को चढ़ाया तथा अपने को निजी व्यवहारिक उड़ानों से, अपने भौतिक जीवन से वर्जित करते गये...जिन्दगी की धूप-छाँह में उन्हें करकती दहाती, कड़क धूप ही मिली...दो समय,दो संस्कृतियाँ, दो धारणाएँ, दो किस्म के (विचारों के) तानेबाने...फिर भी सांस की तरह एक दूसरे में समाहित..सार्थकता की तलाश में...रंगभूमियाँ अलग-अलग, अंतरंगभूमि में अन्तरर्विरोधों का संतुलन क़रीब वही.. एक दूसरे को क्षत न करते दो चरम सत्य- दो विपरीत सीमाएँ एक में ही...

एक बड़ा रचनाकार विरोधों का सन्तुलन तो करता ही है।

मलयज ने क्या यही नहीं किया?

अकेलापन मलयज की स्वीकृत नियति रही। वे किसी की दया के बायस नहीं बन सकते थे, इतना आत्मसम्मान था उनमें। अकेलेपन को ही अपना मुकाम (स्पेस)बना कर उन्होंने अपना रचना संसार खड़ा किया। उनकी पीड़ा,उनका अकेलापन, उनकी त्रासदी, उनकी दूसरों के प्रति उदार सहानुभूति, निःसंग सूझबूझ, अपने प्रति अक्सर कठोर रूख. ..अपने स्वप्नभंगों में डुबकी लगा उसके प्रति शिकायती खेद के बजाय उससे कुछ बेहतरीन गढ़ लेने का नैतिक विवेक...यही सब घुलमिल कर उनका अद्‌भुत अपूर्व रचना-सँसार निर्मित करते हैं।

उनकी एक कविता में कई कविताएँ, एक कहानी में कई कहानियाँ भिद कर जुम्बिश लेती हैं। डायरियों में भी आत्मकथा कम, बौद्धिक चिन्तन अधिक, या अपने या दूसरों के बारे में बोलते वक़्त सघन विचारों की पूरी डाली रहती है। आत्मपरीक्षण और परिवेश परीक्षण बराबर चलता रहता है। स्वगत कथन में दूसरों से संवाद। उनकी बेचैन अन्तरकथा इस तरह ही उजागर ज़्यादा होती है।

अपने से अलहदा होकर जिस निष्पक्ष इमानदारी से मलयज ने अपने अनुभवों को विचार के साँचे में ढाला है-कम से कम शब्दों में कस कर वैसी विचोरोत्तेजक मेधा को उसकानेवाली,नसों को झनझना देनेवाली और दिलचस्प, गद्य-काव्य की रचना चिराग ढूँढे शायद ही नज़र आये-।

मलयज की लडाई के दो मोर्चे रहे उनके लेखन में : एक में वे अपने साथ लड़ते रहे और दूसरा था समाजिक, और नौकरशाही का अफसरवादी तन्त्र। और इस किस्म की लड़ाई किसी भी क्षेत्र में, किसी भी मुकाम पर, किसी भी ज़मीन को उर्वर बनाने की खातिर, कहीं से जीवन- सम्भावित बीज लाकर, लडी जा सकती है, कोई साथ दे या न दे। मलयज ने अपने एक पत्र में लिखा भी : 'वाकई लड़नेवाले का कोई देश नहीं होता । फिर लड़ना तो अकेले ही होता है। जो अकेला है वह जानता है कि वह अकेला है और अकेला ही रहेगा।'

क्या मलयज अपने भीतरी द्वन्द्व से कविता में मुक्त होने की चेष्टा करते रहे? उनके जीवन में तो यह मुक्ति सम्भव न हुई...।

मलयज के निधन के पश्चात् नामवर सिंह ने (मलयज की लिखी) रामचन्द्र शुक्ल की भूमिका में लिख- 'मलयज की आकस्मिक मौत से उनकी संघर्ष मीमाँसा अधूरी रह गयी किन्तु अधूरी रहने से वह आप्रासंगिक नहीं रह जाती...इस अधूरेपन की अपनी सार्थकता है,अपनी सुन्दरता है।'

मैं जो समीक्षक होने से काफ़ी दूर हूँ ,एक प्रश्न करूँगीः अधूरा होता क्या है? विशेष कर एक बेहतरीन रचनाकार के सन्दर्भ में? यूँ तो हज़ार साल की ज़िन्दगी भी रचना के अनुभव और उसे रचना में ढाल देने के लिए सम्पूर्ण नहीं है।

मलयज अपनी ४६ साल की ज़िन्दगी में जो कुछ और जितना कुछ मूल्यवान और सुन्दर कर सके कर गये, वह सम्पूर्णता की परिभाषा नहीं छूता क्या? वह अधूरा ही कहा जाएगा? नहीं तो। तभी तो वह इस पृथ्वी से उनकी अलविदा के बाद भी एकदम आज की नब्ज में धड़क रहा है और पूरी तरह समसामयिक है। कितने नव रचनाकार और समीक्षक उनसे सीख सकते हैं। मलयज की विरासत जब इस कदर मौजूद है तो उनकी 'संघर्ष मीमाँसा अधूरी' कैसे रह गयी?

मेरे आगे उनका वह यथार्थ आज भी सपने की तरह खड़ा है, कुछ ज़्यादा ही वास्तविक होकर...

...कोई है जो नंगा चेहरा लिए दरवाज़े पर खड़ा है..ताक रहा है वह सब कुछ जो घट रहा है ...और खामोश है पीड़ा से तप कर...

...सारे पेड़ सहम कर दम साध बैठे हैं..दक्षिणी ध्रुव में हिमखण्ड टूट कर भरभरा कर गिर रहे हैं... बाज़ार संस्कृति की काली करतूत पर...हवा है तड़पती तितली की तरह-तरह पेड़ की पत्तियाँ डारों की स्तब्धता हिला नहीं पातीं... आसमान के गोदाम में धुनिए की धुनिया से बीज अलग कर रूइयाँ बिखरी पड़ी हैं...वे भी मौन में जकड़ी हुई है..

...सूदूर देश की रात कैसी होती है क्या कभी सोचा गया उनके द्वारा जिनके लिए नज़दीकियाँ भी दूरियाँ जैसी ही रही? मलयज के लिए तो दूरी का सवाल ही नहीं, वे बराबर नज़दीक रहे नज़दीकी के प्रति विश्वस्त होकर...

और वे 'बारीक कातते' (पिता के शब्द) कातते, चले गये...

लेखक परिचय

भगवान सिंह, देश के सम्भवतः श्रेष्ठ वेद अध्येता। १९६८ में भारत के सभी भाषाओं को सीखने के क्रम में भाषा विज्ञान और इतिहास की मान्यताओं से अनमेल सामग्री का प्रभावशाली मात्रा में पता चलने पर इसकी छानबीन के लिए भाषा वैज्ञानिक अध्ययन। इसी शोध के परिणाम स्वरूप आर्य-द्रविड़ भाषाओं की मूलभूत एकता लिपि प्रकाशन, नई दिल्ली (१९७३)। रुचि का मुख्य क्षेत्र भाषा और इतिहास। प्रकाशन : हड़प्पा और वैदिक साहित्य (१९८७), दि वैदिक हड़प्पन्स (१९९५), प्राचीन भारत के इतिहासकार (२०११), भारतीय परम्परा की खोज (२०११), कोसम्बी : मिथक और यथार्थ, आर्य-द्रविड़ भाषाओं को अन्तःसम्बन्ध (२०१३)। दिल्ली में रहते हैं।

कमलेश, हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि, विचारक, अनुवादक और राजनीतिकर्त्ता। इनके तीन कविता संग्रह, 'जरत्कारु', 'खुले में आवास' और 'बसाव' प्रकाशित हुए हैं। कमलेश जी की कविताओं में भारतीय परम्परा की समृद्धि के दर्शन को अनेक आलोचकों ने रेखांकित किया है। इन्होंने पाब्लो नेरूदा की प्रसिद्ध कविता 'माचू पिच्चू के शिखर' समेत अनेक कविताओं के अनुवाद किये हैं। कमलेश जी ने साहित्य और इतिहास आदि अनेक अनुशासनों की पुस्तकों पर विस्तार से लिखा है। इन दिनों कमलेश जी भारत की जाति-व्यवस्था आदि अनेक संस्थाओं को औपनिवेशिक विचारों के कुहासे से बाहर निकालकर सम्यक आलोक में देखने का महती प्रयत्न कर रहे हैं। आप इन दिनों बी-२५, वसन्त कुंज एनक्लेव, नयी दिल्ली ७० में रहते हैं।

बजरंग बिश्नोई, हिन्दी के वरिष्ठ कवि। कल्पना, माध्यम, लहर आदि पत्रिकाओं में लम्बे समय तक कविताएँ प्रकाशित हुई हैं। रेखांकन भी करते हैं। दिल्ली में रहते हैं।

आनन्द हर्षुल, हिन्दी के महत्वपूर्ण कथाकार और उपन्यासकार। तीन कहानी संग्रह 'हाथी के भीतर लड़का', 'पृथ्वी को चन्द्रमा' और 'अधखाया फल' प्रकाशित। इन दिनों अपना नया उपन्यास लिख रहे हैं। रायपुर में रहते हैं।

शिरीष ढोबले, हिन्दी के प्रसिद्ध कवि और कहानीकार। एक कविता संग्रह 'उच्चारण' प्रकाशित हुआ है। कविताओं के अनुवाद कई भारतीय और विदेशी भाषाओं में हुए हैं। रज़ा पुरस्कार, कथा पुरस्कार, अशोक वाजपेयी पुरस्कार, भारत भूषण अग्रवाल पुरस्कार आदि से विभूषित। इन्दौर में रहकर उच्चस्तरीय हृदय शल्य चिकित्सा करते हैं।

रामशंकर द्विवेद्वी, अनुवादक और समीक्षक। बांग्ला से हिन्दी में निरन्तर अनुवाद करते रहे हैं। इनके अनुवाद हिन्दी की तमाम पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। समास के पिछले कुछ अंकों में इनके किये अनुराधा महापात्र, जीवनानन्द दास आदि के अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। आप उरई (उ.प्र.) में रहते हैं।

प्रवासिनी महाकुद, ओड़िया की महत्वपूर्ण कवि। छः कविता संग्रह प्रकाशित। कविताओं के अनुवाद हिन्दी, बंगाली और अंग्रेज़ी के अलावा अनेक भाषाओं में। नेपाल, जर्मनी आदि में कविता पाठ। ओड़िया साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित। प्रवासिनी कई बरसों तक दिल्ली में रहकर हिन्दी अंग्रेज़ी और बंगाली की कृतियों का ओडिया में अनुवाद करती रही हैं। इन दिनों धेनकनाल (ओडिशा) में रहती हैं।

नीलिम कुमार, असमिया भाषा के प्रतिष्ठित कवि। अनेक कविता संग्रह प्रकाशित। हिन्दी समेत अनेक भारतीय और विदेशी भाषाओं में कविताओं के अनुवाद उपलब्ध हैं। इन दिनों गुवाहाटी में रह कर अपनी आत्मकथा लिख रहे हैं।

कमलकिशोर गोयनका, प्रेमचन्द के प्रामाणिक अध्येता और प्रसिद्ध आलोचक। प्रेमचन्द पर अनेक पुस्तकें प्रकाशित हैं। दिल्ली में रहते हैं।

तिलोत्तमा मजूमदार, बंगाल की प्रसिद्ध कहानीकार।

प्रेमलता वर्मा, हिन्दी लेखिका और प्रसिद्ध कवि-आलोचक मलयज की छोटी बहन। ब्यूनेस आयर्स, अर्जेंटिना में रहती हैं।

यहाँ से काटिए

समास की सदस्यता ग्रहण करें

सम्पादक
समास
नयी दिल्ली

प्रिय महोदय,

समास के एक वर्ष (4 अंक+डाक व्यय) 340/- तीन वर्ष (12 अंक) 1000/- पाँच वर्ष (20 अंक) 1600/- रुपए का चैक/ड्राफ्ट संलग्न कर रहा हूँ। कृपया मुझे वार्षिक/तीन वर्ष के लिए/पाँच वर्ष के लिए ग्राहक बना लें और मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भिजवाएँ-

(अगर आप दिल्ली के बाहर का चेक हमें भेज रहे हैं तो कृपया बैंक कमीशन के 40/- रुपए उसमें अतिरिक्त जोड़ दें।)

नाम .....

पता .....

.....

.....

टेलीफ़ोन नं. .....

ईमेल : .....

(चेक/ड्राफ्ट- समास के नाम पर बनाएँ जो नयी दिल्ली में देय हो और निम्नलिखित पते पर हमें भेजने की कृपा करें)

मनोज मोहन
रज़ा फाउण्डेशन, सी-4
139 सफ़दरजंग डेव्हलपमेण्ट एरिया, नयी दिल्ली-16
फ़ोन - 011-46526269

ईमेल : udayanvajpeyi@gmail.com
टेलीफ़ोन : 9753882343, 9868664457

विदेश में :
हवाई डाक : एक प्रति 12 अमेरिकी डॉलर / 6 ब्रिटिश पाउण्ड
समुद्री डाक : एक प्रति 6 डॉलर / 4 पाउण्ड

इस अंक के लेखक–

- भगवान सिंह
- कमलेश
- अशोक वाजपेयी
- कमलकिशोर गोयनका
- प्रेमलता वर्मा
- बजरंग बिश्नोई
- तिलोत्तमा मजूमदार
- रामशंकर द्विवेदी
- आनन्द हर्षुल
- नीलिम कुमार
- प्रवासिनी महाकुद
- शिरीष ढोबले
- जितेन्द्र कुमार
- क्षितिमोहन सेन

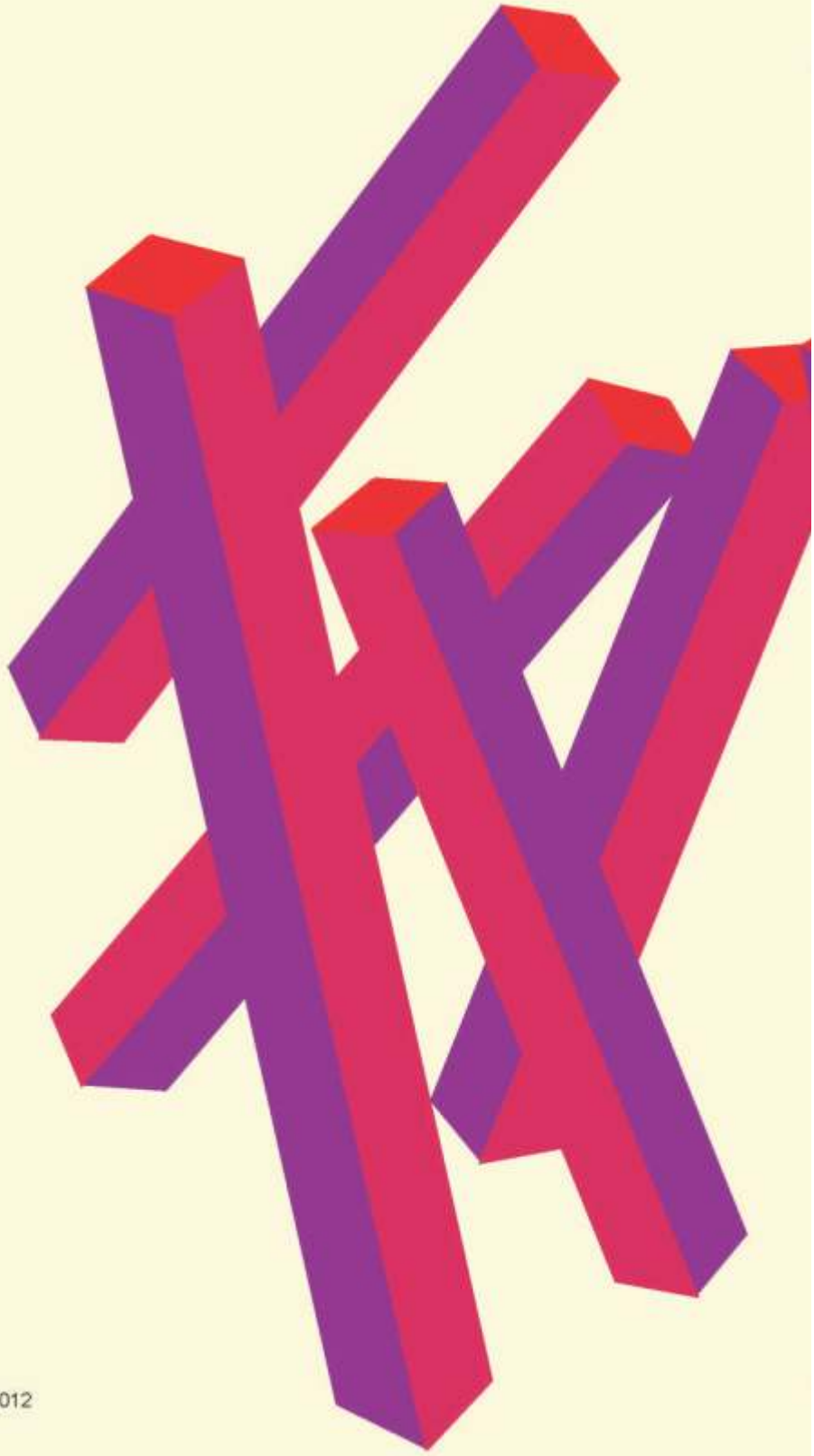

पंजीयन क्रमांक F-2 (S-46) Press/2012